

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला पुष्प नं० ७५

श्रीमद्भगवत्कुम्भकुन्दाचार्य प्रणीत

नियमसार

[श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवकृततात्पर्यवृत्तिसहित]



हिन्दी अनुवाद :

पूज्य धार्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी



प्रकाशक :

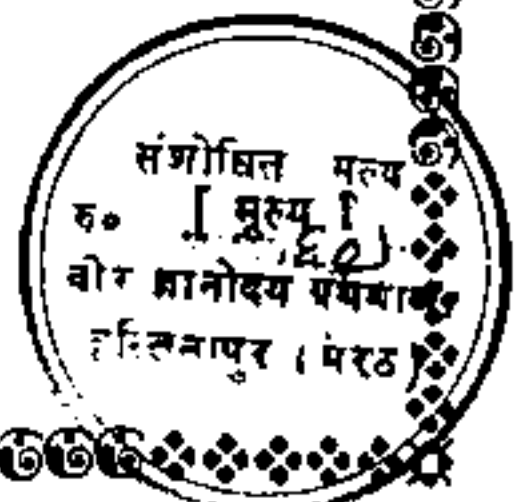
वि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान

हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०



प्रथम संस्करण
१९००

३ फरवरी ८५, भाष्य शुक्ला १३
बो० नि० सं० २५११



आद्य-उपोद्घात

श्री कुंदकुंद देव के द्वारा विरचित इस नियमसार ग्रन्थ में "मार्ग और मार्ग का फल" इन दो विषयों का वर्णन है। मोक्ष का उपाय मार्ग है और निर्वाण उसका फल है। मोक्ष के उपाय को अथवा ग्रन्थ के नाम की सार्थकता को बतलाते हुये श्री आचार्यदेव ने कहा है—

"नियमेण य जं कज्जं तं नियमं नाप्यवसणवरित्तं ।"

विपरीयपरिहरत्थं भणियं खलु सारमिदि वयणं ॥

नियम से जो करने योग्य है वह "नियम" है, वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य है। उसमें विपरीत-मिथ्यात्व का परिहार करने के लिये "सार" शब्द लगाया है।

कोई लिखते हैं कि "विपरीत का अर्थ मिथ्यात्व नहीं है विकल्प अर्थात् भेद रत्नत्रय है। क्योंकि इस ग्रन्थ में निर्विकल्परूप निश्चय रत्नत्रय का ही वर्णन है"

किन्तु यह बात गलत है। 'यदि श्री कुंदकुंददेव को विपरीत शब्द से भेद रत्नत्रय का परिहार करना इष्ट होता तो वे स्वयं चार अधिकार तक इस व्यवहार रत्नत्रय का प्रतिपादन क्यों करते।

देखिये, चौथी गाथा में ही उन्होंने कहा है कि—

"एदेसि तिण्हं पि य पत्तेयपरुवणा होई"। दर्शन ज्ञान और चारित्र्य इन तीनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा करते हैं।

पुनः सम्यक्त्व का लक्षण करने हुये कहा है—

"आप्त, आगम और सत्त्वों के श्रद्धान मे सम्यक्त्व होता है। अर्जुन आचार्य ने इन तीनों का लक्षण स्वयं बताया है। पहले अधिकार में गाथा १६ तक जीवतत्त्व का वर्णन, द्वितीय अध्याय में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनका वर्णन किया है। अतः तक व्यवहार, आगे शुद्ध जीवतत्त्व का वर्णन करके न्यायवशात् दिशाई है।

जानिसिया सिद्धया भवमल्लिभ जीवतारिसा होने ।

जरमरणजन्ममृदका अट्टगुणालंक्रिया जेण ॥ ४७ ॥

असरीरा आवगासा अणदिया निम्मला तिसुद्धया ।

अय सोयगं सिद्धा न्ह जीवा नंसिदी गेया ॥ ४८ ॥

एवे सध्वे भावा व्यवहारणयं पदुन्व मणिदा हु ।

सध्वे सिद्धसाहावा शुद्धणया संसिदी जीवा ॥ ४९ ॥

जैसे सिद्धात्मा हैं वैसे भव में रहने वाले संसारी जीव हैं और इसी कारण से वे जरा, मरण और जन्म से रहित हैं तथा आठ गुणों से अलंकृत हैं ।

जिसप्रकार से अशरीरी, अविनाशी, असींद्रिय, निर्मल, शिषुदात्मा, मिदलोक के अग्रभाग पर स्थित हैं वैसे ही जीव संसार में हैं ऐसा जानना ।

पुनः तत्क्षण ही नयविवक्षा को स्पष्ट कर दिया है—

पूर्वोक्त सभी भाव (स्थिति, अनुभाग, बंध, ध्यान आदि) व्यवहारनय का आश्रय करके कहे गये हैं । किन्तु शुद्धनय से संसार में सभी जीव सिद्धस्वभाव वाले हैं ।

यहाँ पर आचार्यदेव का अभिप्राय व्यवहारनय से असत्य का नहीं है । अन्यथा वे व्यवहार-निश्चय, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा आत्मा को शुद्ध-सिद्ध बनाने का उपाय क्यों प्रदर्शित करते; वे कह सकते थे कि “वास्तव में मार्ग का फल निर्वाण है और मार्ग जो मोक्ष का उपाय है वह असत्य है ।” क्योंकि मोक्ष का उपाय तो व्यवहारनय के आश्रित ही है । किन्तु ऐसा न कह कर व्यवहार का उपदेश दिया है ।

आगे पुनः चतुर्थ अधिकार में पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति का कथन किया है । आचार्य कुंदकुंददेव ने महाव्रत और समिति में निश्चयनय को न घटाकर गुप्ति में अवश्य घटाया है । पुनः पंचपरमेश्वरी का संक्षेप बताकर अन्तिम गाथा में कहा है—

परित्यज भावणाय व्यवहारणयस्स होवि चारिस् ।

निश्चयणयस्स चरणं एत्तो उद्धं पवण्णामि ॥ ७६ ॥

एन पूर्वोक्त भावना में (गाथा ७५ तक की भावना में) व्यवहारनय के अभिप्राय से चारित्र होता है, जब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहेंगे ।

इसके आगे पांचवें अधिकार से लेकर प्यारहवें अधिकार तक निश्चय प्रतिप्रसंग, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय प्राप्ति-मता, शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त, परमसमाप्ति, परमभक्ति और निश्चय परम आवश्यक इन सातों का वर्णन किया है जो कि ध्यान के आश्रित ही हैं ।

आगे प्यारहवें अधिकार के अन्त में कहा है—

सध्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण ।

अपमत्तपहुविठाणं पडियज्जय केवली जादा ॥ १५८ ॥

सभी पुराण पुरुष इसी प्रकार से आवश्यक क्रियाओं को करके सप्रमत्त आदि अपूर्वकरण, अनिष्ट-करण, सूक्ष्मसंपराय और क्षीणकषाय गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली हो गये हैं।

इसके आगे अंतिम बारहवें अधिकार में केवली भगवान का वर्णन करके अन्त में निर्वाण को प्राप्त सिद्धों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार से आचार्य महोदय ने अपने कहे अनुसार ग्यारह अधिकार में मार्ग और बारहवें अधिकार में मार्ग के फल को कहा है। उस मार्ग के व्यवहार-निश्चय दो भेद करके चार अधिकार तक व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को कहकर पुनः आगे ग्यारहवें अधिकार तक निश्चय मोक्षमार्ग को कहा है। इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रय के लिए साधन है। निश्चयरत्नत्रय साध्य भी है और मोक्ष के लिए साधन भी है।

यहाँ यह ही स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ मुनियों के चारित्र का ही वर्णन करता है। इसमें आवकों के चारित्र का कोई कथन नहीं है। अतः अगमप्रति अधिकार में अवश्य ही भक्ति करने के लिये आवक शब्द को लिया है।

इन्हीं कुंदकुंद आचार्य ने चारित्र पादुङ्ग में तथा रयणसार में पृथक् से आवकों के सम्यक्त्व और चारित्र का वर्णन किया है इस तरह से ग्रंथ के रहस्य को समझ लेने के बाद ग्रंथ के किसी भी प्रकरण से अर्थ की संभावना नहीं रहती है।

जिन और जिनकल्पो-स्थविरकल्पो मुनि :

श्री कुंदकुंददेव ने अपने सभी ग्रन्थों में मोक्षमार्ग को लिया है। यद्यपि पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में सिद्धांत कथन प्रधान है फिर भी इनमें अंतिम अधिकार में मोक्षमार्ग का प्रकरण और मुनियों की चर्या का वर्णन ही लिया है।

यह मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का एकतारूप है। आवक ग्यारह प्रतिमा तक भी चारित्र के एकदेशधारी ही कहलाते हैं अतः उन्हें ज्ञान भी अग-पूर्व का नहीं होता है। मुनि सकलचारित्र के अधिकारी हैं अतः वे कहिये कि सरलचारित्र ग्रहण करने पर ही मुनि, भगवान्, संयत, लोचन, साधु आदि नाम प्राप्त होते हैं।

जवात्तम मुनि तीर्थंकरदेव ही होते हैं, दोषा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है फिर भी वे न सध परिकर रखते हैं न उपदेश देते हैं न ग्राम या नगर में या वसतिका में निवास करते हैं। वे एकलविहारी महासाधु कभी कभी नगर में आकर आहार ग्रहण कर लेते हैं। शतत मौन का अवलंबन रखते हुये पर्वत, नदी के किनारे, घोर अरण्य आदि एकांत स्थानों पर तपश्चर्या करते हुये शुद्ध आत्मतत्त्व का चिंतन और ध्यान करते रहते

है। यद्यपि इनकी भी छठा-सातवां ही गुणस्थान रहता है फिर भी इनकी चर्चा, इनके परिणाम सामान्य जनों की शक्ति में नहीं आ सकते हैं। इसीलिये ये साक्षात् जिन हैं। इनका आचरण तीन लोक में सर्वोत्कृष्ट है।

इन्के समान जिनकी चर्चा हो फिर भी इनसे किञ्चित् न्यून ही हो वे मुनि जिनकल्पी कहलाते हैं। ये भी प्रायः मौन पूर्वक विहार करते हुये चार-छह महीने तक भी ध्यान में खड़े हो जाते हैं, ये भी एकलविहारी होते हैं। ये उत्तम संहननधारी महामुनि इस भुग में नहीं हो सकते हैं।

जो मुनि ज्ञानी उत्कृष्ट चर्चा को पालने में असमर्थ होते हैं वे गुरु के शान्तिधाम में संघ में रहकर साहजिक विहार विहार क्रियाओं में आगम के अनुगुल प्रवृत्ति करते हैं। इनमें जो प्रधान आचार्य होते हैं वे शिष्यों का संग्रह करना, उन्हें दीक्षा, शिक्षा, प्रायश्चित्त आदि देकर मोक्षमार्ग में लगाना, मुनि व श्रावकों को धर्मोपदेश देना, तीर्थ-यात्रा, धर्म प्रभावना आदि कार्यों में प्रवृत्त होना आदि सरणचर्चा का अनुसरण करते हैं। ये साधु "स्थविरकल्पी" कहलाते हैं। ये यहाँ चतुर्थकाल में श्रीर विदेह क्षेत्रों में भी होते हैं। पंचमकाल में श्री कुँकुन्देश्वर आदि से लेकर आज तक के सभी मुनि उत्तम संहनन के अभाव में स्थविरक के सभी मुनि उत्तम संहनन के अभाव से स्थविरकल्पी ही हैं।

व्यवहार-निश्चय मोक्षमार्ग :

मुनियों के सकलचारित्र के दो भेद हैं—सराग चारित्र और वीतराग चारित्र। इन्हें शुभोपयोग-शुद्धोपयोग, अपहृतसंयम उपेक्षासंयम, व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र भी कहते हैं। इनमें से पहले मुनिजन व्यवहार चारित्र को ग्रहण कर उसमें पूर्णतया निष्ठात-निष्पन्न होकर निश्चयचारित्र के लिये प्रयत्न करते हैं। व्यवहार चारित्र, आचरण, क्रिया अथवा प्रवृत्तिरूप है और निश्चयचारित्र, ध्यान, एकाग्रता या निवृत्तिरूप है।

साधनसाध्य भाव :

उन देशों में आपस में साधन-साध्यभाव अथवा कारण-कार्य भाव पाया जाता है। जैसे अग्नि के बिना धूप या वीज के बिना वृक्ष अथवा फूल के बिना फल नहीं हो सकता है। ऐसे ही बिना व्यवहारचारित्र के निश्चय चारित्र नहीं हो सकता है। चारित्रचक्रवर्ती गुरुनामुर आचार्य श्रीभातिसागरजी महाराज ने अपने २६ दिन के उपवास के बाद दिये गये अंतिम उपदेश में व्यवहारचारित्र से निश्चयचारित्र के लिये फूल से फल का उदाहरण लिया था। यथा - निविकल्प समाधि, निविकल्प समाधि इस प्रकार के दो भेद पाये गये हैं। कपड़ों में रहते बने रहते निविकल्प समाधि करेंगे। मुनियों के सिवाय निविकल्प समाधि हीनो वर्ग है। जो छोटे बिना मुनिपद नहीं होता। भाइयों! धरो मत, मुनिपद धारण करो। यथार्थ संयम हुये बिना निविकल्प समाधि नहीं होती है। इसप्रकार समयसार में श्री कुँकुन्देश्वरी ने कहा है। आत्मानुभव के बिना सम्यक्त्व होता नहीं। व्यवहार सम्यक्त्व को उपचार कहा है। यह यथार्थ सम्यक्त्व नहीं है, यह साधन है। जिसप्रकार फल के आने के लिये फूल

पुनः दूसरी गाथा की उत्थानिका में कहा है—

व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपस्थातोऽयम् । “नितरामुपपन्नः ।”

इसलिये निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग से साध्यसाधन भाव अश्वी तरह से सिद्ध हो गया है ।

प्रवचनसार ग्रन्थ में तो तृतीय चारित्राधिकार में सर्वप्रथम मुनिदीक्षा लेने की ही विधि बताते हैं । वे कहते हैं—

“जो मुनि होना चाहता है वह सर्व प्रथम अपने वंधुवर्ग से पूछकर, पंचाचार से सहित आचार्यों के पास पहुंचकर उन्हें प्रणाम कर उनसे दीक्षा की याचना करे । उस दीक्षा में केशलोचन करके नग्न मुद्रा धारी होकर पांच महाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुण धारण करे” ।”

“आगम में मुनि शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी ऐसे दो प्रकार के हैं । उनमें से शुद्धोपयोगी आस्रव से रहित हैं और शुभोपयोगी आस्रव से सहित हैं । यही शुद्धोपयोगी मुनि १२वें गुणस्थानवर्ती लिये गये हैं ।” पुनः गाथा ४६ से लेकर ७२ तक शुभोपयोगी मुनि की चर्चा बतलाई है । आगे गाथा ७३-७४ में शुद्धोपयोगी का लक्षण किया है : शुभोपयोगी मुनि की चर्चा का एक उदाहरण देखिये—

वसणणाश्रुवदेसो, सिस्सगाहणं च पोसणं तेसि ।

चरिया य सरागाणं, जिणिदपूजोवदेसो य ॥४८॥

दक्षत ज्ञान का उपदेश देना शिष्यों का संग्रह करना, उनका पोषण करना, तथा जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना यह सब साराण चर्चा अर्थात् शुभोपयोगी मुनियों की प्रवृत्ति है ।

समयसार में भी मूल गाथा में सर्वप्रथम भेदरूप व्यवहाररत्नत्रय पुनः अभेदरूप निश्चयान्नत्रय धारण करने का उपदेश है यथा—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदस्वाणि सात्तुणा निच्छं ।

ताणि पुण जाण तिणिजि अत्पाणं सेव निच्छमवो ॥५६॥

साधु के द्वारा दक्षत, ज्ञान और चारित्र ये नित्य ही सेवन करने योग्य हैं । पुनः इन तीनों को निश्चय से आत्मा ही समझो । अर्थात् प्रथम तीनों की पृथक् पृथक् धारण करना चाहिये पुनः निश्चयनय से इन तीनोंरूप आत्मा की आराधना करना चाहिये ।

१ प्रवचनसार अधिकार ३, गाथा १ मे ६ ।

२ “ ” गाथा ४५ ।

अपने पाहुड़ धर्मों में से चारित्र्यपाहुड़ में भी कम कहा है—

गाथा २१ वीं में है—“सागार और निरागार—अनगार के भेद से संयमचरण दो प्रकार का है। उनमें से सागारचारित्र्य परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निरागार चारित्र्य परिग्रह रहित मुनि के होता है। पुनः दर्शन व्रत आदिक से श्रावकों के ग्यारह भेद किये हैं। अनंतर आगे कम कहा है—

एवं सायबधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।

सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं बोण्हे ॥२७॥

इसप्रकार श्रावकधर्मरूप संयमचरण का निरूपण किया, अब आगे अतिधर्मरूप, सबल शुद्ध और निष्कल संयमचरण का निरूपण करूंगा। इसके बाद मुनिधर्म का स्वरूप कहते हैं—

पंचेंद्रियों का दमन, पांच महाव्रत, इनकी पञ्चोक्त भावनार्यों, पांच समितियां और तीन गुप्तियां यह निरागार संयमचरण चारित्र्य है।

इसका अर्थ यही हुआ कि श्रावकधर्म के बाद मुनिधर्म धारण करने के अनंतर ही निश्चयचारित्र्य होता है।

द्वादशानुप्रेक्षा ग्रन्थ में संवर अनुप्रेक्षा में कम बताया है—

सुहजोगस्स पविस्सो संवरणं, कुणदि असुहजोगस्स ।

सुहजोगस्स निरोहो, सुद्धवजोगेण संभवदि ॥६३॥

सुद्धवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होवि जीवस्स ।

शुभयोग की प्रवृत्ति अशुभयोग का संवर करता है और शुद्धोपयोग द्वारा शुभयोग का निरोध हो जाता है। शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं।

मूलाचार ने सात अध्याय तक मूलगुण, सामाचार, रत्नाचार, पिंडशुद्धि, आवश्यक प्रकरण आदि द्वारा व्यवहारचारित्र्य को बतलाकर अनंतर आठवें अधिकार में अनुप्रेक्षा, नवमें में अनगार भावना और दसवें समपनाय अधिकार में आत्म भावना प्रधान कही है।

प्राकृत भक्तियों में तो अनिराग की प्रधानता होने से व्यवहार क्रियायें उन्हें कितनी अधिक प्रिय थीं। वे श्री कुंदकुंददेव स्वयं व्यवहारचारित्र्य में अनंतर दस पंच परमेष्ठि गति की भक्ति करते थे। इससे व्यवहार विमलता की उपादेयता सिद्ध हो जाती है। अर्थात् जब एक मुनि आचार विहार आदि करते हैं तब तक उन्हें आवश्यक क्रियायें दृष्टि से करना चाहिये।

शुद्धभक्ति में स्वयं श्री कुंदकुंददेव ने अपने भक्तिराग को व्यक्त किया है।

एवं भए सुवपवरा मसीराएण संत्थुवा तव्वा ।

सिग्घं मे सुबलाहं जिनवरवसहा पयच्छंतु ॥११॥

इस प्रकार मैंने भक्तिराग से द्वादशांगरूप श्रेष्ठ श्रुत का स्तवन किया है । जिनवर वृषभदेव, मुझे शीघ्र ही श्रुत का लाभ देवें । श्री कुंदकुंददेव ने किसी भी ग्रन्थ के अंत में अपना नाम नहीं दिया ।

ऐसा एकांत नहीं है उन्होंने “वारसणुपेक्खा” ग्रन्थ के अंत में अपना नाम दिया है । यथा

इदि निच्छयववहारं जं भणियं कुंदकुंदमुणिनाहे ।

जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिष्वाणं ॥ ९१ ॥

इसप्रकार श्री कुंदकुंदमुनिनाथ ने निश्चय और व्यवहार का प्रवलंबन लेकर जो कहा है, शुद्ध हृदय होकर जो उसकी भावना करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त होता है ।

नय व्यवस्था :

यह नियमसार मुनियों के चारित्र्य का ग्रन्थ है । उस चारित्र्य में भी दोतराग चारित्र्य का ही प्रमुख वर्णन है । इसमें चौदहे अष्टिकार में पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति, इन तरह विभिन्न चारित्र्य को कहा है । महाव्रत और समिति तो व्यवहारचारित्र्य ही है । हां, गुप्तियों में आचार्यदेव ने व्यवहार निश्चय दो भेद कर दिये हैं । व्यवहार गुप्तियां शुभ प्रवृत्ति होने हुए भी अशुभ से निवृत्ति रूप हैं ये पंचम काल में संभव हैं और आचार्य परमेष्ठी के ३६ गुणों में भी हैं । निश्चयगुप्तियां अशुभ-शुभ दोनों की निवृत्तिरूप होने से त्रिगुप्तिगुप्त महा-मुनियों के ही संभव हैं जो कि आजकल नहीं हो सकती ।

इस ग्रन्थ में व्यवहार-निश्चय का समन्वय करने हुये दोनों के विषय को कहने वाली दस गाथायें हैं, उनके कुछ उदाहरण देखिये—

गाथा ४९ में कहा है—प्रकृति स्थिति वध आदि तथा औपजमिक आदि सभी भाव व्यवहारनय से जीव के कहे हैं निश्चयनय से या शुद्धनय से संसार में नयी जीव सिद्धत्वभाव वाले हैं गाथा ७९ में कहा है—पांच महाव्रत आदि तथा पांच परमेष्ठी की भक्ति आदि भावना से व्यवहारचारित्र्य होता है और अरब में इसके पांच निश्चयनय के चारित्र्य को कहेंगे इस कथन से यह सर्वथा स्पष्ट है कि व्यवहारनय के चारित्र्य को धारण करने के बाद ही निश्चय चारित्र्य प्राप्त होता है न कि पहले । कुछ लोग अश्वत्थी के व्यवहारचारित्र्य के बिना भी निश्चय चारित्र्य मान लेते हैं उन्हें इस ७९वीं गाथा पर लक्ष्य देना चाहिये ।

गाथा १५६ में केवली भगवान् में दोनों नयों की वियक्षा करते हैं श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—व्यवहारनय से केवली भगवान् सर्व जगत् को जानने-देखते हैं और निश्चयनय से अपनी आत्मा को ही जानने-देखते हैं । इस कथन

से यह समझा जाता है कि व्यवहारनय मिथ्या नहीं है अन्यथा केवली भगवान के ज्ञान में सब कुछ भ्रमक रहा है यह कहना ही मिथ्या हो जावेगा । अतः नय वस्तु के एक अन्न को ग्रहण करता है वह अपने विषय को कहने में समीचीन ही है ।

निश्चयचारित्र्य मुनि को हो होता है :

इस ग्रन्थ में चारित्र्य के प्रकरण में हर एक जगह मुनि के लिये ही बीतराग या निश्चयचारित्र्य का प्रतिपादन है । उसके सूचक मुनि या मुनि के वाचक संयत भ्रमण आदि शब्द २२ गाथाओं में आये हुये हैं उन गाथाओं को परिशिष्ट में दिया गया है । जिनमें से कुछ उदाहरण देखिये—

गाथा ८८ में जो साधु अगुप्तिभाव को छोड़कर त्रिगुप्ति से गुप्त होते हैं वे ही प्रतिक्रमण कहलाते हैं क्योंकि वे प्रतिक्रमणरूप हो चुके हैं । गाथा १०७ में जो कर्म नो कर्म रहित, विभावगुणपर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करते हैं उन प्रमण के प्रालोचना होती है । गाथा १४४ में जो संयत शुभ भाव में आचरण करते हैं वे अभ्यवण हैं इसलिये उनकी क्रियाएँ आवश्यक लक्षण नहीं हैं । पुनः १५१ में कहा है—जो धर्म शुद्ध ध्यान से परिणत हैं वे अंतर्गता हैं । ध्यान से हीन भ्रमण बहिरात्मा है । तात्पर्य यही निकलता है कि चौधे अधिकार के व्यवहारचारित्र्य के बाद जो निश्चयप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, समाधि, भक्ति और आवश्यक नाम से निश्चयचारित्र्य के प्रकृतक सात अधिष्ठात हैं उनमें ध्यान की एकाग्रता, आत्मा के स्वरूप में तन्मयता, शुद्धोपयोग परिणति या निर्विकल्प समाधि ही विलिखित है वही बीतराग चारित्र्य है ।

टीकाकार ने स्थूल स्थूल पर इस विषय को स्पष्ट किया हुआ है । जिन कलश काव्यों में भक्ति प्रधान है और जो कलश काव्य निश्चयचारित्र्य का कथन करते हैं तथा और भी जो कुछ विशेष हैं ऐसे चौबीस कलश काव्य परिशिष्ट में दे दिये हैं । कुछ उदाहरण देखिये—कलश काव्य ७३ में कहा है—शुद्धनिश्चयनय से मोक्ष और ससार में कुछ अंतर नहीं है । शुद्धतन्त्र के समिक तन्त्रविचार के समय ऐसा ही कहते हैं ।" कलश १२४ में है—यह शुद्ध ध्यान स्त्री दीपक जिन के मनरूपी मकान में जन रहा है, वही योगी है उसके शुद्धात्मा ध्वज प्रत्यक्ष हो जाता है । "यहां यह स्पष्ट है कि श्रेणी में ही मुनिों को शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है ।" कलश १७० में कहा है—गणरूपी अंधकार का नष्ट करने वाला सद्गुरुत्व जयशील है, वह मुनिवरों के मन में ही गोचर होता है, गुण शुद्ध है । विषय मुख में लन हुए लोगों को सर्वज्ञ हो दुर्लभ है, परमसुख का समुद्र है । ऐसा यह शुद्धज्ञान निद्रा में रहित है । इसमें भी स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मा तब विषयमुख में तत्पर रहलाता नहीं मिल सकता । प्राये २४३ कलश में रहते हैं—मुनिवेषधारी भी पुनः यदि लज्जित हो तो वह संन्यासी ही है । किमु स्वयं मुनि शीघ्रमुक्त है यदि वह जिनेन्द्रदेव ने किंचित् ही ग्लूब है, ये स्वयं मुनि बारहवें गुणस्थानवर्ती हैं । इन ही कलश २५१ में कहा है कि "मोह के नष्ट हो जाने पर वे मुनि अंतस्तन्त्र को देख लेते हैं ।" यह भी बारहवें गुणस्थान में संभव है ।

टीकाकार पद्मप्रभमतधारी देव के कुछ टीका के अंश भी इस विषय में द्रष्टव्य हैं। गाथा १४६ की टीका में अंतरात्मा का लक्षण देखिये—“स्ववशाभिधानपरमधमणः सर्वोत्कृष्टोऽंतरात्मा, पोकशकवायाणामभावाद्यमं क्षीणमोहपदवीं परिप्राप्य स्थितो महात्मा ।”

“स्ववश” नाम के परम धमण सर्वोत्कृष्ट अंतरात्मा हैं, सोसह कषायों के प्रभाव से ये क्षीणमोह पदवी को—बारहवें गुणस्थान को प्राप्त हुये महात्मा हैं। यहाँ तो बारहवें गुणस्थान के अंतरात्मा को लिया है यह बात स्पष्ट कर दी है।

गाथा १५० की टीका में “स्वात्मध्यानपरायणस्तन् निरवजेषेणान्तर्मुखः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तविकल्प-
कालकेषु कदाचिदपि न वर्तते अत एव परमतपोधनः साक्षादंतरात्मेति ।”

स्वात्मध्यान को करने में तत्पर हुये संपूर्ण रूप से अंतर्मुख होकर शुभ-अशुभ समस्त विकल्पों में कदाचित् भी नहीं वर्तते हैं इसीलिये वे परम तपोधन साक्षात् अंतरात्मा हैं। गाथा १५१ की टीका में पंक्ति है—
“इह हि साक्षादंतरात्मा भगवान् क्षीणकषायः ।” यहाँ पर निश्चित ही साक्षात् अंतरात्मा भगवान् क्षीण कषाय मुनि हैं।

इन सब उद्धरणों से समझना चाहिये कि इस नियमसार में निश्चय क्रियायें बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि के ध्यान में घटित होती हैं। उसके पूर्व सातवें से लेकर बारहवें तक भी श्रुद्धोपयोग में प्रारंभ होने की अपेक्षा घटित होती है।

गाथा १३३ की टीका में कहा है कि शाश्वत सामायिकव्रत ध्यान में ही होता है—

“यस्तु धर्मशुक्लध्यानाभ्यां सदाशिवात्मकमात्मानं ध्यायति हितरूपं त्रु जितेश्वरशासननिष्पन्नं नित्यं शुद्धं त्रिगुणितगुप्तपरमसमाधिलक्षणं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवति ।” जो धर्मध्यान शुभध्यान के द्वारा सदा शिव स्वप्न आत्मा को निरंतर ध्याते हैं। उनके ही जितेश्वर के शासन में प्रसिद्ध नित्य शुद्ध त्रिगुप्ति से गुप्त परम समाधिलक्षण शाश्वत सामायिकव्रत होता है।

गाथा १२५ की टीका में त्रिगुप्त का लक्षण किया है—

“प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तकायवाङ्मनसो व्यापाराभावात् त्रिगुप्तः ।”

शुभ अशुभ समस्त मन वचन काय के व्यापार का अभाव हो जाने से तीन गुप्तियों से गुप्त अवस्था होती है।

गाथा १२६ की टीका में निश्चयप्रतिक्रमण के स्वामी को बताया है—

“यः त्रिगुणितगुप्त निर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणसाधितं अत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंपत्ती अतएव न च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवति ।”

जो भुवीश्वर त्रिगुप्ति से गुप्त परमसमाधिकरण से सहित, अति अपूर्व आत्मा को व्याप्ते हैं। जिस हेतु से वे प्रतिक्रमणमय परमसंयमी हैं इसी हेतु से वे निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप हैं। गाथा ९१ की टीका में भी परम तपोधन मुनि के ही निश्चयप्रतिक्रमण कहा है—

“यः परमपुरुषार्थपरायणः शुद्धरत्नप्रयात्मकं आत्मानं भावयति स एव परमतपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमण-स्वरूप इत्युक्तः।”

जो परम पुरुषार्थ में लगे हुये मुनि शुद्धरत्नप्रयात्मक आत्मा की भावना करते हैं, वे ही परमतपोधन निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप हैं।

गाथा ८२ की टीका में परम संयमी को ही मुमुक्षु कहा है—

“जीवकर्म पुद्गलयोर्भेदाभ्यासे तति तस्मिन्नेव च ये मुमुक्षवः सर्वदा संस्थितास्ते ह्यतएव मध्यस्थाः तेन कारणेन तेषां परमसंयमिनां वास्तवं चारित्रं भवति।”

जीव कर्म के भेदाभ्यास में जो “मुमुक्षु” हमेशा स्थित हैं इस हेतु से वे मध्यस्थ हैं, उन परमसंयमी मुनियों के ही वास्तविक चारित्र होता है।

इस तरह वीतरागमुक्ति के सातवें, आठवें, गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक जो व्याप्तावस्था होती है उसी का नाम निर्विकल्प ध्यान, पृढात्मतत्त्व ध्यान और निश्चयचारित्र है। इन उद्धृत प्रकरणों से क्रम विदित हो जाता है। व्यवहारचारित्र के बाद निश्चयचारित्र का क्रम होने से इन दोनों में कारण कार्यभाव और साधनसाध्य भाव अच्छी तरह सिद्ध हो रहा है।

भक्ति में श्रावक भी अधिकारी हैं :

इस ग्रन्थ में परमभक्ति नाम के दसवें अधिकार में प्राचायदेव ने भक्ति करने के लिये “सावगो” “समगो” शब्द में दोनों का ही लिया है। यथा—

सम्मतगणचरणे, जो भक्तिं कुण्ड सावगो समगो।

तस्स दु णिवुदिमत्ती, होविसि जिलोहि पणत्तं ॥१३४॥

जो श्रावक या श्रवण सम्प्रदाय, ज्ञान और चारित्र में भक्ति करता है उसके निर्वृत्ति किसी एक भक्ति होती है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

इस गाथा में जो परम भक्ति का नाम है, वह भक्ति के सिवाय प्रयोजनविध चारित्र निश्चय प्रतिक्रमण आदि चारित्र श्रावकों के लिए नहीं है मात्र मुनि के लिए ही है।

ध्यानरूप चारित्र्य भाज के मुनि को है या नहीं :

अदि सक्कदि काहुं जे, पढिकमणादि करेअ शाणमयं ।

सत्तिबिहीणो जा जइ, सइदहणं चेव कायडव ॥१५४॥

हे भूते ! यदि तुम्हें शक्ति है तो ध्यानमय प्रतिक्रिया आदि करो। और यदि शक्ति नहीं है तो श्रद्धा करना चाहिये। इसमें टीकाकार ने कहा है कि "यदि इस पंचमकाल में तुम्हें उत्तम संहनन नहीं है तो केवल निज-परमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही करना चाहिये। पुनः कलशकाव्य में कहा है—"पापबहुल इस कलिकाल में शक्ति नहीं है अतः अव्यात्मध्यान कैसे हो सकता है; इस कारण तुम्हें निज आत्मा का श्रद्धान ही करना चाहिये।"

करणानुयोग पढ़ने की प्रेरणा :

गाथा १७ में आचार्यदेव ने नर नारक आदि के संक्षिप्त भेद बताकर यह कह दिया कि—

"एदेसि वित्थारं लोयविभागेषु एादध्वं । इनका विस्तार लोकविभाग से जान लेना चाहिये। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी लो करणानुयोग ग्रन्थ के पढ़ने की प्रेरणा दे रहे हैं।

योगभक्ति या परमसमाधिरूपध्यान :

गाथा १४० में कहा है कि वृषभ से लेकर सभी तीर्थंकरों ने योगभक्ति-निर्विकल्प ध्यान करके ही निर्वाण सुख प्राप्त किया है अतः तुम लोग भी योगभक्ति करो। यहाँ परमसमाधिरूप ध्यान विवक्षित है।

गाथा १५८ में कहा है कि "सभी प्राचीन पुरुष, आवश्यक क्रियाओं को करके अप्रमत्त आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर केवली भगवान् हुये हैं। इस कथन से आवश्यक क्रियाओं का महत्त्व प्रगट हो रहा है।

महत्त्वपूर्ण या प्रिय गाथा :

इस ग्रन्थ में एक गाथा है जिसे आचार्यदेव ने अपने श्रुति ग्रंथों में ली है, वह यह है—

अरसमरुचमगंधं अव्यक्तं चेदणागुणमसद्वदं ।

नाण अलिगगाहणं जीवमणिद्विट्ठ संठाणं ॥

हे शिष्य ! तुम जीव को रसरहित, रुचिरहित, गंधरहित, व्यक्तरहित, शब्दरहित, अनुमान के द्वारा ग्रहण न करने योग्य, संज्ञान भी विषयका न कहा जा सके। ऐसा अनिदिष्ट संस्थान और चेतनागुण सहित नमस्को।

यह ममयनारम उद्धृत गाथा है। प्रवरानार में तृतीय अध्याय में ८८वीं श्लो। नियमसार में ४६वीं श्लो। पंचास्तिकाय में १२७वीं श्लो और भावप्राभृत में ८८वीं श्लो है। इससे मालूम पड़ता है ग्रन्थकार श्रीकुन्दकुन्ददेव की

यह गाथा अत्यधिक प्रिय रही है। और इस कथन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि ग्रन्थकार अपनी प्रिय गाथा, श्लोक आदि को अपने अन्य ग्रन्थों में लेते रहे हैं। यहां नियमसार में प्रत्यास्थान परमसमाधि, और आवश्यक अधिकार में श्री गई गाथायें मूलाधार ग्रन्थ में भी ली गई हैं।

अध्यात्म से संयम रत्न मिलता है :

टीकाकार ने अपने १४७ वें कसण में कहा है—

“अध्यात्मशास्त्ररूपी समुत्तमसमुद्र से मैंने संयमरत्नमाला निकाली है।” इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यात्म ग्रन्थों को पढ़ने से संयम ग्रहण करना अवश्य होता है न कि संयम से ग्रहण। आशंकल जो अध्यात्म ग्रन्थ पढ़ कर संयम और संयमी से ग्रहण करते हैं वे अध्यात्म के रहस्य को न समझकर शास्त्र को शास्त्र बना लेते हैं और संयम तथा संयमी की निंदा करके दर्शन मोहनीय हो बंध लेते हैं। वास्तव में अध्यात्म ग्रन्थ से आत्मा में अनंत शक्ति है।” ऐसा ज्ञान और भ्रम हो जाने से उसके फलरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये चारित्र्य ग्रहणरूप पुरुषार्थ करना ही चाहिये।

मैंने स्वयं यह अनुभव किया है। आत्मकाल में पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका के स्वाध्याय से “आत्मा में अनंत शक्ति है।” ऐसा निश्चय हो जाने से मैंने शक्ति के अनुसार चारित्र्य ग्रहण कर उस अनंतशक्ति को प्रगट करने के पुरुषार्थ में अपना कदम उठाया।

पद्मप्रभमलधारिदेव का भक्तिराग :

टीकाकार ने इस अध्यात्मग्रन्थ में तीर्थंकरों की भक्ति, सामान्य में जिनभक्ति, गुरुभक्ति और अपने स्वयं के दृष्ट आचार्यों की भक्ति करी हुए अनेक कलशकाव्य लिखे हैं। उनमें से श्री पद्मप्रभु की भक्ति के तीन काव्य हैं, नैमिनाथ की भक्ति के तीन काव्य हैं और वीरप्रभु की भक्ति के दो काव्य हैं। जिनेशदेव की भक्ति के तो अनेक काव्य हैं।

उन पद्मप्रभमलधारिदेव ने प्रारम्भ में आचार्यों में श्री सिद्धसेन, श्री एकलंकदेव, श्री पूज्यपाद और श्री वीरनंदि को नमस्कार किया है। मध्य के कलशकाव्यों में श्रीचंद्रकीर्ति मुनि, श्री माधवसेन आचार्य, श्री वीरनंदि आचार्य को भी बड़े आदर से सम्बोधित किया है। इन तीनों में से कौन उसके दोषागुरु थे और कौन शिक्षा गुरु वह स्पष्ट नहीं हो पाया है।

आज भी सच्चे मुनि हैं :

इस कलिकाल में भी सच्चे मुनि हैं यह बात हमोंने आगे दो कलशकाव्यों में कही है। उसका उदाहरण देखिये—

कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावध्यलं^१ ॥

ऐसे ही—एको भ्राति कलौ युगे मुनिपतिः पापादवीपावकः^२ ॥

टीकाकार ने एक कलश में “आलोचना” जैसे सिने कामधेनु शीशे ऐसी प्रार्थना की है—

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या निमुंक्तिमार्गफलदा यमिनामज्जलं ।

शुद्धात्मतत्त्वनिधताचरणानुरूप्या, स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ॥१७२॥

इन सुन्दर-सुन्दर चीनीस कलश-काव्यों को मैंने परिशिष्ट में दे दिया है ।

श्रीकुन्दकुन्द की गाथायें :

गाथा ७ की टीका में टीकाकार ने कहा है—

तथा चोक्तं श्री कुंदकुंदाचार्यं देवंः —

“तेसो-विट्ठी गार्ज इड्डी साखं तहेव ईमरियं ।

तिहुवणपहाणवइयं साहय्यं जस्स सो अरिहा ॥”

यह गाथा प्रवचनसार की है । अमृतचंद्रसूरि ने इसकी टीका नहीं की है । जयसेनाचार्य ने इसकी टीका की है । इससे यह विदित होता है कि जयसेनाचार्य ने जो भी अधिक गाथायें कुंदकुंददेव की मानकर समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में लेकर उनकी टीकायें की हैं वे अन्य आचार्यों को भी कुंदकुंदकृत मान्य रही हैं ।

महासेन पंडितदेव कीन है :

गाथा १५९ की टीका में टीकाकार ने कहा है—

उक्तं च यण्णवतिपावंडि विजयोपाजितविशालकीर्तिभिर्देहारेनपंडितदेवंः —

“यथावत् अस्तुमिर्जातिः सम्यग्ज्ञानं प्रवोपवत् ।

तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित्प्रमितेः पृथक् ॥”

आगे गाथा १६२ की टीका में भी ऐसे ही है—

तथा चोक्तं श्रीमहासेनपंडितः —

“ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।

ज्ञानं पूर्वापरोभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥”

ये ९६ बार पाखंडियों के साथ शास्त्रार्थ में विजयी होने वाले श्री महासेन पंडितदेव कीन हैं ? वैसे ये दोनों श्लोक “स्वरूप संबोधन” के हैं, जो कि श्री अकलंकदेव की रचना प्रसिद्ध है । अतः इस विषय में अन्वेषक विद्वानों को विचार करना चाहिये ।

इस विवाद निरसन ग्रन्थ में पाया ३१-३२, ४१ तथा ५३ की टीका में कुछ विवाद हैं। उन-उन स्थलों में टीका का अर्थ करके मैंने विशेषार्थ में अन्य शास्त्रों के प्रमाण देकर विवाद का निरसन कर दिया है।

श्री कुंदकुंददेव की चर्चा :

नियमसार कथित निश्चय प्रतिक्रमण आदि क्रियायें श्री कुंदकुंददेव के पूर्णरूप से थीं क्या ? इसी को दिखाते हैं—निश्चय प्रतिक्रमण में कहा है—

चत्ता अगुलिमावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो सत्तु ।

सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

जो साधु अगुत्ति भाव को छोड़कर तीनगुत्ति से गुप्त होते हैं वे प्रतिक्रमण करते हैं क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं। इसमें टीकाकार ने कहा है कि जो मुनीश्वर त्रिगुत्ति से गुप्त निर्विकल्प परम नमःधिलक्षण से लक्षित प्रति पदपूर्व आत्मा को ध्याते हैं वे ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप हैं। श्रीकुंदकुंददेव कदाचित् मातर्वै गुणस्थान के स्वस्थान अप्रमत्त भाग में अंशात्मक यह ध्यानरूप प्रतिक्रमण करते होंगे फिर भी उनके भी व्यवहार गुप्तियां ही माती जानी चाहिये चूंकि निश्चय गुप्तियों में तो अवधिज्ञान संभव है।

निश्चय प्रत्यध्यान में कहा है—

मोत्तूण सवस जप्पमणागय सह असह वारणं किच्चा ।

अप्पाणं जो मायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥ ९५ ॥

जो मुनि सकलजन्म की योग अनागत सर्व शुभ-अशुभ को छोड़कर आत्मा का ध्यान करते हैं उनके प्रत्याख्यान होता है। इसमें भी टीकाकार ने संपूर्ण शुभ-अशुभ, दृश्य-भाव कर्मों के संहर को प्रत्याख्यान कहा है जो कि बारहवें गुणस्थान में घटेगा। श्री कुंदकुंददेव ग्रन्थ रचना करते थे, उपदेश करते थे अतः शुभरूप बाह्यजल्प और अंतर्गत उनके था हो था।

निश्चय आलोचना में कहा है—

णोकम्मकम्मरहित्यं विहावगुणपज्जएहि वविरित्तं ।

अप्पाणं जो मायदि समणस्सालोयणं होवि ॥१०७॥

जो कर्म नोकर्म में रहित और विभाव गुण पर्यायों से रहित आत्मा का ध्यान करते हैं उन अमरण के आलोचना होती है। यह भी निर्विकल्प शुद्धोपयोग परिणतिरूप ध्यान में घटेगी। यह आलोचना श्री माचार्य देव को कदाचित् ही ध्यान में घटनी होंगी।

निश्चय प्रायश्चित्त में कहा है—

सुह असुहवपणरणं राधादीभाववारणं किच्चा ।

अप्पाणं जो मायदि, तस्स तु नियमं हवे नियमा ॥१२०॥

शुभ अशुभ दोनों प्रकार के वचन और रागादि भावों को छोड़कर जो आत्मा को ध्याते हैं : यहां भी शुभ वचन रखना को छोड़कर अर्थात् निर्विकल्प ध्यान करना कहा है। शुभवचनरचना श्री कुंदकुंददेव के होती ही थी अन्यथा तब तबना अज्ञान ही

परमसमाधि में कहा है—

विरहो सख्यसावजो तिगुलो विहिबिदिओ ।

तस्य सामाझगं ठाई, इदि केवतिसासरो ॥१२५॥

जो सर्वसावय आरंभ गरियह से रहित हैं, तीन गुप्तियों से सहित हैं, पूर्ण जितेन्द्रिय हैं, उन्हीं के स्थायी सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है। यहां भी तीनगुप्ति से निर्विकल्प ध्यान के ध्याता मुनि लिये गये हैं। श्री कुंदकुंददेव के यह स्थायी सामायिक गुप्तिरूप से कदाचित ही ध्यान में होती होगी।

परमभक्ति में कहा है—

सर्ववियथाभावे, अप्पार्ण जो दुजुंजवे साह ।

सो जोगभक्ति जुतो, इवरस य किह हवे जोगो ॥१३॥

जो साधु सर्वविकल्पों के अभाव में—निर्विकल्प ध्यान में अपनी आत्मा को लगाने हैं वे योगभक्ति से युक्त हैं। इनसे अनिरुक्त उत्तर साधु के योग कैसे होगा; यहां पर सर्वविकल्पों का अभाव होना बीतराग निर्विकल्प ध्यान में ही संभव है। यह ध्यान अर्थात् आरोहण में—शुक्ल ध्यान में ही घटित होता है अतः श्री कुंदकुंददेव के भी यह योगभक्ति न होकर मात्र भावना ही माननी चाहिये।

आवश्यक में कहा है—

जो चरवि संजदो खसु मुहमावे सो हवेइ अण्णवसो ।

तम्हा नरस दु कम्मं आवासयलखणं न हवे ॥ १४४ ॥

जो संयत शुभभाव में वर्तन करते हैं वे अण्णवस हैं। इसलिये उनकी क्रियाएं आवश्यक सकारण नहीं हैं। यहां पर देवबंदना गुरुबंदना आदि शुभक्रियाओं से प्रवृत्ति उड़ाई है। जब कि श्री कुंदकुंददेव स्वयं एवं शुभ क्रियाएं करते ही थे। सद्धे गुणध्यान में प्रवृत्ति करते हुये इन्हें कैसे छोड़ सकते थे।

माने कहते हैं—

दखगुणपज्जयाणं, चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो ।

सोहंघणारखवगयसमणा, कहियंति एरिसय ॥ १४५ ॥

जो द्रव्य, गुण और पर्यायों में चित्त लगाते हैं वे अन्यथन हैं। भोहोषकार से रहित अमर्शों ने ऐसा कहा है। यहाँ पर भी द्रव्य गुणपर्यायों के चित्तन को छुड़ाकर मात्र निर्विकल्प ध्यान की प्रेरणा दी है। श्री कुंदकुंददेव स्वयं इस लक्षण से कथंचित् अन्यथन माने जा सकते हैं।

भाग्य और जो लक्षण किया है कि—

अंतरबाहिरजप्ये जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्या ।

जप्येसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्या ॥१५०॥

जो अंतर और बाह्य जल्प में रहते हैं वे बहिरात्मा हैं और जो जल्प में वर्तन नहीं करते हैं वे अंतरात्मा हैं।

यहाँ टीकाकार ने कहा है कि जो अपने आत्मध्यान में तत्पर हुये सर्वप्रकार से अंतर्मुख होकर शुभ अशुभ समस्त विकल्प जाल में कभी भी नहीं वर्तते हैं वे ही "परमतपोधन" साक्षात् अंतरात्मा हैं। यह लक्षण बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि में बटेगा।

श्री कुंदकुंददेव भी साक्षात् बारहवें गुणस्थानवाले अंतरात्मा न होकर छठे सातवें गुणस्थानवाले मध्यम अंतरात्मा थे। उनके प्रशस्तरूप अंतर्बाह्य जल्प दूर नहीं हुये थे।

भाग्य और कहते हैं—

जो धम्मसुक्कभाणहि परिणवो सोवि अंतरंगप्या ।

भाणविहीणो ममणो बहिरप्या इवि विजाणीहि ॥१५१॥

जो धर्मशुक्लध्यान में परिणत हैं, वे अंतरात्मा हैं, ध्यान से रहित अमर्श बहिरात्मा हैं। इसकी टीका में कहते हैं—“इह हि साक्षात् अंतरात्मा भगवान् क्षीणकपायः तस्य खलु भगवतः क्षीणकपायस्य वोढव कपायाणाम-भावात्.....।” यहाँ पर साक्षात् अंतरात्मा क्षीणकपायवर्ती भगवान् हैं, उन भगवान् बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनि के अनंतानुबंधी यदि सोलह कपायों का अभाव हो चुका है।

यह लक्षण भी श्री कुंदकुंददेव व टीकाकार श्री पद्मप्रभमतलधारी देव में पटित नहीं हो सकता है।

पुनः स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं—

वचनमयं पञ्चिकमणं वचनमयं पक्खस्वण जियमं च ।

आलोचनवचनमयं तं सत्त्वं जाण सज्जायं ॥१५३॥

वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय नियमप्रायश्चित्त और वचनमय आलोचना इन सबको शुभ स्वाध्याय समझो। कुंदकुंददेव स्वयं वचनमयी क्रियाएँ करते थे।

पुनः कहते हैं—

अवि सक्कवि कावुं जे पडिक्कमणारि करेक्क साजमयं ।

सत्तिविहीणो ओ जइ सइदहनं चेव कायव्वं ॥१५४॥

यदि शक्ति है तो ध्यानमय—निश्चय प्रतिक्रमण आदि करना चाहिये और यदि शक्ति नहीं है तो अज्ञान ही करना चाहिये । टीकाकार ने इसमें शक्ति से उत्तम संहनन लिया है और शक्तिविहीन से—इस पंचमकाल में हीन संहनन होने से कहा है । अतः यह उत्तमसंहननरूप शक्ति श्री कुंदकुंददेव में भी नहीं थी वे स्वयं अपने अज्ञान को ही रूढ़ रखते हुये आजकल के पंचमकाल के मुनियों को अज्ञान की प्रेरणा दे रहे हैं ऐसा समझना चाहिये ।

श्री कुंदकुंददेव विशाल संघ के आचार्य थे । इन्होंने गिरनार पर्वत पर श्वेतपटों से विवाद होने पर पाषाण की मूर्ति को बुलवा दिया था यह बात अनेकप्रमाण से सिद्ध है । गुर्वावली में कहा है—

पद्मनंदि गुरुर्जातो बलात्कार गणाधनीः, पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती ।

ऊर्जयंतगिरी तेभ गच्छः सारस्वतोऽभवत्, अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनंदिने ॥

बलात्कारण के अग्रणी श्रीपद्मनंदि आचार्य हुये जिन्होंने ऊर्जयंतगिरि पर पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था । उसी से सारस्वतगच्छ प्रसिद्ध हुआ है, उन पद्मनंदी मुनिनाथ की नमस्कार हो । इन कुंदकुंददेवके १-कुंदकुंद, २-वज्रांग, ३-एल्लुआय, ४-मुर्झापच्छ, और ५-पद्मनंदी के पांच नाम थे । पौंड्रपुराण में कहा है कुंदकुंदगणी येनोर्जयंतगिरिभस्तके । सोऽबलात् वादिता वादो पाषाणघटिता कली ।

अवि वृन्दावन ने भी कहा है—

संघ सहित श्री कुंदकुंद गुरु बंदनहेतु गये गिरनार ।

वादपर्यो तहं संसयमति को, साक्षी बडो अंबिकाकार ॥

“सत्यपंथ निर्णय विगंजर” कहरी गुरी तहं प्रगट पुकार ।

सो गुरुवेष बसो उर मेरे विघन हरण मंगल करतार ॥

इन्होंने अपना आचार्यपद उमास्वामी को दिया है । गुर्वावली में यह स्पष्ट है—आदि यथा—१-श्रीगुप्ति-गुप्त, २-भद्रबाहु, ३-माधनंदी, ४-जिनचंद्र, ५-कुंदकुंद ६-उमास्वामी यही बात नंदिसंघ की पट्टावली में भी है—यथा—४-जिनचंद्र, ५-कुंदकुंदाचार्य, ६-उमास्वामी ।^१ आदि

१-तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरंपरा, भाग ४, पृ० २६३, पृ० ४४ ।

हिंदी अनुवाद का निमित्त :

सन् १९७१ में रवीन्द्रकुमार ने मेरी प्रस्ताविका 'रोस्स' के गीतकार कविर्षि और तत्त्वज्ञानवातिक ग्रन्थ पढ़कर सोलापुर परोक्षालय से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करली। अनंतर मेरे से कई बार साग्रह किया कि माताजी ! आज कल समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थ को पढ़कर कुछ लोग एकांत से निश्चयाभासी बन रहे हैं। इसलिये आप विद्यार्थियों को इन ग्रन्थों का स्वाध्याय कराकर नये विद्वान् प्रणाली तरह समझा दोजिये। मैंने भी समयानुसार इसे उचित समझकर इन सभी को पहले समयसार का स्वाध्याय कराया। साथ ही आलापपद्धति भी पढ़ाई। इसके बाद क्रम से प्रवचनसार पंचास्तिकाय का भी स्वाध्याय चलाया। इन ग्रन्थों के कई बार स्वाध्याय के बाद सन् १९७५ में हस्तिनापूर में नियमसार का स्वाध्याय शुरू किया। उस समय दो तरह की प्रतियाँ स्वाध्याय में रखी गईं। एक प्रति में तीसरी गाथा को पढ़ते समय अर्थ असंगत प्रतीत हुआ। वह गाथा यह है—

‘नियमेण यं जं कर्जं तं नियमं गणधंसणचरितं’।

विपरीतपरिहरत्यं अनिदं खलु सारमिदि वयनं ॥ ३ ॥

इसका सरल अर्थ यह है कि—नियम से जो करने योग्य है वह नियम है वह ज्ञान दर्शन चारित्र्य है, विपरीत का परिहार करने के लिये इसमें “सार” शब्द लगाया है। अर्थात् रत्नत्रयस्वरूप मोक्ष मार्ग “नियम” है इसमें विपरीत को दूर करने के लिये “सार” शब्द लगाकर “नियमसार” बना है। इसका अर्थ है सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य।

किंतु एक प्रति में टीका का अर्थ और टिप्पण कुछ भ्रम ही छपा है। वह यह है। टीका में विपरीत रहित का (विकल्प रहित) अर्थ किया है। और विपरीत शब्द के टिप्पण में कहा है कि “विपरीत—विरुद्ध। व्यवहाररत्नत्रयस्वरूप विकल्पों को—परश्रुत भावों को—छोड़कर मात्र निर्विकल्प ज्ञानदर्शनचारित्र्य का ही—शुद्धरत्नत्रय का ही स्वीकार करने हेतु “नियम” के साथ “सार” शब्द जोड़ा है।”

यह अर्थ देखकर मैंने विचार किया कि जब स्वयं श्री कुंदकुंददेव ने इसी नियमसार ग्रन्थ में चौथे अध्याय तक व्यवहार रत्नत्रय का वर्णन किया है पुनः उसी व्यवहाररत्नत्रय के परिहार के लिये “सार” शब्द जोड़ा है यह कैसे बनेगा; यह तो पूर्वापर विरुद्ध होय हो जावेगा। दूसरी बात यह है कि स्वयं श्रीकुंदकुंददेव व्यवहाररत्नत्रय को ग्रहण कर उसी के अनुसार प्रवृत्ति करते थे। वे भी अपने आहार विहार, ग्रन्थ रचना और तीर्थ यात्रा आदि कार्यों में मूलतः अनुसार ही चर्चा करते थे। क्योंकि निश्चयरत्नत्रय व निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्यक्ष्यान, आवश्यक आदि क्रियायें तो ध्यानरूप ही मानी गई हैं। जो कि कथंचित् उनके ध्यानरूप सप्तमगुणस्थान में संभव थीं। ग्रन्थरचना करना, उपदेश देना आदि कार्य भी तो व्यवहाररत्नत्रय के अंतर्गत हैं न कि निश्चयरत्नत्रय के अंतर्गत।

अतः उपर्युक्त ग्रंथ के ग्रन्थ को देखकर मेरी भावना यह हुई कि इस ग्रन्थ का सार्वपरंपरा के अनुकूल अनुवाद होना प्रति आवश्यक है। सब मैंने वीर नि० संवत् २५०२ में मगसिर शुक्ला द्वितीया के दिन इस ग्रन्थ का अनुवाद कार्य प्रारंभ करके चैत्र कृष्ण नवमी "श्रीकृष्णजयंती" के पवित्र दिन इस अनुवाद कार्य को पूर्ण किया है।

मैंने यह अनुभव किया है कि ग्रन्थों के अनुवाद के समय अत्यधिक एकाग्रता हो जाती है। मन उसी ग्रंथ के चिंतन में तन्मय हो जाता है। परिणामों में निर्मलता आती है। अतिचार आदि दोषों का शोधन होता है, बेराग्य और बढ़ते हैं तथा निजात्म भावना खूब होती है।

इस अनुवाद में कहीं कहीं भावार्थ और विशेषार्थ देकर ग्रंथ स्पष्ट करने में मैंने धबला आदि सत्ताईस ग्रन्थों से सहायता ली है और यथास्थान उन ग्रन्थों के टिप्पण भी दे दिये हैं। यह अनुवाद अध्यात्म ग्रन्थ का सही ग्रंथ कराने में सक्षम होगा और सार्वपरंपरा के अनुयायियों को प्रिय होगा यह मेरा पूर्ण विश्वास है।

हस्तिनापुर

पीप वटौ २ वीर नि० सं० २५११

दि० १०-१२-१९५४

— अश्विका ज्ञानमती



अनुवाद में सहायक ग्रन्थ

१ धधला, पुस्तक १	१५ आप्तपरोक्षा
२ परमात्मप्रकाश	१६ यशस्तिलकचंपू
३ सत्यनिर्मिति	१७ सिद्धांतसाराधि (अमृतामोति)
४ आत्मानुशासन	१८ मूलाधार
५ गोम्मटसार जीवकांड	१९ अनंगारघर्माभूत
६ गोम्मटसार कर्मकांड	२० आदिपुराण
७ तत्त्वार्थ राजवातिक पूर्वाधि	२१ पञ्चमचरित
८ तत्त्वार्थ राजवातिक उत्तराधि	२२ अष्टपाहुड
९ समयसार	२३ भगवती आराधना
१० प्रवचनसार	२४ लघीयस्त्रय
११ आसापपद्धति	२५ तत्त्वार्थसूत्र
१२ परमाध्यात्मतरंगिणी	२६ स्वयंभूस्तोत्र
१३ तत्त्वानुशासन	२७ रयणसार
१४ बृहद्ब्रह्मसंग्रह	



प्रस्तावना

आचार्य श्री कुन्दकुन्द

कुन्दकुन्दाचार्य और उनका प्रभाव :

दियम्बर जैनाचार्यों में कुन्दकुन्द का नाम सर्वापरि है। मूर्तिलेखों, शिलालेखों, ग्रन्थप्रशस्ति लेखों एवं पूर्वाचार्यों के संस्मरणों में कुन्दकुन्द स्वामी का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिखा मिलता है।

मङ्गलं भगवान्वीरो मङ्गलं गीतमो गणो ।

मङ्गलं कुम्भकुन्दाचार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

इस संगल पद्य के द्वारा भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गोत्रम के बाद कुन्दकुन्द स्वामी को संगल कहा गया है। इनकी प्रशस्ति में कविवर वृन्दावन का निम्नांकित सधेया अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमें यत्नाया गया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द सा आचार्य न हुआ है, म है, और न होगा—

आस के मुखार्चिन्दर्से प्रकाश भासवृन्व

स्याद्वाद जैन चैन इव कुम्भकुन्द से

तास के अभ्यासर्से विकास भेद जान होत

मूढ़ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुम्भकुन्द से ।

वेत हैं अशीस शीस नाप इन्व चंद जाहि

मोह मार खंड मारतंड कुम्भकुन्द से

विशुद्धि बुद्धि वृद्धिवा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा

हए न हैं न होहिगे मुनिव कुम्भकुन्द से ॥

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के इस जयघोषका कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्वका, विशेषतया आत्म-तत्त्वका विषय। समयसार आदि ग्रन्थों में उन्होंने परसे भिन्न तथा स्वकीय गुण परियों से अस्मिन् आत्मा का जो वर्णन किया है। वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इन ग्रन्थों में ब्रह्मात्म धारा रूप जिस मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसके शीतल एवं पावन प्रवाहमें अवगाहन कर भवभ्रमण भ्रान्त पुरुष शाश्वतज्ञान्ति को प्राप्त करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य का विदेह गमन :

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेह क्षेत्र गये थे और सीमंघर स्वामी की दिव्य ध्वनि से उन्होंने आत्मतत्त्व का स्वरूप प्राप्त किया था। विदेह गमन का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य देवसेन (वि० सं० दशवीं शती) हैं। जैसा कि उनके दर्शनसार से प्रकट है।

जइ पउमर्णदिणाहो सीमंघरसामिदिध्वणारेण ।

ण विबोहइ तो समणा कह सुमर्ग पयाणति ॥४३॥

उसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ, सीमंघर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान से बोध न देते तो अमणु-मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

देवसेन के बाद ईसाकी बान्हवीं शताब्दी के विद्वान जयसेनाचार्य ने भी पञ्चास्तिकाय की टीका के प्रारंभ में निम्नलिखित अवतरण पुष्पिका में कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहगमन की चर्चा की है—

“अथ श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञ श्रीमंघरस्वामितीर्थकरपरमदेवं हृत्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यध्वनी श्रवणावधारितपदार्थच्छुद्धात्मनत्वादिसारार्थं” गृहीत्वा पुनरप्यागतः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवः पद्मनन्दाद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राप्तशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते ।”

जो कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे, प्रसिद्ध कथा के अनुसार पूर्व विदेह क्षेत्र जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्रीमंघरस्वामी तीर्थकर परमदेव के दर्शन कर तथा उनके मुखकमल से विनिर्गत दिव्यध्वनिके श्रवण से अवधारित पदार्थोंसे शुद्ध आत्मनत्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण कर जो पुनः वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाग थे, ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा अन्तस्तत्त्वकी मुख्य रूप से और बहिस्तत्त्वकी गौणरूप से प्रतिपत्ति कराने के लिये अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिये पञ्चास्तिकाय प्राप्त शास्त्र रचा गया।

वदप्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने अपनी टीका के अन्त में भी कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह गमन का उल्लेख किया है—

“श्रीमत्पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्त्रोवाचार्यताचार्यगृहपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनद्विता पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितश्रीमन्धरापरनामस्थयंप्रभजितेन तत्प्राप्तश्रुतज्ञानसम्बोधितभारतवर्षमख्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणसूतेन कलिकात्सर्वज्ञेन विरचिते वदप्राभृत ग्रन्थे—

पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रयोगाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य, इन पाँचनामों से जो युक्त थे, चार अंगुल ऊपर आकाश गमन की श्रद्धा जिन्हें प्राप्त थी, पूर्व विदेह क्षेत्र के पुण्डरीकिणी नगर में जाकर श्रीमन्धर अथवा नाम स्वयंप्रभ जिनेन्द्र की जिन्होंने वन्दना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भरत क्षेत्र के भव्य जीवों को संबोधित किया था जो जितचन्द्र सूरिभट्टारकके पट्टके आभूषण स्वरूप थे तथा कलिकाल के सर्वज्ञ थे, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित पट्टप्राभृत ग्रन्थ में ।"

उपयुक्त उल्लेखों से साक्षात् सर्वज्ञ देव की वाणी सुनने के कारण कुन्दकुन्द स्वामी की अपूर्व महिमा प्रस्थापित की गई है । किन्तु कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों में उनके स्वमुख से कहीं विदेह गमन की चर्चा उपलब्ध नहीं होती । उन्होंने समयप्राभृत के प्रारम्भ में मित्रों की वन्दनापूर्वक निम्न प्रतिज्ञा की है—

इदित् सर्वसिद्धे भुवमवलमणोवमं गई पत्ते ।

वोच्छामि समयप्राहुमिणमो सुयकेवली भणियं ॥१॥

इसमें कहा गया है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा भणित समयप्राभृत को कहूँगा । यद्यपि "सुयकेवलीभणियं" इस पद की टीका में श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—"अनादिनिघनश्रुतप्रकाशितत्वेन, निखिलार्थसाक्षात्कारि-केवलिप्रणीतत्वेन, श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवदभिरनिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतरय ।"

अर्थात् अनादिनिघन परमागम शब्दवाच्य द्वारा प्रकाशित होने से, तथा सब पदार्थों के समूह का साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रणीत होने से और स्वयं अनुभव करने वाले श्रुतकेवलियों के द्वारा कहे जाने से जो प्रमाणता को प्राप्त है ।

तो भी इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि मैंने केवली की वाणी प्रत्यक्ष सुनी है अतः केवली इसके कर्ता हैं । यहाँ तो मूलकर्ता की अपेक्षा केवली का उल्लेख जान पड़ता है । जयसेनाचार्य ने भी केवली का साक्षात् कर्ता के रूप में कोई उल्लेख नहीं किया है । उन्होंने "सुयकेवली भणियं" की टीका इसप्रकार की है—

'श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञभणितं श्रुतकेवलिभणितं । अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरकथितमिति ।'

अर्थात् श्रुत—परमागम में केवली—सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कहा गया । अथवा श्रुतकेवली—गणधर के द्वारा कहा गया ।

फिर भी देवसेन आदि के उल्लेख सर्वथा निराधार नहीं हो सकते । देवसेन ने, आचार्य परम्परा से जो चर्चाएं चली आ रही थी उन्हें वर्णनसार में निबद्ध किया है । इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा वर्णनसार की रचना के पहले भी प्रचलित रही होगी ।

कुन्दकुन्दाचार्य के नाम :

पञ्चास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के पद्मनंदी आदि अपर नामों का उल्लेख किया है। पट्टभाभूत के टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने पद्मनंदी, कुंदकुंदाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छा-चार्य इन पांचनामों का निर्देश किया है। नन्दिसंघ से संबद्ध विजयनगर के शिलालेख में भी जो लगभग १३८९ ई० का है, उक्त पांचनाम बतलाये गये हैं। नन्दिसंघकी पट्टावली में भी उपर्युक्त पांच नाम निदिष्ट हैं। परंतु अन्य शिलालेखों में पद्मनंदी और कुंदकुंद अथवा कोण्डकुंद इत दो नामों का ही उल्लेख मिलता है।

कुन्दकुन्द का जन्मस्थान :

हर्षभंदी आचार्य ने पद्मनंदी को कुण्डकुंदपुर का बनवाया है। इसीलिये भवगुप्तेलगोला के कितने ही शिलालेखों में उनका कोण्डकुंद नाम लिखा है। श्री पी० बी० देसाई ने "जैनिकम इन साउथ इण्डिया" में लिखा है कि भुवनेश्वर रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ४ मील पर एक कोनकुण्डल नाम का स्थान है जो अन्नत-पुर जिले के भुटी तालुके में स्थित है। शिलालेख में उसका प्राचीन नाम "कोण्डकुंद" मिलता है। यहां के निवासी इसे आज भी "कोण्डकुंद" कहते हैं। बहुत कुछ संभव है कि कुंदकुंदाचार्य का जन्मस्थान यही हो।

कुन्दकुन्द के गुरु :

संसार में निःस्पृह वीतराग साधुओं के माता-पिता के नाम सुरक्षित रखने—लेखबद्ध करने की परम्परा प्रायः नहीं रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्यों के माता पिता विषयक इतिहास की उपलब्धि प्रायः नहीं है। हां इनके गुरुओं के नाम किसी न किसी रूप में उपलब्ध होने हैं। पञ्चास्तिकाय की सात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने कुंदकुंदस्वामी के गुरु का नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव लिखा है और नन्दिसंघ की पट्टावली में उन्हें जिनभद्र का शिष्य बतलाया गया है। परंतु कुंदकुंदाचार्य ने बोधपाहुड के अंत में अपने गुरु के रूप में भद्रबाहु का स्मरण करते हुए अपने भाग्यो भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है। बोधपाहुड की गाथाएं इसप्रकार हैं।

सद्बलिवारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।

सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

वारस अंगवियाणं चउवस पुस्संग विउल चित्थरणं ।

सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरु मयवओ जयओ ॥६२॥

प्रथम गाथा में कहा गया है कि जिनेंद्र भगवान् महावीर ने अर्थरूप से जो वचन किया है वह भासासूत्रों में शब्द विकार को प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित किया गया है। भद्रबाहु के शिष्य ने उसे

उसी रूप में जाना है और कथन किया है । द्वितीय गाथा में कहा गया है कि बाग्ह अंगों और चौदह पूर्वी के विपुल विस्तार के वेसा गमक गुह भगवान् श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवंत हों ।

ये दोनों गाथाएं परस्पर में संबद्ध हैं । पहली गाथा में अपने आपको जिन भद्रबाहु का शिष्य कहा है दूसरी गाथा में उन्हीं का जयघोष किया है । यहां भद्रबाहु से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पड़ते हैं क्योंकि हादश अंग और चतुर्दश पूर्वी का विपुल विस्तार उन्हीं से संभव था । इसका समर्थन समय प्राभृत के पूर्वोक्त प्रतिज्ञा वाक्य "वदित् सखसिद्धे"—से भी होता है । जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत को कहूंगा । अथएवेलगोला के अनेक शिलासेखों में यह चत्तलेख मिलता है कि अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ भद्रबाहु यहां पधारे और वहीं एक गुफा में उनका स्वर्गवास हुआ । इस घटना को आज ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकृत किया गया है ।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुन्दकुन्द को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का साक्षान् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दी से ३०० वर्ष पूर्व उहरते हैं और उस समय जबकि ग्यारह अंग और चौदह पूर्वी के जानकार आचार्यों का परम्परा विद्यमान थी तब उनके रहते हुए कुन्दकुन्दवामी की इतनी प्रणिष्टा कैसे संभव हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है ? इस स्थिति में कुन्दकुन्दको उनका परम्परा शिष्य ही माना जा सकता है, साक्षान् नहीं । श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व उन्हें गुरु परम्परा से प्राप्त रहा होगा, उन्हीं के आधारे पर उन्होंने अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य घोषित किया है । बोधपाट्ट के संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागरसूरि ने भी "भद्रबाहुसीसेण" का अर्थ विष्णुआचार्य ५२ कुन्दकुन्दको उनका परम्परा शिष्य ही स्वीकृत किया है । श्रुतसागरसूरि की पंक्तियां निम्नप्रकार हैं—

भद्रबाहुशिष्येण अहं दुर्बलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातम् ।

इन पंक्तियों द्वारा कहा गया है कि यहाँ भद्रबाहु के शिष्य से विशाखाचार्य का ग्रहण है । इन विशाखाचार्य के अर्द्धदुर्बलि और गुप्तिगुप्त ये दो नाम और भी हैं तथा ये दशपूर्वके धारक ग्यारह आचार्यों के मध्य प्रथम आचार्य थे । भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे जैसा कि श्रुतसागरसूरि ने ६२वीं गाथा की टीका में कहा है—

"पञ्चदशानां श्रुतकेवलानां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहुः"

अर्थात् भद्रबाहु पांच श्रुतकेवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली थे । अतः उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को उनके शिष्य विशाखाचार्य ने जाना । उसी की परम्परा आगे चलती रही । गमकगुह का अर्थ श्रुतसागरसूरि ने उपाध्याय किया है तो विशाखाचार्य के लिये यह विशेषण उचित ही है ।

कुन्दकुन्द स्वामी का समय :

कुन्दकुन्द स्वामी के समय दिग्दर्शन पर "प्रवचनसार" की प्रस्तावना में डा० ए० एन० उपाध्ये ने, "समन्तभद्र" की प्रस्तावना में स्व० श्री जुगलकिशोरजी मुख्यार ने, "पंचास्तिकाय" की प्रस्तावना में डा० ए० चक्रवर्ती ने तथा "कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह" की प्रस्तावना में श्री पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री ने विस्तार से चर्चा की है। लेख विस्तार के भय से मैं उन सब चर्चाओं के अवतरण नहीं देना चाहता। जिज्ञासु पाठकों को तत् तत् ग्रन्थों से जानने की प्रेरणा करता हुआ कुन्दकुन्द स्वामी के समय निर्धारण के विषय में प्रचलित मात्र दो मान्यताओं का उल्लेख कर रहा हूँ। एक मान्यता प्रो० हार्नसे द्वारा सम्पादित नन्दिसंघ की पट्टावलियों के आधार पर यह है कि कुन्दकुन्द विजय की पहली शताब्दी के विद्वान् थे। वि० सं० ४९ में वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उग पद पर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ६५ वर्ष १० माह १५ दिन की थी। डा० ए० चक्रवर्ती ने पंचास्तिकाय की प्रस्तावना में अपना प्रहो अभिप्राय प्रकट किया है। और दूसरी मान्यता यह है कि वे विजय की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान् हैं। जिनका समर्थन स्व० श्री नाथुरामजी प्रेमी तथा पं० जुगलकिशोरजी मुख्यार आदि विद्वान् करते आते हैं।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और उनकी महत्ता :

दिग्म्बर जैन ग्रन्थों में कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा रचित ग्रंथ अपना अलग प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णन शैली ही इसप्रकार की है कि पाठक उससे वस्तु स्वरूप का अनुगम बड़ी सरलता से कर लेता है। वर्णन के विस्तार से रहित, तथे-तुल्य वाक्यों से किसी बात को कहना इन ग्रन्थों का विशेषता है। कुन्दकुन्द का वाणी सीधी हृदय पर असर करती है। निम्नांकित ग्रंथ कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित निर्विवाद रूप से माने जाते हैं तथा जैन समाज में उनका सर्वोपरि मान है। (१) पंचास्तिकाय (२) समन्तभद्र (३) प्रवचनसार (४) नियमसार (५) अष्ट-पाहुड। दंमणपाहुड, चरितपाहुड, मुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, सीलपाहुड और निगपाहुड। (६) वारसगुदेव्या श्री भनिसंगहो।

इनके सिवा "रघुसागर" नाम का ग्रंथ भी कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित प्रसिद्ध है परन्तु उसके अनेक पाठ भेद देखकर विद्वानों का मत है कि यह कुन्दकुन्द के द्वारा रचित नहीं है अथवा इसके अंदर अन्य लोगों की गाथाएं भी सम्मिलित हो गई हैं। आण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से हमने १८२५ संवत् की लिखित हस्त-लिखित प्रति बुलाकर उससे मुद्रित रघुसागर की गाथाओं का मिलान किया तो बहुत मंतर मालूम हुआ। मुद्रित प्रति में बहुत सी गाथाएं छूटी हुई हैं तथा नवीन गाथाएं मुद्रित हैं। उस प्रतिपर रचयिता का नाम नहीं है। उधर सूची में भी यह प्रति अज्ञात लेखक के नाम से दर्ज है। चर्चा करने पर पं० परमानंदजी शास्त्री ने बतलाया कि

हमने ७०-८० प्रतियां देखी हैं तथा यही हाल है मुद्रित प्रति में अप्रभंश का एक दोहा भी शामिल हो गया है तथा कुछ इस अभिप्राय की गायार्ण हैं जिनका कुंदकुंदकी विचारधारा से मेल नहीं खाता । इन्द्रनदि के श्रुतावतार के अनुसार षट्खण्डागम के भाष्य भाग पर कुंदकुंद स्वामी के द्वारा रचित परिकर्म ग्रंथ का उल्लेख मिलता है । इस ग्रंथ का उल्लेख षट्खण्डागम के विशिष्ट पुरस्कर्ता याचार्य बीरसेन ने अपनी टीका में कई जगह किया है । इससे पता चलता है कि उनके समय तक तो वह उपलब्ध रहा । परंतु आजकल उसकी उपलब्धि नहीं है । शास्त्र भण्डारों, खासकर दक्षिण के शास्त्र भण्डारों में इसकी खोज की जानी चाहिये । मूलाचार भी कुंदकुंद स्वामी के द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योंकि उसकी अंतिम पृष्ठिका में "इति मूलाचार विवृति द्वादशोऽध्यायः । कुंद-कुंदाचार्यं प्रणीत मूलाचाराख्य विवृतिः । कृतिरिय धमुनन्दिनः श्रमसाधन" यह उल्लेख पाया जाता है । विशेष परिज्ञान के लिये पुरातन वाक्य सूत्री की प्रस्तावना में स्व० प० जुगलकिशोरजी मुखर्गार का संदर्भ पठितव्य है ।

कुन्दकुन्द साहित्य में साहित्य सुषमा :

कुंदकुंदाचार्य ने अधिकांश गाथा छंद का, जो कि अग्र्य नाम से प्रसिद्ध है, प्रयोग किया है । वहीं अनुष्टुप् और उपजाति का भी प्रयोग किया है । एक ही छंद को पढ़ते-पढ़ते बीच में यदि विभिन्न छंद आ जाता है तो उससे पाठक की एक विशेष प्रशंसा का हक होता है । कुंदकुंद स्वामी के कुछ अनुष्टुप् छंदों का नमूना देखिये ।

ममत्ति परिवर्ज्जामि निम्ममत्तिमुबद्धिदो ।

आर्लवणं च मे आदा अवसेसाइं वीसरे ॥१७॥—भाव प्राभृत

एगो मे सस्सदो अण्णा णाणवंसणलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१८॥—भाव प्राभृत

सुहेण भाविवं णाणं बुहे जावे विणस्सदि ।

तम्हा जहावन्नं जोई अण्णा कुक्खेहि भावए ॥१९॥—मोक्ष प्राभृत

विरदो सव्वसावज्जे त्रिगुत्ती पिहिदिविओ ।

तस्स सामाइगं ठाइ इवि केवलिसासणे ॥२०॥

जो समो सव्वमूदेसु पावरेसु तसेसु वा ।

तस्स सामाइगं ठाइ इवि केवलिसासणे ॥२१॥—नियमसार

चेया उ पयडी अट्ठ उप्पज्जइ विणस्सइ ।

पयडी वि चेयपट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥२२॥

एवं बंधो उ बुद्धं वि अण्णोण्णत्पत्तया हवे ।

अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥—समय प्राप्ति

एक उपजाति का नशूना देखिये—

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिण

सुखस्स सुखेण दुराहियेण ।

णिद्धस्स सुखेण हवेवि बंधो

जहणवज्जे विससे ससे वा ॥—प्रवचनसार

फलंकारों की पुट भी कुंदकुंदस्वामी ने यथा स्थान दी है । जैसे, अप्रस्तुत प्रशंसा का एक उदाहरण देखिये —

ण सुयइ पयडि अभब्बो मुट्ठु वि आयण्णिउण जिणघम्मं ।

मुट्ठुदं पि पिबंता ण पणया णिध्विस्ता होति ॥१३६॥—भाव प्राप्ति

थोड़े से हेर-गौर के साथ यह गाथा समय प्राप्ति में आई है । उगमालंकार की छटा देखिये —

जह तारायण बंधो मयराओ मयउलाण सक्काणं ।

अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय बुविहधम्मणं ॥१४२॥

जह फणिराओ रेहइ पणमणिमाणिकककिरणविप्फुरिओ ।

तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणो जीयो ॥१४३॥

जह तारायण सहियं ससहरविबं खमंडले विमले ।

भाविय तह वय विमलं जिणलिंगं दंसणविमुद्धं ॥१४४॥

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिनिपत्तं सहावपयडीए ।

तह भायेण ण लिप्पइ कसायविसए हि सुप्पुरिसो ॥१४५॥—भाव प्राप्ति

रूपकालंकार की बहार देखिये —

जिणवर-वरणंबुद्धं णसंति जे परमभन्निरायेण ।

ते जम्मवेत्तिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५१॥

ते धीर धीर पुरिसा खमदमखगेण विप्फुरंतेण ।

दुण्णयपदसवलुद्धरकसायमडणिज्जिया जेहि ॥१५४॥

मायावेल्लि असेसा मोहमहातखवरमि आल्हा ।

बिसर्याबिस कुक्कुलिय लुणति मुणि णाणसत्थेहि ॥१५६॥—भाव प्राप्त

कहीं पर कूटक पद्धति का भी अनुसरण किया है । यथा,

तिहि तिणि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिणपरिपरिओ ।

दो दोस खिप्पमुक्को परमप्पा ज्ञायए जोई ॥४४॥—मोक्ष प्राप्त

अर्थात् तीन के द्वारा (तीन भुक्तियों के द्वारा) तीन को (मन वचन काय को) धारण कर, निरंतर तीन से (शतवचन से) रहित, तीन से (रत्नत्रय से) सहित और दो दोषों (गग द्वेष) से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है ।

कुन्दकुन्दका शिलालेखों तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में उल्लेख :

कुन्दकुन्द स्वामी अत्यन्त प्रसिद्ध और सर्वमान्य आचार्य थे अतः इनका उल्लेख अनेक शिलालेखों में मिलता है तथा इनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने बड़ी श्रद्धा के साथ इनका सम्मरण किया है । जैन ग्रन्थों के शोधार्थी के आधार पर कुछ उल्लेखों का यहाँ संकलन किया जाता है—

श्रीमती वर्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने ।

श्री कोण्डकुन्दनामाभून्मूलसङ्गाग्रणीर्गणी ॥—अ० वे० शि० ५५, ६०/४९, २

वन्धो विभुभुवि न कीरिह कोण्डकुन्दः

कुन्दप्रभाप्रणयिकीतिविभूषिताशः ।

यश्चारुचारणकराम्भुजचन्द्ररीक-

श्चक्रे अतस्य सरते प्रयतः प्रतिष्ठां ॥अ० वे० शि० ५४/६७

तस्मान्द्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रयभाभिधानः ।

श्रीकोण्डकुन्वादिमुनीश्वराख्यस्तत्संयमाकुक्षतचारणद्विः ॥—अ० वे० शि० ४०/६०

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यसत्त्वीत्तरकोण्डकुन्दः ।

द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंज्ञातमुत्तारणद्विः ॥

—अ० वे० शि० ४२, ४३, ४७, ५०

“इत्याद्यनेकसूरिष्वथ सुपदमुपेतेषु दीव्यसप्तस्था—

शास्त्राधारेषु पुण्यवज्जनि स जगतां कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ।

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संख्यरुजयितुं यतीशः ।

रजःपदं भूमिनलं विहाय चत्वार मन्त्रे चतुरंगुलं सः ॥अ० वे० शि० १०५

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धाश्चभूदोवा यतिरत्नमाला ।

बभौ यवनाभमंजिवन्मुनीन्द्रस्त कुण्डकुन्दोदित चण्डवण्डः ॥ध० वे० शि० १०८

श्रीमूलसङ्घेऽजनि कुन्दकुन्दः सूरिमंहात्माखिलतत्त्ववेदी ।

सीमन्धरस्वामिपद्मवन्दो पञ्चाङ्गयो जैनमतप्रदीपः ॥धर्मकीर्ति, हरिवंशपुराण

कविरत्नसिनो ग्रामनिबोधनमुधावृणिम् ।

वन्द्यं वन्द्यमहं वन्दे कुन्दकुन्दाभिधं मुनिम् ॥मु० विद्यानन्दि-सुदर्शन च०

श्री मूलसङ्घेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणो तिरम्यः ।

तत्रापि भारग्वतनारिन् गच्छेत् स्वच्छाश्रमो भूदिह पद्मवन्दो ॥

आचार्यकुन्दकुन्दाश्रयो वक्रप्रीतो महार्मतिः ।

एसाधार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥सा० इ० इन्स०, न० १५२

कुन्दकुन्दमुनि वन्दे चतुरंगुलचारणम् ।

कलिकाले कृतं येन वात्सल्यं सर्वजन्तुषु ॥सीमसेन पुराण

सृष्टेः समपसारस्य कर्ता सूरिपदेश्वरः ।

श्रीमच्छ्रीकुन्दकुन्दाश्रयस्तनोतु मनिमेवुराम् ॥अजित ब्रह्म-हनुमच्छरित्र

सञ्जन्दिसंघपुरतस्मदिवाकरो भूच्छ्रीकुन्दकुन्द इतिनाम मुनीश्वरो सो ।

जीयात् स र्वं विहितशास्त्रसुधारणेन मिथ्याभुजङ्गगरलं जगतः प्रणष्टम् ॥

—मेधावी धर्मसंघः आवकाचार

आसाद्य च सदा सहाय्यसमं गत्वा विवेह जवा —

वर्धयितुं किल केवलक्षणमिदं द्यौतक्षमध्यक्षतः ।

स्वामी साध्यपदाधिरुद्धधिषणः श्री नन्दिसंघधियो

मान्यः सो न्तु शिवाय शान्तमनसा श्री कुन्दकुन्दाभिधः ॥

—अमरकीर्तिसूरि, जिनसहस्रनाम टीका

श्रीमूलसङ्घे जनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणे तिरम्ये ।

तत्राभवत्पूर्वपरांशवेदी श्रीमाघवन्दो भरदेववन्द्यः ॥

पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूवतन्द्रः ।

ततो भवत्पन्धसुनामधामा श्रीपद्मवन्दो मुनिचक्रवर्ती ॥—नगिसंघपट्टावली

कुन्दकुन्दाचार्य की नय व्यवस्था :

वस्तु स्वभाव का अभिप्राय—ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी दो घटकों को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी दो घटकों में से एक को प्रमुख और दूसरे को गौण कर विवेकानुसार क्रम से ग्रहण करता है। नयों का निरूपण करने वाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय-विवेचना में नय के द्रव्याधिक, पर्यायाधिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि में निश्चय तथा व्यवहार नय का निरूपण है। यहाँ द्रव्याधिक और पर्यायाधिक दोनों ही निश्चय में समा जाते हैं और व्यवहार में उपचार कथन रह जाता है। शास्त्रीय दृष्टि में वस्तु स्वरूप को विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि में उस नय-विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। इन दोनों दृष्टियों का अन्तर्गत बनते हुए, कुन्दकुन्द प्रसृत संग्रह की प्रस्तावना में पृष्ठ ८२ पर श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी ने निम्नांकित पंक्तियाँ बहुत ही महत्वपूर्ण लिखी हैं—

“शास्त्रीय दृष्टि वस्तु का विश्लेषण करके उसकी तब तक पहुँचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि में निमित्त कारण के व्यापार का उतना ही मुख्य है जितना उपादान कारण के व्यापार का। और परसंयोगजन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादान कारण के बिना कार्य नहीं होता वैसे ही निमित्त कारण के बिना भी कार्य नहीं होता। अतः कार्य की उत्पत्ति में दोनों का सम व्यापार है। जैसे मिट्टी के बिना घट उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कुम्हार-नक आदि के बिना भी घट उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करने वालों शास्त्रीय दृष्टि किसी एक के पक्ष में अपना फैसला कैसे दे सकती है? इसी तरह मोक्ष जितना यथार्थ है संसार भी उतना ही यथार्थ है और संसार जितना यथार्थ है उसके कारण कलाप भी उतने ही यथार्थ हैं। संसार दगा न केवल जोव की अशुद्ध दशा का परिणाम है और न केवल पुद्गल की अशुद्ध दशा का परिणाम है। किन्तु जीव और पुद्गल के मेल से उत्पन्न हुई अशुद्ध दशा का परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से जितना सत्य जीव का अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गल का अस्तित्व है उतना ही सत्य उन दोनों का मेल और संयोगज विचार भी है। वह मान्य की तरह पुरुष में आरोपित नहीं है किन्तु प्रकृति और पुरुष के संयोगजन्य बन्ध का परिणाम है अतः शास्त्रीय दृष्टि से जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप और मोक्ष सभी यथार्थ और सारभूत हैं। अतः सभी का यथार्थ अद्धान सम्बन्धान है। और चूँकि उसकी दृष्टि में कार्य की उत्पत्ति में निमित्त कारण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उपादान कारण, अतः आत्मप्रतीति में निमित्तभूत देव शास्त्र और गुरु बगैरह का अद्धान भी सम्बन्धदर्शन है। उसमें गूणास्थान भी हैं, मार्गणास्थान भी हैं—सभी हैं। शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तु-विज्ञेय के साथ कोई पक्षपात नहीं है। वह वस्तु स्वरूप का विश्लेषण किसी के हित अहित की दृष्टि में रखकर नहीं करती।

आध्यात्मिक दृष्टि का विवेचन करते हुए पृष्ठ ८३ पर लिखा है—

“शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विचार किया जाता है जो आत्मा के आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र में रखकर जगत के स्वरूप का विचार करते हैं वैसे ही अध्यात्म दृष्टि आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करती है। जैसे वेदान्त में ब्रह्म ही परमार्थ सत् है और जगत मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्म विचारणा में एक मात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएँ व्यवहार सत्य हैं। इसी से शास्त्रीय क्षेत्र में जैसे वस्तुतत्त्व का विवेचन द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नयों के द्वारा किया जाता है वैसे ही अध्यात्म में निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा आत्मतत्त्व का विवेचन किया जाता है और निश्चय दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। क्योंकि निश्चय दृष्टि आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध अवस्था को दिखलाती है। अध्यात्मो मुमुक्षु शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है अतः उसकी प्राप्ति के लिये सबसे प्रथम उसे उस दृष्टि की आवश्यकता है जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन करा सकने में समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चय दृष्टि है अतः मुमुक्षु के लिये वही दृष्टि भूतार्थ है। जिससे आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है वह व्यवहार दृष्टि उसके लिये कार्यकारी नहीं है अतः वह अभूतार्थ बही जाती है। इसी से आचार्य कुन्दकुन्द ने नमचप्राभूत के प्रारम्भ में “व्यवहारो भूतयो भूतयो देसिदो य मुदगानो” लिखकर व्यवहार को अभूतार्थ और शुद्धतम अर्थात् निश्चय को भूतार्थ कहा है।”

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार और नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है अतः इनमें निश्चयनय और व्यवहार नय ये दो भेद ही दृष्टिगत होते हैं। वस्तु के एक अभिन्न और स्वाश्रित-परनिर-पेश ऐकालिक स्वभाव को जानने वाला निश्चयनय है और अनेक भेदरूप वस्तु तथा उसके पराश्रित-परसापेक्ष परिणामन को जानने वाला नय व्यवहारनय है। यद्यपि अन्य आचार्यों ने निश्चयनय के शुद्धनिश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं तथा व्यवहारनय-के सदभूत, असदभूत, अनुपचरित और उपचरित के भेद से अनेक भेद स्वीकृत किये हैं। परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने इन भेदों के चक्र में न पड़कर मात्र दो भेद स्वीकृत किये हैं। अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के ऐकालिक आत्मा के स्वभाव को उन्होंने निश्चयनय का विषय माना है और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को व्यवहारनय का विषय कहा है। निश्चयनय आत्मा में काम, क्रोध, मान, मर्या, लोभ आदि विकारों को स्वीकृत नहीं करता। चूंकि ये पुद्गल के निमित्त से होते हैं अतः उन्हें पुद्गल के मानता है। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि विकल्प जीव के स्वभाव नहीं हैं अतः निश्चय नय उन्हें स्वीकृत नहीं करता इन सबको आत्मा के कहना व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय स्वभाव को विषय करता है, विभाव को नहीं। जो स्व में स्वके निमित्त से सदा रहता है वह स्वभाव है जैसे जीव के ज्ञानादि, और जो स्वमें पर के निमित्त से होते हैं वे विभाव हैं। जैसे जीव में क्रोधादि। ये विभाव, चूंकि आत्मा में ही पर के

निमित्त से होते हैं इसलिए उन्हें कथंचित् आत्मा के कहने के लिये जयसेन आदि आचार्यों ने निश्चयनय में शुद्ध और अशुद्ध का विकल्प स्वीकृत किया है परन्तु कुन्दकुन्द महाराज विभाव को आत्मा का मानना स्वीकृत नहीं करते, वे उसे व्यवहार का ही विषय मानते हैं। अमृतचंद्र सूरि ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु तत्त्व का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये दोनों नयों का आलम्बन सेता है परन्तु अज्ञा में वह अशुद्ध नयके आलम्बन को हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तु स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्धनय का आलम्बन स्वयं छूट जाता है। कुन्दकुन्दस्वामी ने उभयनयों के आलम्बन से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन किया है इसलिये वह निर्विवाद रूप से सर्वग्राह्य है।

आगे नियमसार में प्रतिपादित यस्तु तत्त्व का दिग्दर्शन कराया जाता है।

नियमसार

नियमसार में १५७ शास्त्रों और १२ अधिकार हैं अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं :—

(१) जीवाधिकार	(२) अजीवाधिकार
(३) शुद्ध भव्याधिकार	(४) व्यवहार चार्ित्राधिकार
(५) परमार्थ प्रतिपन्नताधिकार	(६) निश्चय प्रत्याख्याधिकार
(७) परमानुचनाधिकार	(८) शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्ताधिकार
(९) परमममाध्यधिकार	(१०) परम भक्त्यधिकार
(११) निश्चय परमावयवकाधिकार और	(१२) शुद्धोपयोगाधिकार।

(१) जीवाधिकार :

नियम का अर्थ लिखते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं :—

नियमेण यः कं कञ्चं तण्णियमं जाणवंसणचरित्तं ।

विपरीय परिहरत्थं भणितं खलु सारमिदि अयणं ॥३॥

जो नियम से करने योग्य हों उन्हें नियम कहते हैं। नियम से करने योग्य ज्ञान दर्शन और चारित्र हैं। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिये नियम शब्द के साथ सारपद का प्रयोग किया है। इस तरह नियमसार का अर्थ सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र है। संस्कृत टीकाकार श्री पद्मप्रभमतधारी देव ने भी कहा है—

“नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु वर्तन्ते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम् ।”

अर्थात् नियम शब्द सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य में आता है तथा नियमसार इस शब्द से शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है।

जिन शासन में मार्ग और मार्गों का फल इन दो पदार्थों का कथन है। उनमें मार्ग-मोक्ष का उपाय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य कहलाता है और निर्वाण, मार्ग का फल कहलाता है। इन्हीं तीन का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का लक्षण लिखते हुये कहा है—

प्राप्त, आगम और तत्वों के भ्रष्टान से सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो सकल गुण स्वरूप हैं वह प्राप्त है। क्षुधा तृषा आदि अठारह दोष कहलाते हैं और केवलज्ञान आदि गुण कहे जाते हैं। प्राप्त भगवान् क्षुधा तृषा आदि समस्त दोषों से रहित हैं तथा केवलज्ञानादि परमविभव—अनन्त गुण रूप ऐश्वर्य से सहित है। यह प्राप्त ही परमात्मा कहलाता है। इसमें विपरीत आत्मा परमात्मा नहीं हो सकता।

आगम और तत्व का वर्णन करते हुए लिखा है —

उत प्राप्त भगवान् के मुख से उद्गत — दिव्यध्वनि से प्रकटित तथा पूर्वापर विरोध रूप दोष से रहित जो शुद्ध वचन है वह आगम कहलाता है और आगम के द्वारा कथित जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश हैं वे तत्त्वार्थ हैं। वे तत्त्वार्थ नाना गुण और पर्यायों से सहित हैं। इन तत्त्वार्थों में स्वपरावभासी होने से जीव तत्व प्रधान है। उपयोग, मुख्य बालक्षण है। उपयोग के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की अपेक्षा दो भेद हैं। ज्ञानोपयोग स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। केवलज्ञान स्वभाव ज्ञानोपयोग है और विभाव ज्ञानोपयोग, सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान की अपेक्षा दो प्रकार का है। विभाव सम्यग्ज्ञानोपयोग के सति श्रुत भवधि और मनःपर्यय के भेद से चार भेद हैं और विभाव मिथ्याज्ञानोपयोग के कुमति, कुश्रुत और कुभवधि की अपेक्षा तीन भेद हैं। इसी तरह दर्शनोपयोग के भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद हैं। उनमें केवल दर्शन स्वभाव दर्शनोपयोग है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और भवधिवर्णन ये तीन दर्शन विभाव दर्शनोपयोग हैं।

पर्याय के पर की अपेक्षा से सहित और पर की अपेक्षा से रहित, इस तरह दो भेद हैं। अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय के भेद से भी पर्याय दो प्रकार की होती है। पर के आश्रय से होने वाली षट्गुणी हानि वृद्धिरूप जो संसारी जीव की परिणति है वह विभाव अर्थ पर्याय है तथा सिद्ध परमेष्ठी की जो षट्गुणी हानि वृद्धिरूप परिणति है वह जीव की स्वभाव अर्थ पर्याय है। प्रदेशवत्त्व गुण के विकार रूप जो जीव की परिणति है अर्थात् जिसमें किसी आकार की अपेक्षा रखी जाती है उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। इसके भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद होते हैं। अन्तिम शरीर से किञ्चिद्भूत जो सिद्ध परमेष्ठी का आकार है वह जीव की स्वभाव व्यञ्जन पर्याय है और कर्मोपाधि से रचित जो भरतारकादि पर्याय हैं वह विभाव व्यञ्जन पर्याय है।

व्यवहार नय से आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता और भोक्ता है तथा अशुद्ध निश्चयनयसे कर्म जनित रागादि भावों का कर्ता है। संस्कृत टीकाकार ने नय विवक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा द्रव्य कर्मों का कर्ता है तथा उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुख-दुःख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा समस्त मोह-राग-द्वेष रूप भाव कर्मों का कर्ता है तथा उन्हीं का भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा शरीर रूप तो कर्मों का कर्ता और भोक्ता है तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से घटपटादिका कर्ता और भोक्ता है। जहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय के भेद से नयके दो भेद ही विवक्षित हैं वहाँ आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा अपने ज्ञानादि गुणों का कर्ता भोक्ता होता है और व्यवहार नय से रागादि भाव कर्मों का।

श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने कहा है—

ही हि नयो भगवदहंत्परमेश्वरेण प्रोक्ता द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्चेति । द्रव्यमेकार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्याधिकः । पर्यायः एव प्रयोजनमस्येति पर्यायाधिकः न खलु एक नयापस्तोपदेशो ग्राह्यः किन्तु तदुपन्यापस्तोपदेशः ।

भगवान् अहंन्त परमेश्वर ने दो नय कहे हैं—एक द्रव्याधिक और दूसरा पर्यायाधिक। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्याधिकनय है और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायाधिक नय है। एक नय के अधीन उपदेश ग्राह्य नहीं है किन्तु दोनों नयों के अधीन उपदेश ग्राह्य है।

यह उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि नय वस्तु स्वरूप को समझने के साधन हैं, वक्ता पात्र की योग्यता देखकर विवक्षानुसार उभयनयों को अपेक्षित है। यह ठीक है कि उपदेश के समय एक नय मुख्य तथा दूसरा नय गौण होता है परन्तु सर्वथा अपेक्षित नहीं होता।

इस परिप्रेक्ष्य में जब धैकालिक स्वभाव को ग्रहण करने वाले द्रव्याधिकनय की अपेक्षा बचन होता है। तब जीव द्रव्य रागादिक विभाव परिणति तथा नरनारकादिक ध्वज्जन पर्यायो से रहित है यह बात आती है और तब पर्यायाधिक नय की अपेक्षा कथन होता है तब जीव इन सबसे सहित है यह बात आती है।

(२) अजीवाधिकार :

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच अजीव पदार्थ हैं। पुद्गल द्रव्य अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें स्कन्ध के अतिस्थूल स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म के भेद से ६ भेद हैं। पृथिवी, तेल आदि, छाया, आतप आदि, चक्षु के सिवाय शेष चार इन्द्रियों के विषय, कामेंश वर्गणा और द्रवणुकस्कन्ध ये अतिस्थूल आदि स्कन्धों के उदाहरण हैं। अणु के कारण अणु और कार्यअणु के भेद से दो भेद हैं। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओं की उत्पत्ति का जो कारण है उसे कारण परमाणु और

स्कन्ध से विछुड़कर एक प्रदेशात्मक अवस्था की प्राप्ति अणु को कार्य परमाणु कहते हैं। परमाणु का लक्षण इस प्रकार कहा है—

वही जिसका आदि है, वही मध्य है, वही अन्त है, जिसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता तथा जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता उसे परमाणु जानना चाहिये।

इस परमाणु में एक रस, एक रूप, एक गन्ध और शीत उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध और रुक्ष में से कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श पाये जाते हैं। दो या उससे अधिक परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं। अणु और स्कन्ध के भेद से पृथगल द्रव्य के दो भेद हैं।

जीव और पृथगल के समन का जो निमित्त है उसे धर्म द्रव्य कहते हैं। जीव और पृथगल की स्थिति का जो निमित्त है उसे अधर्मद्रव्य कहते हैं। जीवादि समस्त द्रव्यों के अग्रग्राह का जो निमित्त है उसे आकाश कहते हैं। समस्त द्रव्यों की अवस्थाओं के बदलने में जो सहकारी कारण है वह कालद्रव्य है। यह कालद्रव्य समय और भावली के भेद से दो प्रकार का होता है। अथवा अतीत, वर्तमान और भावी (भविष्यत्) की अपेक्षा तीन प्रकार का है। संख्यात आदितियों से युक्ति सिद्ध राशि का जितना प्रमाण है उतना अतीतकाल है। वर्तमान काल समय मात्र है और भावी (भविष्यत्) काल, समस्त जीव राशि तथा समस्त पृथगल द्रव्यों से अनन्त गुणा है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों का परिणामन सदा शुद्ध हो रहता है परन्तु जीव और पृथगल द्रव्य में शुद्ध अशुद्ध—दोनों प्रकार का परिणामन होता है। मूल अर्थात् पृथगल द्रव्य के संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य से असंख्यात प्रदेश होते हैं, लोकाकाश के भी असंख्यात प्रदेश हैं परन्तु समस्त आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। कालद्रव्य एक प्रदेशी है। उपर्युक्त चार द्रव्यों में पृथगल द्रव्य मूल है, शेष पाँच द्रव्य अभूत हैं। एक जीव द्रव्य चेतन है शेष पाँच द्रव्य अचेतन हैं। पृथगल का परमाणु आकाश के जिनमें अंश की घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं।

शुद्धभावाधिकार :

जब तत्त्वों की हेय और उपादेय इन दो भेदों में विभाजित करते हैं। तब परजीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं और कर्मरूप उपाधि में रहित स्वकीय स्वरूप अर्थात् शुद्ध आत्मा उपादेय है। जब तत्त्वों की हेय उपादेय तथा ज्ञेय तीन भेदों में विभाजित करते हैं तब जीवादि बाह्यतत्त्व ज्ञेय है, स्वकीय शुद्ध आत्मा उपादेय है और उसका विभाव परिणामन हेय है। तात्पर्य यह कि आत्मद्रव्य का परिणामन स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का होता है। जो स्व में स्वके निमित्त से होता है वह स्वभाव परिणामन कहलाता है जैसे जीव का ज्ञान दर्शन रूप परिणामन। और जो स्व में परके निमित्त से होता है वह विभाव परिणामन कहलाता है जैसे जीव का रागद्वेषादिरूप परिणामन। इन दोनों प्रकार के परिणामनों में स्वभाव परिणामन उपादेय है और विभाव परिणामन हेय है।

शुद्ध भावाधिकार में आत्मा को इन्हीं विभाव परिणामों से पृथक् सिद्ध करने के लिये कहा गया है—

कार्य की उत्पत्ति बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणों से होती है अतः सम्पत्त्व की उत्पत्ति के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणों का कथन करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

सम्पत्तस्त निमित्तं जिनागमं तस्मात् जायते पुरस्तात् ।

अन्तरहेतुः अणिदा वंसणमोहस्त खय पनुधी ॥५३॥

अर्थात् सम्पद्दर्शन का वाह्य निमित्त जिनागम तथा उसके जाता पुरुष है और अन्तरङ्ग निमित्त दर्शन मोह कर्म का क्षय आदिक है ।

अन्तरङ्ग निमित्त के होने पर कार्य नियम से होता है परन्तु बहिरङ्ग निमित्त के होने पर कार्य की उत्पत्ति होने का नियम नहीं है । हो भी शीघ्र नहीं भी हो ।

इस अधिकार में कर्म जनित अशुद्ध भावों को अनात्मोद्यत बनाकर स्वाधित शुद्ध भाव को आत्मीय बनाया है ।

(४) व्यवहार चारित्र्याधिकार :

इस अधिकार में अहिंसा, सत्य, अचोयं, अक्षय्यं, अपरिमह इन् पांच महाव्रतों का, ईर्ष्या, भाषा, गुणानुपादान निषेधण और प्रतिष्ठापन इन पांच समितियों का, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और काय गुप्ति इन तीन गुप्तियों का तथा अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमेष्ठियों का स्वरूप बतलाया गया है । हिंसा, असत्य, चोरी, व्यवहार और एगिष्ट ये पांच पाप के पनासे हैं । इनके माध्यम से आत्मा में कर्मों का आश्रय होता है अतः इनका निरोध करना सम्पत्कचारित्र्य है । पांच पापों का पूर्ण त्याग हो जाने पर पांच महाव्रत प्रकट होते हैं उनकी रक्षा के लिये ईर्ष्या प्रादि पांच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना आवश्यक है । महाव्रतों की रक्षा के लिये प्रवचन—आगम में इन पाठ की माता की उपमा दी गई है इसीलिये इन्हें अष्ट प्रवचन मातृका कहा गया है । व्यवहारनय से यह तेरह प्रकार का चारित्र्य कहलाता है । इस अधिकार में इसी व्यवहार चारित्र्य का वर्णन है ।

(५) परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार :

इस अधिकार में कर्म और नोकर्म से भिन्न आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुए सर्व प्रथम कहा गया है कि “मैं नारकी नहीं हूँ, तिर्यच नहीं हूँ, मनुष्य नहीं हूँ, देव नहीं हूँ, गुणस्थान मार्गणा तथा जीव समास नहीं हूँ, न इनका करने वाला हूँ, न करने वाला हूँ, और न अनुमोदना करने वाला हूँ । बालवृद्ध प्रादि अवस्थायें तथा राग

हैं प मोह क्रोध मान माया लोभ स्व विकारी भाव भी मेरे नहीं हैं । मैं तो एक शायक स्वभाव वाला स्वतन्त्र जीव द्रव्य हूँ ।" इस प्रकार भेदाभ्यास करने से जीव मध्यस्थ होता है और मध्यस्थ भाव से चारित्र्य होता है । उस चारित्र्य को दृढ़ करने के लिये प्रतिक्रमण होता है । पर्याय में प्रतिक्रमण किसके होता है ? इसका कितना स्पष्ट वर्णन कुन्दकुन्द स्वामी ने किया है । देखिये—

जो वचनरचना को छोड़कर तथा रागादिभावों का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है और ऐसे परमार्थ प्रतिक्रमण के होने पर ही चारित्र्य निर्दोष हो सकता है ।

निश्चय प्रत्याख्यानधिकार :

प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है । यह त्याग विकारी भावों का ही किया जा सकता है स्वभाव का नहीं—ऐसा विचार करता हुआ जो समस्त वचनों के विस्तार को छोड़कर शुभ-अशुभ भावों का निवारण करता है तथा आत्मा का ध्यान करता है उसी के प्रत्याख्यान होता है । शुभ-अशुभ भाव, इस जीव के आत्मध्यान में बाधक हैं अतः प्रत्याख्यान करने वाले पुरुषों को सबसे पहले शुभ-अशुभ भावों को समझ उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिये । निश्चय प्रत्याख्यान की सिद्धि के लिये आचार्य महाराज ने इसप्रकार की भावनाओं का होना आवश्यक बताया है—

मैं निर्ममत्व भाव को प्राप्त कर ममत्व भाव को छोड़ता हूँ । मेरा आलम्बन मेरा आत्मा ही है, शेष आलम्बनों को मैं छोड़ता हूँ । इत्यादि ।

(७) परमालोचनाधिकार :

परमालोचना किसके होती है ? इसका उत्तर देने लग कहते हैं—

जो लोकमं और कर्म से रहित तथा विभाव गुण और पर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है ऐसे श्रमण—मुनि के ही परमालोचना होती है ।

आगम में १. आलोचन २. आलुच्छन ३. अविकृतिकरण और ४. भावशुद्धि के भेद से परमालोचना के चार अंग कहे गये हैं । पुनः इन अंगों के पृथक्-पृथक् लक्षण बनाये गये हैं ।

(८) शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार :

व्यवहार दृष्टि से प्रायश्चित्त के अनेक रूप सामने आते हैं परन्तु निश्चय नयसे उसका क्या रूप होना चाहिये इसका दिग्दर्शन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस अधिकार में किया है । वे कहते हैं कि सत, समिति, शील और

संयमरूप परिणाम तथा इन्द्रियबन्धन का भाव ही वास्तविक प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरन्तर करती रहना चाहिये। आत्मीय गुणों के द्वारा विकारी भावों पर विजय प्राप्त करना सच्चा प्रायश्चित्त है। इसीलिये कहा है—

क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, भ्राजंश से माया को, और संतोष से लोभ को—इसप्रकार श्रमण इन चार कषायों को जीतता है।

(९) परमसमाधि अधिकार :

आत्मपरिणामों का स्वरूप में सुस्थिर होना परम समाधि है। इसकी प्राप्ति भी आत्म ध्यान से ही होती है। कहा है

जो मुनि समता भाव से रहित है उसके लिये वनवास, आतापनयोग, आदि कायकलेश, मानाप्रकार के उपवास, और अध्ययन तथा मीन आदि क्या लाभ पहुँचा सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

सामायिक और परमसमाधि को पर्यायवाचक मानते हुये कुन्दकुन्दस्वामी ने १२५-१३३ तक नौ गाथाओं में स्पष्ट किया है कि स्थायी सामायिक किससे हो सकती है ? परम समाधि का अधिकारी कौन है ? इत्यादि।

(१०) परमभक्ति अधिकार :

“भजनं भक्तिः” इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपासना को भक्ति कहते हैं। “पूज्यानी” गृणध्वनुरागी भक्तिः” पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग होना भक्ति है यह भक्ति का वाच्यार्थ है। सर्वश्रेष्ठ भक्ति निवृत्तिभक्ति है अर्थात् मुक्ति की उपासना है। निवृत्तिभक्ति, योगभक्ति—शुद्धस्वरूप के ध्यान से सम्पन्न होती है। निवृत्तिभक्ति किसके होती है ? इसका समाधान कुन्दकुन्द स्वामी के शब्दों में देखिये—

सम्मत्तणायचरणे षो मसि कुण्ड सावगो समणो ।

तस्स वु णिच्छुविभत्ती होवित्ति जिरोहि पण्णत्त ॥१३४॥

जो आवक अथवा श्रमण, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की भक्ति करता है उसीके निवृत्ति भक्ति होती है ऐसा जितेन्द्र भगवान् ने कहा है।

योगभक्ति किसके होती है ? इसका समाधान देखिये—

जो साधु अपने आप की रागादि के परिहार में लगता है अर्थात् रागादि विकारी भावों पर विजय प्राप्त करता है वही योगभक्ति से युक्त होता है। अन्य साधु के योग कैसे हो सकता है ?

(११) निश्चयपरमावश्याधिकार :

जो मन्य के वश में नहीं है वह अवश है तथा अवश का जो कार्य है वह आवश्यक है। अवश—सदा स्वाधीन रहनेवाला अमरण ही मोक्ष का पात्र होता है। जो साधु शुभ या अशुभभाव में लीन हो वह अवश नहीं है किन्तु अभ्यवश है, उसका कार्य आवश्यक कैसे हो सकता है? जो परभाव को छोड़कर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा का ध्यान करता है वह आत्मवश—स्ववश—स्वाधीन है उसका कार्य आवश्यक कहलाता है। आवश्यक प्राप्त करने के लिये कुन्दकुन्द स्वाधी कितनी महत्वपूर्ण वेशना देते हैं, देखिये—

आवासं जह इच्छसि अल्प सहावेसु कुणदि धिरभावं ।

तेन तु सामग्यशुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥

हे अमरण ! यदि तू आवश्यक को इच्छा करता है तो आत्मस्वभाव में स्थिरता कर, क्योंकि जीव का आमग्य—अमरणन उसीसे संपूर्ण होता है।

और भी कहा है कि जो अमरण आवश्यक से रहित है वह चारित्र से भ्रष्ट माना जाता है इसलिये पूर्वोक्त विधि से आवश्यक करना चाहिये। आवश्यक से सहित अमरण अन्तरात्मा होता है और आवश्यक से रहित अमरण बहिरात्मा होता है।

समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग से छह आवश्यक कहलाते हैं, इनका वषार्थ रीति से पालन करनेवाला अमरण ही यथार्थ अमरण है।

(१२) शुद्धोपयोगाधिकार :

इस अधिकार के प्रारम्भ में ही कुन्दकुन्दस्वामी ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण गाथा लिखी है—

आणदि पस्सदि सत्त्वं व्यवहारणयेण केवली भगवं ।

केवलजानी आणदि पस्सदि णियमैय अप्पाणं ॥१४९॥

केवलजानी व्यवहारणय से सबको जानते देखते हैं परन्तु निश्चयनय से आत्मा को ही जानने देखते हैं।

इस कथन का फलितार्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि केवली, निश्चयनय से सर्वज्ञ नहीं हैं मात्र आत्मज्ञ है, क्योंकि आत्मज्ञता में ही सर्वज्ञता गभित है। वास्तव में आत्मा किसी भी पदार्थ को सब ही जानता है जबकि उसका विकल्प आत्मा में प्रतिफलित होता है। जिसप्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित भटपटादि पदार्थ दर्पणरूप ही होते हैं उसी प्रकार आत्मा में प्रतिफलित पदार्थों के विकल्प आत्मरूप ही होते हैं। परमार्थ से आत्मा उक्त विकल्पों

से परिपूर्ण आत्मा को ही जानता है अतः आत्मज्ञ कहलाता है। उन विकल्पों के प्रतिफलित होने में लोकालोक के समस्त पदार्थ कारण होते हैं अतः व्यवहारनय से उन सबका भी ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ, द्रष्टा अर्थात् सर्वदर्शी कहलाता है।

जय जीव का उपयोग—ज्ञानदर्शन स्वभाव, शुभ अशुभ रागादिक विकारी भावों से रहित हो जाता है तब वह शुद्धोपयोग कहा जाता है। परिपूर्ण शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्र्य का अविनाभावी है। यथाख्यातचारित्र्य से अविनाभावी शुद्धोपयोग के होने पर वह जीव अन्तर्मुहूर्त के अन्दर नियम से केवलजानी बन जाता है। इस अधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने ज्ञान और दर्शन के स्वरूप का सुन्दर विश्लेषण किया है।

इसी शुद्धोपयोग के फलस्वरूप जीव आटक्मों का जय कर अव्याबाध, अनिन्द्रिय, अनुपम, पुण्य पाप के विकल्प से रहित, पुनरागमन से रहित, नित्य, भवज और पर के आलम्बन से रहित निर्वाण को प्राप्त होता है। कर्म रहित आत्मा लोकाग्र तक ही जाता है क्योंकि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उसके आगे गमन नहीं हो सकता।

आगे नियमसार की संस्कृत टीका और उसके रचयिता श्री पद्मप्रभमलधारी देव पर प्रकाश डाला जाता है।

नियमसार के संस्कृत टीकाकार —

श्री पद्मप्रभमलधारी देव

नियमसार के संस्कृत टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव हैं। ये संस्कृत के महान् विद्वान् थे, गद्य पद्य की रचना में सिद्ध सरस्वतीक थे। नियमसार के अधिकारान्त-पुष्पिका-वाक्यों में इन्होंने अपने नाम के पूर्व "सुक-विजन पयोजमित्र", "पंचेन्द्रिय प्रसरवर्जित" और "गात्रमात्र परिग्रह" ये तीन विशेषण लगाये हैं। इन विशेषणों से उनके पाण्डित्य, जितेन्द्रियत्व और निर्ग्रन्थता का स्पष्ट बोध होता है। "मलधारी" विशेषण से शारीरिक-निःस्पृहता का भान होता है।

श्री पद्मप्रभमलधारी देव, श्री अमृतचन्द्राचार्यविरचित समयसार की आत्मख्याति टीका से पूर्ण प्रभावित हैं। जिस प्रकार अमृतचन्द्राचार्य ने समास बहुल एवं अप्रसिद्ध नूतन-नूतन शब्दावलि से परिपूर्ण गद्य का प्रयोग किया है तथा कलश काव्यों के द्वारा उस गद्य के प्रतिपाद्य अर्थ को प्रस्फुटित किया है उसी प्रकार इन्होंने भी समासबहुल एवं अप्रसिद्ध नूतन-नूतन शब्दावलि से परिपूर्ण गद्य का प्रयोग किया है तथा कलश काव्यों के द्वारा उस गद्य को समलंकित किया है।

इन्होंने स्वरचित टीका में प्रतिपादित विषय का समर्थन करने के लिए विभिन्न आचार्यों के श्लोक भी समुद्धृत किये हैं। टीका परीक्षण करने से विदित होता है कि उसमें कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूष्यपाद, योगीन्द्रदेव, विद्यानन्द, गुणभद्र, अमृतकन्द, सोमदेवपण्डित वादिराज और महासेन आदि आचार्यों तथा समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, उपाश्वकाव्ययन, अमृतीशीति, मार्गप्रकाश, प्रवचनसारव्याख्या, समयसारव्याख्या, पद्मनन्दि-पंचविमलिका, तत्त्वानुशासन तथा श्रुतिचिन्ह नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

पद्मप्रभमलधारी देव ने यद्यपि अपनी गुरु परम्परा तथा ग्रन्थ रचना के समय का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि नियमसार की स्वरचित तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में और पञ्चमाधिकार के अन्त में वीरनन्दि मुनि की वन्दना की है।

मद्रास प्रान्त के अन्तर्गत "पटशिवपुरम्" ग्राम में एक स्तम्भ पर पश्चिमी चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वर देव के समय का शक संवत् ११०७ का एक अभिलेख है—'जबकि माण्डलिक त्रिभुवनमल्ल, भोगदेव चोलस हेजरा नगर पर राज्य कर रहे थे। उसी में यह लिखा है कि जब गङ्गा जैव मणिर जगदाया गङ्गा था तब पद्मप्रभमलधारी देव और उनके गुरु वीरनन्दि सिद्धान्त-चक्रवर्ती विद्यमान थे।' इस अभिलेख से पद्मप्रभमलधारी देव के गुरु का ही नहीं किन्तु समय का भी परिज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि वे १२ ईशवीय शताब्दी के विद्वान् थे। ❀

पद्मप्रभमलधारी देव की अब तक दो रचनायें ही उपलब्ध हैं :—

(१) नियमसार की तात्पर्य वृत्ति और (२) पार्श्वनाथ स्तोत्र (अथवा लक्ष्मीस्तोत्र) नियमसार की तात्पर्य वृत्ति पाठको के हाथ में है। पार्श्वनाथ स्तोत्र में यमकालंकार से विभूषित ९ श्लोक हैं। यह दारिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित "सिद्धान्त सारादिसंग्रह" में सटीक प्रकाशित है। यमकालंकार की छटा देखिये—

"लक्ष्मीर्महस्तुल्य सती सती सती, प्रबुद्धकालो बिरती रती रती।

जरा रजा जन्म हता हता हता, पार्श्व कसे राम गिरी गिरी गिरी॥

इस स्तोत्र का हिन्दी अनुवाद स्वर्गीय जुगलकिशोरजी मुख्तियार ने हमसे कराया था।

तात्पर्य वृत्ति के विचारणीय स्थल—

(१) नियमसार की गाथा ३१ और ३२ में कालद्रव्य का वर्णन है। उसमें कालद्रव्य के भूत, भावी और वर्तमान के भेद से तीन भेद किये गये हैं। टीकाकार ने ३१ वीं गाथा के उत्तरार्द्ध में "तीनों संज्ञावलि

❀ श्री डा० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा विरचित "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग के छाधार पर"।

हृषसंठाणप्यमापाणं तु" पाठ स्वीकृत किया है यहां संठाण के स्थान पर "सिद्धाणं" पाठ अधिक संगत जान पड़ता है जिसका अर्थ होता है अतीत-भूतकाल संख्यात आचलियों से गुणित सिद्धों के प्रमाण हैं।

३२ वीं गाथा के पूर्वार्ध "जोबाहु पुगलादोणंतगुणा चावि संपदा समया" में "चावि" के स्थान पर सही पाठ "भावि" जान पड़ता है जिसका अर्थ होता है भावी—भविष्यत्काल जोव और पुद्गल से अनन्तगुणा है तथा संपदा—वर्तमानकाल एक समय मात्र है। लोकाकाश के प्रदेशों पर जो कालाणु स्थित है वह परमार्थ-निश्चल काल द्रव्य है। "चावि" पाठ के स्वीकृत करने पर भविष्यत्काल का वर्णन छूट जाता है।

(२) ४१ वीं गाथा की टीका में आयोपशमिक भाव के १८ भेदों की गणना में प्रथमप्रभमद्वारी देव ने पांच उपसद्विधियों के नाम "कालकरणापदेशोपशमप्रायोग्यता-भेदात्लब्धयः पञ्च" वंक्ति द्वारा कालकरण, आदेश (देशना) उपशम (क्षयोपशम) और प्रायोग्य, स्वीकृत किये हैं जबकि ग्रन्थाश्रितों में क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य को अन्धि माना गया है और करणादि लब्धियों को सम्पत्त्व प्राप्ति में सहायक बताया गया है।

(३) ५३ वीं गाथा में "खयपहुदी" शब्द की संस्कृत छाया "क्षयप्रभृतिः" स्वीकृत कर जिन सूत्र को बाह्य निमित्त तथा उसके ज्ञाता पुरुष को दर्शन मोह का क्षय होने से अन्तरङ्ग हेतु कहा है। जबकि जिनसूत्र और उसके ज्ञाता बहिरंग हेतु हैं और दर्शन मोह का क्षय आदिक अन्तरङ्ग हेतु है। "खयपहुदी" की संस्कृत छाया "क्षयप्रभृतिः" है। उसमें विपर्यास होने से टीका में विपर्यास हो गया है। टीकाकर्त्री माताजी ने विशेषार्थ में इन स्थलों पर कुछ प्रकाश डाला है।

हिन्दी टीका :

बहुत पहले नियमसार पर एक हिन्दी टीका स्वर्गीय डॉ० शीतलप्रसादजी ने लिखी थी वह कितने ही स्थलों पर सज्जित थी। अभी हाल श्री पण्डित हिम्मतलाल जेटालाल शाह कृत गुजराती टीका के आधार पर पण्डित मगनलालजी कृत हिन्दी टीका सोनगढ़ में प्रकाशित होकर स्वाध्याय में आ रही है। जो टीका पाठकों के हाथ में है वह भी १०५ आधिका रत्न ज्ञानमति माताजी के द्वारा लिखित है। स्वाध्याय करने वाले महानुभाव इस टीका की विशेषता का स्वयं अनुभव करेंगे।

आधिकारत्न ज्ञानमति माताजी :

आधिकारत्न ज्ञानमति माताजी का जन्म आसोज शुक्ल १५ वि० संवत् १९९१ सन् १९३४ ईस्वी को टिकैतनगर (उ० प्र०) निवासी धर्मस्तेही श्री छोटेलालजी की धर्मपत्नी मोहिनीदेवी के गर्भ से हुआ था। माताजी ही नहीं, इस परिवार में सब पूर्वभव के संस्कारी जीव एकत्रित हुए हैं। श्री मोहिनीदेवी इस समय "रत्नमति"

आयिका है, ज्ञानमतिजी स्वयं आयिका हैं, इनकी छोटी बहिन "अभयमति" आयिका हैं, भाई रवीन्द्रकुमार शास्त्री ब्रह्मचर्य व्रत लेकर धर्म प्रचार में रत हैं। कु० माधुरी और कु० मालती ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर श्रुताभ्यास में रत हैं।

आयिका ज्ञानमतिजी ने वि० सं० २००१ में आचार्य देशभूषणजी के पुत्रिका पीठा और वि० सं० २०१३ में आचार्य बीरसागरजी से आयिका दीक्षा ली थी। आचार्य महावीरकीर्तिजी के पास न्याय, व्याकरण, साहित्य और सिद्धान्त का गहन अध्ययन किया। आचार्य शिवसागरजी के संघ में रहकर तपस्या की साधना की। तपश्चर्या के प्रभाव से आपका अयोपशम नित्य प्रति वर्धमान है। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज ने आचार्य श्री धर्मसागरजी और उपाध्याय श्री विद्यानन्दजी के सांनिध्य में विशाल जनसमूहाय के बीच दिल्ली में न्याय प्रभाकर एवं आयिका रत्न की उपाधि से विभूषित किया था। आपका अभीक्षण ज्ञानोपयोग रहता है। इसी कारण अब तक आप १०८ ग्रन्थों की रचना कर चुकी हैं। आप संस्कृत और हिन्दी कविता लिखने में निद्वहेस्त हैं।

नियमसार का यह संस्करण :

श्री १०१ ज्ञानमति माताजी द्वारा विरचित हिन्दी टीका के साथ नियमसार का यह संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

गाथाओं के नीचे संस्कृत छाया, तदनन्तर माताजी द्वारा विरचित हिन्दी पद्यानुवाद, उसके नीचे पदम-प्रथमलघारी द्वे विरचित संस्कृत टीका और उसके नीचे माताजी द्वारा विरचित हिन्दी टीका दी गई है। हिन्दी टीका में गाथा का अन्वयार्थ, संस्कृत टीका का अर्थ, भावार्थ और पथावश्यक विशेषार्थ दिया गया है। टिप्पणों में गाथाओं के पाठ भेद संगृहीत हैं। परिशिष्ट में गाथानुक्रमणिका तथा पद्यानुक्रमणिका टीका में उद्धृत गाथा तथा श्लोकों की अनुक्रमणिका दी गई है। प्रारम्भ में प्रकाशकीय वक्तव्य के बाद विस्तृत प्रस्तावना संलग्न है जिसमें मूल ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य, संस्कृत टीकाकार श्री पदमप्रथमलघारी द्वे और हिन्दी टीकाकर्त्री श्री आयिकारत्न ज्ञानमति माताजी का परिचय दिया गया है। साथ ही नियमसार के प्रतिपाद्य विषय की अधिकारों के क्रम से दिया गया है। संस्कृत टीका संस्कृत छाया में सम्परा में जो अशुद्धियाँ चली आती थी उनका पथावश्यक संशोधन कर दिया गया है।

नियमसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने निश्चय और व्यवहारतय के अनुसार नियम अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्पज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का वर्णन किया है। कुन्दकुन्द की समस्त रचनायें अनावश्यक विस्तार से रहित सार स्वरूप हैं। माताजी ने इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका लिखकर स्वाध्यायपरसिक पुरुषों का महान् उपकार किया है। आशा है इसी प्रकार आपके द्वारा जितवाणी की सेवा होती रहेगी।

सागर

१९-२-१९८२

दिनीत :

पन्नालाल साहित्याचार्य

नियमसार-वंदना

(आदिका-ज्ञानमती माताजी)

सिद्धिं लब्ध्वा जना लोके, श्रयंतो नियमश्रियम् ।
 नियमाख्यं त्रिरत्नं तत् भेदाभेदात्मकं स्तुवे ॥१॥
 अभेदाख्यं त्रिरत्नं न भेदरत्नत्रयं विना ।
 साधनं व्यवहारं तन्निश्चयं साध्यमेव हि ॥२॥
 स्वयोग्यं च व्रतं लब्ध्वा, रत्नत्रितयहेनवे ।
 भावयामि सदा चित्ते, भेदाभेदत्रिरत्नकं ॥३॥
 पालयन्त्या त्रिशुद्ध्या मे, ह्युपचारमहाव्रतं ।
 भूयान्निरतिचारं तत् त्वंते सल्लेखनापि च ॥४॥
 स्त्रीपर्यायं च विच्छेद्य सुरो भूत्वापि तत्र वै ।
 सम्यक्त्वव्रतमाहात्यात् भूयां धर्मैकसक्तत्रीः ॥५॥
 प्राप्नुयाम् च ततश्च्युत्वा, जिनरूपमनुत्तरं ।
 मोक्षैकसाधनं रत्नत्रितयं चोभयात्मकं ॥६॥
 निश्चयावश्यकं प्राप्य, निश्चयभक्तिमाश्रितः ।
 निर्विकल्पसमाधिस्थः स्वात्मसिद्धिं लभे त्वरं ॥७॥
 यावन्नेतादृशी मे स्यात् स्थितिः कर्मनिमूलनी ।
 परमानंदमात्मानं, तावत्कं भावयाम्यहं ॥८॥
 नयद्द्वयात्मकं नत्वं, स्वात्मानंदैकनिर्भरं ।
 अनंतदर्शनज्ञानसौख्यवीर्यात्मकं ध्रुवं ॥९॥
 एतत्स्वरूपलब्ध्यर्थं धृत्वा वीरं मनोऽबुजे ।
 ग्रन्थं नियमसाराख्यं, वंदे भक्त्या पुनः पुनः ॥१०॥



श्री कुन्दकुन्दस्वामिने नमः

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत

नियमसार

श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव विरचित तात्पर्यवृत्ति सहित

—१—

जीव अधिकार

(मालिनी)

त्वयि सति परमात्मन्मादृशान्मोहमुग्धान्
कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम् ।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा
जितभवमभिवन्दे भासुरं शोजिनं वा ॥१॥

(१) श्लोकार्थ—हे परमात्मन् ! आपके होते हुए मैं मुक्त जैसे (संसारी) तथा मोह से मुग्ध और कामदेव के वशीभूत हुए ऐसे ब्रह्मा—विष्णु—महेश को कैसे पूज सकता हूँ ? अर्थात् नहीं पूज सकता हूँ । जिन्होंने भव—संसार अथवा भव—कामदेव को जीत लिया है मैं उनकी वंदना करता हूँ । वे चाहे सुगत हों, गिरिधर हों अथवा ब्रह्मा हों, शिव हों अथवा शोभायमान श्री जिनेंद्र भगवान हों ।

(अनुष्टुभ्)

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनाम् ।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ॥२॥

(शालिनी)

सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं
तर्कविजार्कं भट्टपूर्वाकलंकम् ।
शब्दाब्धोन्मुं पूज्यपावं च वन्दे
तद्विद्याढ्यं वीरनन्दि व्रतीन्द्रम् ॥३॥

भावार्थ—लोक में भगवान बुद्ध, विष्णु, ब्रह्मा और महादेव ये ४ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं । उन्हीं को लक्षित करके आचार्य कहते हैं कि जिन्होंने संसार का नाश कर दिया है जो जन्म मरण के दुखों से छूट चुके हैं वे चाहे जिस नाम के धारी हों, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ ।

(२) श्लोकार्थ—वाचंयमीन्द्राणां—मुनियों में प्रधान ऐसे जिनेन्द्र भगवान का मुखकमल जिसका वाहन है । अर्थात् जो जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल से प्रवाहित-प्रगट हुई है । तथा जो दोनों नयों के आश्रयभूत वाच्य-पदार्थ उनके सर्वस्व-संपूर्ण अर्थ को कहने की पद्धति-शैलीरूप है । ऐसी जिनवाणी को मैं नमस्कार करता हूँ ।

(३) श्लोकार्थ—सिद्धान्त रूपी श्रेष्ठ लक्ष्मी के पति श्री सिद्धसेन आचार्य को तर्क, न्याय, कमल को विकसित करने में सूर्य ऐसे भट्टाकलंक देव को शब्द शास्त्र-रूपी समुद्र के वर्धन में चंद्रमा ऐसे पूज्यपाद सूरि को तथा इन विद्याओं से सहित व्रतियों में प्रधान ऐसे वीरनन्दि आचार्य को मैं नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—श्री सिद्धसेन दिवाकर के सन्मति तर्क नामक सिद्धान्तग्रन्थ श्री अकलंकदेव के प्रमाणसंग्रह न्यायग्रन्थ पूज्यपाद स्वामी का जैनेन्द्र व्याकरण और वीरनन्दि आचार्य का आचारसार ग्रन्थ प्रसिद्ध है ।

(अनुष्टुभ्)

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः ।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्ति तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥४॥

किं च—

(आर्या)

गुणधरणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम् ।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः ॥५॥

अपि च—

(अनुष्टुभ्)

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः ।
परमागमसारस्य रुच्या मांसलयाऽधुना ॥६॥

(४) श्लोकार्थ—भव्य जीवों को मोक्ष की प्राप्ति के लिए और पुनः अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए मैं नियमसार की तात्पर्य वृत्ति नामक टीका को कहूंगा ।

(५) श्लोकार्थ—गुण को धारण करने वाले श्री गणधर देवों से रचित, श्रुतकेवली आदि श्रुतपारंगत मुनियों की अविच्छिन्न परंपरा से अच्छी तरह से व्यक्त किया गया जो परमागम है उस परमागम के अर्थ-समूह को कहने के लिए हम मंद जन कौन हो सकते हैं । अर्थात् ऐसे परमागम के अर्थ को कहने के लिए हम लोग मंद बुद्धि वाले समर्थ नहीं हो सकते हैं ।

(६) श्लोकार्थ—फिर भी इस समय हमारा मन परमागम को पुष्ट रुचि से बार बार अत्यंत प्रेरित हो रहा है । अर्थात् परमागम के प्रति हमारी बढ़ती हुई श्रद्धा विशेष है या वृद्धिगत रुचि विशेष है । उसी से पुनः पुनः प्रेरित होकर ही मैं इस ग्रन्थ की टीका कर रहा हूँ ।

पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वतत्त्वार्थकाः ।

प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानानादिसत्क्रियाः ॥७॥

अलमलमतिविस्तरेण । स्थस्ति साक्षादस्मं विवरणाय ।

अथ सूत्रावतारः—

एमिऊण जिणं वीरं, अणंतवरणाणदंसणसहावं ।
वोच्छामि णियमसारं, केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥१॥

नत्वा जिनं वीरं अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावम् ।

वक्ष्यामि नियमसारं केवलिश्रुतकेवलिभणितम् ॥१॥

जो जिन अनन्त ज्ञान श्री दर्शन स्वभाव युक्त ।

करके नमन उस वीर का मैं भक्ति भाव युक्त ॥

जिनकेवली श्रुतकेवली ने जिसको कहा है ।

उस नियमसार को कहूँगा जो कि महा है ॥१॥

(७) इलोकार्थ—सूत्रकार ने इस ग्रन्थ में प्रथम पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्व और नव पदार्थ का तथा (अनन्तर) प्रत्याख्यान आदि सत्क्रियाओं का वर्णन किया है अर्थात् इस ग्रन्थ में प्रथम ही पाँच अस्तिकाय आदि का वर्णन है । अनन्तर मुनियों के नियम—रत्नत्रय स्वरूप के अंतर्गत प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं का वर्णन किया गया है ।

अत्र श्रीमान् भगवान् कुन्दकुन्ददेव के सूत्र का अवतार होता है—

गाथा १

अश्वयार्थ—[अणंतवरज्ञानदर्शनस्वभावं] अनन्तस्वरूप, श्रेष्ठज्ञान और दर्शन स्वभाव वाले [वीरं जिनं नत्वा] श्री वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करके [केवलिश्रुतकेवलिभणितं] केवली भगवान् तथा श्रुतकेवली भगवान् के द्वारा कथित ऐसे [नियमसारं वक्ष्यामि] नियमसार को मैं कहूँगा ।

अथात्र जिनं नत्वेत्यनेन शास्त्रस्यादावसाधारणं मङ्गलमभिहितम् । नत्वेत्या-
दिप्रत्येकजन्माटवीप्रापणहेतुं समस्तमोहरागद्वेषादीन् जयतीति जिनः । वीरो विक्रान्तः,
वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मरातीन् विजयत इति वीरः—श्रीवर्द्धमान-सन्मतिनाथ-
महतिमहावीराभिधानः सनाथः परमेश्वरो महादेवाधिदेवः परिचमतीर्थनाथः त्रिभुवन-
सचराचरद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्समर्थसकलविमलकेवलज्ञानदर्शनान्म्या युक्तो
यस्तं प्रणम्य वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः । कम् ? नियमसारम् । नियमशब्दस्तावत् सम्य-
ग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु वर्तते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम् । किंविशिष्टम् ?
केवलिश्रुतकेवलिभणितम्—केवलिनः सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः, श्रुतकेवलिनः सकलद्रव्य-
श्रुतधरास्तैः केवलिभिः श्रुतकेवलिमिश्रं भणितं—सकलभव्यनिकुरम्बहितकरं नियम-
साराभिधानं परमागमं वक्ष्यामीति विशिष्टेष्टदेवतास्तवनानन्तरं सूत्रकृता पूर्वसूरिणा
श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरुणाप्रतिज्ञातम् । इति सर्वपदानां तात्पर्यमुक्तम् ।

टीका—अथ यहाँ पर 'जिनं नत्वा' इस पद से शास्त्र को आदि में असाधारण
मंगल कहा है ।

'नत्वा' इत्यादि रूप प्रत्येक पदों का अर्थ करते हैं—

अनेक जन्मरूपी बन् को प्राप्त कराने में कारणभूत, संपूर्ण मोह, राग, द्वेष
आदि को जो जीतते हैं वे 'जिन' कहलाते हैं । वीर अर्थात् विक्रमशाली, जो वीरता
को प्राप्त हैं, शूरता को प्राप्त हैं, पराक्रम करने वाले हैं कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त
करते हैं वे 'वीर' कहलाते हैं । वे वीर भगवान्—श्रीवर्द्धमान, सन्मतिनाथ और महति-
महावीर नामों से सनाथ हैं, परमेश्वर महादेवाधिदेव अंतिम तीर्थेश्वर हैं और जो
तीन लोक के चर-अचर, चेतन-अचेतन स्वरूप, द्रव्य-गुण-पर्यायों से कथित समय
(द्रव्यसमूह) को जानने में समर्थ सकल विमल केवलज्ञान तथा केवलदर्शन से युक्त
हैं मैं उन वीरप्रभु को नमस्कार करके कहता हूँ । क्या कहता हूँ ? नियमसार को
कहता हूँ । यहाँ पर 'नियम' शब्द सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य के अर्थ में विद्यमान है,
अर्थात् 'नियमसार' इस पद से शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है । वह कैसा है ?
केवली और श्रुतकेवली के द्वारा कथित है । अर्थात् संपूर्णतया प्रत्यक्ष-केवलज्ञान को
धारण करने वाले 'केवली' कहलाते हैं और ग्यारह अंग-चौदह पूर्व रूप संपूर्ण द्रव्यश्रुत
को धारण करने वाले श्रुतकेवली कहलाते हैं । इन केवली और श्रुतकेवलियों के
द्वारा कथित समस्त भव्य जीव समुदाय के लिये हितकर 'नियमसार' इस नाम वाले

(मालिनी)

जयति जयति वीरः शुद्धभावास्तमारः

त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधकराज्यः ।

नतदिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रुबीजः

समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ॥८॥

मार्गो मार्गफलं ति य, बुविहं जिणसासणे समखादं ।

मार्गो मोक्षउपायो, तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥९॥

मार्गो मार्गफलमिति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातम् ।

मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम् ॥९॥

मार्ग व मार्गफल ये दो प्रकार हैं यहाँ ।

जिनदेव के शासन में ये गणधर ने है कहा ।

जो मोक्ष का उपाय है वो मार्ग कहाया ।

उसका है फल निर्वाण ऋषियों ने बताया ॥९॥

परमागम को मैं कहूंगा । इस प्रकार विशिष्ट इष्ट देवता के स्तवन के अनन्तर सूत्रकार पूर्वाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव गुरुवर्य ने प्रतिज्ञा की है ।

इस प्रकार सभी पदों का तात्पर्य अर्थ कहा गया है ।

[अब श्री टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज मंगलाचरण गाथा के अर्थ का उपसंहार करते हुए स्वयं वीर भगवान् की स्तुति करते हुये श्लोक कहते हैं]

(८) श्लोकार्थ—जिन्होंने शुद्धभावों के द्वारा कामदेव को समाप्त कर दिया है, त्रिभुवन की जनता से पूज्य हैं, पूर्णज्ञान—केवलज्ञान के एक अतीन्द्रिय राज्य को प्राप्त कर लिया है, देवों के समूह से नमस्कृत हैं, जिन्होंने जन्मवृक्ष के बीज को नष्ट कर दिया है जो समवशरण में निवास करते हैं और जिनमें केवल लक्ष्मी निवास करती है ऐसे वे वीर भगवान् इस जगत् में जयशील होंगे ।

गाथा २

अन्वयार्थ—[जिन शासने] जिनेन्द्र भगवान् के शासन में [मार्ग मार्गफलं च इति द्विविधं समाख्यातं] मार्ग और मार्ग का फल इस प्रकार से दो प्रकार का

मोक्षमार्गतत्फलस्वरूपनिरूपणोपन्यासोऽयम् । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि
मोक्षमार्गः, इति वचनात्, मार्गस्तावच्छुद्धरत्नत्रयं, मार्गफलमपुनर्भवपुरन्धिकास्थूलभाल-
स्यललीलालंकारतिलकता । द्विविधं किलैवं परमवीतरागसर्वज्ञशासने चतुर्थज्ञानधारिभिः
पूर्णमिति समाख्यातम् । परमनिरपेक्षतया निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानु-
ष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपायः । तस्य शुद्धरत्नत्रयस्य फलं स्वात्मोपलब्धिरिति ।

(पृथ्वी)

यवचिद्ब्रजति कामिनीरतिसमुत्थसौख्यं जनः
यवचिद्ब्रजिणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः ।

कथन किया गया है [मोक्षोपायः मार्गः] मोक्ष का उपाय मार्ग है और [तस्य
फलं निर्वाणं भवति] उस मार्ग का फल निर्वाण है ।

टीका—मोक्षमार्ग और उसके फल के स्वरूप निरूपण का यह
कथन है ।

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष का
मार्ग है' ऐसा सूत्रकार का वचन है । यहाँ शुद्धरत्नत्रय को मार्ग कहा है और पुनर्भव
से रहित ऐसी मुक्ति रूपी स्त्री के विशाल ललाट प्रदेश में लीला से रचित अलंकार
स्वरूप तिलकपता ही मोक्षमार्ग का फल है । अर्थात् मुक्ति स्त्री के ललाट के तिलक
स्वरूप होना—उसका पति होना—मुक्ति को प्राप्त करना ही मार्ग का फल है । परम
वीतराग सर्वज्ञदेव के शासन में चतुर्थ—मनःपर्ययज्ञानधारी पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार से
दो प्रकार का ही कथन किया है । परम निरपेक्ष रूप से निज परमात्म तत्त्व का
सम्यक् श्रद्धान उसी परमात्मतत्त्व का सम्यक् परिज्ञान और उसी परमात्मतत्त्व में
सम्यक् अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग मोक्ष का उपाय है और उस शुद्धरत्नत्रय
का फल अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज संसारी जीवों की भिन्न-भिन्न रुचि को
बतलाते हुये श्लोक द्वारा यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जो जिनेन्द्र के मार्ग को प्राप्त करके
अपनी आत्मा में रत हो जाता है वही मोक्ष को प्राप्त करता है ।]

वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पण्डितो
निजात्मनि रतो मवेक्ष्यजति मुक्तिमेतां हि सः ॥६॥

नियमेण यं कञ्जं, तं नियमं णाणदंसणचरित्तं ।
विपरीयपरिहरत्थं, भणितं खलु सारमिदि वयणं ॥३॥

नियमेन च यत्कार्यं स नियमो ज्ञानदर्शनचारित्र्यम् ।
विपरीतपरिहारार्थं भणितं खलु सारमिति वचनम् ॥३॥

जो करने योग्य है नियम से वोहि नियम है ।

वो ज्ञान दर्श और चरित्र रूप धरम है ।

विपरीत के परिहार हेतु सार शब्द है ।

अतएव नियम से ये नियमसार सार्थ है ॥३॥

(६) श्लोकार्थ—यह संसारी जीव कभी तो कामिनी की रति से उत्पन्न सुख को प्राप्त करता है और कभी धन की रक्षा में अपनी बुद्धि को करता है परन्तु जो पण्डित बुद्धिमान पुरुष कभी जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग को प्राप्त करके अपनी आत्मा के स्वरूप में रत हो जाता है तो निश्चित ही इस मुक्ति अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने इस नियमसार ग्रन्थ में मार्ग और मार्ग का फल ऐसी दो बातें बतलाई हैं उसमें मोक्ष की प्राप्ति का उपाय तो मार्ग है और उसका फल निर्वाण है संसारी जीव दो ही चीजों को विशेष सुखकारी मानते हैं—एक तो स्त्री को, दूसरे धन को । इसलिये यहां आचार्य ने बतलाया है कि कभी यह जीव स्त्री के सुख का अनुभव करता है तो कभी धन की रक्षा में लगा रहता है किन्तु जब वही जीव इन कनक कामिनी से अपने मन को हटाकर रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग में लग जाता है तब नियम से उसके फल रूप निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।

गाथा ३

ग्रन्थार्थ—[नियमेन च यत्कार्यं] जो नियम से करने योग्य है [स नियमः] वह 'नियम' कहलाता है [ज्ञानदर्शनचारित्र्यं] और वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य

अत्र नियमशब्दस्य सारत्वप्रतिपादनद्वारेण स्वभावरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम् । यः सहजपरमपारिणामिकभावस्थितः स्वभावात्तन्त्रचतुष्टयात्मकः शुद्धज्ञानचेतनापरिणामः स नियमः । नियमेन च निश्चयेन यत्कार्यं प्रयोजनस्वरूपं ज्ञानदर्शनचारित्र्यम् । ज्ञानं तावत् तेषु त्रिषु परद्रव्यनिरवलंबत्वेन निःशेषतोन्तर्मुखयोगशक्तेः सकाशात् निजपरम-तत्त्वपरिज्ञानम् उपादेयं भवति । दर्शनमपि भगवत्परमात्मसुखामिलाषिणो जीव-स्य शुद्धान्तस्तत्त्वविलासजन्मभूमिस्थाननिजशुद्धजीवास्तिकायसमुपजनितपरमश्रद्धानमेव भवति । चारित्र्यमपि निश्चयज्ञानदर्शनात्मककारणपरमात्मनि अविचलस्थितिरेव । अस्य तु नियमशब्दस्य निर्वर्णिकारणस्य विपरीतपरिहारार्थत्वेन सारमिति भणितं भवति ।

हे [विपरीत परिहारार्थं] विपरीत का परिहार करने के लिये [खलु सारं इति वचनं भणितं] वास्तव में 'सार' ऐसा वचन कहा गया है ।

टोका—यहां पर नियम शब्द में 'सार' इस शब्द के प्रतिपादन द्वारा स्वभाव रत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है ।

जो सहज परम पारिणामिक में स्थित, स्वाभाविक अतन्त्र चतुष्टयात्मक शुद्ध ज्ञान चेतना रूप परिणाम है वह 'नियम' है और नियम से अर्थात् निश्चय से जो करने योग्य अर्थात् प्रयोजन स्वरूप है—अवश्यकरणीय है वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य है । उन तीनों में प्रथम ही ज्ञान शब्द में ऐसा अर्थ लेना कि जो ज्ञान पर द्रव्य के अवलम्बन के बिना ही संपूर्णतया अंतर्मुख योग शक्ति के निमित्त से निज परम तत्त्व को जानने रूप है वह ज्ञान उपादेय होता है अर्थात् परिपूर्णतया ज्ञानोपयोग के अंतर्मुख हो जाने से जो निज परम तत्त्व का ज्ञान होता है यहां वही ज्ञान उपादेय रूप है । दर्शन भी भगवान् परमात्मा के सुखामिलाषी जीव को शुद्ध अंतस्तत्त्व के विलास के जन्मभूमि स्थान रूप—उत्पन्न होने के स्थान रूप जो निज शुद्ध जीवास्तिकाय उससे उत्पन्न हुआ परम श्रद्धान रूप ही है । चारित्र्य भी निश्चय ज्ञान दर्शन स्वरूप कारण परमात्मा में अविचल स्थिति रूप ही है । निर्वाण के लिये कारणभूत इस 'नियम' शब्द में विपरीत के परिहार करने हेतु 'सार' यह शब्द कहा गया है ।

भावार्थ—यहां पर 'नियम' शब्द से रत्नत्रय को लिया है जो कि नियम से अर्थात् अवश्य ही करने योग्य है और ये आत्मा के स्वभाव हैं क्योंकि ये आत्मा को

(आर्या)

इति विपरीतविमुक्तं रत्नत्रयमनुष्ठानं प्रपद्याहम् ।

अपुनर्भवभामिन्यां समुद्भवमनंगशं यामि ॥१०॥

नियमं मोक्षोपायस्य, तस्य फलं भवति परमनिर्वाणम् ।

एदेसि तिण्हं पि य, पत्तेयपरूवणा होइ ॥४॥

नियमो मोक्षोपायस्तस्य फलं भवति परमनिर्वाणम् ।

एतेषां त्रयाणामपि च प्रत्येकप्ररूपणा भवति ॥४॥

निर्वाण प्राप्ति का उपाय नियम कहाता ।

होता उसीका फल परम निर्वाण सुहाता ।

दर्शन व ज्ञान चरित तीन रत्न अनुष्ठान ।

प्रत्येक का आचार्य यहाँ करते निरूपण ॥४॥

छोड़कर अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं । इसमें जो 'सार' शब्द लगाया है वह निर्वाण कारण से अतिरिक्त जो संसार के कारण मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र्य हैं उनका निराकरण करने के लिये है । व्यवहार रत्नत्रय के निराकरण के लिये नहीं है क्योंकि आगे स्वयं भगवान् कुन्दकुन्ददेव व्यवहार रत्नत्रय का प्रतिपादन कर रहे हैं । यदि व्यवहार रत्नत्रय के निराकरण के लिये 'नियम' के साथ 'सार' शब्द जोड़ते तो वे स्वयं व्यवहार रत्नत्रय को मोक्ष का कारण नहीं मान सकते थे । इसलिये यहाँ 'विपरीत' शब्द का अर्थ व्यवहार रत्नत्रय न करके मिथ्यादर्शनादि करना चाहिये ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज निश्चय रत्नत्रय और उसके फल की कामना करते हुये श्लोक कहते हैं—]

(१०) श्लोकार्थ—इस प्रकार से मैं विपरीत स्वरूप से रहित, अभुगम सर्वश्रेष्ठ रत्नत्रय को प्राप्त करके मुक्ति रूपी स्त्री से उत्पन्न जो अशरीरी (अतीन्द्रिय-आत्मिक) सुख को प्राप्त करता हूँ ।

गाथा ४

अन्वयार्थ— [नियमः मोक्षोपायः] पूर्वोक्त रत्नत्रय स्वरूप नियम मोक्ष का उपाय है [तस्य फलं परम निर्वाणं भवति] उसका फल परम निर्वाण है [अपि

रत्नत्रयस्य भेदकरणलक्षणकथनमिदम् । मोक्षः साक्षादखिलकर्मप्रध्वंसनेना-
साधितमहानन्दलाभः । पूर्वोक्तनिरुपचाररत्नत्रयपरिणतिस्तस्य महानन्दस्योपायः । अपि
त्रैषां ज्ञानदर्शनचारित्र्याणां त्रयाणां प्रत्येकप्ररूपणा भवति । कथम्, इदं ज्ञानमिदं
दर्शनमिदं चारित्र्यमित्यनेन विकल्पेन । दर्शनज्ञानचारित्र्याणां लक्षणं वक्ष्यमाणसूत्रेषु
ज्ञातव्यं भवति ।

(मंदाक्रांता)

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा
ह्यात्मा ज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्याऽपि नैव ।
शीलं सावज्ञं भवति परं मोक्षुभिः [भोक्तृभिः] प्रोक्तमेतद्
बुद्ध्वा जन्तुर्न पुनरुदरं याति मातुः स मय्यः ॥११॥

अ एतेषां त्रयाणां प्रत्येक प्ररूपणा भवति] पुनश्च इन तीनों में से प्रत्येक की प्ररूपणा
होती है ।

टीका—रत्नत्रय में भेद करने वाला और उनके लक्षण को कहने वाला यह
प्रकरण है ।

साक्षान् अखिल कर्मों के प्रध्वंस से प्राप्त होने वाला जो महान् आनन्द का
लाभ है वह मोक्ष है । पूर्वोक्त उपचार रहित रत्नत्रय की परिणति उस महान् आनन्द
स्वरूप मोक्ष का उपाय है । इसलिये पुनः ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य इन तीनों में से
प्रत्येक का प्ररूपण किया जाता है । कैसे किया जाता है ? यह ज्ञान है, यह दर्शन है
और यह चारित्र्य है । इस प्रकार से भेद करके वर्णन किया जाता है । इन दर्शन,
ज्ञान और चारित्र्य का लक्षण आगे कहे हुये सूत्रों से—गाथाओं से जानने योग्य है ।

भावाय—‘नियमसार’ शब्द से ‘रत्नत्रय’ को ग्रहण करके अब आचार्यवर्य
सबसे पहले भेद रत्नत्रय अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय का वर्णन करते हुये प्रत्येक का
पृथक्-पृथक् लक्षण बतायेंगे ।

[अब टीकाकार मुनिराज रत्नत्रय का महत्व प्रगट करते हुये श्लोक
कहते हैं—]

(११) श्लोकार्थ—शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप से परिणत अपनी आत्मा मुनियों
के लिये मोक्ष प्राप्ति का उपाय है क्योंकि आत्मा ही ज्ञान है, किन्तु उससे भिन्न अन्य

**अप्तागमतत्त्वाणं, सदृहणादो हवेइ सम्मत्तं ।
ववगयअसेसदोसो, सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥५॥**

**आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानाद्भवति सम्यक्त्वम् ।
व्यपगताशेषदोषः सकलगुणात्मा भवेदाप्तः ॥५॥**

सत्यार्थ आप्त आगम औ तत्त्व बताये ।
वस इनके हि श्रद्धान से सम्यक्त्व कहाये ॥
संपूर्ण दोष रहित सकल गुण से युक्त जो ।
जो आत्मा है आप्त वोतराग द्वेष जो ॥५॥

**व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । आप्तः शंकारहितः । शंका हि सकल-
मोहरागद्वेषादयः । आगमः तन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तवस्तुविस्तारसमर्थनदक्षः चतुर-**

कुछ ज्ञान नहीं है, आत्मा ही दर्शन है भिन्न दर्शन भी कुछ नहीं है एवं शील भी अन्य कुछ नहीं है अर्थात् आत्मा ही शील है । ऐसा मुक्ति दच्छुक-मोक्ष को प्राप्त होने वाले श्री अरिहंत देव ने कहा है ऐसा जानकर वह भव्य जीव पुनः माता के गर्भ में नहीं आता है ।

भावार्थ—आत्मा को छोड़कर रत्नत्रय नहीं पाया जाता है इसलिये आत्मा ही रत्नत्रय स्वरूप है । इस आत्मा से भिन्न अन्य कुछ दर्शन, ज्ञान और चारित्र नहीं है ऐसा समझ कर जो मुनिराज भेद रत्नत्रय के अनन्तर अभेद रत्नत्रय की उपासना करते हैं वे भव्य जीव पुनः जन्म मरण के दुःखों से छूट जाते हैं । इस कलश की गाथा में आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने रत्नत्रय का वर्णन करके मैं प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन करूंगा ऐसा कहा है ।

गाथा ५

अन्वयार्थ—[आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानात्] आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से [सम्यक्त्वं भवति] सम्यक्त्व होता है [व्यपगताशेषदोषः] समस्त दोषों से रहित [सकलगुणात्मा आप्तः भवेत्] और सकल गुणों से सहित आत्मा आप्त होता है ।

टीका—यह व्यवहार सम्यक्त्व के स्वरूप का कथन है ।

वचनसंदर्भः । तत्त्वानि बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्वपरमात्मतत्त्वभेदभिन्नानि अथवा जीवाजीवा-
स्त्वसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाणां भेदात्सप्तधा भवन्ति । तेषां सम्यक्श्रद्धानं व्यवहारसम्य-
क्त्वमिति ।

(आर्या)

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न समस्ति ।

तर्हि मवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि ॥१२॥

शंका रहित को आप्त कहते हैं, यहां शंका से सकल मोह, राग, द्वेष आदि को लिया है । उन आप्त के मुख कमल में विनिर्गत समस्त पदार्थों के विस्तार के समर्थन में कुशल चतुर वचनों की रचना की आगम कहते हैं । बहिस्तत्त्व, अंतस्तत्त्व और परमात्मतत्त्व के भेद से तत्त्वों के तीन भेद हैं अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष के भेद से तत्त्वों के सात भेद होते हैं । उन आप्त, आगम और तत्त्वों का सम्यक् श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्त्व है ।

विशेषार्थ—यहां तत्त्वों के भेद में बहिस्तत्त्व से अचेतन तत्त्व को लिया है और अंतस्तत्त्व से चेतन तत्त्व को लिया है तथा परमात्मतत्त्व को अलग कहा है किन्तु अंतस्तत्त्वरूप चेतन तत्त्व में परमात्मतत्त्व शामिल हो जाता है अतः मुख्य तत्त्व दो ही हैं । [यहां बहिस्तत्त्व और अंतस्तत्त्वस्वरूप परमात्म तत्त्व ऐसे दो भेद भी कोई करते हैं किन्तु अंतस्तत्त्व को परमात्मतत्त्व का विशेषण कर देने पर तो संसारी जीवों का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो पाता है । अतः तत्त्वों के तीन भेद है ऐसा अर्थ करना ठीक प्रतीत होता है ।] अथवा बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से भी तत्त्वों के तीन भेद हो सकते हैं ।

। [अब टीकाकार मुनिराज सम्यक्त्व के प्रकरण में भक्ति के महत्व को बतलाते हुये श्लोक कहते हैं—]

(१२) श्लोकार्थ—भव के भय को भेदन करने वाले ऐसे जिनेन्द्र भगवान में क्या आपकी सुखदायक भक्ति यहाँ नहीं है ? तब तो आप भय समुद्र के मध्य में रहने वाले मगर के मुख के अंतर्गत ही हैं ऐसा समझें अर्थात् यदि आप जिनेन्द्र भगवान् को भक्ति नहीं करते हैं तो आप संसार समुद्र में ही डूब जावेंगे, पार नहीं हो

छुहत्तुहभीरुरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रुजामिच्छू ।
सेदं^१ खेद मदो रइ, विस्मियणिद्दा जणुव्वेगो ॥६॥

क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहश्चिन्ता जरा रुजा मृत्युः ।
स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगौ ॥६॥

क्षुध् प्यास भीति रोष राग मोह व चिन्ता ।
मद खेद पसीना जरा व रोग व निद्रा ॥
विस्मय रति उद्वेग जन्म मरण कहाये ।
ये दोष अठारह सभी के पास बताये ॥६॥

अष्टादशदोषस्वरूपाख्यानमेतत् । असातावेदनीयतीव्रमंदक्लेशकरो क्षुधा ।
असातावेदनीयतीव्रतीक्ष्णमंदमंदतरपीडया समुपजाता तृषा । इहलोकपरलोकाश्राना-

सकीं । इसकी गाथा में आचार्य श्री ने आप्त, आगम और तत्व के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है और आप्त का लक्षण किया है अतएव उनकी भक्ति की प्रेरणा दी गई है ।

गाथा ६

अन्वयार्थ—[क्षुधातृष्णाभयंरोषो रागो मोहः चिन्ता जरा रुजा मृत्युः]
क्षुधा, तृष्णा, भय, रोष, राग, मोह, चिन्ता, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु [स्वेदः खेदो मदो
रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगौ] पसीना, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और
अरति (ये अठारह दोष) हैं ।

टोका—यह अठारह दोषों के स्वरूप का वर्णन है ।

असातावेदनीय कर्म के निमित्त से तीव्र अथवा मंद क्लेश को करने वाली
क्षुधा है । असातावेदनीय कर्म की तीव्र, तीव्रतर अथवा मंद, मंदतर पीड़ा से तृष्णा
उत्पन्न होती है । इहलोक भय, परलोक भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय, मरण भय,

१. द्वितीय पाद में चार मात्राएं अधिक हैं ।

२. सेदं सेद (क) पाठान्तर ।

मायान्धुतिमरणदेहमाकर्षणलोहात् तत्तत्तत् भवति मयम् । क्रोधनस्य पुंसस्तीव्रपरिणामो
 रोषः । रागः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, दानशीलोपवासगुरुजनवैयावृत्त्यादिसमुद्भवः प्रशस्त-
 रागाः, स्त्रीराजचौरभक्तविकथालापकर्णनकौतूहलपरिणामो ह्यप्रशस्तरागः । चातुर्वर्ण्य-
 क्षमणसंघवात्सल्यगतो मोहः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्त एव । चिन्तनं धर्मशुक्लरूपं प्रशस्त-
 भितरदप्रशस्तमेव । तिर्यङ्मानवानां वयःकृतदेहविकार एव जरा । वातपित्तश्लेष्मणां
 वैषम्यसंजातकलेवरविपीडैव रुजा । सादिसनिधनमूर्तेन्ध्रियविजातीयनरनारकादिविभाव-
 व्यञ्जनपर्यायविनाश एव मृत्युरित्युक्तः । अशुभकर्मविपाकजनितशरीरायाससमूहपजात-
 पूतिगंधसम्बन्धवासनावासितवाबिन्दुसंदोहः स्वेदः । अनिष्टलाभः खेदः । सहजचतुर-

वेदना भय और आकस्मिक भय के भेद से भय सात प्रकार का है । क्रोध
 स्वभावो जीव के तीव्र परिणाम को रोष कहते हैं । राग के प्रशस्त और अप्रशस्त
 ऐसे दो भेद हैं, दान, शील, उपवास, गुरुजनों की वैयावृत्ति आदि में उत्पन्न होने
 वाला राग प्रशस्त राग है और स्त्री कथा, राजकथा, चौर कथा, भोजन कथा रूप
 विकथा के करने तथा सुनने का जो कौतूहल रूप परिणाम है वह अप्रशस्त राग है ।
 चार प्रकार के श्रमण संघ में वात्सल्य से होने वाला मोह प्रशस्त मोह है और इससे
 भिन्न-गृह कुटुम्ब संबंधी मोह अप्रशस्त ही है । धर्म शुक्लरूप चिंतन करना प्रशस्त
 चिन्ता है और इससे भिन्न आतंरीन्द्रध्यान संबंधी चिंतन अप्रशस्त चिन्ता ही है ।

तिर्यच और मनुष्यों के उम्र के निमित्त से होने वाले शरीर में विकार ही
 बुढ़ापा है । वात, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न हुई शरीर में पीड़ा ही रोग
 है, आदि और अंतःसहित मूर्तिक इंद्रियां तथा विजातीय नर-नारकादि विभाव व्यंजन
 पर्याय का विनाश ही मृत्यु कहा गया है । अशुभ कर्म के उदय से होने वाला जो
 शरीर में श्रम है उससे उत्पन्न होने वाली दुर्गंध से संबंधित वासना से वासित जल
 बिन्दुओं के समूह को पसीना कहते हैं । अनिष्ट के लाभ से होने वाला खेद है ।
 अखिल जनता के कान में अमृत की झरात हुये के समान सहज चतुर कविता से
 सहज सुन्दर शरीर, कुल, बल और ऐश्वर्य के निमित्त से आत्मा में अहंकार को
 उत्पन्न कराने वाला मद कहलाता है । रुचिकर वस्तुओं में परमप्रीति होना ही रति
 है । परम समरसीभाव की भावना से रहित जीवों को कहीं पर पूर्व काल में नहीं
 देखा हुआ ऐसा कुछ अपूर्व देख लेने से विस्मय होता है । केवल शुभ कर्म से देव पर्याय

कवित्वनिखिलजनताकर्णामृतस्यंदिसहजशरीर कुलबलैश्वर्यैरात्माहंकारजननो मदः । मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः । परमसमरसोभावभावनापरित्यक्तानां क्वचिद-पूर्ववर्शनाद्विस्मयः । केवलेन शुभकर्मणा, केवलेनाशुभकर्मणा, मायया, शुभाशुभमिश्रेण

में उत्पत्ति का होना, केवल अशुभकर्म से नरक पर्याय में उत्पत्ति का होना, माया से तिर्यच पर्याय एवं शुभाशुभ के मिश्र से देवपर्याय में उत्पत्ति होना जन्म कहलाता है । दर्शनावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान ज्योति का अस्त हो जाना ही निद्रा है । इष्ट वियोग के होने पर घबराहट का होना उद्वेग है । इन महादोषों से तीनों लोक व्याप्त हो रहे हैं, इन दोषों से रहित वीतराग सर्वज्ञ भगवान् ही हैं ।

कहा भी है—“धर्म वही है जहां दया है, तप भी वही है जहां विषयों का निग्रह है, देव वही है जो अठारह दोषों से रहित है इसमें संदेह नहीं है ।”

विशेषार्थ—तेरहवें गुणस्थान में साता-असातावेदनीय में से किसी एक की उदय व्युच्छिन्ति होती है और चौदहवें गुणस्थान में शेष बची एक वेदनीय की व्युच्छिन्ति होती है इसलिये प्रश्न यह होता है कि अन्य गुणस्थानों में जैसे साता-असाता के उदय से इन्द्रिय जन्य सुख तथा दुःख होता है वैसे केवली भगवान् के भी होना चाहिये और तब तो असातावेदनीय के निमित्त से होने वाली ग्यारह परीपह भी अरिहंत भगवान् के मानना चाहिये कहा भी है—‘एकादशजिने’ जिनेन्द्र भगवान् में ग्यारह परीपह हैं ऐसा सूत्रकार का वचन है । ‘वेदनीय के उदय का सद्भाव होने से उनके क्षुधा तृषा आदि का प्रसंग है । ऐसा नहीं कहना क्योंकि घातिकर्म के उदय की सहायता का अभाव हो गया है इसलिये इस वेदनीय में क्षुधा आदि बाधा को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रही है ।’ जैसे विष द्रव्य की मंत्र औषधि आदि के बल से मारण शक्ति नष्ट कर देने के बाद वह मरण के लिये कारण नहीं होता है उसी प्रकार से ध्यान अग्नि से घातिकर्म रूपो ईधन को भस्म कर देने के बाद अनंत दर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख के प्रगट हो जाने पर निरन्तर शुभ पुद्गल वर्गणायें आ रही हैं जिससे अरिहंत भगवान् के परमौदारिक शरीर की स्थिति कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक बनी रहती है । इसलिये वेदनीय कर्म यद्यपि विद्यमान है तो

देवनाटकतिर्यङ्मनुष्यपर्यायेष्वत्यचिर्जन्म । दर्शनावरणीयकर्मोदयेन प्रत्यस्तमितज्ञान-
व्योतिरेव निद्रा । इष्टवियोगेषु विवर्तवभाव एवोद्वेगः । एभिर्महादोषैर्व्याप्तास्त्रयो
लोकाः । एतैर्विनिर्मुक्तो वीतरागसर्वज्ञ इति ।

तथा चोक्तम्—

“सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ ।

दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि सन्देहो ॥”

भी मोहनोय कर्म की सहायता बिना सामर्थ्य रहित हो गया है अतः वह अपने योग्य
क्षुधा, तृष्णा आदि परीपहों को उत्पन्न करने में असमर्थ है ।

इसी आत को गोम्मटसार कर्मकांड में भी कहा है—

“केवली” भगवान् के घातिया कर्म के अभाव में मोहनोय के भेद जो राग-
द्वेष हैं वे नष्ट हो चुके हैं । जानावरण के नष्ट हो जाने से इंद्रियजन्य क्षायोपशमिक
ज्ञान भी नष्ट हो चुका है इसलिये केवली भगवान् के साता-असाता जन्य इंद्रिय
विषय सुख-दुःख भी लेश मात्र नहीं होते हैं जिस कारण केवली भगवान् के एक
सातावेदनीय का बंध सो भी एक समय की स्थिति वाला ही है, इस कारण वह
उदय रूप ही है और इसी कारण असाता का उदय भी साता स्वरूप में ही परिणमन
कर जाना है क्योंकि असातावेदनीय सहाय रहित होने से तथा बहुत हीन होने से
मिष्ट जल में ग्वारे जल की एक बून्द की तरह कुछ कार्य नहीं कर सकता । इस
कारण से केवली के हमेशा सातावेदनीय का ही उदय रहता है इसीलिये असाता के
निमित्त से होने वाली क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग,
तृण, स्पर्श और मल ये ग्यारह परीपह हैं वे जिनेन्द्र भगवान् के कार्य रूप नहीं होती
हैं ।” यही कारण है कि अर्हत भगवान् कवलाहारी नहीं हैं, वे क्षुधादि अठारह
महादोषों से सर्वथा रहित हैं और अनंत चतुष्टय से सहित पूर्णतया सुखी हैं ।

१. गाढा य रागदोषा इन्द्रियसाक्षात् च केवलमिह जदो । तेण दु सादा सादज सुह दुक्खं एत्थि इन्द्रिय जं ॥२७३॥

समयद्विदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स । तेण असादस्सुदयो सादसरूपेण परिणमदि ॥२७४॥

एवेण कारणेण दु सादस्सेव दु एतंतरो उदयो । तेणसाद शिमित्ता परीसहा जिणवरे एत्थि ॥२७५॥

[कर्मकांड]

तथा चोक्तं श्रीविद्यानन्दिस्वामिभिः—

(मालिनी)

“अभिमतफलसिद्धेरस्युपायः सुबोधः
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्ध-
नं हि कृतमुपकारं साधयो विस्मरन्ति ॥”

तथाहि —

(मालिनी)

शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः
स्मरगिरिसुरनाथः प्रास्तदुष्टाघयूथः ।
पदनतवनमाली भव्यपद्मांशुमाली
दिशतु शमनिशं नो नेमिरानन्दभूमिः ॥१३॥

उसी प्रकार श्री विद्यानन्द स्वामि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—“अभिमत फल की सिद्धि का उपाय सम्यग्ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान सुशास्त्र से होता है और सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है, इसलिये उनके प्रसाद से ही इष्ट-मोक्ष की सिद्धि होने से वे आप्त प्रबुद्ध-ज्ञानी जनों के द्वारा पूज्य होते हैं क्योंकि साधुजन किये हुये उपकार को कभी नहीं भूलते हैं ।”

(१३) श्लोकार्थ—जो सौ इन्द्रों से पूज्य हैं जिन्होंने उत्कृष्ट सद्बोध के राज्य-केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया है जो काम रूपी पर्वत को नष्ट करने के लिये इन्द्र तुल्य हैं, दुष्ट अष्ट कर्म के समूह को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, श्रीकृष्ण जिनके चरणों में नत हैं और जो भव्य जीव रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान हैं, आनन्द की भूमि-स्थान स्वरूप ऐसे नेमिनाथ भगवान हम सभी को सदैव सुख प्रदान करें ।

इस कलश की गाथा में १८ दोष रहित अरिहंत भगवान् का वर्णन किया गया है अतएव उनके गुणों से ओत प्रोत होकर टीकाकार ने नेमिनाथ भगवान् की स्तुति की है ।

णिस्सेसदोसरहिषो, केवलगाणाइपरमविभवजुदो ।

सो परमप्पा उच्चइ, तद्विपरोओ एण परमप्पा ॥७॥

निःशेषदोषरहितः केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः ।

स परमात्मोच्यते तद्विपरीतो न परमात्मा ॥७॥

जो इस सभी दोषों से रहित केवल है ।

केवल ज्ञान आदि परम विभवमयी है ॥

परमात्मा वो ही कहा जाता है भुवन में ।

जो इनसे भिन्न वो नहीं परमात्मा जग में ॥७॥

तीर्थंकरपरमदेवस्वरूपाख्यानमेतत् । आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि ज्ञान-
दर्शनावरणान्तरायमोहनीयकर्माणि, तेषां निरवशेषेण प्रध्वंसान्निःशेषदोषरहितः अथवा
पूर्वसूत्रोपात्ताष्टादशमहादोषनिर्मूलनान्निःशेषदोषनिर्मुक्त इत्युक्तः । सकलविमलकेवल-
बोधकेवलदृष्टिपरमवीतरागात्मकानन्दाद्यनेकविभवसमृद्धः । यस्त्वेवंविधः त्रिकालनिराव-

गाथा ७

अन्वयार्थ — [निःशेषदोषरहितः] जो उपर्युक्त संपूर्ण दोषों से रहित और
[केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः] केवलज्ञान आदि परम विभव से सहित है [सः]
वह [परमात्मा उच्यते] परमात्मा कहलाते हैं । [तद्विपरीतः] उससे विपरीत
[परमात्मा न] परमात्मा नहीं है ।

टीका — यह तीर्थंकर परमदेव के स्वरूप का आख्यान है —

जो आत्मा के गुणों का घात करने वाले हैं वे घातिकर्म कहलाते हैं, वे
ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार हैं । जो इन घातिया कर्मों
का परिपूर्णतया प्रध्वंस कर देने से निःशेष दोष से रहित होते हैं अथवा पूर्व गाथा
सूत्र में कहे हुये अठारह महादोषों के जड़मूल से नष्ट हो जाने से अर्हन्त भगवान्
निःशेष दोष से रहित कहलाते हैं और सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, परम
वीतरागस्वरूप आनन्द आदि अनेकों विभव से समृद्ध होते हैं । जो इस प्रकार त्रिकाल
निरावरण नित्य हो है एक आनन्द स्वरूप जिसका ऐसे निजकारण परमात्मा की
भावना से उत्पन्न कार्य परमात्मा हो चुके हैं वे ही भगवान् अर्हन्त परमेश्वर हैं । इन

रणनित्यानंदैकस्वरूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान्
अर्हन् परमेश्वरः । अस्य भगवतः परमेश्वरस्य विपरीतगुणात्मकाः सर्वे देवाभिमानदग्धा
अपि संसारिण इत्यर्थः ।

तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवः :—

भगवान् परमेश्वर के विपरीत गुण वाले सभी देव के अभिमान में दग्ध हुये भी देव
संसारी ही हैं यह अर्थ हुआ ।

विशेषार्थ—यहां यह बात स्पष्ट की है कि घाति कर्म के नाश में अष्टादश
दोष समाप्त होते हैं और केवलज्ञानादि अनन्त गुण प्रगट होते हैं । इससे यह बात
सिद्ध होती है कि संसार पूर्वक ही मोक्ष होता है । अनादिकाल से कर्ममल
रहित-अस्पृशित 'सदाशिव' नाम का कोई परमेश्वर नहीं है । आगे परमात्मा के
लक्षण में टीकाकार ने कारण परमात्मा की भावना में कार्य परमात्मा होते हैं, शुद्ध
निश्चयनय में प्रत्येक जीव की आत्मा अिकाल में आवरण रहित है, नित्य ही आनन्द
रूप है वही कारण परमात्मा है ऐसा समझकर शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव जब निश्चय नय
के अवलम्बन से अपनी ऐसी आत्मा की भावना करने लगे अपने आप में तन्मय हो
जाते हैं तब उनकी आत्मा ही परमात्मा बन जाती है । इसीलिये शुद्ध निश्चयनय के
अवलम्बन स्वरूप आत्मा को कारण परमात्मा कहा है । यद्यपि "सब्बे सुद्धा हु सुद्धण्या"
के अनुसार सभी जीव शुद्धनय से शुद्ध ही हैं । चाहे वे सूक्ष्म निगोदिया एकेन्द्रिय हों
अथवा वे अभव्य हों, चाहे मिथ्यादृष्टि-मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती हों या १४ वें गुणस्थान
तक किसी भी गुणस्थान में हों उन सभी की आत्मा परमात्म स्वरूप है, किन्तु इतने
मात्र से अभव्य या एकेन्द्रिय जीव आदि की आत्मा को क्या लाभ है, कुछ भी नहीं
है निश्चयनय से सभी में कार्य परमात्मा ही है किन्तु उसमें उन्हें कुछ आनन्द नहीं है
अतएव सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा ही कारण परमात्मा बनकर कार्य परमात्मा को प्राप्त
कर सकते हैं । ऐसी कारण परमात्मत्व से परिणत आत्मावस्था बीतराग निर्विकल्प
ध्यानावस्था के समान होती है, यहां यह निष्कर्ष समझना चाहिये ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने भी अरिहन्त का लक्षण करते हुये कहा है—

“तेजो दिद्वो णाणं इड्ढो सोक्खं तहेव ईसरियं ।
तिहुवणपहाणदइयं माहणं जस्स सो अरिहो ॥”

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(शादूलविक्रीडित)

“कांत्यं व स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुध्दंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।

गाथार्थ—“तेज—भामण्डल, दर्शन, ज्ञान, ऋद्धि—समवशरणादि विभूति, सौख्य, ऐश्वर्य और त्रिभुवन में प्रधान बल्लभपना ऐसा माहात्म्य जिनके है वे अरिहन्त भगवान् हैं ।

भावार्थ—भामण्डल, तीनों जगत् और तीनों कालों की समस्त वस्तु को एक साथ देखने और जानने में समर्थ केवलदर्शन और केवलज्ञान, समवशरण का वैभव, अनन्तसुख इन्द्रादि भी जिनकी सेवा करें ऐसा ऐश्वर्य और त्रिभुवनाधीश का भी आविपत्य ऐसा माहात्म्य जिनका है वे ही अर्हत भगवान् हैं ।

उसी प्रकार से अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

अर्थ—“जो अपनी कांति से ही दशों दिशाओं को स्नान करा रहे हैं, जो अत्यन्त उत्कट तेज को धारण करने वाले सूर्य के तेज को अपने तेज से रोक देते हैं, जो अपने रूप से सभी जनों के मन को चुराने वाले हैं, जो अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा भव्यों के कानों में साक्षात् अमृत को भरते हुये सदृश सुख उत्पन्न करते हैं वे एक सहस्र आठ लक्षण को धारण करने वाले तीर्थेश्वर सूरि वंश हैं ।

भावार्थ—अरिहन्त भगवान् के शरीर को कांति से सम्पूर्ण दिशायेँ स्वच्छ हो जाती हैं, तेज से करोड़ों सूर्यों का तेज छिप जाता है, रूप से सभी जन के मन

१. प्रवचनसार गाथा ८८/१ पृ० १६२ । इस गाथा को श्री जयसेनाचार्य ने भी कुन्दकुन्द देव कृत मानकर टीका की है और यहां श्री पद्मप्रभमलधारी देव भी कुन्दकुन्ददेव कृत बतह रहे हैं ।

२. समयसार कलण—४० ।

दिठ्येन दधनिना मुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
बद्धास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सुरयः ॥”

तथाहि—

(मालिनी)

जगदिदमजगच्च ज्ञाननीरेरुहान्त—

अमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम् ।

तमपि किल यजेहं नेमितीर्थकरेशं

जलनिधिमपि दोर्म्यामुत्तराम्यूर्ध्ववीचिम् ॥१४॥

मुग्ध हो जाते हैं और बाणी से सभी के कानों में अमृत भरने जैसा सुख उत्पन्न होता है और उनके शरीर में १००८ लक्षण शोभायमान हैं ऐसे तीर्थकर परम देव जगत में सभी के लिये वंदना करने योग्य हैं, पुज्य एवं महान हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज ऐसे अरिहंत भगवान् की स्तुति में अपने को असमर्थ कहते हुये श्लोक द्वारा श्री नेमिनाथ की स्तुति करते हैं ।]

(१४) श्लोकार्थ—जिन भगवान् के ज्ञान रूपी कमल के अन्तर्गत अमर के समान यह सम्पूर्ण लोक और अलोक नित्य ही स्पष्टरूप से प्रतिभासित हो रहा है निश्चित ही मैं भी उन श्री नेमिनाथ तीर्थकर की पूजा करता हूं तो मैं अपनी दोनों भुजाओं से ऊंची-ऊंची उठती हुई लहरों वाले समुद्र को भी तैरना चाहता हूं ।

भावार्थ—जिस प्रकार अमर कमल पुष्प के भीतर बैठकर छोटा सा प्रतीत होता है उसी प्रकार भगवान् के ज्ञान रूपी कमल में यह सारा लोक और अलोक छोटा सा प्रतीत होता है क्योंकि भगवान् के ज्ञान में यदि अनन्त भी ऐसे लोकालोक आ जावें तो भी समा सकते हैं । यदि ऐसे महान् नेमिनाथ की मैं स्तुति या भक्ति करना चाहता हूं तो मैं वास्तव में लहरों से व्याप्त ऐसे विशाल समुद्र को मात्र भुजाओं से तैरना चाहता हूं । अर्थात् मैं ऐसे नेमिनाथ की स्तुति करने में समर्थ नहीं हूं, असमर्थ ही हूं । इस गाय्या में ग्रन्थकार ने आप्त को दोषरहित और केवलज्ञानादि अनन्तगुणों के वैभव से सहित बताया है और इसीलिये केवलज्ञान की महिमा गायी है ।

तस्य 'मुहगदवयणं, 'पुष्पावरदोषविरहियं शुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं, तेण तु कहिया हवन्ति तच्चत्था ॥८॥

तस्य मुखोद्गतवचनं पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धम् ।
आगममिति परिकथितं तेन तु कथिता सवन्ति तत्त्वार्थाः ॥८॥

इनके मुखारविद से निकले हुए वचन ।
जो पूर्वं अपर दोष रहित शुद्ध हैं वरण ॥
आगम ये नाम उसका ऋषियों ने बताया ।
उसमें कहे गये को तत्त्वार्थ है गाया ॥८॥

परमागमस्वरूपाख्यानमेतत् । तस्य खलु परमेश्वरस्य वदनवनजविनिर्गतचतुर-
वचनरचनाप्रपञ्चः पूर्वापरदोषविरहितः, तस्य भगवतो रागाभावात् पापसूत्रवृत्तिसादि-
पापक्रियाभावान्छुद्धः परमागम इति परिकथितः । तेन परमागमामृतेन भव्यै भवर्णा-

गाथा ८

अन्वयार्थ—[तस्य मुखोद्गतवचनं] उन आप्त के मुख से निकले हुये जो
वचन हैं [पूर्वापरदोषविरहितं शुद्धं] जो पूर्वापर दोषों से रहित हैं, शुद्ध हैं [आगमं
इति परिकथितं] उसे ही 'आगम' इस प्रकार कहा है [तेन तु कथिताः तत्त्वार्थाः]
और उस आगम के द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वार्थ कहलाते हैं ।

टीका—यह परमागम के स्वरूप का कथन है—

उन आप्त परमेश्वर के मुखारविद से निकले हुये कुशल वचन की रचना
का विस्तार है वह पूर्वापर दोष से रहित है, उन भगवान् के राग का अभाव होने से
पापसूत्र के समान वृत्तिसादि पाप क्रियाओं का अभाव होने से जो शुद्ध है वह 'परमागम'
इस नाम से कहा जाता है । वह परमागम भव्यों के द्वारा कर्ण रूपी अञ्जुलिपुट से
पीने योग्य अमृत है, मुक्ति सुन्दरी के मुख को देखने के लिये दर्पण है, संसार रूपी
महासमुद्र के महाभंवर में फंसे हुये सम्पूर्ण भव्य जीवों को हाथ का अवलम्बन देने

१. मुहगद (क) पाठान्तर ।

२. पुष्पावर (क) पाठान्तर ।

जलिपुटपेयेन मुक्तिसुन्दरोमुखदर्पणेन संसरणवारिनिधिमहावर्तनिमग्नसमस्तभव्यजनता-
दक्षहस्तावलम्बनेन सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिना अक्षुण्णमोक्षप्रासादप्रथमसो-
पानेन स्मरभोगसमुद्रसूताप्रशस्तरागांगारैःपच्यमानसमस्तदीनजनतामहाक्लेशनिर्णान-
समर्थसजलजलदेन कथिताः सप्त तत्त्वानि नव पदार्थाश्चेति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

वाला है, सहज—स्वाभाविक वैराग्य रूपी महल के शिखर का चूड़ामणि रत्न है, अक्षुण्ण—जो कभी नष्ट नहीं होगा ऐसा मोक्ष रूपी उत्तम भवन में पहुंचने के लिये पहली सीढ़ी है और कामभोग से उत्पन्न हुये जो अप्रशस्त राग रूपी अंगारे उनसे भुलसते हुये दीन प्राणियों के महान् क्लेश को जड़मूल से नष्ट करने में समर्थ ऐसा सजल मेघ है । इन विशेषणों से विशिष्ट ऐसे इस परमागम के द्वारा निश्चित रूप से सात तत्त्व और नव पदार्थ कहे गये हैं ।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल से निकली हुई वाणी को परम आगम कहा है और उस परमागम को अमृत कहा है क्योंकि अमृत के समान यह भव्य जीवों को सन्तुष्ट करने वाला है । इसे दर्पण कहा है क्योंकि इस आगम रूपी दर्पण में मुक्ति का भी अवलोकन हो जाता है । इसे हस्तावलम्बन कहा है क्योंकि संसार समुद्र में डूबे हुये प्राणियों को सहारा देकर मोक्ष में पहुंचाता है । इसे शिखामणि कहा है क्योंकि वैराग्य महल के शिखर का शेखर है, इसे प्रथम सीढ़ी कहा है क्योंकि इसके बिना मोक्ष महल पर चढ़ नहीं सकते हैं और इसे सजल मेघ कहा है क्योंकि कामभोग या इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि अनेकों मानसिक, शारीरिक और आगंतुक दुःखों से उत्पन्न हुये संताप को क्षणमात्र में शमन करने में समर्थ है ऐसे माहात्म्य से युक्त इस परमागम से सप्त तत्त्व, नव पदार्थ का वर्णन किया जाता है वही 'तत्त्वार्थ' है । इस प्रकार आप्त, आगम और तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

आगम के लक्षण में श्री समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है—

(आर्या)

"अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥"

(हरिणी)

ललितललितं शुद्धं निर्वर्णकारणकारणं
निखिलभविनामेतत्कर्णामृतं जिनसद्वचः ।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं
प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः ॥१५॥

जीवा नोन्मूलकाया, धर्माधर्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा, एसागुणपज्जएहि संजुत्ता ॥६॥

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ च काल आकाशम् ।
तत्त्वार्था इति मणिताः नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः ॥६॥

श्लोकार्थ—जो न्यूनता रहित, अधिकता रहित, और विपरीतता रहित जैसे का तैसा वस्तु के स्वरूप को संदेह रहित जानता है उसे आगम के ज्ञाताओं ने सम्यग्ज्ञान कहा है । अर्थात् संशय विपर्यय और अनध्यवसाय, इन दोषों से रहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं । यहां न्यूनता और अधिकता से रहित का तात्पर्य अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषों से रहित होना भी है ।

[अब टीकाकार मुनिराज जिनवचन की प्रशंसा करते हुये उसकी वंदना करते हैं—]

(१५) **श्लोकार्थ—**जो जिनवचन ललित में ललित-मनोहर में भी मनोहर है, शुद्ध-पूर्वा पर बाधा से रहित हैं, निर्वाण का कारण जो भेदाभेद रत्नत्रय उसके लिये कारण हैं, समस्त भव्य जीवों के कानों के लिये अमृत स्वरूप हैं, भव रूपी वन में प्रज्वलित हुई दावानल की ज्वाला को शांत करने के लिये जल के समान हैं और जिनयोगियों के द्वारा सदा ही वन्दनीय हैं ऐसे जिन वचनों की मैं प्रतिदिन वन्दना करता हूँ ।

जो जीव पुद्गलकाय, धर्म औ अधर्म जो ।
 आकाश और काल ये तत्त्वार्थ कहें जो ॥
 नानागुणों व पर्यायों से युक्त ये रहें ।
 हर ही जगहों को द्रव्य नाम से मुनी कहें ॥६॥

अत्र षण्णां द्रव्याणां पृथक्पृथक् नामधेयमुक्तम् । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रमनो-
 वाक्कायायुरुच्छ्वासनिःश्वासाभिधानैर्दशभिः प्राणैः जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः
 संग्रहनयोज्यमुक्तः । निश्चयेन भावप्राणधारणाज्जीवः । व्यवहारेण द्रव्यप्राणधारणाज्जीवः ।

गाथा ६

अन्वयार्थ—[जीवाः पुद्गलकायाः] जीव, पुद्गलकाय [धर्माधर्मौ]
 धर्म, अधर्म [कालः च आकाशं] काल और आकाश ये छहों ही [नानागुणपर्यायैः
 संपुक्ताः] विविध गुण पर्यायों से संयुक्त [तत्त्वार्थाः इति भणिताः] "तत्त्वार्थ" इस
 प्रकार से कहे गये हैं ।

टीका—यहां छहों द्रव्य के पृथक्-पृथक् नाम का कथन है—

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र-कर्ण, मन-वचन-काय, आयु और
 श्वासोच्छ्वास इन नाम वाले दश प्राणों से जो जीता है, जीवेगा और पूर्व में जीवित
 था वह जीव है, यह संग्रह नय का कथन है । निश्चय से भाव प्राणों को धारण करने
 से जीव है और व्यवहारनय से द्रव्यप्राणों को धारण करने से जीव है । शुद्ध सद्भूत
 व्यवहारनय से केवलजानादि शुद्ध गुणों का आधारभूत होने से 'कार्य शुद्ध जीव' है ।
 असद्भूत व्यवहारनय से मति ज्ञान आदि विभावगुणों का आधारभूत होने से
 'अशुद्ध जीव है' । शुद्ध निश्चयनय से सहजजानादि परम स्वाभाविक गुणों का
 आधारभूत होने से 'कारण शुद्ध जीव है' । यह जीव चेतन है, इसके गुण भी चेतन हैं,
 यह अमूर्त है, इसके गुण भी अमूर्त हैं, यह शुद्ध है इसके गुण भी शुद्ध हैं, यह
 अशुद्ध है और इसके गुण भी अशुद्ध हैं, पर्यायें भी इसी प्रकार हैं ।

जो गलन और पूरण स्वभाव से सहित है वह पुद्गल है, यह श्वेत, पीत
 आदि वर्णों का आधार है अतः मूर्तिक है, इसके गुण भी मूर्तिक हैं, यह अचेतन है इसके
 गुण भी अचेतन हैं ।

शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात्कार्यशुद्धजीवः । अशुद्धसद्भूत-
व्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतत्वात्अशुद्धजीवः । शुद्धनिश्चयेन सहजज्ञा-
नादिपरमस्वभावगुणानामाधारभूतत्वात्कारणशुद्धजीवः । अयं चेतनः । अस्य चेतनगुणाः ।
अयममूर्तः । अस्यामूर्तगुणाः । अयं शुद्धः । अस्य शुद्धगुणाः । अयमशुद्धः । अस्याशुद्धगुणाः ।
पर्यायश्च । तथा गलनपूरणस्वभावसनायः पुद्गलः । श्वेतादिवर्णधारो मूर्तः । अस्य हि
मूर्तगुणाः । अयमचेतनः । अस्याचेतनगुणाः । स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीव-
पुद्गलानां स्वभावविभावगतिहेतुः धर्मः । स्वभावविभावस्थितिक्रियापरिणतानां तेषां

स्वभाव और विभावरूप गति की क्रिया में परिणत हुये जीव और पुद्गलों
को स्वभाव-विभावरूप गति क्रिया में जो हेतु है वह धर्म द्रव्य है ।

स्वभाव और विभावरूप स्थिति क्रिया में परिणत हुये उन्हीं जीव और पुद्-
गलों की स्थिति में जो हेतु है वह अधर्म द्रव्य है ।

पाँचों द्रव्यों को अवकाश दान स्वरूपवाला आकाश द्रव्य है ।

पाँचों द्रव्यों में जो वर्तना का हेतु है वह काल द्रव्य है ।

धर्म-अधर्म-आकाश और काल इन चारों अमूर्तिक द्रव्यों के गुण शुद्ध हैं और
इनकी पर्यायें भी उसीप्रकार शुद्ध हैं ।

विशेषार्थ—यहां पुर ल्हों द्रव्यों का स्वरूप बताया है । उसमें टीकाकार ने
सर्वप्रथम जीव द्रव्य का निरुक्ति पूर्वक अर्थ करते हुये कहा है कि जो निश्चयनय से
चेतन्यरूप भावों से तथा व्यवहारनय से इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणों से त्रिकाल में जीता है
वह जीव है । अनन्तर इसके 'कार्यशुद्ध जीव, अशुद्ध जीव और कारणशुद्ध जीव' ऐसे
तीन भेद किये हैं । इनमें से पूर्णतया व्यक्तरूप से शुद्ध ऐसे सिद्ध जीवों को 'कार्यशुद्ध
जीव' कहा है । संसारी जीवों को 'अशुद्ध जीव' एवं शुद्ध निश्चयनय से संसारी जीवों
में सहजज्ञानादि गुण शक्तिरूप से विद्यमान हैं इस दृष्टि से उनको 'कारण शुद्ध जीव'
कहा है । आगे यह बताया है कि जीव चेतन, अमूर्तिक, शुद्ध अथवा अशुद्ध है, उसके
गुण भी वैसे ही चेतन्य स्वरूप, अमूर्तिक, शुद्ध अथवा अशुद्ध हैं तथा पर्यायें भी उसी

स्थितिहेतुरधर्मः । पञ्चानामवकाशदानलक्षणमाकाशम् । पञ्चानां वर्तनाहेतुः कालः ।
चतुर्णाममूर्तानां शुद्धगुणाः, पर्यायाश्चैतेषां तथाविधाश्च ।

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाम्बोधिमध्यस्थरत्नं
द्युतिपटलजटालं तद्वि षड्द्रव्यजातम् ।
हृदि सुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१६॥

प्रकार शुद्ध जीव की शुद्ध हैं और अशुद्ध जीव की अशुद्ध हैं । ऐसा नहीं हो सकता है कि जीव तो शुद्ध रहे और पर्यायों मात्र अशुद्ध रहें । यदि जीव द्रव्य शुद्ध है तो उसके गुण और उसकी पर्यायों भी शुद्ध ही रहेंगी और यदि पर्यायों अशुद्ध होंगी तो द्रव्य और उसके गुण अशुद्ध ही रहेंगे । हाँ ! शुद्ध निश्चयनय से संसार अवस्था में भी जीव द्रव्य शुद्ध है और उसके गुण तथा उसकी पर्यायों भी उसी नयविवक्षा से शुद्ध हैं ।

जिसमें परमाणु मिलते हैं और पृथक् होते रहते हैं वह पुद्गल है, यह मूर्तिक ही है । जीव द्रव्य कथंचित् शुद्ध निश्चयनय से अथवा व्यक्तरूप शुद्ध अवस्था में अमूर्तिक है और कर्मबंध से सहित होने से कथंचित् मूर्तिक भी है । शेष चारों द्रव्य अमूर्तिक ही हैं तथा शुद्ध गुण पर्यायों से सहित ही हैं उनमें अशुद्ध गुण पर्यायों नहीं होती हैं ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज छहों द्रव्यों को रत्न की उपमा देकर उससे विभूषित होने का संकेत करते हुये श्लाक कहते हैं । —]

(१६) श्लोकार्थ — इसप्रकार जिनेन्द्र भगवान के मार्ग रूपी समुद्र के मध्य में स्थित रत्न के समान द्युति-किरणों के समूह से दंष्ट्राप्यमान जो यह छह द्रव्यों का समूह है, जो भव्य तीक्ष्ण बुद्धि वाले भव्य जीव, भूषण के लिये अपने हृदय में धारण करता है वह मुक्ति श्री रूपी कामिनी का इच्छितवर हो जाता है ।

भावार्थ—यहां सम्प्रदर्शन के विषयभूत छह द्रव्यों का वर्णन है । आचार्य ने उन्हें ही 'तत्त्वार्थ' शब्द से कहा है । जिनेन्द्र भगवान् का मार्ग तो रत्नत्रय है, उस

जीवो उपयोगमग्नौ, उपयोगो नाणदंसणो होइ ।
 नाणुवग्नौगो दुविहो, सहावणाणं विभावणाणं ति ॥१०॥

जीव उपयोगमयः उपयोगो ज्ञानदर्शनं भवति ।

ज्ञानोपयोगो द्विविधः स्वभावज्ञानं विभावज्ञानमिति ॥१०॥

उपयोगमय लक्षण सहित है जीव जगत में ।

उपयोग कहा ज्ञान व दर्शन द्विभेद में ॥

ज्ञानोपयोग दो प्रकार से हैं बताये ।

स्वभावज्ञान ओ विभावज्ञान हैं गाये ॥१०॥

अत्रोपयोगलक्षणमुक्तम् । आत्मनश्चैतन्यानुवर्ती परिणामः स उपयोगः । अयं धर्मः । जीवो धर्मो । अनयोः सम्बन्धः प्रदीपप्रकाशवत् । ज्ञानदर्शनविकल्पेनासौ द्विविधः । अत्र ज्ञानोपयोगोऽपि स्वभावविभावभेदाद् द्विविधो भवति । इह हि स्वभावज्ञानम् प्रमूर्तम् अव्यावाधम् अतीन्द्रियम् अविनश्वरम्, तच्च कार्यकारणरूपेण द्विविधं भवति ।

रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन भी एक रत्न है जो कि प्रधान है और आप्त आगम तथा नित्यार्थ का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है इसलिये सम्यग्दर्शन के विषयभूत इन छह द्रव्यों को भी यहां रत्न कह दिया है । जो इन छह द्रव्यरूपी रत्न का हार बनाकर गले में पहन लेते हैं उनको रत्नों के भूषण से भूषित देखकर भुक्ति लक्ष्मी वरणा कर लेती है अर्थात् जो इन द्रव्यों के अर्थ को समझकर अपनी श्रद्धा का विषय बनाते हैं वे मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं यह अभिप्राय हुआ ।

गाथा १०

अन्वयार्थ—[जीवः उपयोगमयः] जीव उपयोगमय है । [उपयोगः ज्ञानदर्शनं भवति] उपयोग ज्ञान और दर्शनरूप है [ज्ञानोपयोगः] ज्ञानोपयोग [स्वभावज्ञानं विभावज्ञानं इति द्विविधः] स्वभावज्ञान और विभावज्ञान इसप्रकार से दो प्रकार का है ।

टीका—यहां गाथा में उपयोग का लक्षण कहा गया है—

आत्मा के चैतन्य का अनुवर्तन करने वाला परिणाम उपयोग है । यह उपयोग धर्म है और जीव धर्मो है । इन धर्म और धर्मों का सम्बन्ध प्रदीप और प्रकाश के समान है । ज्ञान और दर्शन के भेद से यह उपयोग दो प्रकार का है । यहां पर ज्ञानोपयोग भी

कार्यं तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम् । तस्य कारणां परमपारिणामिकभावस्थितत्रिकाल-
निरुपाधिरूपं सहजज्ञानं स्यात् । केवलं विभावरूपाणि ज्ञानानि त्रीणि कुमतिकुश्रुतविभङ्ग-
[नाम] भाञ्जि भवन्ति । एतेषाम् उपयोगभेदानां ज्ञानानां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रयोर्द्वयोर्बोद्धव्य-
इति ।

(मालिनी)

अथ सकलजिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्ध्या [प्रबुध्य]
परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः ।
सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं
स भवति परमश्रोकामिनोकामरूपः ॥१७॥

स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद से दो प्रकार का है । इनमें स्वभावज्ञान अमूर्तिक, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनश्यर है और वह कार्य तथा कारण के भेद से दो प्रकार का होता है । सकल विमल केवलज्ञान कार्य स्वभावज्ञान है, उसका कारण परम पारिणामिकभाव में स्थित त्रिकाल निरुपाधिरूप सहजज्ञान है अर्थात् यह सहजज्ञान कारण स्वभावज्ञान है । केवल विभावरूप ज्ञान तीन हैं, कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये उनके नाम हैं । इन उपयोग के भेदरूप ज्ञानों के भेद आगे कही गई दो सूत्र गाथाओं से जानना चाहिये ।

विशेषार्थ— टीकाकार श्री मुनिराज ने स्वभावज्ञान को केवलज्ञान कहा है पुनः उसके कार्य और कारणरूप से दो भेद कर दिये हैं । व्यक्तरूप केवलज्ञान तो कार्य-ज्ञान है तथा शक्तिरूप केवलज्ञान कारणज्ञान है । अर्थात् शुद्धनिश्चयनय मे परमपारिणामिक भाव के अवलम्बन से अपनी आत्मा के ज्ञान को तीनों कालों में उपाधिरहित, शुद्ध समझना यह सहजज्ञान है यही केवलज्ञान के लिये बीजभूत कारण होने से कारण-ज्ञान कहा गया है यहां ऐसा समझना चाहिये ।

[अब टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव ज्ञान के फल को बताते हुये श्लोक कहते हैं—]

(१७) श्लोकार्थ—जितेन्द्र भगवान के द्वारा कथितज्ञान के भेदों को जान करके परभावों का परिहार कर चुके हैं जो पुरुष परभावों से रहित हुये अपने स्वरूप में

केवलमिन्द्रियरहितं, असहायं तं सहायणाणं ति ।
सणाणिदरवियप्पे, विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
सणाणं चउभेयं, मदिसुंदओही तहेव मणापज्जं ।
अणाणं तिवियप्पं, मदियाई भेदवो चेव ॥१२॥

केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत्स्वभावज्ञानमिति ।
संज्ञानेतरविकल्पे विभावज्ञानं भवेद् द्विविधम् ॥११॥
संज्ञानं चतुर्भेदं सतिश्रुतावधयस्तथैव मनःपर्ययम् ।
अज्ञानं त्रिविकल्पं सत्यावेर्भेदतश्चैव ॥१२॥

इन्द्रिय रहित—अनोन्द्रिय असहाय है पर से ।
केवल सुनाम है स्वभावज्ञान स्वयं से ॥
जो है विभावज्ञान उसके भेद दो कहें ।
संज्ञान श्री अज्ञान से सब जानते रहें ॥११॥

स्थित होते हुये चिच्चमत्कार मात्र आत्मा में शीघ्र ही प्रवेश करते हैं वे मुक्ति लक्ष्मी के पति हो जाते हैं ।

भावार्थ—पहले गाथा में आचार्य श्री ने छह द्रव्यों का वर्णन करने को कहा था सो यहां जीव द्रव्य के वर्णन में जीव का लक्षण उपयोग है इसके ज्ञान और दर्शन ये दो भेद हैं इत्यादि रूप से ज्ञान का वर्णन किया है । टीकाकार ने कलश में इसी आशय से यह कहा कि जो ज्ञान के भेदों को जानकर परभावों से रहित होते हुये अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा में ही लीन हो जाते हैं वे मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ।

गाथा ११-१२

अन्वयार्थ—[केवलम्] जो ज्ञान केवल [इन्द्रियरहितं] इन्द्रियों की सहायता से रहित [असहायं] असहाय है [तत्स्वभावज्ञानं इति] वह स्वभावज्ञान है । [विभावज्ञानं] विभावज्ञान [संज्ञानेतरविकल्पे] सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान के भेदरूप से [द्विविधं भवेत्] दो प्रकार का है ।

संज्ञान के हैं चार भेद सुरि बतायें ।
 मति श्रुत अवधि व मनःपर्ययो से कहाये ॥
 अज्ञान के भी तीन भेद जान लीजिये ।
 मति श्रुत अवधि हि तीन को विपरीत कीजिये ॥१२॥

अत्र च ज्ञानभेदलक्षणमुक्तम् । निरुपाधिस्वरूपत्वात् केवलम्, निरावरणस्वरूप-
 त्वात् क्रमकरणव्यवधानापोढम्, अप्रतिवस्तुव्यापकत्वात् असहायम्, तत्कार्यस्वभावज्ञानं
 भवति । कारणज्ञानमपि तादृशं भवति । कुतः, निजपरमात्मस्थितसहजदर्शनसहजचारित्र-
 सहजसुखसहजपरमचिच्छक्तिनिजकारणसमयसारस्वरूपाणि च युगपत् परिच्छेत्तुं समर्थ-
 त्वात् तथाविधमेव । इति शुद्धज्ञानस्वरूपमुक्तम् ।

टीका—यहां पर ज्ञान के भेद और लक्षण को कहा है ।

उपाधिरहित स्वरूप वाला होने से जो केवल है, आवरण रहित स्वरूप वाला होने से क्रम और इन्द्रियों के व्यवधान-अंतर से रहित, अतीन्द्रिय है, एक-एक वस्तु में व्यापक नहीं होने से असहाय है अर्थात् समस्त वस्तुओं को एक साथ व्याप्त करके जान लेता है इसलिये असहाय है, वह कार्य स्वभावज्ञान होता है । कारण स्वभावज्ञान भी वैसा ही होता है । कैसे ? निजपरमात्मा में स्थित सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुख, सहजपरमचैतन्य शक्तिरूप जो निजकारण समयसार के स्वरूप हैं उनको एक साथ जानने में समर्थ होने से वह कारण स्वभावज्ञान, कार्यस्वभावज्ञान के समान ही है इस प्रकार से शुद्धज्ञान का स्वरूप कहा है ।

अब ये शुद्ध-अशुद्ध ज्ञान के स्वरूप और भेद कहे जाते हैं । मतिज्ञान उपलब्धि भावना और उपयोग से तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से अथवा बहु, बहुविध आदि के भेद से अनेकों भेदों से सहित है । श्रुतज्ञान लब्धि और भावना के भेद से दो प्रकार का है । अवधिज्ञान देशावधि, सर्वावधि और परमावधि के भेद से तीन प्रकार का है और मनःपर्ययज्ञान अजुमति तथा विपुलमति के विकल्प से दो प्रकार का है । परमभाव में स्थित सम्यग्दृष्टि के ये चार संज्ञान-सम्यग्ज्ञान होते हैं । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्यादृष्टि को प्राप्त करके कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान इन भिन्न नामों को प्राप्त हो गये हैं ।

इदानीं शुद्धाशुद्धज्ञानस्वरूपभेदस्त्वयमुच्यते । अनेकविकल्पसनाथं मतिज्ञानम् उपलब्धिभावनोपयोगाच्च अवग्रहादिभेदाच्च बहुबहुविधादिभेदाद्वा । लब्धिभावनाभेदाच्च ज्ञानं द्विविधम् । देशसर्वपरमभेदादवधिज्ञानं त्रिविधम् । श्रुतिविपुलमतिविकल्पात्मनःपर्ययज्ञानं च द्विविधम् परमभाषस्थितस्य सम्यग्दृष्टेरेतत्संज्ञानचतुष्कं भवति । मतिश्रुतावधिज्ञानानि मिथ्यादर्ष्टि परिप्राप्य कुमतिकुश्रुतविभङ्गज्ञानानीति नामान्तराणि प्रपेक्षिरे । अत्र सहजज्ञानं शुद्धान्तस्तत्त्वपरमतत्त्वव्यापकत्वात् स्वरूपप्रत्यक्षम् । केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षम् । 'रूपिष्ववधेः' इति वचनादवधिज्ञानं विकलप्रत्यक्षम् । तदनन्तभागव-

इनमें सहजज्ञान शुद्ध अंतस्तत्त्व-शुद्ध चैतन्यतत्त्वरूप परमतत्त्व में व्यापक होने से स्वरूप प्रत्यक्ष है, केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है "रूपिष्ववधेः" अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को विषय करता है, इस वचन से अवधिज्ञान विकल प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान के अनन्तवें भाग स्वरूप वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला होने से मनःपर्ययज्ञान भी विकल प्रत्यक्ष है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों भी परमार्थ से परोक्ष हैं और व्यवहार में प्रत्यक्ष हैं ।

विशेष बात यह है कि इन उपर्युक्त ज्ञानों में साक्षात् मोक्ष के लिये मूलभूत, एक निजपरमतत्त्व में स्थित सहजज्ञान ही है । तथा च पारिणामिक भाव स्वभाव से भव्यजीवका परम स्वभाव होने से इस सहजज्ञान से भिन्न अन्य कुछ उपादेय नहीं है ।

यह सहजज्ञान कैसा है ?

(१) यह सहज चैतन्य का विलास रूप है (२) सहज परम वीतराग सुखामृत स्वरूप है (३) अप्रतिहत-विघ्नबाधा रहित निरावरण परम चैतन्य शक्तिरूप है । (४) सदा अन्तर्मुख होने से अपने स्वरूप में अविचल स्थिति रूप सहज परम चारित्र्यरूप है (५) तीनों कालों में अविच्छिन्न रूप होने से सदा सन्निहित परम चैतन्यरूप के श्रद्धानरूप है ऐसे (निश्चयरत्नत्रय रूप से परिणत) सहजज्ञान के द्वारा स्वाभाविक अनन्त चतुष्टय से सनाथ और अनाथ जो मुक्ति सुन्दरी उसके नाथ ऐसी अपनी आत्मा की भावना करना चाहिये-अनुभव करना चाहिये ।

स्त्वं शयाहुकत्वान्मनःपर्ययज्ञानं च विकल्पप्रत्यक्षम् । मतिश्रुतज्ञानद्वितीयमपि परमार्थतः परोक्षं व्यवहारतः प्रत्यक्षं च भवति । किं च उक्तेषु ज्ञानेषु साक्षान्मोक्षमूलमेकं निज-परमतत्त्वनिष्ठसहजज्ञानमेव । अपि च पारिणामिकभावस्वभावेन भव्यस्य परमस्वभाव-त्वात् सहजज्ञानादपरमुपादेयं न समस्ति । अनेन सहजचिद्विलासरूपेण सदा सहजपरम-वीतरागशर्मामृतेन अप्रतिहतनिरावरणपरमचिच्छक्तिरूपेण सदान्तमुखे स्वस्वरूपावि-चलस्थितिरूपसहजपरमचारित्र्येण त्रिकालेष्वव्युच्छिन्नतया सदा सन्निहितपरमचिद्रूप-

‘इसप्रकार संसाररूपी बेल के मूल को काटने के लिये ‘हंसियारूप’ इस कथन के द्वारा ब्रह्मस्वरूप आत्मा का उपदेश किया है ।

विशेषार्थ—श्री भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने गाथा में केवलज्ञान को स्वभावज्ञान कहा है किन्तु टीकाकार ने उसके दो भेद कर दिये हैं कार्यस्वभावज्ञान, कारणस्वभाव-ज्ञान । कार्यस्वभावज्ञान तो सकल पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाला केवलज्ञान है और कारणस्वभावज्ञान शक्तिरूप केवलज्ञान है यह अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाला है अर्थात् वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान से वीतरागी मुनि अपनी शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं यह वही कारणज्ञान है । यहाँ पर उसे ही सहजज्ञान कहा है उस सहजज्ञान के जो पाँच विशेषण दिये गये हैं वे सभी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से हैं, इसीलिये वह केवलज्ञानरूप कार्यस्वभावज्ञान के समान कहा गया है । यह कारण स्वभावज्ञान शुद्धो-पयोगी मुनियों के ही होना है और बारहवें गुणस्थान में अपने पूर्णस्वरूप से प्रगट होता हुआ तेरहवें गुणस्थान के कार्य स्वभावज्ञानरूप केवलज्ञान को प्रगट करके कारण शब्द के अर्थ को सार्थक कर देता है । चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में यह श्रद्धा का विषयमात्र है ।

आगे विभावज्ञान अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान के सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की अपेक्षा दो भेद हैं । सम्यग्ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार भेद हैं और मिथ्याज्ञान के कुमति, कुश्रुत और विभंग की अपेक्षा तीन भेद हैं । अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि जीवों के मिथ्यात्व के निमित्त से ये ज्ञान कुज्ञान रूप परिणत हो रहे हैं । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सिद्धान्त की अपेक्षा परोक्षज्ञान हैं और न्याय ग्रन्थों की अपेक्षा

अद्वानेन अनेन स्वभावानंतचतुष्टयेन सनाथम् अनाद्यमुक्तिसुन्दरीनाथम् आत्मानं
भावयेत् । इत्यनेनोपस्थाप्य संसारसंसारमूललवित्रेण अक्षोपदेशः कृत इति ।

(मालिनी)

इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः
परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम् ।
सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चं सुखं वा
तत उपरि समग्रं शाश्वतं वा प्रयाति ॥१८॥

(अनुष्टुभ्)

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे ।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः ॥१९॥

व्यवहार में प्रत्यक्ष होने से इन्द्रियजन्य मतिज्ञान सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहलाता है
अवधि और मनःपर्यय ये एक देश प्रत्यक्षज्ञान हैं ।

(१८) श्लोकार्थ—इसप्रकार से कहे गये भेदज्ञान को प्राप्त करके भव्यजीव
घोर संसार के मूलकारण पुण्य या पाप अथवा सुख और दुःख को अत्यन्त रूप से
परिहार करें—छोड़ें, पुनः उसके बाद परिपूर्ण शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेंगे ।

(१९) श्लोकार्थ—बुद्धिमान् पुरुष परिग्रह के आग्रह को छोड़कर और अपने
शरीरमात्र परिग्रह में उपेक्षा करके निराकुल चिन्मात्र शरीर वाली अपनी आत्मा की
भावना करें ।

भावार्थ—पूर्व में सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके शरीरमात्र परिग्रह को ग्रहण
करें पुनः वे मुनि शरीर से भी निर्मम होकर निराकुलता स्वरूप चिच्चैतन्य मात्र ही
जिसका शरीर है ऐसी अपनी आत्मा की भावना करें—ध्यान करें । यहां यह अभिप्राय
स्पष्ट है कि परिग्रह से लिप्त हुये श्रावक शरीर से उपेक्षित होकर अशरीरी आत्मा
का ध्यान नहीं कर सकते हैं ।

(शार्दूलसन्धिकीर्तित)

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्
 द्वेषाम्भःपरिपूर्णमानसघटप्रध्वंसनात्पावनम् ।
 ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधि प्रव्यक्ति नित्योदितं
 भेदज्ञानमहीजसत्फलमिव वन्द्यं जगन्मंगलम् ॥२०॥

(मंदाक्रांता)

मोक्षे मोक्षे अयति सहजज्ञानमानन्दतानं
 निर्व्याबाधं स्फुटितसहजावस्थमन्तर्मुखं च ।
 तीनं स्वस्मिन्सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
 स्वस्य ज्योतिःप्रतिहततमोवृत्ति नित्याभिरामम् ॥२१॥

(२०) श्लोकार्थ—प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त राग का विलय हो जाने से, मोह का जड़ मूल से नाश हो जाने से तथा द्वेष रूपी जल से परिपूर्ण—भरे हुये मन रूपी घट के प्रध्वंस हो जाने से—फूट जाने से पवित्र, सर्वश्रेष्ठ, उपाधिरहित, नित्य उदयरूप ऐसी ज्ञान ज्योति प्रगट होती है जो कि भेदज्ञान रूपी वृक्ष का उत्तम फल है, जगत् में मंगलरूप है और वन्द्य है—सभी से वन्दनीय है ।

साधार्थ—मोह, राग और द्वेष के निर्मूल विनाश हो जाने से केवलज्ञानरूपी परम ज्योति प्रगट होती है यह कर्मों की उपाधि में रहित जगत् में सर्वोत्तम है, सदैव ही सुदयरूप है, कर्मरूपी वादल अब कभी इसे ढक नहीं सकते हैं इस केवलज्ञान का मूल भेद विज्ञान है इस भेद विज्ञान रूप वृक्ष से यह केवलज्ञान रूप फल उत्पन्न होता है । यह केवलज्ञान जगत् में सभी प्राणियों के लिये मंगल है और पूज्य है अतः सर्व-प्रयत्न करके सम्यक्त्व रूपी बीज को संयम रूपी भूमि में बो कर तपरूपी जल से सिंचित करते हुये भेदज्ञान रूपी वृक्ष को बढ़ाना चाहिये तब इस वृक्ष से केवलज्ञान रूप फल को प्राप्त कर सकेंगे यहां यह अभिप्राय हुआ ।

(२१) श्लोकार्थ—आनन्द से तन्मय—आनन्दस्वरूप, अव्याबाध—बाधाओं से रहित ऐसा सहज—स्वाभाविकज्ञान मोक्षे—मोक्ष में जयशील हो रहा है जिसकी सहज

(अनुष्टुभ्)

सहजज्ञानसाम्राज्यसर्वस्वं शुद्धचिन्मयम् ।

समात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥२२॥

तह दंसरणउवओगो, ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।

केवलमिन्द्रियरहियं, असहायं तं सहावमिदि भणिव ॥१३॥

तथा दर्शनोपयोगः स्वस्वभावेतरविकल्पतो द्विविधः ।

केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत् स्वभाव इति भणितः ॥१३॥

उसही तरह यह दर्शनोपयोग द्विविध है ।

स्वभाव दर्शनी विभावदर्शनी कथित है ॥

इन्द्रिय रहित—अतीन्द्रिय असहाय जो रहे ।

उस ही स्वभावदर्शनी को केवलदर्शनी कहें ॥१३॥

दर्शनोपयोगस्वरूपास्थानमेतत् । यथा ज्ञानोपयोगो बहुविधविकल्पसनाथः
दर्शनोपयोगश्च तथा । स्वभावदर्शनोपयोगो विभावदर्शनोपयोगश्च । स्वभावोऽपि

स्वाभाविक अवस्था प्रगट हो गई है जो अंतर्मुख—आत्मा के अंतरंग में प्रगट है, सहज विलास रूप चिञ्चमत्कार मात्र अपनी आत्मा में लीन है—तन्मय है, जिसने अपनी ज्योति से सम्पूर्ण अंधकार अवस्था को नष्ट कर दिया है और जो नित्य ही सुन्दर है ऐसा स्वाभाविक ज्ञान सम्पूर्ण मोक्ष में—कर्म रहित अवस्था में जयशील हो रहा है ।

(२२) श्लोकार्थ—सहज-स्वाभाविक ज्ञानरूपी साम्राज्य ही जिसका सर्वस्व है, ऐसे शुद्ध चैतन्यमय अपने आत्मा को जानकर मैं निर्विकल्प होऊँ ।

गाथा—१३

अन्वयार्थ—[तथा] उसीप्रकार [दर्शनोपयोगः] दर्शनोपयोग [स्वस्व-भावेतरविकल्पतः] अपने स्वभाव और विभाव के भेद से [द्विविधः] दो प्रकार का है । [केवलं] जो केवल [इन्द्रियरहितं] इन्द्रियों से रहित और [असहायं] असहाय है [तत्स्वभावः इति भणितः] वह स्वभाव दर्शनोपयोग कहा गया है ।

टीका—यह दर्शनोपयोग के स्वरूप का कथन है ।

द्विविधः, कारणस्वभावः कार्यस्वभावश्चेति । तत्र कारणदृष्टिः सदा पावनरूपस्य श्रीद-
ष्टिकादिचतुर्णां विभावस्वभावपरमाद्यानामगोचरस्य सहजपरमपारिणामिकभावस्वभावस्य
कारणसमयसारस्वरूपस्य निरावरणस्वभावस्य स्वस्वभावसत्तामात्रस्य परमचैतन्यसामान्य-
स्वरूपस्य अकृत्रिमपरमस्वस्वरूपाविचलस्थितिसनाथशुद्धचारित्र्यस्य नित्यशुद्धनिरञ्जनबोधस्य

जैसे ज्ञानोपयोग बहुत प्रकार के भेदों से सहित है वैसे ही दर्शनोपयोग भी बहुत प्रकार के भेदों से सहित है । सबसे पहले उसके स्वभाव दर्शनोपयोग और विभाव-दर्शनोपयोग ऐसे दो भेद हैं । स्वभाव के भी कारणस्वभाव और कार्यस्वभाव ऐसे दो भेद हैं । उसमें कारणदर्शनोपयोग शुद्ध आत्मा के स्वरूप का श्रद्धानामात्र ही है । शुद्ध आत्मा का स्वरूप कैसा है ? (१) सदा पावनरूप (२) श्रीदयिक आदि चारों जो कि विभाव स्वभाव रूप परभाव हैं उनके अगोचर (३) सहज परमपारिणामिक भाव स्वरूप (४) कारण समयसार स्वरूप (५) निरावरण स्वभावरूप (६) अपने स्वभाव-की सत्तामात्र (७) परम चैतन्य का सामान्य स्वरूप (८) अकृत्रिम परम अपने स्वरूप में अविचल स्थिति से सहित शुद्ध चारित्र्यरूप (९) नित्यशुद्धनिरञ्जन ज्ञानरूप और (१०) अखिल दुष्ट पाप रूप वीर वीरी की सेना की ध्वजा को विध्वंस करने में कारण स्वरूप ऐसा है । ऐसी आत्मा के स्वरूप का श्रद्धानामात्र ही निश्चित रूप से कारण-स्वभाव दर्शनोपयोग है ।

दूसरा कार्यदर्शनोपयोग, दर्शनावरण और ज्ञानावरण प्रमुख घाति कर्मों के क्षय से ही उत्पन्न होता है । यह कार्यदर्शनोपयोग किसके होता है ? जो निश्चित ही ध्यायिक जीव हैं, सकलविमलकेवलज्ञान के द्वारा तीनों भुवनों को जानने वाले हैं, अपनी आत्मा से उत्पन्न परम वीतराग सुखरूपी अमृत के समुद्र हैं, यथाख्यात नामक कार्यरूप शुद्धचारित्र्य स्वरूप हैं, सादि सान्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय स्वरूप हैं, त्रैलोक्य के भव्य जीवों के द्वारा प्रत्यक्ष वंदना के योग्य हैं इन विशेषणों से विशिष्ट जो तीर्थंकर परमदेव हैं उनके केवलज्ञान के समान युगपत् लोकालोक को व्याप्त करने वाला यह दर्शनोपयोग—केवलदर्शन भी होता है । इस प्रकार कार्य और कारण रूप से स्वभाव दर्शनोपयोग को कहा है । विभाव दर्शनोपयोग भी उत्तर सूत्र में वर्णित है उसे वहीं पर दिखायेंगे ।

निश्चितदुरघवीरवरिसेनावैजयन्तीविध्वंसकारणस्य तस्य खलु स्वरूपश्रद्धानमात्रमेव । अन्या
कार्यदृष्टिः दर्शनज्ञानावरणीयप्रमुखघातिकर्मक्षयेण जातं च । अस्य खलु साधिकजीवस्य

विशेषार्थः—यहाँ श्री गायत्री में आचार्यवर्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने स्वभावदर्शन से केवलदर्शनको ग्रहण किया है किन्तु टीकाकार ने स्वभावदर्शनोपयोग को स्वभावदृष्टि शब्द से कहा है और उसके कार्यदृष्टि तथा कारणदृष्टि ऐसे दो भेद कर दिये हैं । उसमें कार्यदृष्टि तो व्यक्त हुआ केवलदर्शन ही है और कारणदृष्टि से अपने आत्मा के श्रद्धानरूप परिणाम को विवक्षित किया है । तथा इसे निश्चय सम्यक्त्व रूप से घटित किया है । शुद्धनिश्चयनय से जो आत्मा का शुद्धस्वरूप है जो कि सम्पूर्ण कर्मोपाधि से रहित सिद्धों के स्वरूप के समान है उस शुद्ध स्वरूप का श्रद्धानमात्र ही कारण दृष्टि है ऐसा स्पष्ट किया है यह कारण स्वभाव दृष्टि भी शुद्धोपयोगी महामुनियों के ही हो सकेगी । इसी प्रकार से दर्शनोपयोग को सम्यक्त्व रूप से घटित करने का प्रकरण परमात्मप्रकाश में भी देखा जाता है । तद्यथा—

“सयलपयत्थहं जं गहगु जीवहं अग्निमु होइ ।

वत्थुविसेस विवज्जियउ तं णियदंभगु जोइ ॥३४॥”

अर्थ—जो जीवों के ज्ञान के पहले सकल पदार्थों का वस्तु विशेष से रहित ग्रहण होता है उसे तुम निजदर्शन जानो ।

टीकाकार श्री ब्रह्मदेव मूर्ति कहते हैं —

जो सम्पूर्ण पदार्थ ग्रहण—अवलोकन जीवों के होता है, जो कि सबिकल्प ज्ञान के पूर्व होता है वह अवलोकन ‘यह शुक्ल है’ इत्यादि विकल्प से रहित उसे ही तुम निज आत्मा का दर्शन—अवलोकन जानो । यहाँ पर प्रभाकर भट्ट मुनिराज प्रश्न करते हैं कि “आपने निज आत्मा के अवलोकन को दर्शन कहा और यह सत्तावलोकन दर्शन तो मिथ्यादृष्टि जीवों में भी है उन्हें भी मोक्ष हो जावेगी ।” इसका परिहार करते हैं कि चक्षु-अचक्षु-अवधि और केवल के भेद से दर्शन के चार भेद हैं । इन

सकलविमलकेवलावबोधशुद्धभुवनत्रयस्य स्वात्मोत्थपरमवीतरागसुखसुधासमुद्रस्य यथा-
ख्याताभिधानकार्यशुद्धचारित्र्यस्य साधनिधानासूतार्तौद्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनया-
त्मकस्य त्रैलोक्यभव्यजनताप्रत्यक्षबंदनायोग्यस्य तीर्थंकरपरमदेवस्य केवलज्ञानवदियमपि-

चारों में से जो मानस अचक्षु दर्शन है वह आत्मा को ग्रहण करने वाला है और वह दर्शन मिथ्यात्वादि सप्त प्रकृतियों के उपशम-क्षयोपशम अथवा क्षय से जनित तत्त्वार्थ-श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व के अभाव से 'शुद्धात्म तत्त्व ही उपादेय हैं' इसप्रकार के श्रद्धान के अभाव में उन मिथ्यादृष्टि जीवों के नहीं होता है ऐसा भावार्थ है । आगे और भी कहते हैं—

“दंसणपुव्वु हवेइ फुडु जं जीवहं विण्णागु ।

वत्थुविसेसु मुणंतु जिय तं मुणि अविचलु णागु ॥३५॥”

अर्थ—जो जीवों का ज्ञान है वह निश्चिन् ही दर्शन पूर्वक होता है, वह ज्ञान वस्तु के विशेष को जानने वाला है, हे जीव ! उन ज्ञान को तुम अविचल जानो ।

टीका—जीवों के सामान्यग्राहक निर्विकल्प सत्तावलोकन दर्शन पूर्वक विज्ञान होता है और वह ज्ञान वस्तु के विशेष को—वर्ण, संस्थान आदि विकल्प पूर्वक वस्तु को जानना है । हे जीव ! तुम उस ज्ञान को अविचल—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जानो । यहां पर दर्शन पूर्वक ज्ञान का व्याख्यान किया है । यद्यपि शुद्धात्मभावना के व्याख्यान में वह प्रस्तुत नहीं है फिर भी भगवान् श्री योगिन्द्रदेव ने कहा है । क्यों कहा है ? चक्षु-अचक्षु अवधि और केवल के भेद से दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है । इन चारों में दूसरा जो मानसरूप निर्विकल्प अचक्षुदर्शन है वह जिसप्रकार भव्य जीव के दर्शनमोह और चारित्र्यमोह के उपशम-क्षयोपशम या क्षय का लाभ होने पर शुद्धात्मा की रुचि रूप वीतराग सम्यक्त्व होता है और इसी प्रकार से शुद्धात्मानुभूति की स्थिरता लक्षण वीतराग चारित्र्य होता है उस काल में वह पूर्वोक्त सत्तावलोकन लक्षण मानस निर्विकल्प दर्शन पूर्वोक्त निश्चय सम्यक्त्व और निश्चयचारित्र्य के बल से निर्विकल्प निजशुद्धात्मानुभूति ध्यान का सहकारी कारण होता है और वह पूर्वोक्त भव्य जीव के ही, न कि अभव्य जीव के । क्यों ? क्योंकि अभव्य के निश्चय सम्यक्त्व और चारित्र्य का अभाव है ऐसा भावार्थ हुआ ।

युगपत्लोकालोकव्यापिनो । इति कार्यकारणरूपेण स्वभावदर्शनोपयोगः प्रोक्तः । विभाव-
दर्शनोपयोगोऽप्युत्तरसूत्रस्थितत्वात् तत्रैव दृश्यत इति ।

(इन्द्रवज्रा)

दृग्जप्तिवृत्त्यात्मकमेकमेव

चैतन्यसामान्यनिजात्मतत्त्वम् ।

मुक्तिस्पृहाणामयनं तदुच्चै-

रेतेन मार्गेण विना न मोक्षः ॥२३॥

निष्कर्ष यह निकला कि यहां पर भी दो दोहक सूत्र की टीका में आचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि दर्शनोपयोग का जो एक भेद मानस अचक्षुदर्शन है वह आत्म स्वरूप को ग्रहण करने वाला है निजशुद्धात्मानुभूति के ध्यान में वह सहायक कारण होता है । उसीप्रकार यहां पर भी नियमसार की टीका में श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने 'दर्शनोपयोग के लक्षण में स्वरूप के श्रद्धानमात्र को ही कारणदृष्टि शब्द से कहा है अर्थात् कारणस्वभाव दर्शन रूप कहा है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज श्लोक कहते हैं—]

(२३) श्लोकार्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य स्वरूप एक ही चैतन्य-सामान्य अपना आत्म तत्त्व है । मुक्ति की इच्छा करने वालों के लिये अतिशय रूप से वह मार्ग है क्योंकि इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की एकता ही मोक्षमार्ग है । अभेद रत्नत्रय में भी इन तीनों की ऐकाग्र्य परिणति होती है वही चैतन्यसामान्य निजात्म तत्त्व है उस अद्वैत रूप तत्त्व को प्राप्त किये बिना मोक्ष नहीं हो सकती है ।

१—कुछ लोग दर्शनोपयोग में सम्यक्त्व के लेने से चौंक उठते हैं और ग्रन्थकार को असम्यग्भाषी एवं अप्रामाणिक कहने का भी अतिसाहस कर बैठते हैं किन्तु उन्हें इन ग्रन्थ ग्रंथों का तद्वत् अर्थ देखकर ग्रन्थकारों के प्रति अश्रद्धा नहीं करना चाहिये । ये सिद्धान्तग्रन्थ नहीं हैं आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं । इनकी अपेक्षाओं को समझना चाहिये ।

परोक्षवृत्त्या जानाति तथैवाक्षुर्दशनावरणोपशममेन स्पर्शनरसनघ्राणधोत्र-
हारेण तत्तद्योग्यविषयान् पश्यति च । यथा अवधिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन शुद्धपुद्गल-
पर्यंतं मूर्तद्रव्यं जानाति तथावधिदर्शनावरणोपशममेन समस्तमूर्तपदार्थं पश्यति
च । अत्रोपयोगव्याख्यानानन्तरं पर्यायस्वरूपमुच्यते । परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति
पर्यायः । अत्र स्वभावपर्यायः षड्द्रव्यसाधारणः अर्थपर्यायः अवाङ्मनसगोचरः अति-
सूक्ष्मः आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्योऽपि च षड्हानिवृद्धिविकल्पयुतः अनन्तभागवृद्धिः

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से शुद्ध (परमाणु रूप) पुद्गल पर्यंत मूर्त द्रव्य को
जीव जानता है उसीप्रकार अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से जीव समस्त मूर्तिक
पदार्थों को देखता है ।

अब यहां पर उपयोग के व्याख्यान के अनन्तर पर्याय के स्वरूप को कहते हैं—

जो 'परि-समन्तात्' अर्थात् सब ओर से भेद एति-गच्छति अर्थात् भेद को
प्राप्त होती है सो पर्याय है । इसप्रकार से यहां पर्याय का व्युत्पत्ति से सिद्ध अर्थ कहा
है । उसमें षट्द्रव्यों में साधारण रूप रहने वाली जो अर्थपर्याय है उसे स्वभावपर्याय
कहते हैं वह वचन और मन के अगोचर है, अतिसूक्ष्म है फिर भी आगमप्रमाण से
जानने योग्य है और छह प्रकार की हानि तथा छह प्रकार की वृद्धि के भेदों से सहित
है । छह वृद्धि के नाम—अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यात-
गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि ये वृद्धि के भेद हैं ऐसे ही हानि के भी
छह भेद समझना चाहिये । अर्थात् अनन्तभाग हानि, असंख्यातभाग हानि, संख्यातभाग
हानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि, अनन्तगुण हानि ।

नर-नारक आदि व्यंजन पर्याय को अशुद्ध-विभाव पर्याय कहते हैं ।

विशेषार्थ—यहां गाथा में भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव ने तीन प्रकार के
क्षयोपशम दर्शन को विभाव दर्शन कहा है । टीकाकार ने मति-श्रुत और अवधिज्ञान
से तुलना करते हुये इन तीनों के लक्षण को स्पष्ट कर दिया है । पुनः गाथा में पर्याय
का वर्णन करते हुये उसके दो भेद करके संक्षेप में उन दोनों के लक्षण को भी सूचित
कर दिया है । प्रथम पर्याय तो स्वपर सापेक्ष है और पर्याय का दूसरा भेद स्वपर

असंख्यातभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः असंख्यात गुणवृद्धिः अनन्त-
गुणवृद्धिः, तथा हानिश्च नोपयते । अशुद्धपर्यायो नरनारकाविषयजनपर्यायि इति ।

(मालिनी)

अथ सति परमावे शुद्धमात्मानमेकं
सहजगुणमणीनामाकरं पूर्णबोधम् ।
भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२४॥

(मालिनी)

इति परगुणपर्यायेषु सत्सूतमानां
हृदयसरसिजाते राजते कारणात्मा ।
सपदि समयसारं तं परं ब्रह्मरूपं
भज भजति निजोत्थं भव्यशार्दूलसत्त्वम् ॥२५॥

निरपेक्ष है । आगे स्वयं ग्रन्थकार पर्याय के स्वभाव और विभाव ऐसे भेद करके उनके उदाहरण बताकर उनका लक्षण स्पष्ट करते हैं ।

[अब टीकाकार विभाव पर्यायों में सहित जीवों को शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना की प्रेरणा देते हुये तीन श्लोक कहते हैं —]

(२४) श्लोकार्थ— जो तीक्ष्ण बुद्धिवान्ना शुद्ध सम्यग्दृष्टि पुरुष परभावों के होने पर भी सहज गुणरूपी मणियों की खान स्वरूप तथा पूर्ण ज्ञान रूप ऐसी अपनी शुद्धात्मा को भजता है (आश्रय लेता है) वह मुक्ति श्री रूपी कामिनी का वल्लभ होता है ।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार ने गाथा में विभाव दर्शनोपयोग के तीन भेद और उनके लक्षण बतलाये हैं पुनः पर्याय का कथन करते हुये अर्थ और व्यञ्जन के भेद से पर्याय के दो भेद किये हैं । इनमें अर्थपर्याय को शुद्ध पर्याय एवं व्यञ्जन पर्याय को अशुद्ध-पर्याय कहा है ।

(२५) श्लोकार्थ—इसप्रकार पर गुण और पर पर्यायों के होने पर भी उत्तम पुरुषों के हृदय कमल में कारण आत्मा विराजमान है । हे भव्योत्तम ! अपने

(पृथ्वी)

क्वचिन्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपगुणैः
क्वचित्सहजपर्ययैः क्वचिदशुद्धपर्यायकैः ।
सनाथमपि जीवतत्त्वमनाथं समस्तैरिदं ।
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्धयैः सदा ॥२६॥

से ही उत्पन्न परमब्रह्म रूप उस समयसार को तू शोध भज, जिसे कि तू भज रहा है ।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा में मतिज्ञान आदि विभावगुण और नर नारकादि विभाव पर्यायों विद्यमान हैं फिर भी आचार्य कहते हैं कि इन विभाव गुण पर्यायों के विद्यमान रहने पर भी उत्तम पुरुषों—अंतरात्मा भव्य जीवों के द्वारा हृदय कमल में कारण आत्मा—बीजरूप परमात्मा विराजमान है । आचार्य सम्बोधन करते हुये प्रेरणा देते हैं कि भव्य सिंह ! अपने से ही उत्पन्न परमब्रह्म स्वरूप और समयसार स्वरूप अपनी शुद्ध आत्मा को भजो—अपनी आत्मा का ही ध्यान करो । वास्तव में 'सर्वे मुद्धा हु मुद्धणया' इस कथन के अनुसार सभी जीव शुद्धनय से शुद्ध ही हैं ऐसा समझ कर अपनी आत्मा को शुद्ध समझ उसी का ध्यान करो । संसारी जीवों की आत्मा है वही परमात्मा के लिये कारणस्वरूप कारण आत्मा कहलाती है और जब परमात्म अवस्था प्रगट हो जाती है तब वही आत्मा कार्य आत्मा कहलाती है । इसलिये देह रूपी देवालय में भगवान् आत्मा विराजमान है तुम उसी का ध्यान करो ऐसा यहां अभिप्राय है ।

(२६) श्लोकार्थ—यह जीव तत्त्व कहीं पर अपने सद्गुणों से शोभायमान हो रहा है और कहीं अशुद्ध गुणों से दिख रहा है । कहीं पर स्वभाव पर्यायों से शोभित हो रहा है और कहीं पर अशुद्ध पर्यायों से शोभ रहा है । इन सभी से सहित होने पर भी इन सबसे रहित है ऐसे इस जीव तत्त्व को मैं सदा सकल अर्थ की सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूं और उसी तत्त्व की ही भावना करता हूं ।

एरणारयतिरियसुरा, पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।
कम्मोपाधिविजितपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥१५॥

नरनारकतिर्यक्सुराः पर्यायास्ते विभावा इति भणिताः ।

कर्मोपाधिविजितपर्यायास्ते स्वभावा इति भणिताः ॥१५॥

नर, नारकी तिर्यच देव के जनम घरे ।

इनका विभाव पर्यायों से सब कथन करें ॥

कर्मों की उपाधि से रहित जो हैं दृष्टायें ।

उनको स्वभाव पर्यायों से साधु बतायें ॥१५॥

स्वभावविभावपर्यायसंक्षेपोक्तिरियम् । तत्र स्वभावविभावपर्यायाणां मध्ये स्वभाव-
पर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते । कारणशुद्धपर्यायः कार्यशुद्धपर्यायश्चेति । इह हि सहज-
शुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्ततीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहज-
परमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानंतचतुष्टयस्वरूपेण सहाश्रितपंचम-

गाथा १५

अन्वयार्थ—[नरनारकतिर्यक्सुराः पर्यायाः] नर, नारक, तिर्यच और देवरूप जो पर्याय हैं [ते विभावाः] वे विभावपर्याय [इति भणिताः] इसप्रकार कही गई हैं । [कर्मोपाधिविजित पर्यायाः] कर्मों की उपाधि से रहित जो पर्याय हैं [ते स्वभावाः] वे स्वभाव पर्याय [इति भणिताः] इस प्रकार कही गई हैं ।

टीका—यह स्वभाव और विभाव पर्यायों का संक्षेप कथन है ।

उन स्वभाव और विभाव पर्यायों में से सर्वप्रथम स्वभाव पर्याय को दो प्रकार से कहते हैं—(१) कारण शुद्ध पर्याय (२) कार्य शुद्ध पर्याय । यहां पर सहज शुद्ध निश्चयनय से अनादि अनन्त, अमूर्तिक, अतीन्द्रिय स्वभावरूप, सहज-दर्शन, सहजचारित्र, सहजपरमवीतराग सुखात्मक शुद्ध अन्तस्तत्त्व—शुद्ध चैतन्य तत्त्व-रूप जो स्वाभाविक अनन्त चतुष्टय स्वरूप है उसके साथ सुशोभित पंचमभाव—पारिणामिक भाव की परिणति ही कारण शुद्ध पर्याय है यह अर्थ हुआ ।

सादि सांत, अमूर्तिक, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलशक्ति-वीर्य से युक्त फल रूप जो अनन्त

भावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः । साद्यनिधनामूर्ततीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्मूत-
व्यवहारेण केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तिपुक्तफलरूपानंतचतुष्टयेन साद्धं पर-
मोत्कृष्टधार्मिकभावस्य शुद्धपरिणतिरेव कार्यशुद्धपर्यायश्च । अथवा पूर्वसूत्रोपात्तसूक्ष्म-
ऋजुसूत्रनयाभिप्रायेण षड्रव्यसाधारणाः सूक्ष्मास्ते हि अर्थपर्यायाः शुद्धा इति बोद्धव्याः ।
वक्तुः समासतः शुद्धपर्यायविकल्पः ।

इदानीं व्यञ्जनपर्याय उच्यते । व्यञ्ज्यते प्रकटोक्रियते अनेनेति व्यञ्जनपर्यायः ।
कुतः, लोचनगोचरत्वात् पटादिवत् । अथवा सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावस्व-
भावत्वात्, दृश्यमानविनाशस्वरूपत्वात् ।

चतुष्टय हैं उनके साथ रहने वाली परमोत्कृष्ट धार्मिक भाव की शुद्ध परिणति ही
कार्य शुद्ध पर्याय है । अथवा पूर्वसूत्र में ग्रहण किये गये सूक्ष्म ऋजु सूत्र नय के
अभिप्राय से षट् द्रव्यों में साधारण रूप से रहने वाली जो सूक्ष्म अर्थ पर्यायें हैं वे ही
शुद्ध पर्यायें हैं ऐसा समझना चाहिये । इसप्रकार से यहां पर संक्षेप में शुद्ध पर्यायों
को कहा है ।

अब व्यञ्जन पर्याय को कहते हैं, 'व्यञ्ज्यते प्रकटोक्रियते अनेनेति व्यञ्जन-
पर्यायः'—जिसके द्वारा व्यक्त होता है—प्रकट किया जाता है वह व्यञ्जन पर्याय है ।
क्यों ? क्योंकि वह नेत्र के गोचर होती है, वस्त्रादि के समान । अथवा वे पर्यायें सादि-
सान्त, मूर्तिक विजातीय विभावं रूप हैं तथा दिखने योग्य हैं और विनाश स्वरूप हैं ।

अब उस व्यञ्जन पर्याय के उदाहरण दिखाते हैं—

पर्याय धारण करने वाली ऐसी जो पर्यायी आत्मा है उस आत्मा के (आत्म
स्वरूप के) ज्ञान बिना पर्याय स्वभाव होने वाला होने से यह जीव शुभ-अशुभ और
मिश्र परिणाम के द्वारा व्यवहारनय से मनुष्य हो गया उसके जो मनुष्य का आकार है
वही मनुष्य पर्याय है । केवल अशुभ कर्म के द्वारा व्यवहारनय से आत्मा नरकगति में
उत्पन्न होकर नारकी हो गया उसके वह नारक का आकार ही नारक पर्याय है ।
किंचित् शुभ मिश्रित माया परिणाम से व्यवहारनय की अपेक्षा तिर्यच के शरीर में
उत्पन्न आत्मा का जो आकार है वह तिर्यच पर्याय है । केवल शुभ कर्म के द्वारा

व्यंजनपर्यायश्च — पर्यायस्वभावाच्छुभाशुभमिश्र-
परिणामेनात्मा व्यवहारेण नरो जातः तस्य नराकारो नरपर्यायः । केवलेनाशुभकर्मणा
व्यवहारेणात्मा नारको जातः तस्य नारकाकारो नारकपर्यायः । किञ्चिच्छुभमिश्रमाया-
परिणामेन तिर्यक्कायजो व्यवहारेणात्मा तस्याकारस्तिर्यक्पर्यायः । केवलेन शुभकर्मणा
व्यवहारेण आत्मा देवस्तस्याकारो देवपर्यायश्चेति । अस्य पर्यायस्य प्रपञ्चो ह्यागमान्तरे
द्रष्टव्य इति ।

(मालिनी)

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः
सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः ।
सपदि समयसाराग्नान्यदस्तीति मत्त्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२७॥

व्यवहारनय से आत्मा देव हो जाता है उस देव के आकार को देव पर्याय कहते हैं ।
इन पर्यायों का विस्तार अन्य आगम ग्रन्थों में देखना चाहिये ।

विशेषार्थ — ग्रन्थकार ने गाथा में कर्मोपाधि सहित पर्याय को विभाव पर्याय
एवं कर्मोपाधि रहित पर्याय को स्वभाव पर्याय कहा है । टीकाकार ने स्वभाव पर्याय
के भी कारण शुद्ध पर्याय और कार्यशुद्धिपर्याय ऐसे दो भेद किये हैं । उसमें सिद्धपर्याय
को कार्यशुद्धिपर्याय और स्वाभाविक शुद्ध निश्चयनय से सिद्ध के सदृश आत्मा का जो
शुद्धस्वरूप है उसमें तन्मय रूप जो शुद्धोपयोग की अवस्था है उस समय बाह्य संकल्प
विकल्प से रहित जीव की परम पारिणामिक भाव रूप से जो परिणति होती है जहां
पर ध्यान—ध्याता और ध्येय का विकल्प ही नहीं रह जाता है उस समय कारण शुद्ध
पर्याय कहलाता है । यह पर्याय भी पूर्णतया वारह्वे गुणस्थान में हो घटित होवेगी
और बुद्धि पूर्वक संकल्प विकल्प के न होने से सातवें गुणस्थान की निर्विकल्प अवस्था
से भी अंशात्मक रूप से मानी जा सकती है ।

[अथ टीकाकार विभाव पर्यायों के विद्यमान रहने पर सम्यग्दृष्टि के परम-
तत्त्व के अभ्यास—ध्यान की महिमा को बतलाते हुये श्लोक कहते हैं —]

(२७) श्लोकार्थ — सहज परमतत्त्व के अभ्यास में प्रवीण है बुद्धि जिसकी
ऐसा भेद विज्ञानी यह शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव बहुत प्रकार के विभावों के होने पर भी

माणुस्सा दुवियप्पा, कम्ममहोभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया, णादव्वा पुढविभेदेण ॥१६॥
चउदहभेदा भणिदा, तेरिच्छा सुरगणा चउढभेदा ।
एवेसि वित्थारं, लोयविभागेसु णादव्वम् ॥१७॥

मानुषा द्विविकल्पाः कर्ममहोभोगभूमिसंजाताः ।
सप्तविधा नारका ज्ञातव्याः पृथ्वीभेदेन ॥१६॥
चतुर्दशभेदा भणितास्तिर्यचः सुरगणाश्चतुर्भेदाः ।
एतेषां विस्तारो लोकविभागेषु ज्ञातव्यः ॥१७॥

जो कर्मभूमिया व भोगभूमिया कहें ।
मनुजों के ये दो भेद इनमें मुक्ति इक लहें ॥
नीचे की सात भूमियों में नारकी रहें ।
इन भूमि भेद से ये सात भेद को लहें ॥१६॥
तिर्यच के चौदह कहे हैं भेद आर्य में ।
सुरगण के चार भेद भी माने हैं आप्त ने ॥
जीवों का ये विस्तार तो बहुविध से है कहा ।
लोकानुयोग ग्रन्थ में है देखिये वहाँ ॥१७॥

समयसार से भिन्न यह कुछ नहीं है इसप्रकार मान कर वह शीघ्र ही मुक्ति लक्ष्मी का वर हो जाता है ।

गाथा १६-१७

अन्वयार्थ—[कर्ममहोभोगभूमिसंजाताः] कर्मभूमि में उत्पन्न हुये और भोग भूमि में उत्पन्न हुये [मानुषाः द्विविकल्पाः] मनुष्य दो प्रकार के होते हैं [पृथिवी भेदेन] पृथ्वी के भेद से [नारकाः] नारकी [सप्तविधाः ज्ञातव्याः] सात प्रकार के जानने चाहिये [तिर्यचः चतुर्दशभेदाः भणिताः] तिर्यच जीव चौदह भेद सहित कहे गये हैं [सुरगणाः चतुर्भेदाः] देवगण चार भेद वाले हैं । [एतेषां विस्तारः] इन चारों गतियों के जीवों का विस्तृत वर्णन [लोकविभागेषु ज्ञातव्यः] लोकविभाग आदि लोकानुयोग के ग्रन्थों से जान लेना चाहिये ।

चतुर्गतिस्वरूपनिरूपणारूपावमेतत् । मनोरपस्थानि मनुष्याः । ते द्विविधाः कर्मभूमिजा भोगभूमिजाश्चेति । तत्र कर्मभूमिजाश्च द्विविधाः आर्या म्लेच्छाश्चेति । आर्याः पुण्यक्षेत्रवर्तिनः । म्लेच्छाः पापक्षेत्रवर्तिनः । भोगभूमिजाश्चार्यनामधेयधरा जघन्यमध्यमोत्तमक्षेत्रवर्तिनः एकद्वित्रिपत्योपमायुषः । रत्नशर्करायालुकापंकधूमनमो- महातमःप्रभाभिधानसप्तपृथ्वीनां भेदाग्नारकजीवाः सप्तधा भवन्ति । प्रथमनरकस्य

टीका—यह चतुर्गति के स्वरूप निरूपण का कथन है ।

मनु की संतान को मनुष्य कहते हैं । वे कर्मभूमिज और भोगभूमिज के भेद से दो प्रकार के हैं । उनमें भी कर्मभूमिज मनुष्यों के दो भेद हैं—(१) आर्य (२) म्लेच्छ । पुण्य क्षेत्र में जन्म लेने वाले आर्य कहलाते हैं और पाप क्षेत्र में जन्म लेने वाले म्लेच्छ कहलाते हैं । भोगभूमिज मनुष्य 'आर्य' उस नाम को धारण करने वाले होते हैं; ये जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भोगभूमि रूप क्षेत्र में जन्म लेने वाले क्रमशः एक पत्योपम, दो पत्योपम और तीन पत्योपम की आयु वाले होते हैं ।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, नमःप्रभा और महातमःप्रभा इन नाम वाली सप्त पृथिवियों के भेद से नारकी जीव सात प्रकार के होते हैं । प्रथम नरक के नारकी एक सागरोपम की आयु वाले हैं, द्वितीय नरक के नारकी तीन सागर की आयु वाले हैं, तृतीय नरक के नारकी सप्त सागर की आयु वाले, चतुर्थ नरक के नारकी दश सागर की, पंचम नरक के नारकी सत्रह सागर की, षष्ठम नरक के नारकी बाईस सागरोपम की एवं सप्तम नरक के नारकी तेनीस सागरोपम की आयु को धारण करने वाले होते हैं ।

अब विस्तार के भय से यहां संक्षेप से कहने में सूक्ष्म एकेन्द्रिय के पर्याप्तक और अपर्याप्तक, बादर एकेन्द्रिय के पर्याप्तक और अपर्याप्तक, द्वीन्द्रिय के पर्याप्तक-अपर्याप्तक, त्रीन्द्रिय के पर्याप्तक-अपर्याप्तक, चतुरिन्द्रिय के पर्याप्तक-अपर्याप्तक, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्तक-अपर्याप्तक, संज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्तक-अपर्याप्तक इन भेदों से तिर्यच जीव १४ प्रकार के होते हैं ।

भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिर्वासी, कल्पवासी के भेद से देवों के चार निकाय-भेद होते हैं । अर्थात् यहां पर देवों के निकाय का अर्थ यह है कि इन चार

नारका एकसागरोपमायुषः । द्वितीयनरकस्य नारकाः त्रिसागरोपमायुषः । तृतीयस्य सप्त । चतुर्थस्य दश । पञ्चमस्य सप्तदश । षष्ठस्य द्वाविंशतिः । सप्तमस्य त्रयस्त्रिंशत् । अथ विस्तारभयात् संक्षेपेणोच्यते, तिर्यञ्चः सूक्ष्मकेन्द्रियपर्याप्तिकापर्याप्तिकबादरेकेन्द्रिय-पर्याप्तिकापर्याप्तिकद्वौन्द्रियपर्याप्तिकापर्याप्तिकत्रीन्द्रियपर्याप्तिकापर्याप्तिकचतुरिन्द्रियपर्याप्तिका-

भेद वाले देवों में भी अनेकों प्रभेद होते हैं, यह निकाय शब्द समूह अर्थ का वाचक है ।

इन चार गति वाले जीवों के भेदों के और भी भेद 'लोकविभाग' नामक परमागम में देखना चाहिये । यहाँ पर आत्मस्वरूप के प्ररूपण में अंतराय का हेतु है इसलिये पूर्वाचार्य सूत्रकार श्री कुन्दकुन्ददेव ने नहीं कहा है ।

विशेष— जो जिस विषय के प्रतिपादक ग्रन्थ होते हैं उनमें उसी विषय की प्रधानता रहती है अतः उनमें अन्य अनुयोग के विषय गीण हो जाने हैं । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अथवात्म ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का पठन-पाठन, मनन-चितन ही नहीं करना चाहिये । स्वयं भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने ही जब यह स्पष्ट कहा है कि इनके विषय प्रभेदों को 'लोक विभाग' ग्रन्थों से जानना चाहिये । यहाँ यह नहीं कहा कि इनके विशेष भेद-प्रभेदों को जानने की आवश्यकता ही नहीं है अथवा ये अप्रयोजनीभूत विषय हैं, किन्तु अन्य ग्रन्थों से जान लेने को ही कहा है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि द्वादशांग वाणी रूप अथवा चतुरनुयोग रूप सभी ग्रन्थ पढ़ने चाहिये किसी अनुयोग को भी अप्रयोजनीभूत कहकर उपेक्षा नहीं करना चाहिये, अन्यथा श्रुत की आसादना का दोष लगता है । वास्तव में सभी भगवान् की वाणी रूप द्वादशांग के अंशरूप वर्तमान में सभी ग्रन्थ आत्म हित के लिये ही हैं न कि अहित के लिये ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिये ।

आत्मानुशासन में सम्यक्त्व के १० भेद कहे हैं—^१आज्ञा समुद्भव, मार्ग-समुद्भव, उपदेश समुद्भव, सूत्र समुद्भव, बीज समुद्भव, संक्षेप समुद्भव, विस्तार

१. 'लोकविभाग' नामक यह ग्रन्थ श्री सिंह सूरषि कृत जीवराज ग्रन्थमाला भोलापुर से मुद्रित हो चुका है । इसके पूर्व कोई प्राकृत भाषा में 'लोक विभाग' नामक ग्रंथ भगवान् कुन्दकुन्ददेव के समय में होगा ऐसा अनुमान है । २. आत्मानुशासन प्लोक ११ से १४ ।

पर्याप्तकासंज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्तकापर्याप्तकसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकापर्याप्तकभेदाच्चतुर्विंशभेदा
भवन्ति । भावनव्यंतरज्योतिःकल्पवासिकभेदाद्देवाश्चतुर्णिकायाः । एतेषां चतुर्गतिजीव-
भेदानां भेदो लोकविभागाभिधानपरमागमे द्रष्टव्यः । इहात्मस्वरूपप्ररूपणान्तराय-
हेतुरिति पूर्वसूरिभिः सूत्रद्विद्विद्वन्नुक्तं इति ।

समुद्भव, अर्थ समुद्भव अवगाह और परमावगाह । दर्शनमोह की उपशान्ति से, ग्रन्थ
श्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान् की आज्ञा से हो जो तत्त्व श्रद्धान होता है वह
'आज्ञासम्यक्त्व' है । दर्शनमोह के उपशम से ग्रन्थ श्रवण के बिना ही कल्याणकारी
मोक्षमार्ग का श्रद्धान करना 'मार्ग सम्यक्त्व' है । त्रैलोक्य जलाका पुरुषों के पुराण के
उपदेश से जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह 'उपदेश' सम्यग्दर्शन है । मुनि के चारित्र के
आचार सूचक सूत्रों को सुनकर जो तत्त्व श्रद्धान होता है वह 'सूत्र' सम्यग्दर्शन है ।
जिन जीवादि पदार्थों का या गणित आदि विषयों का पंचसंग्रह, तिलोपपण्णनि,
धवलादि करणानुयोगी ग्रन्थों के किन्हीं बीज पदों से ज्ञान प्राप्त करके जो दर्शन
मोहनीय के असाधारण उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है वह 'बीज' सम्यग्दर्शन है ।
जो भव्यजीव तत्त्वार्थ सिद्धान्त सूत्र लक्षण द्रव्यानुयोग के द्वारा जीवादि पदार्थों को
संक्षेप से जानकर जो श्रद्धान उत्पन्न होता है 'संक्षेप' सम्यग्दर्शन है ।

जो भव्यजीव वारह अंगों को सुनकर विशेष तत्त्व श्रद्धानी होता है उसके
सम्यक्त्व को 'विस्तार' सम्यग्दर्शन कहते हैं । अंगबाह्य आगम के पढ़े बिना उनमें
प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त में जो अर्थश्रद्धान होता है वह 'अर्थ' सम्यग्दर्शन है ।
अंगों के साथ अंगबाह्य श्रुत का अवगाहन करके जो सम्यक्त्व होता है वह 'अवगाह'
सम्यग्दर्शन कहलाता है । अर्थात् यह सम्यक्त्व द्वादशांग के ज्ञाता श्रुतकेवली के ही
होना है । केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में जो रुचि होती है वह यहां
'परमावगाह' सम्यग्दर्शन कहलाता है । अर्थात् केवली भगवान् का सम्यग्दर्शन
परमावगाह नाम से कहा जाता है ।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणा-
नुयोग और द्रव्यानुयोग ये सभी ग्रन्थ सम्यक्त्व के लिये कारण बन सकते हैं । कहीं-
कहीं पर करणानुयोग के गणित सूत्रों के मनन से भी सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है
अर्थात् इन बाह्य निमित्तों से दर्शनमोहनीय का उपशम-क्षयोपशमादि हो जाता है ।

सकलमोहरागद्वेषादिभावकर्मणां कर्ता भोक्ता च, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणां कर्ता, उपचरितासद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीनां कर्ता इत्यशुद्धजीवस्वरूपमुक्तम् ।

(मालिनी)

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको यः

परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात् ।

सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्या

स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः ॥३०॥

उपचार रूप में प्रवृत्त होता है वह उपचरित है जैसे कोधी बालक में अग्नि का उपचार करके कहना कि यह बालक अग्नि है, यहाँ कोधी बालक में मुख्य रूप अग्नि का अभाव है । जो उपचरित नहीं हो किन्तु वास्तविक हो उसे अनुपचरित कहते हैं । जीव निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का कर्ता है । दूरवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से शरीर और पर्याप्ति रूप नो कर्मों का कर्ता है और उपचरित से घट पट आदि सर्वथा अपने पृथक् वस्तुओं का कर्ता है । तथा निश्चयनय से यहाँ अशुद्ध निश्चयनय विवक्षित है उसकी अपेक्षा से यह जीव कर्मों के उदय से होने वाले राग द्वेष आदि भाव कर्मों का कर्ता है वैसे ही उन सभी के फलों का भोक्ता भी है । एवं शुद्ध निश्चय नय से यह जीव अपने शुद्ध-ज्ञान दर्शन आदि भावों का ही कर्ता है और शुद्ध ज्ञान दर्शन सुख आदि भावों का ही भोक्ता है ऐसा अभिप्राय है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज रागादि से सहित जीव को भी पंचपरम गुरु की भक्ति के प्रसाद से उत्तम फल की प्राप्ति का संकेत करते हुये श्लोक कहते हैं—]

(३०) श्लोकार्थ—सम्पूर्ण मोह राग द्वेष से सहित है तो भी जो पुरुष परम-गुरु के चरणकमल युगल की सेवा के प्रसाद से निश्चित हो निर्विकल्प रूप सहज समयसार को जान करके (स्थिर होता है) वह मुक्ति श्री रूपी स्त्री का स्वामी हो जाता है ।

(षष्ठ्युभ)

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम् ।
द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम् ॥३१॥

(वसंततिलका)

संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीवः
कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म ।
निर्मुक्तिमार्गमणुमप्यभिवाञ्छितुं नो
जानाति तस्य शरणं न समस्ति सांके ॥३२॥

(वसंततिलका)

यः कर्मशर्मनिकरं परिहृत्य सर्वं
निःकर्मशर्मनिकरामृतधारिपूरे ।
मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं
स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्यः ॥३३॥

(३१) श्लोकार्थ— भाव कर्म के निरोध से द्रव्य कर्म का निरोध होता है और द्रव्य के निरोध से संसार का निरोध होता है ।

(३२) श्लोकार्थ— जो सम्यग्ज्ञान से रहित मूढ़ जीव हैं वह अनेक प्रकार के शुभ अशुभ कर्मों को करता हुआ मुक्ति के मार्ग को अणुमात्र भी वांछता नहीं जानता है उसको इस संसार में शरण नहीं है ।

(३३) श्लोकार्थ— जो सम्पूर्ण कर्म से जनित सुख समूह को छोड़ देता है वह भव्यजीव निष्कर्म-कर्म से रहित, सुख समूह रूपी अमृत के सरोवर में मग्न हुये ऐसे अतिशय चैतन्य स्वरूप एक रूप अपने इस अद्वैत भाव को प्राप्त कर लेता है ।

(मालिनी)

असति सति विभावे तस्य चित्तास्ति को नः
 सततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम् ।
 हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तं
 न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात् ॥३४॥

(मालिनी)

भविनि भवगुणाः स्युः सिद्धजीवेपि नित्यं
 निजपरमगुणाः स्युः सिद्धसिद्धाः समस्ताः ।
 व्यवहरणनयोऽयं निश्चयान्नैव सिद्धि-
 र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम् ॥३५॥

द्ववत्थिएण जीवा, वदिरित्ता पुव्वभरिणदपज्जाया ।
 पज्जयणयेण जीवा, संजुत्ता होंति दुविहेहि ॥१६॥

(३४) श्लोकार्थ—विभावभाव हों चाहें न हों हमें उसकी चिन्ता नहीं है । हम तो हृदय कमल में विराजमान, सम्पूर्ण कर्मों से रहित, शुद्ध ऐसी एक आत्मा का ही सतत अनुभव करते हैं क्योंकि इससे भिन्न अन्य प्रकार से निश्चित ही मुक्ति नहीं है, नहीं है ।

(३५) श्लोकार्थ—संसारी जीव में सांसारिक गुण होते हैं और सिद्ध जीव में भी नित्य ही समस्त सिद्धि में सिद्ध हुये (परिपूर्ण) निज स्वाभाविक परमगुण होते हैं । यह व्यवहार नय है—व्यवहार नय का कथन है किन्तु निश्चय नय से न तो सिद्धि—मुक्ति ही है और न संसार ही है यह बुद्धिमान् पुरुषों का निर्णय है ।

गाथा १६

अन्वयार्थ—[द्रव्याधिक नयेन] द्रव्याधिक नय से [जीवाः] जीव [पूर्वभरित पर्यायात्] पूर्वकथित पर्यायों से रहित हैं [पर्यायनयेन] पर्याय नय से [जीवाः द्वाभ्यां संयुक्ताः भवन्ति] जीव उन स्वभाव और विभावरूप दोनों प्रकार की पर्यायों से संयुक्त होते हैं ।

द्रव्याधिकेन जीवा व्यतिरिक्ता पूर्वभणितपर्यायात् ।
पर्यायिनयेन जीवाः संयुक्ता भवंति द्वाभ्याम् ॥१६॥

इन पूर्व में कही सभी पर्याय से पृथक् ।
द्रव्याधिक नय से हैं ओव मानिये सम्यक् ॥
पर्यायिनय से किंतु सभी जीव को जानो ।
दोनों प्रकार पर्यायों से युक्त ही मानो ॥१६॥

इह हि नयद्वयस्य सफलत्वमुक्तम् । द्वौ हि नयौ भगवदहंत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ
द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्चेति । द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्याधिकः । पर्याय एवार्थः

भावार्थ—टीकाकार ने द्वाभ्यां का अर्थ ऐसा किया है कि इस तरह जीव द्रव्याधिक और पर्यायाधिक दोनों नयों से सहित होते हैं । द्रव्याधिक नय से जीव सभी पर्यायों से रहित हैं इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्याधिक नय द्रव्य को ही विषय करता है पर्याय को देखता ही नहीं है जैसे इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ही ग्रहण करती हैं अन्य के विषय को नहीं ग्रहण कर सकती हैं, चक्षु सूंघने का काम नहीं करती हैं उसी प्रकार से द्रव्याधिक नय द्रव्य को ही देखता है इसलिये इस नय की अपेक्षा से द्रव्य में पर्यायें विद्यमान होते हुये भी गौण हो जाती हैं और पर्यायाधिक नय पर्यायों को ही देखता है द्रव्य को नहीं देखता है । ये दोनों परस्पर सापेक्ष रहते हैं तभी वस्तु का सही बोध होता है और निरपेक्ष हो जाते हैं तभी सही बोध नहीं होने से मिथ्यात्व हो जाता है ।

टीका—यहां पर निश्चित रूप से दोनों नयों की सफलता को कहा है ।

भगवान् अहंन्त परमेश्वर ने निश्चित रूप से दो नय कहे हैं (१) द्रव्याधिक और (२) पर्यायाधिक । द्रव्य ही अर्थ-प्रयोजन है इसका इसलिये यह द्रव्याधिक है और पर्याय ही है अर्थ-प्रयोजन इसका अतः यह पर्यायाधिक है । निश्चित ही एक नय को आश्रय करने वाला उपदेश ग्रहण करने योग्य नहीं है, किन्तु दोनों नयों के आश्रित हुआ उपदेश ही ग्राह्य है ।

सत्ताग्राहक—द्रव्य के अस्तित्व को ग्रहण करने वाले ऐसे शुद्ध द्रव्याधिक नय के बल से मुक्त-सिद्ध और अमुक्त-संसारी सभी जीव समूह पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायों से

प्रयोजनमस्येति पर्यायाधिकः । न खलु एकनयायत्तोपदेशो ग्राह्यः, किन्तु तदुभयायत्तो-
पदेशः । सत्ताग्राहकशुद्धद्रव्याधिकनयबलेन पूर्वोक्तव्यंजनपर्यायेभ्यः सकाशान्मुक्तामुक्त-
समस्तजीवराशयः सर्वथा व्यतिरिक्ता एव । कुतः, "सर्वे सुद्धा ह सुद्धण्या" इति
वचनात् । विभावव्यंजनपर्यायाधिकनयबलेन ते सर्वे जीवास्तस्युक्ता भवन्ति । किं च
सिद्धानामर्थपर्यायैः सह परिणतिः, न पुनर्व्यंजनपर्यायैः सहपरिणतिरिति । कुतः, सदा
निरंजनत्वात् । सिद्धानां सदा निरंजनत्वेसति तद्दिद्रव्याधिकपर्यायाधिकनयाम्याम् द्वाभ्याम्

सर्वथा भिन्न हो हैं । कैसे भिन्न हैं ? 'सभी जीव शुद्ध नय से शुद्ध ही हैं' ऐसा वचन
है । विभाव व्यंजन पर्यायाधिक नय के बल से वे सभी जीव पूर्वोक्त व्यंजन पर्यायों से
संयुक्त होते हैं । विशेष बात यह है कि सिद्धों की अर्थ पर्यायों के साथ परिणति है,
किन्तु व्यंजन पर्यायों के साथ नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि वे सदा निरंजन रूप हैं ।

प्रश्न—सिद्धों के सदा निरंजनरूप होने पर तो सभी जीव द्रव्याधिक और
पर्यायाधिक इन दोनों नयों से संयुक्त है इसप्रकार का सूत्रार्थ व्यर्थ है ।

उत्तर—ऐसा नहीं कहना । निगम-विकल्प, उस निगम में जो होता है वह
नैगम है और वह नैगम नय तीन प्रकार का है—भूतनैगमनय, वर्तमान नैगमनय और
भावी नैगमनय । यहां भूत नैगमनय की अपेक्षा से भगवान् सिद्धों में भी व्यंजन पर्याय
और अशुद्धपना सम्भव है । पूर्वकाल में वे भगवान् संसारी थे इस प्रकार का व्यवहार
होता है । अधिक कहने से क्या ? सभी जीव दोनों नयों के बल से शुद्ध तथा अशुद्ध
दोनों प्रकार के होते हैं यहां ऐसा अर्थ हुआ है ।

विशेषार्थ—यहां पर टीकाकार ने भूत नैगमनय की अपेक्षा से सिद्धों में
व्यंजन पर्याय मानी हैं किन्तु अन्यत्र—आलाप पद्धति ग्रन्थ में सिद्धों की सिद्धत्व पर्याय
को ही व्यंजन पर्याय कहा है । यथा—'स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय चरम शरीर से
किञ्चित् न्यून सिद्ध पर्याय है ।

यहां पर स्वभाव और विभाव पर्यायों का किञ्चित् स्पष्टीकरण करते हैं—

'गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं । वे पर्यायों दो प्रकार की हैं (१) अर्थ

१. "सर्वे सुद्धा ह सुद्धण्या" द्रव्यसं. गाथा १३ ॥

२. आलाप पद्धति पृ. ५ ॥

संयुक्ताः सर्वे जीवा इति सूत्रार्थो व्यर्थः । निगमो विकल्पः, तत्र भवो नैगमः । स च नैगमनयस्तावत् त्रिविधः, भूतनैगमः वर्तमाननैगमः भाविनैगमश्चेति । अत्र भूतनैगम-नयापेक्षया भगवतां सिद्धानामपि व्यंजनपर्यायत्वमशुद्धत्वं च संभवति । पूर्वकाले ते भगवन्तः संसारिण इति व्यवहारात् । किं बहुना, सर्वे जीवा नयद्वयबलेन शुद्धाशुद्धा इत्यर्थः ।

पर्याय (२) व्यंजन पर्याय । अर्थ पर्याय दो प्रकार की हैं—स्वभाव अर्थ पर्याय और विभाव अर्थ पर्याय । स्वभाव अर्थ पर्याय सभी द्रव्यों में होती है किन्तु विभाव अर्थ पर्याय जीव और पुद्गल इन दो में ही होती है । अगुलघु गुण का परिणमन स्वभाव अर्थ पर्यायों हैं । इनके बारह भेद हैं, छह वृद्धिरूप और छह हानि रूप जो कि अनन्त भाग वृद्धि आदि हैं ।

विभाव अर्थ पर्याय के भी ६ भेद हैं—‘मिथ्यात्व, कषाय, राग, द्वेष, पुण्य और पापरूप जो अध्यवसाय-परिणाम हैं वे विभावरूप हैं । पुद्गल में भी स्वभाव अर्थपर्याय वही पद्गुण हानि वृद्धि रूप हैं एवं ‘द्व्यणुकादि स्कंधों में वर्णांतरादि परिणमन रूप हैं ।

व्यंजन पर्याय के दो भेद हैं—स्वभाव व्यंजन पर्याय और विभाव व्यंजन पर्याय । स्वभाव और विभाव के भी द्रव्य और गुण की अपेक्षा दो-दो भेद हैं । जैसे—स्वभाव द्रव्य-व्यंजन पर्याय, स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय । विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय और विभाव गुण व्यंजन पर्याय । जीव में घटाते हैं—विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय के चार भेद हैं नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवपर्याय रूप । अथवा चौरासी लाख योनि के भेद रूप भी विभावपर्याय हैं । विभावगुण व्यंजन पर्याय जीव के मति ज्ञानादि हैं ।

स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय चरम शरीर से किंचित् न्यून सिद्ध पर्याय है । स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय जीव के अनन्त चतुष्टयादि रूप हैं ।

यहां पर टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव ने भूत नैगमनय की अपेक्षा सिद्धों को अशुद्ध, संसारी एवं शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा संसारी जीवों को भी शुद्ध कहा

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

“उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वातमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाकुप्यभीक्ष्णः एव ॥”

है । इस प्रकार से सभी जीवों को भी शुद्ध-अशुद्ध उभयरूप सिद्ध कर दिया है । सो अपेक्षाकृत कथन में कोई बाधा नहीं आती है ।

उसी प्रकार से अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—“स्वयं वातमोह-जिन्होंने दर्शनमोहनीय का वमन कर दिया है ऐसे जो जीव उभयनय के विरोध को ध्वंस करने वाले और स्यात्पद से चिन्हित ऐसे जिनवचन में प्रीति करते हैं वे जीव शीघ्र ही अनव-नवीनता रहित अनादि स्वरूप और कुनयों के पक्ष से खडित नहीं होने वाले ऐसे समयसार स्वरूप परं ज्योति को अतिशय रूप से देख ही लेते हैं-प्राप्त ही कर लेते हैं ।”

भावार्थ—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों का विषय परस्पर विरोधी हो रहता है, किन्तु जो नय परस्पर सापेक्ष रहते हैं वे ही सुनय कहलाते हैं वे ही नय स्यात्पद से चिन्हित रहते हैं और जिनेन्द्र भगवान् के वचन स्वरूप माने जाते हैं । तथा जब वे परस्पर निरपेक्ष रहते हैं तब कुनय कहलाते हैं । यहां यह भी अर्थ है कि जो स्वयं दर्शन मोहनीय से रहित सम्यग्दृष्टि जीव जिनवचन में रत होते हैं वे शीघ्र ही चारित्र्य मोहनीय से रहते हुये पूर्वोक्त विशेषणों से सहित समयसार स्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारीदेव उभयनय के अवलम्बन की सफलता को बतलाते हुये तथा भव्य जीवों को परमत से निवृत्त करते हुये श्लोक कहते हैं ।]

तथाहि—

(मालिनी)

अथ नययुगयुक्ति लंघयन्तो न संतः

परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमस्तद्विरेकाः ।

तपति सगन्धशरं ते ध्रुवं तान्पुवन्ति

क्षितिषु परमतोक्तेः किं फलं सज्जनानाम् ॥३६॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवजितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमल-

(३६) श्लोकार्थ—जो सत्पुरुष दोनों नयों की युक्ति का उल्लंघन न करके परम जिन भगवान् के चरण कमल युगल के मत्त भ्रमर हैं वे शीघ्र ही समयसार को निश्चित प्राप्त कर लेते हैं । इस पृथ्वी तल पर परमत के कथन से सज्जनों को क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ।

विशेषार्थ—प्रारम्भ में मंगलाचरण के बाद गाथा २ में भगवान् श्री कुन्द-कुन्ददेव ने यह कहा था कि मार्ग और मार्गफल ये दो बातें ही जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाई हैं । यहां पर मोक्ष की प्राप्ति का उपाय तो मार्ग है और उसका फल निर्वाण प्राप्त कर लेना है । इसीलिये 'नियम' शब्द से अवश्य करने योग्य कार्य को लिया है और जो अवश्य करने योग्य है वह रत्नत्रय ही है । इस ग्रन्थ में भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप मार्ग का ही कथन प्रधान और उसमें भी भेद रत्नत्रय में निष्णात जो मुनिराज हैं उनके लिये ही अभेद रत्नत्रय का उपदेश होता है । इस ग्रन्थ में भेद रत्नत्रय का वर्णन संक्षिप्त है और अभेद रत्नत्रय का वर्णन विशेष रूप से वर्णित है क्योंकि स्वयं श्री कुन्दकुन्ददेव ने 'मूलाचार' में मुनियों के २८ मूलगुण आदि रूप भेद रत्नत्रय का विस्तार से वर्णन किया हुआ है ।

इस प्रथम अधिकार में सर्वप्रथम भेद रत्नत्रय को वर्णित किया है । उसमें भी व्यवहार सम्यग्दर्शन के विषयभूत सच्चे आप्त, आगम और तत्त्वों का वर्णन किया है । आप्त और आगम का स्वरूप बताकर तत्त्वों के स्वरूप को बतलाते हुये छह द्रव्यों

आरिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ जीवाधिकारः प्रथमश्रुतस्कन्धः ॥

को कहा है । उसमें भी सर्व प्रथम जीव द्रव्य का वर्णन करते हुये जीव के उपयोग लक्षण के १२ भेदों का वर्णन है । पुनः जीवद्रव्य की स्वभाव और विभाव पर्यायों का वर्णन है । इसप्रकार द्रव्याधिक और पर्यायाधिक इन दोनों नयों से जीव का वर्णन किया है । अगले द्वितीय अधिकार में अजीव द्रव्यों का वर्णन करेंगे ।



इसप्रकार सुकविजन रूपी कमलों के लिये सूर्य समान और पंचेन्द्रिय के प्रसार से रहित ऐसे गात्र-शरीर मात्र परिग्रह के धारी-दिगम्बर मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारीदेव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक व्याख्या में जीवाधिकार नामका प्रथम श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ ।



[२]

अजीव अधिकार

अथेदानीमजीवाधिकार उच्यते ।

अणुखंडवियप्पेण दु, पोग्गलदब्बं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा, परमाणू चेव दुवियप्पो ॥२०॥

अणुस्कन्धविकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम् ।
स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥२०॥

पुद्गल द्रव्य के दो विकल्प जान लीजिये ।
अणु भेद और स्कन्ध भेद नाम दीजिये ॥
स्कन्ध के भी छह प्रकार विश्वरूप हैं ।
परमाणु के भी दो प्रकार सूक्ष्मरूप हैं ॥२०॥

अब अजीवाधिकार को कहते हैं—

गाथा-२०

अन्वयार्थ—[अणुस्कन्ध विकल्पेन तु] अणु और स्कन्ध के भेद से [पुद्गल-
द्रव्यं] पुद्गलद्रव्य [द्विविधं भवति] दो प्रकार का होता है [स्कन्धाः खलु
षट्प्रकाराः] स्कन्ध निश्चितरूप से छह प्रकार का है [परमाणुः च एव द्विविकल्पः
और परमाणु दो प्रकार का ही है ।

पुद्गलद्रव्यविकल्पोपन्यासोऽयम् । पुद्गलद्रव्यं तावद् विकल्पवृत्तसनायम्,
स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति । तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः
स्कन्धः । कार्यपरमाणुः कारणपरमाणुरिति स्वभावपुद्गलो द्विधा भवति ।
स्कन्धाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वीजलच्छायाचतुरक्षविषयकर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः ।
तेषां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रेषूच्यते विस्तरेणेति ।

(अनुष्टुभ्)

गलनादणुरित्युक्तः पूरणात्स्कन्धनामभाक् ।

विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते ॥३७॥

टीका—यह पुद्गलद्रव्य के भेदों का कथन है ।

सर्व प्रथम पुद्गल द्रव्य दो भेद से सहित है, स्वभाव पुद्गल और विभाव पुद्गल । उसमें परमाणु स्वभाव पुद्गल और स्कन्ध विभाव पुद्गल कहलाता है । स्वभाव पुद्गल के भी दो भेद हैं—कार्य परमाणु और कारण परमाणु । स्कन्ध छह प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषय, कर्म के योग्य स्कन्ध और कर्म के अयोग्य स्कन्ध ऐसे छह भेद हैं । इन स्कन्धों के भेद आगे कहे जाने वाले सूत्रों में विस्तार से कहते हैं ।

[टीकाकार श्री मुनिराज इस पुद्गल के कार्य को बतलाते हुये श्लोक कहते हैं—]

(३७) श्लोकार्थ—स्कन्धों के गलन-भेद से अणु कहलाता है और पूरण से परमाणु या स्कन्धों के मिलने से स्कन्ध नाम पाता है । इस पुद्गल पदार्थ के बिना लोक यात्रा नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—इस पुद्गल पदार्थ के बिना यदि आप संसार यात्रा करना चाहें तो नहीं कर सकते हैं । यह पुद्गल द्रव्य आपको संसार की यात्रा कराने के लिये मोटर, रेल आदि वाहन के समान है इसी में बैठकर अर्थात् इसी का सम्बन्ध करके आप पंच परिवर्तन रूप लोकयात्रा कर रहे हैं । कहा भी है—“अजंगमं जंगमनेययंत्रं

अद्वयलथूल थूलं, थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
 सुहुमं अद्वसुहुमं इदि, धरादियं होदि छम्मेयं ॥२१॥
 भूपव्वदमावीया, भणिदा अद्वथूलथूलमिदि खंधा ।
 थूला इदि विण्णेया, सप्पीजलतेलमादीया ॥२२॥
 छायातवमादीया, थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
 सुहुमथूलेवि भणिया, खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥
 सुहुमा हवन्ति खंधा, पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
 तव्विवरीया खंधा, अद्वसुहुमा इदि परूवेति ॥२४॥

अतिस्थूलस्थूलाः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्मस्थूलाश्च ।
 सूक्ष्मा अतिसूक्ष्मा इति धरादयो भवन्ति षड्भेदाः ॥२१॥
 भूपवंताद्या भणिता अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कन्धाः ।
 स्थूला इति विज्ञेयाः सप्पिजलतैलाद्याः ॥२२॥
 छायातपाद्याः स्थूलेतरस्कन्धा इति विजानीहि ।
 सूक्ष्मस्थूला इति भणिताः स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च ॥२३॥
 सूक्ष्मा भवन्ति स्कन्धाः प्रायोग्याः कर्मवर्गणस्य पुनः ।
 तद्विपरीताः स्कन्धाः अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ॥२४॥

अतिस्थूलस्थूल और स्थूल जानिये ।
 स्थूलसूक्ष्म और सूक्ष्मस्थूल मानिये ॥
 सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म इस प्रकार से कहें ।
 ये पृथ्वी आदि रूप से छह भेद को लहें ॥२१॥

यथा तथा जीवधृतं शरीरं" जैसे जंगम—चेतन जीव से चलाने योग्य यंत्र अजंगम
 अचेतन होता है वैसे ही जीव चेतन शरीर रूप अचेतन यंत्र को चलाता है ।

गाथा—२१ से २४

अन्वयार्थ—[अतिस्थूलस्थूलाः] अतिस्थूल स्थूल [स्थूलाः] स्थूल
 [स्थूलसूक्ष्माः च] स्थूलसूक्ष्म [सूक्ष्मस्थूलाः च] सूक्ष्म स्थूल [सूक्ष्माः] सूक्ष्म

भू-पर्वतादि वस्तु अतिस्थूल-स्थूल हैं ।
 स्कंध में सबसे प्रथम के भेदरूप हैं ॥
 घी तेल व जल आदि जो भी तरल वस्तु हैं ।
 स्कंध वे स्थूल नाम जड़ स्वरूप हैं ॥२२॥

छाया व आतपादि जो दिखते हैं जगत में ।
 स्थूलसूक्ष्म नाम से स्कंध हैं सच में ॥
 स्पर्श रसन घ्राण श्रोत्र के विषय जितने ।
 स्कंध वे सूक्ष्मस्थूल हैं कहा जितने ॥२३॥

जो कर्म वर्गणा के योग्य दिख नहीं सकते ।
 वे सूक्ष्म हैं स्कंध सतत बंधते ही रहते ॥
 इनसे जो हैं विपरीत वे अतिसूक्ष्म कहाये ।
 छह भेद भी ये जड़मयी चितशून्य बताये ॥२४॥

और [अतिसूक्ष्माः] अतिसूक्ष्म [इति घरादयः षड्भेदाः भवन्ति] इस प्रकार से पृथ्वी आदि के छह भेद होते हैं ।

[भूपर्वताद्याः] भूमि, पर्वत आदि [अतिस्थूलस्थूलाः इति स्कंधाः भणिताः] अतिस्थूल-स्थूल स्कंध कहे गये हैं [सर्पिर्जलतलाद्याः] घी, जल, तेल आदि को [स्थूलाः इति विज्ञेयाः] स्थूल स्कंध जानना चाहिये ।

[छायातपाद्याः] छाया, आतप आदि [स्थूलेतरस्कंधाः इति] स्थूलसूक्ष्म स्कंध हैं ऐसा तुम जानो [च चतुरक्ष विषयाः स्कंधाः] और चक्षु इन्द्रिय के बिना चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कंध [सूक्ष्मस्थूलाः इति भणिताः] सूक्ष्मस्थूल इसप्रकार से कहे गये हैं ।

[कर्मवर्गणस्य प्रायोग्याः] कर्मवर्गणा के योग्य [स्कंधाः सूक्ष्माः भवन्ति] स्कंध सूक्ष्म होते हैं, [पुनः तद्विपरीताः स्कंधाः] पुनः उससे विपरीत स्कंध [अति सूक्ष्माः इति प्ररूपयन्ति] अतिसूक्ष्म इस प्रकार से प्ररूपित किये जाते हैं ।

विभावपुद्गलस्वरूपखण्डमेतत् । अतिस्थूलस्थूला हि ते खलु पुद्गलाः
सुमेरुकुम्भिनोप्रभृतयः । घृततैलतक्रक्षीरजलप्रभृतिसमस्तद्रव्याणि हि स्थूलपुद्गलाश्च ।
छायातपतमःप्रभृतयः स्थूलसूक्ष्मपुद्गलाः । स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियाणां विषयाः
सूक्ष्मस्थूलपुद्गलाः शब्दस्पर्शरसगन्धरः । शुभाशुभपरिणामद्वारेणागच्छतां शुभाशुभकर्मणां
योग्याः सूक्ष्मपुद्गलाः । एतेषां विपरीताः सूक्ष्मसूक्ष्मपुद्गलाः कर्मणामप्रायोग्या इत्यर्थः ।
अयं विभावपुद्गलक्रमः ।

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये—

“पृथ्वी जलं च छाया च उरिन्द्रियविसयकम्मपाओग्गा ।
कम्मातीदा एवं छद्मेया योग्गला होंति ॥”

टीका—यह विभाव पुद्गल के स्वरूप का कथन है ।

वे सुमेरु, पृथ्वी आदि (धन पदार्थ) निश्चित रूप से अति स्थूल स्थूल पुद्गल हैं । घी तेल, मट्ठा, दूध, जल आदि समस्त द्रव्य (द्रव पदार्थ) स्थूल पुद्गल हैं । छाया, आतप, अंधकार आदि स्थूल सूक्ष्म पुद्गल हैं । स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों के जो विषय स्पर्श, रस, गंध और शब्द हैं वे सूक्ष्मस्थूल पुद्गल हैं । शुभ-अशुभ परिणाम के द्वारा आते हुये शुभ-अशुभ कर्मों के योग्य सूक्ष्म पुद्गल हैं और इनसे विपरीत कर्मों के अयोग्य पुद्गल सूक्ष्म सूक्ष्म पुद्गल हैं यह अर्थ हुआ । यह विभाव पुद्गल का क्रम है ।

उसी प्रकार से पंचास्तिकाय आगम में कहा है—

साद्वार्थ—“पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषय, कर्म के योग्य और कर्मतीत इस प्रकार से पुद्गलों के छह भेद होते हैं”

मार्गप्रकाश ग्रन्थ में भी कहा है—

इत्युक्तार्थ—“स्थूल स्थूल उसके अनन्तर स्थूल, स्थूल सूक्ष्म इसके अनन्तर सूक्ष्म स्थूल उसके बाद सूक्ष्म और उससे परे सूक्ष्म सूक्ष्म ऐसे छह प्रकार के पुद्गल होते हैं ।”

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

(अनुष्ठुम्)

“स्थूलस्थूलास्ततः स्थूलाः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परे ।

सूक्ष्मस्थूलास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परे ॥”

विशेषार्थ—दो अणु, तीन अणु आदि से लेकर अनन्तानन्त पर्यंत परमाणुओं के मिलने पर सघनरूप बनने को स्कंध कहते हैं। ये स्कंध, भेद और संघात से दोनों तरह से बनते हैं, जैसे घड़े आदि को फोड़ने से भी जो टुकड़े होते हैं वे स्कंध रूप ही हैं तथा संघात अर्थात् मिलने से तो बनते ही हैं। ऐसे स्कंध के छह भेद माने हैं—जिनको अन्य जगह ले जा सकते हैं जिसका छेदन, भेदन हो सकता है वे स्कंध अति-स्थूल स्थूल हैं जैसे पृथ्वी आदि जिसको अन्यत्र तो ले जा सकते हैं, किन्तु छेदन भेदन नहीं हो सकता है ऐसे द्रव्य पदार्थ स्थूल कहलाते हैं जैसे—घी, तेल, जल आदि। जिनका छेदन-भेदन और अन्यत्र ले जाना आदि कुछ भी नहीं हो सकता है किन्तु आँखों से दिख रहे हैं ऐसे पुद्गल स्थूल सूक्ष्म हैं जैसे छाया, धूप आदि। जिनको ग्रहण कर सकते परन्तु जिनको देख नहीं सकते हैं ऐसे पुद्गल सूक्ष्म स्थूल हैं। वे नेत्र के अतिरिक्त स्पर्शन आदि चार इन्द्रियों के विषय हैं जैसे घ्राण में सुगंध आ रही है, किन्तु दिखाई नहीं देती है। जिनको देख भी नहीं सके और ग्रहण करने का भी अनुभव न हो सके वे सूक्ष्म हैं जैसे कर्म के योग्य पुद्गल—ये अतिक्षण आत्मा में आ रहे हैं किन्तु इनका कुछ भी अनुभव आदि नहीं होता है। मूर्तिक होकर भी जो अत्यंत परोक्ष हों वे अति-सूक्ष्म सूक्ष्म हैं जैसे कर्म योग्य पुद्गल से विपरीत सूक्ष्म पुद्गल हैं।

गोम्मटसार जीवकांड में पुद्गल के अंतिम भेद अतिसूक्ष्म सूक्ष्म के उदाहरण में अन्तर है—

पृथ्वी जलं च छाया चउरिदिय विसय कम्म परमाणु ।

छव्विह भेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरोहि ॥६०२॥

अर्थ—जिनेन्द्र देव ने पुद्गल द्रव्य के छह भेद कहे हैं—जैसे पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषय, कर्म और परमाणु।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्र सूरिभिः

(वसंततिलका)

“अस्मिन्नादिनि महत्पविवेकनाटथे
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥”

इन छह भेदों के क्या नाम हैं—

बादर बादर बादर बादसुहुमं च सूक्ष्मस्थूलं च ।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं धरादियं होदि छद्भेयं ॥६०३॥

अर्थ— बादर बादर, बादर, बादर सूक्ष्म, सूक्ष्म बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म सूक्ष्म इसप्रकार पुद्गल द्रव्य के छह भेद हैं । जिनके उदाहरण उपर्युक्त पृथ्वी आदि हैं ।

विशेष बात यह है कि यहां नियमसार ग्रन्थ में अंतिम जो भेद सूक्ष्म सूक्ष्म है उसके उदाहरण में कर्म के अयोग्य पुद्गल स्कंधों को लिया है और गोमटसार जीवकांड में परमाणु को लिया है । इसका कारण यह है कि प्रकृत ग्रन्थ नियमसार में स्कंध के छह भेद किये हैं इस कारण उसमें परमाणु को ले नहीं सकते हैं क्योंकि यहां परमाणु को अलग लेकर उसके भी दो भेद किये हैं और यहां पर सामान्यतया पुद्गल के ही छह भेद हैं परमाणु को अलग नहीं किया है अतएव वहां पर जीवकांड में उन्हीं छह भेदों के उदाहरण में परमाणु को भी ले लिया ऐसा समझना चाहिये ।

उसी प्रकार से (पुद्गल को जानकर उससे अपने आपको पृथक् करने के लिये) श्रीमान् अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं —

श्लोकार्थ—^१“इस अनादिकालीन अविवेकरूपी नाट्यशाला में वर्णादिमान् पुद्गल ही नाच रहा है अन्य-जीव नहीं नाच रहा है क्योंकि यह जीव रागादिरूप पुद्गलिक विकारों से विरुद्ध-विलक्षण, शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्ति स्वरूप है ।”

तथा हि—

(मालिनी)

इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने
न च कुरु रतिभावं भव्यशार्दूल तस्मिन् ।
कुरु रतिमतुलां त्वं त्रिचच्चमत्कारमात्रे
भवसि हि परमश्रीकामिनोकामरूपः ॥३८॥

धातुचतुष्कस्य पुणो, जं हेतु कारणंति तं णेयो ।
खंधाणं अवसाणं, सादिव्वो कज्जपरमाणुं ॥३९॥

धातुचतुष्कस्य पुनः यो हेतुः कारणमिति स ज्ञेयः ।
स्कन्धानामवसानो जातव्यः कार्यपरमाणुः ॥३९॥

भू जल व अग्नि वायु धातु चार के लिये ।
जो हेतु उसको कारण परमाणु जानिये ॥

[उसीप्रकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव पुद्गल से प्रीति हटाकर आत्मा में प्रीति करने के लिये उपदेश देते हुये कहते हैं]

(३८) श्लोकार्थ—इसप्रकार दिखाई देने वाले नाता प्रकार के पुद्गलों में हे भव्योत्तम ! तू रतिभाव मतकर । तू त्रिचच्चमत्कार मात्र आत्मा में अतुल रति-प्रीतिकर जिससे तू परम श्री-मुक्ति श्री रूपी स्त्री का वल्लभ होगा । अर्थात् इन दिखने वाले पौद्गलिक पदार्थों से प्रीति हटाकर तू अपनी शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा में प्रीति कर जिससे संसार भ्रमण से तू छूट जावेगा ।

गाथा-२५

अन्वयार्थ—[यः पुनः धातुचतुष्कस्य हेतुः] जो पुनः धातु चतुष्क-पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का हेतु-कारण है [स कारणं इति ज्ञेयः] वह कारण परमाणु

सम्पूर्ण स्कंधों का जो भी अन्त्य अंश है ।

वो कार्य अणु नाम से अति सूक्ष्म अंश है ॥२५॥

कारणकार्यपरमाणुद्रव्यस्वरूपाख्यानमेतत् । पृथिव्यप्तेजोवायवो घातवश्चत्वारः
तेषां यो हेतुः स कारणपरमाणुः । स एव जघन्यपरमाणुः स्निग्धरूक्षगुणानामनन्त्या-
भावात् समविषमबंधयोरयोग्य इत्यर्थः । स्निग्धरूक्षगुणानामनन्तत्वस्योपरि द्वाभ्याम्

है ऐसा जानना चाहिये [स्कंधानां अवसानः] स्कंधों का अवसान—अंत को [कार्य-
परमाणुः] कार्यपरमाणु [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीका—यह कारण परमाणु और कार्य परमाणु रूप द्रव्य के स्वरूप का
कथन है—

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार 'धातु' शब्द से कहे जाते हैं इनका जो
हेतु है वह कारण परमाणु है वही जघन्य परमाणु स्निग्ध और रूक्ष गुणों के अनन्त का
अभाव होने से अर्थात् स्निग्ध—रूक्ष गुणों का अंत हो जाने से—एक स्निग्ध गुण और
एक रूक्ष गुण वाला होने से सम और विषम बंध के अयोग्य है यह अर्थ हुआ । अर्थात्
जिस परमाणु में एक ही गुण रहता है वह जघन्य कहलाता है वह बंध के अयोग्य है,
"न जघन्य गुणानां" जघन्य गुणों वाले परमाणुओं का बन्ध नहीं होता है ऐसा वचन
है । स्निग्ध और रूक्ष गुणों के अनन्त के ऊपर दो गुण वाले का चार गुण वाले के
साथ जो बंध है वह सम्बन्ध है और तीन गुण वाले परमाणु का पांच गुण वाले के
साथ जो बंध है वह विषम बंध है यह उत्कृष्ट परमाणु है ।

गलित होते हुये पुद्गलों का जो अन्त है—अंतिम अवस्था है उसमें जो स्थित
है—जो अंतिम अवस्था को प्राप्त हुआ पुद्गल का हिस्सा है वह कार्य परमाणु है । यहाँ
पर कार्य, कारण तथा जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से अणु के चार भेद हो गये हैं ।
वह परमाणु द्रव्य अपने स्वरूप में स्थित है और उसमें विभाव का अभाव होने से वह
परमस्वभाव वाला है ।

चतुर्भिः समबन्धः त्रिभिः पञ्चभिर्विषमबन्धः । अयमुत्कृष्टपरमाणुः । गलतां पुद्गल-
द्रव्याणां अन्तोऽवसानस्तस्मिन् स्थितो यः स कार्यपरमाणुः । अणवश्चतुर्भेदाः कार्य-
कारणजघन्योत्कृष्टभेदः । तस्य परमाणुव्रण्यस्य स्वरूपस्थितत्वात् विभावाभावात् परम-
स्वभाव इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

“णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिया जदि बज्जन्ति हि आदिपरिहोणा ॥
णिद्धत्तणेण दुगुणो चतुगुणणिद्धेण बन्धमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्जन्ति पंचगुणजुत्तो ॥”

तथा हि—

उसी प्रकार प्रवचनसार में भी कहा गया है—

भावार्थ —“परमाणु के परिणाम स्निग्ध हों या रुक्ष हों, सम अंश वाले हों
या विषम अंश वाले जघन्य अर्थात् एक अंश वाले को छोड़कर यदि समान से दो
अधिक अंश वाले हों तो बंधते हैं ।

स्निग्ध रूप से दो अंश वाला परमाणु चार अंश वाले स्निग्ध परमाणु के
साथ बंध का अनुभव करता है—अर्थात् बंध जाता है अथवा रुक्ष रूप से तीन अंश
वाला परमाणु पांच अंश वाले परमाणु के साथ संयुक्त होता हुआ बंधता है ।”

विशेषार्थ—स्निग्ध या रुक्ष परमाणु यदि जघन्य अंश वाला है अर्थात् एक
अंश वाला है तो उसमें बंध नहीं हो सकता है । इसलिये दो अंश से प्रारम्भ करना
चाहिये । इधर दो अंश वाला स्निग्ध परमाणु हो और दूसरा चार अंश वाला चाहे
स्निग्ध हो चाहे रुक्ष हो बंध जावेगा और अधिक गुण वाला है वह कम गुण वाले को
अपने रूप परिणाम लेगा “बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च” ऐसे ही तीन गुणवाला परमाणु
यदि स्निग्ध है और दूसरा पांच गुण वाला चाहे स्निग्ध हो चाहे रुक्ष, उनमें बंध
हो जावेगा ।

(अनुष्टुप्)

स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः किं चतुभिरणुभिर्मम ।

आत्मानमक्षयं शुद्धं भावयामि मुहुर्मुहुः ॥३६॥

अत्तादि अत्तमज्ज्ञं, अत्तं तं णेव इंदिए गेज्ज्ञं ।

अविभागी जं दव्वं, परमाणु तं विद्याणाहि ॥२६॥

आत्माद्यात्ममध्यमात्मान्तं नेवेन्द्रियैर्ग्राह्यम् ।

अविभागि यद्द्रव्यं परमाणुं तद् विजानीहि ॥२६॥

स्वयमेव जो है आदि व स्वयमेव मध्य है ।

स्वयमेव अत आप ही इन्द्रिय अग्राह्य है ॥

जिसका विभाग हो न सके उसी द्रव्य को ।

परमाणु गया हो सदा तुम शास्त्र से समझो ॥२६॥

[अब टीकाकार श्री मुनिराज इन पुद्गलों को जानकर क्या करना चाहिये इस बात को बतलाते हुये श्लोक कहते हैं—]

श्लोकार्थ—उन छह प्रकार के स्कन्धों से और चार प्रकार के अणुओं से मेरा क्या प्रयोजन है ? मैं तो अक्षय और शुद्ध आत्मा की पुनः पुनः भावना करता हूँ ।

गाथा—२६

अन्वयार्थ—[आत्मादि] स्वयं जिसका स्वरूप ही आदि रूप है [आत्म-मध्यं] स्वयं जिसका स्वरूप ही मध्य रूप है [आत्मान्तं] स्वयं जिसका स्वरूप ही अंतरूप है [इन्द्रियैः ग्राह्यं न एव] जो इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है [यद् द्रव्यं] ऐसा जो द्रव्य [अविभागि] विभाग रहित है [तत् परमाणुं विजानीहि] तुम उसको परमाणु जानो ।

भावार्थ—जो स्वयं ही आदि, मध्य और अंतरूप है अर्थात् जिसमें आदि, मध्य और अंत को व्यवस्था नहीं हो सकती है ऐसा जो इन्द्रियों के अगोचर पुद्गल

परमाणुविशेषोक्तिरियम् । यथा जीवानां नित्यानित्यनिगोदादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्त स्थितानां सहजपरमपारिणामिकभावविवक्षासमाश्रयेण सहजनिश्चयनयेन स्वस्वरूपाव-
प्रच्यवनत्वमुक्तम्, तथा परमाणुद्रव्याणां पञ्चमभावेन परमस्वभावत्वादात्मपरिणतेरात्मै-
वादिः, मध्यो हि आत्मपरिणतेरात्मैव, अंतोपि स्वस्थात्मैव परमाणुः । अतः न चेन्द्रिय-
ज्ञानगोचरत्वाद् अनिलानलादिभिरविनश्चरत्वादविभागी हे शिष्य स परमाणुरिति त्वं
तं जानीहि ।

का कोई एक सबसे छोटा टुकड़ा है कि जिसका अब दूसरा विभाग हो ही नहीं सकता है
वह परमाणु कहलाता है ।

टीका—यह परमाणु का विशेष कथन है ।

जैसे सहज परम पारिणामिक भाव की विवक्षा का आश्रय लेने वाले ऐसे
सहज निश्चयनय की अपेक्षा से नित्य निगोद और इतर निगोद से लेकर सिद्ध क्षेत्र
तक रहने वाले जीवों का अपने स्वरूप से प्रच्युत न होना कहा गया है उसी प्रकार से
पंचम भाव रूप पारिणामिक भाव की अपेक्षा परमाणु द्रव्यों का परम स्वभाव रूप
होने से आत्म परिणति की आत्मा ही आदि आत्म परिणति की आत्मा ही मध्य है
और अपनी आत्मा ही अंत भी है ऐसा परमाणु होता है इसलिये इन्द्रियज्ञान का विषय
नहीं होने से वायु, अग्नि आदि से नष्ट न होने से अविभागी है, हे शिष्य ! वह
परमाणु है इस प्रकार से तुम जानो ।

भावार्थ—नित्य निगोद से लेकर सिद्ध जीव पर्यंत सभी जीव सहज शुद्ध
निश्चयनय की अपेक्षा में अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं, प्रत्येक जीव में स्वाभाविक
अनंत ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख रूप अनंत चतुष्टय आदि अनन्त गुण विद्यमान हैं ।
ये जीव संसारी हैं, इनकी आत्मा के गुणों को कर्मों ने घात रखा है । ये सिद्ध जीव
हैं, इन्होंने कर्मों का नाश करके अपने अनंत गुणों को प्रगट कर लिया है । संसारी
जीव दुःखी हैं और सिद्ध जीव सुखी हैं यह सब भेद भाव करने वाला व्यवहारनय ही
है । यहां पुद्गल के परमाणु की शुद्ध अवस्था को बतलाने के लिये उपर्युक्त कथन को
दृष्टांत रूप से लिया है । एक परमाणु का अपने स्वरूप से जो परिणमन हो रहा है
वही उसका आदि मध्य और अंत है अन्य कुछ आदि मध्य अंत का विभाग उस

(अनुष्टुभ्)

अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मनः ।

सिद्धास्ते किं न शिच्छन्ति स्वात्मरूपे चिदात्मनि ॥४०॥

एकरसरूपगंधं बोधासं तं हवे सहावगुणं ।

विहावगुणमिदं भणितं, जिनसमये सर्वप्रकटत्वं ॥२७॥

एकरसरूपगंधः द्विस्पर्शः स भवेत्स्वभावगुणः ।

विभावगुण इति भणितो जिनसमये सर्वप्रकटत्वम् ॥२७॥

जो एक रस व एक रूप एक गंध है ।

स्पर्श दो है अस्तु में स्वभावगुण वे हैं ॥

जिनदेव के शासन में कहें सर्वप्रकट जो ।

स्वभाव में गुण जो रहें विभावगुण हैं वो ॥२७॥

परमाणु में नहीं है इसलिये वह अविभागी है तथा पवन अग्नि आदि से वह नष्ट भी नहीं किया जा सकता है ऐसा परमाणु होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज परमाणु रूप पुद्गल के और सिद्ध के स्वभाव का बोध कराने हुये श्लोक कहते हैं —]

(४०) श्लोकार्थ—जडात्मक पुद्गल की स्थिति को उसके स्वरूप में ही जानकर वे सिद्ध भगवान् चिदात्मक अपने स्वरूप में ही क्यों नहीं रहेंगे ? अर्थात् रहेंगे ही रहेंगे ।

भावार्थ—जड़ स्वरूप पुद्गल अपने जड़ स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं प्रत्युत अपने जड़ स्वभाव में ही रहते हैं उसी प्रकार से सिद्ध परमेश्वरी भी अपने चैतन्य स्वभाव में ही स्थिर रहते हैं यह अभिप्राय हुआ ।

गाथा-२७

अन्वयार्थ—[एकरसरूपगंधः] जो एक रस, एक वर्ण, एक गंध वाला है और [द्विस्पर्शः] दो स्पर्श गुण वाला है [सः] वह [स्वभाव गुणः] स्वभाव गुण वाला है [सर्व प्रकटत्वं] जिसमें सब गुण प्रकट हैं वह [विभाव गुणः] विभाव गुण वाला है [इति जिनसमये भणितं] इस प्रकार जिन शासन में कहा गया है ।

स्वभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत् । तिक्तकटुककषायाम्लमधुराभिधानेषु पंचसु रसेष्वेकरसः, श्वेतपीतहरितारुणकृष्णवर्णेष्वेकवर्णः, सुगन्धदुर्गन्धयोरेकगन्धः, कर्कशमृदु-गुहलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाभिधानामष्टानामन्त्यचतुःस्पर्शविरोधस्पर्शनद्वयम्, एते पर-माणोः स्वभावगुणाः जिनानां मते । विभावगुणात्मको विभावपुद्गलः । अस्थ द्रव्यणु-कादिस्कन्धरूपस्य विभावगुणाः सकलकरणग्रामग्राह्या इत्यर्थः ।

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये—

“एयरसवर्णगन्धं दोकासं सहकारणमसद् ।
खंधंतरिदं द्रव्यं परमाणुं तं वियाणाहि ॥”

टीका — यह स्वभाव पुद्गल के स्वरूप का कथन है ।

चरपरा, कड़ुवा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पांच रसों में से एक रस, सफेद, पीला, हरा, काला और लाल इन पांच वर्णों में से कोई एक वर्ण, सुगन्ध और दुर्गन्ध में से कोई एक गन्ध, कठोर, कोमल, भारी, हलका, ठंडा, गरम, चिकना और रूखा इन आठ स्पर्शों में अंतिम चार में से अविरोधी दो स्पर्श जिनेन्द्र भगवान के मत में इन्हें परमाणु के स्वभाव गुण कहा है । विभाव गुण वाला विभाव पुद्गल है । इस द्रव्यणुक आदि स्कन्ध रूप विभाव पुद्गल के जो विभाव गुण हैं वे सभी इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य होते हैं ऐसा अर्थ है ।

पंचास्तिकाय आगम में भी कहा है—

गाथार्थ — ‘जो एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध वाला है, दो स्पर्श वाला है, शब्द का कारण है और स्वयं अशब्द है ऐसा स्कन्ध से अंतरित जो द्रव्य है, उसे तुम परमाणु जानो । अर्थात् परमाणु शब्द का कारण तो है किन्तु स्वयं शब्दरूप नहीं है क्योंकि ‘शब्द’ यह पुद्गल की विभाव पर्याय है । “शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता,

उक्तं च मार्गप्रकाशे —

(पनुष्टुम्)

“वसुधान्त्यचतुःस्पर्शेषु चिन्त्यं स्पर्शनद्वयम् ।
वर्णो गन्धो रसश्चैकः परमाणोः न चेतरे ॥”

तथा हि—

(मालिनो)

अथ सति परमाणोरेकवर्णादिभास्वन्
निजगुणानिचयेऽस्मिन् नास्ति मे कार्यसिद्धिः ।
इति निजहृदि मत्स्वा शुद्धमात्मानमेकम्
परमसुखपदार्थो भावयेद्भव्यलोकः ॥४१॥

संस्थान, भेद, तम द्वाया आनन और उद्योन ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं ऐसा कहा है ।

मार्गप्रकाश ग्रन्थ में भी कहा है—

श्लोकार्थ — “आठ प्रकार के स्पर्शों में अंतिम चार स्पर्शों के दो स्पर्श अर्थात् श्रोत-उष्ण में से कोई एक और स्निग्ध-रुक्ष में से कोई एक ऐसे दो स्पर्श, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस परमाणु में ये पांच गुण समझना चाहिये शेष अन्य गुण नहीं होते हैं ।”

[अब टीकाकार श्री मुनिराज परमाणु के स्वरूप को समझकर क्या करना चाहिये, इस बात को बताते हुए एक श्लोक कहते हैं—]

(४१) श्लोकार्थ — परमाणु में एक वर्णादि रूप भासमान अपने गुणों का समुदाय होने पर भी उसमें मेरे कार्य की सिद्धि नहीं है । इस प्रकार से अपने हृदय में समझकर परम सुखपद मोक्ष की इच्छुक भव्य जीव अपनी शुद्ध एक आत्मा की भावना करें ।

अण्णणिरावेक्खो जो, परिणामो सो सहावपज्जाओ' ।
खंधस्वरूपेण पुणो, परिणामो सो विहावपज्जाओ ॥२८॥

अन्यनिरपेक्षो यः परिणामः स स्वभावपर्यायः ।
स्कंधस्वरूपेण पुनः परिणामः स विभावपर्यायः ॥२८॥

जो अन्य से निरपेक्ष है परिणाम अणु का ।
वह है स्वभाव नाम से पर्याय अणु का ॥
स्कन्धरूप से पुनः जो परिणामन हुआ ।
उस तो विभाव पर्यायों से भेद युक्त हुआ ॥२८॥

पुद्गलपर्यायस्वरूपाख्यानमेतत् । परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः परम-
पारिणामिकभावलक्षणः वस्तुगतषट्प्रकारहानिवृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्यायात्मकः
सादिसनिधनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्षत्वाच्छुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकः । अथवा हि

गाथा-२८

अन्वयार्थ—[अन्यनिरपेक्षः] अन्य की अपेक्षा से रहित [यः] जो
[परिणामः] परिणाम है [सः] वह [स्वभाव पर्यायः] स्वभाव पर्याय है
[पुनः] और [स्कंध स्वरूपेण] स्कंध रूप से [परिणामः] जो परिणामन है [सः]
वह [विभावपर्यायः] विभाव पर्याय है ।

टीका—यह पुद्गल की पर्याय के स्वरूप का कथन है ।

परमाणु पर्याय पुद्गल द्रव्य की शुद्ध पर्याय है जो कि परम पारिणामिक
भाव लक्षण वाली है, वस्तु में होने वाली छह प्रकार की हानि वृद्धि रूप है, अति
सूक्ष्म है, अर्थ पर्याय स्वरूप है और सादि-सांत होते हुये भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने
से शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय स्वरूप है । अथवा निश्चित रूप से एक समय में भी उत्पाद
व्यय धीव्यात्मक होने से सूक्ष्म ऋजु सूत्र नयात्मक है । स्कन्ध पर्याय स्वजातीय बंध
के लक्षण से सहित होने से अशुद्ध है ।

एकस्मिन् समयेऽप्युत्पादययधौव्यात्मकत्वात् सूक्ष्मकृजुसूत्रनयात्मकः । स्कन्धपर्यायः
स्वजातीयस्कन्धलक्षणलक्षितत्वादशुद्ध इति ।

(मालिनी)

परपरिणतिदूरे शुद्धपर्यायरूपे
सति न च परमाणोः स्कन्धपर्यायशब्दः ।
भगवति जिननाथे पंचमाणस्य वार्ता
न च भवति यथेयं सोऽपि नित्यं तथैव ॥४२॥

विशेषार्थ—‘भेदादणुः’ इस सूत्र की टीका में भट्टाकलंकदेव ने कहा है कि इस सूत्र के पृथक् करने का अभिप्राय यही है कि ‘अणु’ भेद से ही बनता है । अनादिकाल से शुद्ध अणु कभी भी नहीं था । जैसे कि सिद्ध जीव संसार पूर्वक ही मुक्त हुए हैं अनादिकाल से मुक्त रूप कभी भी नहीं थे ।

[अत्र टीकाकार परमाणु को पर परिणति से रहित बताते हुए उदाहरण देकर स्पष्ट करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(४२) श्लोकार्थ—परमाणु में पर परिणति से दूर शुद्ध पर्याय रूप होने पर उसमें स्कन्ध की पर्यायरूप शब्द नहीं है । जैसे कि जिनेन्द्र भगवान् में कामदेव की वार्ता नहीं है उसी प्रकार से परमाणु भी नित्य है उसमें शब्द रूप पर्याय नहीं है ।

भावार्थ—यहां टीकाकार अपने कलश में कहते हैं कि जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् में कामदेव की बात भी नहीं है उसी प्रकार से परमाणु में शब्द पर्याय नहीं है चूंकि शब्दपर्याय पुद्गल स्कन्ध की ही है । परमाणु नित्य द्रव्य है पर—दूसरे अणु अथवा जीव आदि के सम्पर्क से रहित है शुद्धपर्याय वाला है उसमें स्कन्ध की पर्याय असम्भव हैं ।

पोगलदब्बं उच्चइ, परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोगलदब्बो ति पुणो, ववदेशो होवि खंघस्स ॥२६॥

पुद्गलद्रव्यमुच्यते परमाणुनिश्चयेन इतरेण ।
पुद्गलद्रव्यमिति पुनः व्यपदेशो भवति स्कन्धस्य ॥२६॥

निश्चय से तो परमाणु ही पुद्गल द्रव्य कहा ।
स्कन्ध तो पुद्गल द्रव्य व्यवहार से रहा ॥
स्कन्ध है अशुद्ध द्रव्य प्रणु शुद्ध है ।
जो कुछ भी दिख रहा सभी स्कन्ध रूप है ॥२६॥

पुद्गलद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोऽयम् । स्वभावशुद्धपर्यायात्मकस्य परमाणोरेव
पुद्गलद्रव्यव्यपदेशः शुद्धनिश्चयेन । इतरेण व्यवहारनयेन विभावपर्यायात्मना स्कन्ध-
पुद्गलानां पुद्गलत्वमुपचारतः सिद्धं भवति ।

गाथा २६

अन्वयार्थ—[निश्चयेन] निश्चयनय से [परमाणुः] परमाणु को [पुद्गल
द्रव्यं उच्यते] पुद्गल द्रव्य कहा जाता है और [इतरेण] व्यवहारनय से [पुनः
स्कन्धस्य] पुनः स्कन्ध को [पुद्गलद्रव्यं इति व्यपदेशः इतिः] 'पुद्गल द्रव्य' ऐसा
नाम होता है ।

टीका—यह पुद्गल द्रव्य के व्याख्यान का उपसंहार है ।

शुद्ध निश्चयनय से स्वभाव से शुद्ध पर्यायस्वरूप परमाणु को ही पुद्गल द्रव्य
यह नाम होता है और इतर—व्यवहारनय की अपेक्षा से विभाव पर्याय स्वरूप स्कन्धरूप
पुद्गलों में पुद्गलपना उपचार से सिद्ध होता है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज जीव और पुद्गल के विकल्पों से परे निर्वि-
कल्प अवस्थारूप ध्यान को सिद्धि के हेतु प्रेरणा देते हुए तीन श्लोक कहते हैं ।]

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाद् बुद्धतत्त्वार्थजातः
 त्यजतु परमशेषं चेतनाचेतनं च ।
 भजतु परमतत्त्वं चिच्चमत्कारमात्रं
 परविरहितमस्तनिर्विकल्पे समाधी ॥४३॥

(अनुष्टुभ्)

पुद्गलोऽचेतनो जीवश्चेतनश्चेति कल्पना ।
 सापि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निष्पन्नयोगिनाम् ॥४४॥

(४३) श्लोकार्थ—इस प्रकार से जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग (आगम) से ज्ञान लिया है तत्त्वार्थ के समूह को जिसने ऐसे भव्य जीव सम्पूर्ण चेतन और अचेतन रूप परद्रव्य को छोड़ो तथा अन्तरंग निर्विकल्प समाधि में पर से विरहित चिच्चमत्कार मात्र परम तत्त्व का आश्रय लेवो ।

भावार्थ—ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट किया है कि निश्चयनय से परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है और व्यवहारनय से स्कन्ध को भी पुद्गल द्रव्य कहा जाता है । यहां टीकाकार का कहना है कि जिनेन्द्र भगवान् के आगम से जीव-अजीव आदि तत्त्वों को समझकर अपने से भिन्न सभी चेतन अचेतन द्रव्यों का सम्पर्क छोड़ो और वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर चिच्चैतन्य स्वरूप अपनी शुद्धात्मा का ध्यान करो ।

(४४) श्लोकार्थ—पुद्गल अचेतन है और जीव चेतन है इसप्रकार की जो कल्पना है वह प्राथमिक शिष्यों को होती है किन्तु निष्पन्न योगियों को यह कल्पना नहीं होती है ।

भावार्थ—चौथे से छठे गुणस्थान तक जीव प्राथमिक शिष्य कहलाते हैं क्योंकि ये सविकल्प अवस्था में हैं और यहीं तक जीव चेतन है, पुद्गल अचेतन है ऐसी कल्पनायें होती हैं आगे निर्विकल्प ध्यान में यह विकल्प ही नहीं उठता है अतएव निर्विकल्प ध्याती योगी निष्पन्न योगी कहलाते हैं क्योंकि वे योग ध्यान के अभ्यास में निष्पन्न (कुशल) हो चुके हैं अतः उनके ध्यान में ये कल्पनायें कैसे हो सकती हैं ?

(उपेन्द्रवज्रा)

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन्
सचेतने वा परमात्मतत्त्वे ।
न रोषभावो न च रागभावो
भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम् ॥४५॥

(४५) श्लोकार्थ—पुद्गलकाय रूप इस अचेतन में अथवा परमात्म तत्त्व रूप सचेतन में न द्वेषभाव है न रागभाव है । यह शुद्ध दशा यतियों की होती है ।

विशेषार्थ—पुद्गलकाय रूप अचेतन में द्वेष नहीं होवे और परमात्म तत्त्व रूप चेतन द्रव्य में राग नहीं होवे यह वीतराग शुद्ध दशा यतियों के ही हो सकती है । असंयत सम्यग्दृष्टि या देशव्रती श्रावकों में तो असम्भव ही है, किन्तु छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों को भी परमात्म तत्त्व स्वरूप अरिहंत सिद्ध परमेष्ठियों में अनुराग पाया जाता है । छठे गुणस्थान के योग्य वंदना, स्तुति आदि क्रियाओं में वे मुनि प्रवृत्त होते हैं । श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भी स्वयं प्रवचनसार में मुनियों की सराग चर्या का विधान किया है । यथा—

“साधु अवस्था में यदि अर्हतादि के प्रति भक्ति तथा प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है तो वह शुभोपयोगी चर्या है । साधु श्रमणों के प्रति वंदन, नमस्कार पूर्वक खड़े होना, पीछे चलना, विनय सहित प्रवृत्ति करना, उनको थकान दूर करना आदि करते हैं तो वह सराग चर्या में निषिद्ध नहीं है, प्रत्युत सम्यग्दर्शन ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का संग्रह, उनका पोषण और जिनेन्द्र भगवान् की पूजा का उपदेश ये सब सरागी मुनियों की चर्या है ।

१. अरिहंतादिषु भक्ती वच्छलदा पदयणाभिजुत्तेषु । विज्जदि जदि सामणे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥२४६॥
वंदणसमंसणेहि अम्भुदठाणाणुगमण पडिवित्ती । समणेसु समणावराधोण गिदिदा राय चरियमिह ॥२४७॥
दंसणाणुवदेसो सिस्सग्गहण च पोसण तेसि । चरियमिह सरागाणां जिणिद पूजोवदेसो य ॥२४८॥

गमणनिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुद्गलाणां च ।
अवगहणं आयासं, जीवादिसर्वद्रव्याणां ॥३०॥

गमननिमित्तो धर्मोऽधर्मःस्थितेः जीवपुद्गलानां च ।
अवगाहनस्याकाशं जीवादिसर्वद्रव्याणाम् ॥३०॥

जो जीव और पुद्गलों के चलने में कारण ।
वो धर्म द्रव्य भी अधर्म रुकने में कारण ॥
जीवादि सर्वद्रव्य को अवकाश जो देता ।
आकाश द्रव्य है वही सबको समा लेता ॥३०॥

धर्माधर्माकाशानां संक्षेपोक्तिरियम् । अयं धर्मास्तिकायः स्वयं गतिक्रियारहितः
दीधिकोदकवत् । स्वभावगतिक्रियापरिणतस्यायोगिनः पञ्चह्रस्वाक्षरोच्चारणमात्रस्थित-
स्य भगवतः सिद्धनामधेययोग्यस्य षट्कापक्रमविमुक्तस्य मुक्तिवामलोचनालोचनगोचरस्य

[अब सूत्रकार धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का वर्णन करते हुए
कहते हैं :—]

गाथा ३०

अन्वयार्थ— [जीवपुद्गलानां गमननिमित्तः] जीव और पुद्गलों के गमन
का निमित्त है [धर्मः] धर्मद्रव्य [च] और [स्थितेः अधर्मः] स्थिति का निमित्त
अधर्मद्रव्य है, [जीवादिसर्वद्रव्याणां] जीवादि सभी द्रव्यों के [अवगाहनस्य आकाशं]
अवकाश दान देने का निमित्त आकाश द्रव्य है ।

टीका—यह धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों का संक्षिप्त कथन है ।

यह धर्मास्तिकाय बावड़ी के जल सदृश स्वयं गतिक्रिया से रहित है । स्वाभाविक
गतिक्रिया रूप से परिणत जो अयोग केवली भगवान् हैं यह धर्म द्रव्य उनकी स्वाभाविक
गतिक्रिया में हेतु है । वे अयोग केवली भगवान् कैसे हैं ? पांच ह्रस्व अक्षर अ इ उ ऋ लृ इनके
उच्चारण मात्र काल की जिनकी स्थिति है जो 'सिद्ध' इस नाम के योग्य हैं छह प्रकार के
अपक्रम से रहित हैं अर्थात् पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः ये छह गतियां संसारी

त्रिकोणशिखरिशेखरस्य अपहस्तितसमस्तक्लेशावासपञ्चविधसंसारस्य पञ्चमगतिप्राप्तस्य
स्वभावगतिक्रियाहेतुः धर्मः । अपि च षट्कापक्रमयुक्तानां संसारिणां विभावगतिक्रिया-
हेतुश्च । यथोदकं पाठीनानां गमन कारणं तथा तेषां जीवपुद्गलानां गमनकारणं स
धर्मः । सोऽयममूर्तः अष्टस्पर्शनविनिर्मुक्तः वर्णरसपञ्चकगन्धद्वितयविनिर्मुक्तश्च अगुरुक-
लघुत्वादिगुणाधारः लोकमात्राकारः अखण्डकपदार्थः । सहभुवो गुणाः क्रमवर्तिनः
पर्यायाश्चेति वचनादस्य गतिहेतुधर्मद्रव्यस्य शुद्धगुणाः शुद्धपर्याया भवन्ति । अधर्मद्रव्यस्य

जीवों की होती हैं इन्हें ही छह अपक्रम कहते हैं वे अयोग केवली इन गतियों से रहित
हैं जो मुक्ति सुन्दरी के लोचन के गोचर हैं—जिन्हें मुक्ति सुन्दरी देख रही है, जो तीन
लोक के शिखरी के उत्तुंग-पर्वत के शेखर स्वरूप हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण क्लेश के निवास
गृह स्वरूप पांच प्रकार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप संसार को समाप्त कर
दिया है और जो पञ्चमगति—मोक्षगति के किनारे पहुँच चुके हैं ऐसे अयोगकेवली
भगवान् की स्वाभाविक गति में वह धर्म द्रव्य कारण होता है और छह अपक्रम से
सहित संसारी जीवों की विभावगतिरूप क्रिया में भी यह हेतु होता है ।

जिस प्रकार मछलियों के गमन का कारण जल है उसी प्रकार उन जीव और
पुद्गलों के गमन का कारण यह धर्मद्रव्य है । सो यह द्रव्य अमूर्तिक आठ स्पर्शों से
रहित, पांच वर्णों, पांच रस और दो गन्ध से रहित अगुरुलघु आदि गुणों का आधारभूत,
लोकमात्र आकार वाला, अखण्ड एक पदार्थ है । 'सहभावी गुण होते हैं और क्रमवर्ती
पर्यायें होती हैं' इस कथन से इस गति हेतुक धर्मद्रव्य के शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायें
होती हैं ।

अधर्म द्रव्य का स्थिति में हेतु होना यह विशेष गुण है । इस अधर्म द्रव्य के
भी धर्मास्तिकाय के ही सभी गुण और पर्यायें होती हैं । अर्थात् धर्म द्रव्य का गति हेतु-
त्व और अधर्म द्रव्य का स्थिति हेतुत्व दोनों द्रव्यों के ये गुण विशेष हैं जो कि दोनों में
अन्तर कर देते हैं बाकी सारे गुण और पर्यायें भी समान ही हैं ।

आकाश द्रव्य का अवकाश देना लक्षण ही विशेष गुण है शेष जो धर्म और
अधर्म के गुण हैं वे इस आकाश में भी सदृश ही हैं । लोकाकाश धर्म, अधर्म ये समान

स्थितिहेतुविशेषगुणः । अस्मैव तस्य धर्मास्तिकायस्य गुणपर्यायाः सर्वे भवन्ति । आकाश-
स्यावकाशवानलक्षणमेव विशेषगुणः । इतरे धर्माधर्मयोगुणाः स्वस्यापि सदृशा इत्यर्थः ।
लोकाकाशधर्माधर्माणां समानप्रमाणत्वे सति न ह्यलोकाकाशस्य ह्रस्वत्वमिति ।

प्रमाण वाले होने पर भी अलोकाकाश को ह्रस्वपना—छोटापना नहीं होता है ।

विशेषार्थ—यह धर्म द्रव्य स्वयं तो क्रिया हीन निष्क्रिय द्रव्य है 'निष्क्रियाणि च'— धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं और निष्क्रिय हैं ऐसा वचन है फिर भी ये धर्म-अधर्म दोनों द्रव्य जीव और पुद्गलों की स्वभाव तथा विभावरूप दोनों प्रकार की ही गमन क्रियाओं में और दोनों प्रकार की ही स्थिति क्रियाओं में हेतु होते हैं । ये उदासीन हेतु मात्र से विवक्षित हैं प्रेरक हेतु नहीं हैं ।

सबसे प्रथम टीकाकार ने अयोगकेवली की जो कर्मों से छूटकर लोक के अग्र-भाग में जाने रूप गति होती है । उसे धर्मद्रव्य की गति में उदाहरण रूप से लिया है । सिद्धों की वह गति स्वाभाविक मानी गई है ।

“^१जीवो उवग्नोगमयो अमुत्ति कत्ता सदेह परिणामो ।

भोक्ता संसारस्थो सिद्धो सो विस्ससोद्भुगई ॥ २ ॥”

गार्थ—यह जीव है, उपयोगमयी है, अमूर्त्तिक है, कर्ता है, स्वदेह परिणाम वाला है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करनेवाला है । अर्थात् इस जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का ही है । तभी तो कर्मों से छूटते हुए ऊर्ध्वगमन कर जाता है और लोक के आगे धर्म द्रव्य के न होने से ही वहां पर अग्रभाग में ठहर जाता है । ‘^३धर्मास्तिकायाभावात्’ ऐसा सूत्र है ।

अनन्तर टीकाकार ने इस धर्म द्रव्य के कतिपय प्रमुख-प्रमुख गुणों को भी बता दिया है । आगे अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य के विशेष लक्षण को बताकर कह दिया है कि बाकी के सभी गुण तीनों द्रव्यों में समान ही हैं । ये धर्म अधर्म दो द्रव्य

(मालिनी)

इह गमननिमित्तं यत्स्थितेः कारणं वा
यदपरमखिलानां स्थानदानप्रवीणम् ।
तदखिलमवलोच्य द्रव्यरूपेण सम्यक्
प्रविशतु निजतत्त्वं सर्वदा भव्यलोकः ॥४६॥

समयावलिभेदेण दु, दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं ।
तोदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणप्पमाणं तु ॥३१॥

लोकाकाश प्रमाण हैं । "धर्माधर्मयोः कृत्स्ने" ये द्रव्य लोकाकाश में तिल में तेल की तरह व्याप्त हैं ऐसा समझना चाहिये, इसलिए इन दोनों द्रव्यों का आकार भी लोकाकाश के समान है और प्रदेश भी लोकाकाश प्रमाण असंख्यात हैं । आकाश सभी द्रव्यों को जगह देता है । इसके लोकाकाश और अलोकाकाश ऐसे दो भेद हैं—पुरुषाकार लोकाकाश से परे सब ओर अनन्तानन्त अलोकाकाश ही है । लोकाकाश के बाहर और कोई द्रव्य नहीं है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज इन द्रव्यों को जानकर आत्म द्रव्य में स्थिर होना चाहिए ऐसा कहते हुए एक श्लोक कहते हैं—]

(४६) श्लोकार्थ—यहां लोक में (जीव और पुद्गल को) गमन में निमित्त (धर्म द्रव्य) है और जो स्थिति में कारण है, जो अपर-अन्य द्रव्य अखिल द्रव्यों को स्थान देने में प्रवीण है इन सभी को द्रव्यरूप से सम्यक् प्रकार अवलोकन करके भव्यजीव सर्वदा अपने आत्म तत्त्व में प्रवेश करो ।

भावार्थ—टीकाकार कहते हैं कि इन द्रव्यों को द्रव्यरूप से जानकर अपने आत्म स्वरूप का अवलोकन करो ।

[अब सूत्रकार काल द्रव्य का लक्षण कहते हुए तीन गाथा सूत्र कहते हैं—]

समयावलिभेदेन तु द्विविकल्पोऽथवा भवति त्रिविकल्पः ।

अतीतः संख्यातावलिहृतसंस्थानप्रमाणस्तु ॥ ३१ ॥

व्यवहार काल के समय आवलि ये भेद दो ।

या भूत वर्तमान भावि तीन रूप वो ॥

संसार में अवतक के जो संस्थान धरे हैं ।

उनके सदृश अनंत समय भूतकाल है ॥ ३१ ॥

व्यवहारकालस्वरूपविविधविकल्पकथनमिदम् । एकस्मिन्नभःप्रदेशे यः परमाणु-
स्तिष्ठति तमन्यः परमाणुर्मन्दचलनान् लंघयति स समयो व्यवहारकालः । तादृशैरसंख्यात-
समयैः निमिषः, अथवा नयनपुटघटनायसो निमेषः । निमेषाष्टकैः काष्ठा । षोडशभिः
काष्ठाभिः कला । द्वात्रिंशत्कलाभिर्घटिका । षष्टिनालिकमहोरात्रम् । त्रिंशद्द्वयोरात्रैर्मयिः ।

गाथा ३१

अन्वयार्थ—[समयावलि भेदेन तु द्विविकल्पः] समय और आवलि के भेद से काल दो प्रकार का है [अथवा त्रिविकल्पः भवति] अथवा त्रिभेद वाला—भूत, भविष्यत्, वर्तमान भेद वाला होता है । [अतीतः] भूतकाल [संख्यातावलिहृत-संस्थानप्रमाणस्तु] संख्यात आवलि से गुणित संस्थान प्रमाण है ।

टीका—यह व्यवहार के स्वरूप का और उसके अनेकों भेदों का कथन है ।

एक आकाश के प्रदेश पर जो परमाणु ठहरा हुआ है उसको मन्दगति से अन्य परमाणु उल्लंघन करता है उतना मात्र काल वह 'समय' नाम का व्यवहार काल है ऐसे असंख्यात समयों का एक 'निमिष' होता है अथवा नेत्र के पलक झपकने में जितना काल लगता है वह 'निमिष' है । आठ निमिषों की एक 'काष्ठा' होती है, सोलह काष्ठाओं की एक 'कला', बत्तीस कलाओं की एक 'घड़ी', साठ 'घड़ी' का एक दिन-रात, तीस दिन रात का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन और दो अयन का एक संवत्सर होता है । ऐसा आवली आदि रूप से व्यवहार काल का क्रम कहा । इसप्रकार से यह व्यवहार काल समय और आवलि के भेद से दो प्रकार का है अथवा अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का है ।

इत्याम मासाभ्याम् ऋतुः । ऋतुभिस्त्रिभिरयनम् । अयनद्वयेन संवत्सरः । इत्यावन्या-
दिव्यवहारकालक्रमः । इत्थं समयावलिभेदेन द्विधा भवति, अतीतानागतवर्तमानभेदात्
त्रिधा वा । अतीतकालप्रपञ्चोऽप्युच्यते — अतीतसिद्धानां सिद्धपर्यायप्रादुर्भावसमयात्
पुरागतो ह्यावन्यादिव्यवहारकालः स कालस्पर्षा संसारावस्थायां यानि संस्थानानि
गतानि तैः सदृशत्वादनन्तः । अनागतकालोऽप्यनागतसिद्धानामनागतशरीराणि यानि तैः
सदृश इत्यामुक्तेः सकाशादित्यर्थः ।

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये—

“समग्रो निमित्तो कट्ठा कला घण्टी तदो दिवारत्तो ।
मासोदुश्रयणसंघच्छरो ति कालो परायत्तो ॥”

अब अतीतकाल का विस्तार कहते हैं—अतीत कालीन सिद्धों के सिद्ध पर्याय
के उत्पन्न होने के समय से पूर्व बीता हुआ जो आवलि आदि व्यवहारकाल है वह इन
सिद्धों के संसार अवस्था में जितने संस्थान-आकार-शरीर व्यतीत हो चुके हैं उनके सदृश
होने से ‘अनन्त’ प्रमाण है । अनागतकाल भी अनागत सिद्धों के जितने अनागत शरीर होंगे
उनके सदृश होने से उन अनागत सिद्धों के मुक्त होने पर्यन्त जितना अर्थात् अनन्त है ।

पंचास्तिकाय सिद्धान्त में भी कहा है—

गाथार्थ—‘समय, निमिष, काण्ठा, कला, घड़ी, उससे आगे दिन-रात, मास,
ऋतु, अयन और संवत्सर इसप्रकार का काल पराश्रित काल कहलाता है । अर्थात्
परमाणु के मन्दगति से गमन आदि और सूर्य के उदय अस्तमन आदि की अपेक्षा रखने
से यह पराश्रित होता है और यह व्यवहार कहलाता है ।

विशेषार्थ—यहां पर आचार्यदेव ने दो गाथाओं द्वारा व्यवहार के भूत, भवि-
ष्यत् और वर्तमान ऐसे तीन भेद बतलाकर उनमें कितने समय होते हैं इसका वर्णन
किया है जो कि अस्पष्ट है । इसी संबंध में ‘नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी
कहा है—

तथा हि—

(मालिनी)

समयनिमिषकाष्ठा सत्कलानाडिकाद्याद्
दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः ।

व्यवहारो पुण तिविहो तीदो वट्टन्तगो भविस्सो दु ।
तीदो संखेज्जावलि हद सिद्धाणं प्रमाणं तु ॥५७८॥

वाक्यार्थ—व्यवहार काल के तीन भेद हैं—भूत, वर्तमान, भविष्यत् । इनमें से सिद्धराशि का संख्यातावलि के प्रमाण से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतना ही अतीत अर्थात् भूतकाल का प्रमाण है ।

भावार्थ—छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं और सिद्ध राशि जीव राशि के अनन्तवें भाग है । यह सिद्ध राशि कितने काल में हुई इसके लिए त्रैराशिक फलराशि छह महीना व समय और इच्छाराशि सिद्धों के प्रमाण से गुणा करके प्रमाण राशि छह सौ आठ का भाग देने पर अतीत काल का प्रमाण संख्यातावलि गुणित सिद्धराशि लब्ध आता है । वर्तमान और भविष्यत् काल का प्रमाण बताते हैं—

समओ दु वट्टमाणो जीवादो सब्बपुग्गलादो वि ।
भावी अणंत गुणिदो इदि व्यवहारो हवे कालो ॥५७९॥

अर्थ—वर्तमान काल का प्रमाण एकसमय है । सम्पूर्ण जीवराशि तथा समस्त पुद्गलराशि से भी अनन्तगुणा भविष्यत् काल का प्रमाण है । इसप्रकार व्यवहार काल के तीन भेद हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज कालद्रव्य को जानकर शुद्ध आत्म तत्त्व के अनुभव करने का उपदेश करते हुए श्लोक कहते हैं ।]

(४७) श्लोकार्थ—समय, निमिष, कला और नाड़ी को आदि लेकर दिवस और रात्रि के भेद से यह काल (व्यवहार काल) उत्पन्न होता है । मुझे निज निरूपम

न च भवति फलं मे तेन कालेन किञ्चिद्
निजनिरुपमतत्त्वं शुद्धमेकं विहाय ॥४७॥

जीवात् पुद्गलान्तोगुणाश्चापि संपदा^१ समया ।
लोकाकाशे संति य, परमट्ठो सो हवे कालो ॥३२॥

जीवात् पुद्गलतोऽन्तगुणाश्चापि संप्रति समयाः ।
लोकाकाशे संति च परमार्थः स भवेत्कालः ॥३२॥

जो जीव व पुद्गल से भी अनन्त गुणों हैं ।
वे भाविकाल के समय संप्रति का एक है ॥
इस लोक गगन में असंख्य काल अगू हैं ।
उतने प्रमाण वे सभी परमार्थ काल हैं ॥३२॥

मुख्यकालस्वरूपाख्यानमेतत् । जीवराशेः पुद्गलराशेः सकाशादनन्तगुणाः ।
के ते ? समयाः । कालाणवः लोकाकाशप्रदेशेषु पृथक् पृथक् तिष्ठन्ति, स कालः
परमार्थः इति ।

तत्त्व रूप शुद्ध एक आत्मा को छोड़कर उस काल से किञ्चित् भी फल नहीं है ।

भावार्थ—टीकाकार का कहना है कि शुद्ध निज आत्मतत्त्व के सिवाय मुझे
इन कालों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

गाथा ३२

अन्वयार्थ—[सम्प्रति] अब [जीवात् पुद्गलतः च अपि] जीव और पुद्गल से भी [अनन्तगुणाः समयाः] अनन्तगुणों समय होते हैं [लोकाकाशे च संति] और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो विद्यमान हैं [सः परमार्थः कालः भवेत्] वह परमार्थ काल होता है ।

टीका—मुख्य काल के स्वरूप का यह कथन है ।

जीव राशि और पुद्गल राशि में अनन्तगुणों समय है और कालाणु लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर पृथक्-पृथक् ठहरे हुए हैं वह काल ही परमार्थ काल है ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

“समग्नो दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दग्घजादस्स ।
वदिवददो सो वट्ठवि पदेसमागासदग्घस्स ॥”

अस्यापि समयशब्देन मुख्यकालाणुस्वरूपमुक्तम् ।

अन्यच्च—

“लोयायासपदेसे एक्केक्के जे टिठया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदग्घाणि ॥”

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

विशेषार्थ—कालाणु असंख्यात् हैं वे आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित हैं । इसलिए काल द्रव्य तो असंख्यात् हैं किन्तु काल द्रव्य के त्रैकालिक समय ‘अनन्त’ माने गये हैं । ‘सोऽनन्तसमयः’ ऐसा सूत्रकार श्री उमास्वामि आचार्य का वचन है । यहां पर यह अनन्त भी सम्पूर्ण अनन्तानन्त जीवराशि और उससे अनन्त-गुणी पुद्गलराशि से भी अनन्तगुणे प्रमाण जो काल है उतने प्रमाण वाला है । जो कालाणु हैं वे ही परमार्थ काल हैं अर्थात् उन्हें ही निश्चयकाल द्रव्य कहा गया है ।

उसीप्रकार से प्रवचनसार में कहा गया है—

गाथार्थ—^१“समय—काल तो अप्रदेशी—एक प्रदेशी है, प्रदेशमात्र पुद्गल पर-माणु आकाश द्रव्य के प्रदेश को भंदगति से उल्लंघन कर रहा हो तब वह काल वर्तता है अर्थात् निमित्त रूप से परिणमित होता है ।”

यहां पर भी ‘समय’ शब्द से मुख्य कालाणु के स्वरूप को कहा है । अन्यत्र भी कहा है—

(अनुष्टुम्)

“कालाभावे न भावानां परिणामस्तदन्तरात् ।
न द्रव्यं नापि पर्यायःसर्वाभावः प्रसज्यते ॥”

तथा हि—

(अनुष्टुम्)

वर्तनाहेतुरेषः स्यात् कुम्भकृच्चक्रमेव तत् ।
पञ्चानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत् ॥४८॥

गार्थार्थ—“लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर जो एक-एक कालाणु रत्नों की राशि के समान पृथक् पृथक् रूप से स्थित हैं, वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं ।

मार्गप्रकाश ग्रन्थ में भी कहा है—

श्लोकार्थ—“कालद्रव्य के अभाव में पदार्थों का परिणमन नहीं हो सकता है और परिणमन के बिना न तो द्रव्य ही रह सकता है और न पर्याय ही रह सकती है, इसप्रकार से तो सभी के अभाव का प्रसंग आ जाता है ।” अर्थात् काल द्रव्य के अस्तित्व को माने बिना किसी भी वस्तु का परिणमन सम्भव नहीं होगा, पुनः परिणमन के बिना द्रव्य और पर्याय का अस्तित्व भी समाप्त हो जावेगा तब तो सब शून्य हो जाने से शून्यवाद का सिद्धान्त ही पुष्ट हो जावेगा यह अभिप्राय है ।

उसीप्रकार से [टीकाकार श्री मुनिराज काल के अस्तित्व को पुष्ट करते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(४८) श्लोकार्थ—यह काल द्रव्य कुम्भकार के चक्र के समान पाँचों अस्तिकायों में वर्तना का हेतु है । इसके बिना वर्तना नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—यह काल द्रव्य सभी द्रव्यों की वर्तना में-परिणमन में हेतु है । यदि यह द्रव्य न हो तो किसी भी द्रव्य में परिणमन रूप परिवर्तन नहीं हो सकता है ।

(अनुष्टुभ्)

प्रतीतिगोचराः सर्वे जीवपुद्गलराशयः ।

धर्माधर्मनभःकालाः सिद्धाः सिद्धान्तपद्धतेः ॥४६॥

जीवादीद्रव्याणां, परिवर्तनकारणं हवे कालो ।

धर्मादिचतुर्णं, सहावगुणपर्याया होति ॥३३॥

जीवादिद्रव्याणां परिवर्तनकारणं भवेत्कालः ।

धर्मादिचतुर्णं स्वभावगुणपर्याया भवति ॥३३॥

जीवादि सभी द्रव्य में जो वर्तना कही ।

उसमें निमित्त मुख्य काल ही रहे सही ॥

जो धर्म और अधर्म गगन काल द्रव्य हैं ।

उनमें स्वभाव गुण तथा पर्याय भेद हैं ॥३३॥

यद्यपि प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से परिणामनशील हैं फिर भी उनके परिणामन में कालद्रव्य सहकारी कारण है । जैसे घड़े को बनाने में चक्र सहकारी कारण है ।

(४६) श्लोकार्थ—सभी जीव और पुद्गल राशि प्रतीति के गोचर हैं और धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार द्रव्य सिद्धान्त पद्धति से सिद्ध हैं ।

भावार्थ—टीकाकार का ऐसा आशय प्रतीत होता है कि जीव और पुद्गल तो प्रतीति के विषय हो ही रहे हैं और धर्मादि चारों द्रव्य सर्वथा अमूर्तिक होने से सिद्धान्त-आगम से सिद्ध हैं इन पर भी विश्वास करना चाहिए ।

भाषा ३३

अन्वयार्थ—[जीवादि द्रव्याणां] जीव आदि द्रव्यों में [परिवर्तनकारणं] परिवर्तन का कारण [कालः भवेत्] काल द्रव्य होता है । [धर्मादि चतुर्णं] धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चारों में [स्वभावगुणपर्यायाः भवति] स्वभाव गुण और पर्याय होती हैं ।

कालादिशुद्धामूर्तचित्तद्रव्याणां स्वस्वभावगुणपर्यायाख्यानमेतत् । इह हि मुख्य-
कालद्रव्यं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां पर्यायपरिणतिहेतुत्वात् परिवर्तनलिंगमित्युक्तम् ।
अथ धर्माधर्माकाशकालानां स्वजातीयविजातीयबंधसम्बन्धाभावात् विभावगुणपर्यायाः न
भवन्ति, अपि तु स्वभावगुणपर्याया भवन्तीत्यर्थः । ते गुणपर्यायाः पूर्वं प्रतिपादिताः, अतः
एषां संक्षेपतः सूचिता इति ।

(मालिनी)

इति विरचितमुच्चैर्द्रव्यषट्कस्य भास्वद्
विवरणमतिरम्यं भव्यकर्णामृतं यत् ।
तविह जिनमुनीनां दत्तचित्तप्रमोदं
भवतु भवविमुक्त्यै सर्वदा भव्यजन्तोः ॥५०॥

टीका—काल आदि शुद्ध अमूर्तिक अचेतन द्रव्यों के निज स्वभाव गुण और पर्यायों का यह कथन है ।

यहां पर मुख्य काल द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांचों द्रव्यों में पर्यायों के परिणमन का हेतु होने से परिवर्तन लक्षण वाला कहा गया है ।

अब धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों में स्वजातीय और विजातीय बंध के सम्बन्ध का अभाव होने से विभाव गुण पर्यायें नहीं होती हैं, अपितु स्वभाव गुण पर्यायें होती हैं, ऐसा अर्थ है । उन गुण और पर्यायों का पहले प्रतिपादन कर दिया है इसलिये यहां पर संक्षेप से सूचित किया है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज षट् द्रव्य के जानने के महत्त्व को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं ।]

(५०) श्लोकार्थ—इस प्रकार से जो अतिरम्य, भव्य जीवों के कर्णों को अमृत के समान शोभायमान छद्म द्रव्यों का विवरण विस्तार से (मेरे द्वारा) रचा गया है । वह विवरण जैन मुनियों के चित्त को प्रमुदित करने वाला है । वह षट् द्रव्य का विवरण सर्वदा भव्य जीव को संसार से मुक्ति के लिए होवे ।

एदे छद्द्वारिण य, कालं मोत्तूण अत्थिकाय त्ति ।
 णिहिट्ठा जिणसमये, काया हु बहुप्पदेशत्तं ॥३४॥

एतानि षट्द्रव्याणि च कालं भुक्त्वास्तिकाया इति ।
 निर्दिष्टा जिनसमये कायाः खलु बहुप्रदेशत्वम् ॥३४॥

काल द्रव्य छोड़ करके द्रव्य षोष ही ।
 कहलाते अस्तिकाय और काल अस्ति ही ॥
 जिनदेव के शासन में पांच काय कहाये ।
 क्योंकि ये बहु प्रदेश रूप शास्त्र में गाये ॥३४॥

अत्र कालद्रव्यमन्तरेण पूर्वोक्तद्रव्याण्येवपञ्चास्तिकाया भवन्तीत्युक्तम् । इह हि द्वितीयादिप्रदेशरहितः कालः, 'समओ अप्पदेशो' इति वचनात् । अस्य हि द्रव्यत्वमेव, इतरेषां पञ्चानां कायत्वमस्त्येव । बहुप्रदेशप्रचयत्वात् कायः । काया इव कायाः ।

भाषार्थ—यह छह द्रव्यों का विवरण भव्य जीवों को मुक्ति प्रदान करे । अभिप्राय यह है कि भव्यजीव इन द्रव्यों के विवरण को समझकर उन पर हठ श्रद्धा न करेंगे तभी वे रत्नत्रय से सहित होकर मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे, अन्यथा नहीं ।

गाथा ३४

अन्वयार्थ—[कालं भुक्त्वा] काल द्रव्य को छोड़कर [एतानि षट् द्रव्याणि च] ये छहों द्रव्य [अस्तिकायाः] अस्तिकाय [इति जिनसमये निर्दिष्टा] इसप्रकार से जिन शासन में कहे गये हैं [बहुप्रदेशत्वं खलु कायाः] क्योंकि निश्चित रूप से बहु-प्रदेशी को 'काय' यह संज्ञा है ।

टीका—यहां पर काल द्रव्य के बिना पूर्वोक्त द्रव्य ही पञ्चास्तिकाय होते हैं ऐसा कहा है ।

यहां—विश्व में द्वितीय आदि प्रदेशों से रहित काल द्रव्य होता है । 'समय-काल अप्रदेशी है' ऐसा वचन है । इस काल को द्रव्यत्व ही है, शेष पांचों द्रव्यों को

अस्तिकायाः । अस्तित्वं नाम सत्ता । सा किञ्चिन्निष्ठा ? सप्रतिपक्षा, अवान्तरसत्ता महासत्तेति । तत्र समस्तवस्तुविस्तरव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतवस्तुव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता । समस्तव्यापकरूपव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकरूपव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता । अनन्तपर्यायव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकपर्यायव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता ।

कायपना है ही है । बहुत प्रदेशों का प्रचय-समूह होने से काय संज्ञा है, यह काय के समान ही काय है । अर्थात् जैसा काय-शरीर बहुत से प्रदेशों के समूह रूप है उसी-प्रकार यह इन द्रव्यों में भी बहुत से प्रदेश रहते हैं इसलिए बहुत प्रदेशों होने से पांच द्रव्य अस्तिकाय संज्ञक हैं ।

अस्तित्व नाम सत्ता का है । वह कैसी है ? वह सत्ता अपने प्रतिपक्ष-असत्ता से सहित है । उसके दो भेद हैं—(१) अवान्तर सत्ता (२) महासत्ता । समस्त वस्तुओं के विस्तार में व्याप्त होकर रहने वाली महासत्ता है और प्रतिनियत वस्तु को व्याप्त करनेवाली अवान्तर सत्ता है । समस्त व्यापक रूप में व्याप्त रहने वाली महासत्ता है और प्रतिनियत एक रूप को व्याप्त करने वाली अवान्तर सत्ता है । अनन्त पर्यायों में व्याप्त होनेवाली महा सत्ता है और प्रतिनियत एक पर्याय को व्याप्त करने वाली अवान्तर सत्ता है । "अस्ति-है" इसके भाव को अस्तित्व कहते हैं । इस अस्तित्व से और काय से सहित पांच अस्तिकाय हैं । कालद्रव्य में अस्तित्व ही है, किन्तु कायपना नहीं है क्योंकि उसमें काय के समान बहुत प्रदेशों का अभाव है ।

विशेषार्थ—यहां पर पंच अस्तिकायों का लक्षण बताकर काल द्रव्य अस्तिकाय क्यों नहीं है इसका स्पष्टीकरण करते हुए सत्ता के लक्षण को सुन्दर ढंग से बताया है । सत्ता-अस्तित्व-विद्यमानता-मौजूद रहना । यह सत्ता सामान्य की अपेक्षा एक है सम्पूर्ण चेतन-अचेतन आदि पदार्थ लोकाकाश और अलोकाकाश भी सभी इसी के अन्तर्गत हैं । अर्थात् अस्तित्व सामान्य से सभी वस्तुयें सत् रूप हैं इस बात को संग्रह-नय विषय करता है । इसी रहस्य को न समझकर कुछ एकान्तवादी लोग इस सत्ता को एक परमब्रह्म रूप से मानने लगे हैं । अस्तु यहां यह बताना है कि यह सत्ता अपने विरोधी असत्ता-नास्तित्व के साथ अविनाभावी है । जैसे यह पुस्तक है तो इसमें स्व द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व धर्म है और उसी काल में पर द्रव्य चौकी,

अस्तीत्यस्य भावः अस्तित्वम् । अनेन अस्तित्वेन कायत्वेन सनाथाः पञ्चास्तिकायाः ।
कालद्रव्यस्यास्तित्वमेव, न कायत्वं, काया इव बहुप्रवेशाभावादिति ।

(आर्या)

इति जिनमार्गम्भोधेरुद्धृता पूर्वसूरिभिः प्रीत्या ।

षड्द्रव्यरत्नमाला कंठाभरणाय भव्यानाम् ॥५१॥

पेन आदि की अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी विद्यमान है । वस्तु का अस्ति धर्म जितना महत्व रखता है उतना ही महत्व नास्तित्व धर्म भी रखता है, अन्यथा यह जीव अजीव हो जावे ।

यह महासत्ता सत् सामान्य रूप है, अभिप्राय यह है कि सभी अस्तिरूप से ग्रहण कर लेती है । अवान्तर सत्ता प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग है जैसे हमारी, आपकी, पुस्तक की, सिद्धों की आदि सबकी अपनी-अपनी सत्ता पृथक्-पृथक् है ।

पांच द्रव्य अस्ति रूप भी हैं और बहुप्रदेशी होने से कायरूप भी हैं इसलिये अस्तिकाय हैं । भले ही पुद्गल का अविभागी परमाणु एक प्रदेशी-अप्रदेशी है फिर भी वह स्कन्ध रूप बनने की शक्ति रखता है इसलिए उपचार से वह भी बहुप्रदेशी कह दिया जाता है अतः वह भी अस्तिकाय है । काल द्रव्य अस्ति रूप से अस्ति तो है, किन्तु उपचार से भी बहुप्रदेशी न होने से काय नहीं है इसलिए पांच द्रव्य ही अस्तिकाय संज्ञक है । वैसे द्रव्यरूप से द्रव्य तो छह हैं ही हैं ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज षट् द्रव्य रूपी रत्नों से विभूषित होने का उपदेश देते हुए श्लोक कहते हैं ।]

(५१) श्लोकार्थ— इसप्रकार पूर्वाचार्यों ने प्रीति पूर्वक भव्यों के कंठ के भूषण के लिए षड् द्रव्य रूपी रत्नों की माला निकाली है ।

भावार्थ— जिसप्रकार समुद्र से रत्न निकाले जाते हैं और धनी पुरुष उनकी माला पहन लेते हैं उसीप्रकार से भगवानकी वाणी रूपी समुद्र से आचार्यों ने छह

संखज्जासंखेज्जा^१ एतपदेसा हवन्ति मुत्तस्स ।
 धम्माधम्मस्स पुणो, जीवस्स असंखदेसा हु ॥३५॥
 लोयायासे ताव, इवरस्स अणंतयं हवे देसा ।
 कालस्स एण कायत्तं, एयपदेसो हवे जम्हा ॥३६॥

संख्यातासंख्यातानंतप्रदेशा भवन्ति मूर्तस्य ।
 धर्माधर्मयोः पुनर्जीवस्यासंख्यातप्रदेशाः खलु ॥३५॥
 लोकाकाशे तद्वितरस्यानंता भवन्ति देशाः ।
 कालस्य न कायत्वं एकप्रदेशो भवेद्यस्मात् ॥३६॥

संख्यात असंख्यात ओ अनंत प्रदेशो ।
 पुद्गलदरव हैं उसमें असू एक प्रदेशो ॥

द्रव्यरूपी रत्न निकाले हैं और इन रत्नोंकी माला भव्यों के कण्ठ का आभरण बनती है अर्थात् भव्य जीव ही इन छह द्रव्यों के मर्म को हृदयंगम करते हैं, अभव्य नहीं करते हैं ।

गाथा ३५-३६

अन्वयार्थ—[मूर्तस्य] मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के [संख्यातासंख्यातानंतप्रदेशाः] संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश [भवन्ति] होते हैं [धर्माधर्मयोः] धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य [पुनः जीवस्य] और जीवद्रव्य के [खलु असंख्यात प्रदेशाः] निश्चित रूप से असंख्यात प्रदेश हैं ।

[लोकाकाशे तद्वत्] लोकाकाश में इन्हीं धर्मादि तीनों के सदृश असंख्यात-प्रदेश होते हैं [इतरस्य अनंताः प्रदेशाः] अन्य अलोकाकाश में अनन्त प्रदेश होते हैं [कालस्य कायत्वं न] काल द्रव्य के कायपना नहीं है [यस्मात्] इसी हेतु से [एक-प्रदेशः भवेत्] एक प्रदेश वाला होता है ।

एक जीव धर्म श्री अधर्म के प्रदेश जो ।
 कहलाते असंख्यात भी आपस में सदृश वो ॥३५॥
 असंख्य ही प्रदेश लोकाकाश में कहें ।
 ये तो अलोकाकाश में अनन्त ही रहें ॥
 ये काल द्रव्य काय नहीं प्रस्तिमात्र हैं ।
 क्योंकि कहा ये एक प्रदेशी हि द्रव्य है ॥३६॥

घण्णां द्रव्याणां प्रदेशलक्षणसंभवप्रकारकथनमिवम् । शुद्धपुद्गलपरमाणुना
 गृहीतं नभःस्थलमेव प्रदेशः । एवंविधाः पुद्गलद्रव्यस्य प्रदेशाः संख्याता असंख्याता
 अनन्ताश्च । लोकाकाशधर्माधर्मैकजीवानामसंख्यातप्रदेशा भवन्ति । इतरस्यालोकाकाश-

टीका—छहों द्रव्यों के प्रदेश के लक्षण और संभव के प्रकार का यह कथन है ।

शुद्ध पुद्गल परमाणु से गृहीत आकाश स्थल को ही प्रदेश कहते हैं अर्थात्
 एक पुद्गल परमाणु से घिरा हुआ आकाश प्रदेश जितना है उसको ही प्रदेश कहते हैं ।
 पुद्गल द्रव्य में ऐसे प्रदेश, संख्यात, असंख्यात और अनन्त होते हैं । लोकाकाश, धर्म,
 अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं । इतर—अलोकाकाश के अनन्त
 प्रदेश होते हैं और काल द्रव्य में एक प्रदेश होता है इसी कारण से इसमें कायपना
 नहीं होता है, किन्तु द्रव्य तो है ही है ।

विशेषार्थ—किस द्रव्य में कितने-कितने प्रदेश होते हैं इस बात को यहां
 बताया है । वास्तव में यह प्रदेश कल्पना कल्पित नहीं है, किन्तु वास्तविक ही है ऐसा
 तत्त्वार्थवार्तिक में श्री अकलंक देव ने सिद्ध किया है । तद्यथा—“धर्मादि द्रव्य
 अतीन्द्रिय हैं, परोक्ष हैं अतः उनमें मुख्यरूप से प्रदेश विद्यमान रहने पर भी स्वतः
 उनका ज्ञान नहीं होता है इसलिए परमाणु के माप से उनका व्यवहार किया जाता है ।

अर्हंत के द्वारा प्रणीत गणधर के द्वारा अनुस्मृत तथा आचार्य परम्परा से
 प्राप्त श्रुत में इन सर्व द्रव्यों के प्रदेशों का वर्णन इसप्रकार उपलब्ध है—एक-एक
 आत्मप्रदेश में अनन्तानन्त ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रदेश ठहरे हैं । एक-एक कर्म प्रदेश में

आः प्रदेशा भवन्ति । कालस्यैकप्रदेशो भवति, अतः कारणादस्य कायत्वं न भवति ।
प्रथममस्त्येवेति ।

(उपेन्द्रवज्रा)

पदार्थरत्नाभरणं मुमुक्षोः
कृतं मया कंठविभूषणार्थम् ।
अनेन घीमान् व्यवहारमार्गं
बुद्ध्वा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम् ॥५२॥

पुष्पलद्वयं मृत्तं, मुक्तिविरहिया हवन्ति सेसाणि ।
चेदराभावो जीवो, चेदरागुणवज्जिजया सेसा ॥३७॥

तानन्त औदारिक आदि शरीरों के प्रदेश हैं । एक-एक शरीर प्रदेश में अनन्तानन्त
सोपचयपरमाणु गीले गुड़ में धूल की तरह लगे हुए हैं । इसीप्रकार घर्मादि द्रव्यों
के प्रदेश जानना चाहिए । आगम में जीव के प्रदेशों को चल और अचल दो
में बताया है—सुख-दुःख का अनुभव, पर्याय परिवर्तन या क्रोधादि दशा में जीव
प्रदेशों की उथल पुथल को चल कहते हैं । जीव के मध्य के आठ प्रदेश सदा स्थित—
चल ही रहते हैं । अयोगी और सिद्धों के सभी प्रदेश सदा स्थित ही हैं । संसारी
जीवों के व्यायाम आदि के समय उक्त आठ मध्य प्रदेशों को छोड़कर शेष प्रदेश चल
हैं । बाकी जीवों के दोनों प्रकार के होते हैं । अतः ज्ञात होता है कि जीवों के
ही प्रदेश हैं, काल्पनिक नहीं हैं ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज छह द्रव्यों के ज्ञान की सफलता को बताते
श्लोक कहते हैं—]

(५२) श्लोकार्थ—मैंने मुमुक्षु जीव के कण्ठ को भूषित करने के लिये पदार्थ
रत्नों का आभरण (हार) बनाया है । इससे बुद्धिमान् लोग व्यवहार मार्ग को
करके पुनः शुद्धमार्ग (निश्चय मार्ग) को ज्ञान लेते हैं ।

पुद्गलद्रव्यं मूर्तं मूर्तिविरहितानि भवन्ति शेषाणि ।

चेतन्यभावो जीवः चेतन्यगुणवर्जितानि शेषाणि ॥३७॥

पुद्गल द्रव्य मूर्तिक कहा रूपादिमान है ।

ओर शेष अमूर्तिक कहें वणादि शून्य हैं ॥

वस जीव हैं चेतन्य भाव युक्त जगत में ।

चेतन्य गुण से शून्य शेष द्रव्य हैं सच में ॥३७॥

अजीवद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोऽयम् । तेषु मूलपदार्थेषु पुद्गलस्य मूर्तत्वम् इतरेषाममूर्तत्वम् । जीवस्य चेतनत्वम्, इतरेषामचेतनत्वम् । स्वजातीयविजातीयबन्धनापेक्षया जीवपुद्गलयोरशुद्धत्वम्, धर्मादीनां चतुर्णां विशेषगुणापेक्षया शुद्धत्वमेवेति ।

मन्त्रा ३५

अन्वयार्थ—[पुद्गलद्रव्यं मूर्तं] पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है [शेषाणि] शेष पांच द्रव्य [मूर्तिविरहितानि] मूर्तिक अवस्था से रहित अमूर्तिक हैं [जीवः चेतन्य-भावः] जीव चेतन्य स्वभाव वाला है [शेषाणि] शेष पांचद्रव्य [चेतन्यगुणवर्जितानि] चेतन्य गुण से वर्जित हैं ।

टीका—अजीव द्रव्य के व्याख्यान का यह उपसंहार है ।

उन मूल पदार्थ—छहों द्रव्यों में से पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है, अन्य शेष पांच द्रव्य अमूर्तिक हैं । जीव चेतन गुण वाला है, शेष पांच द्रव्य अचेतन गुण वाले हैं । स्वजातीय और विजातीय बन्धन की अपेक्षा से जीव और पुद्गल में अशुद्धपना है, शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल में विशेषगुण की अपेक्षा से शुद्धपना ही है ।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गल में ही विभाव गुण पर्यायें होती हैं अतः ये दो द्रव्य ही अशुद्ध होते हैं, शेष चार द्रव्य कभी भी अशुद्ध नहीं होते हैं । यहाँ पर स्वभाव की अपेक्षा से जीव को अमूर्तिक कहा है किन्तु अन्यत्र ग्रन्थों में कर्मबन्ध की अपेक्षा से संसारी जीव को कथंचित् मूर्तिक भी कहा है । यथा—

(मालिनी)

इति ललितपदानामावलिर्भाति नित्यं
वदनसरसिजाते यस्य भव्योत्तमस्य ।

“वण्णरसपंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे ।

णी संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥”

अर्थ— पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श निश्चयनय से ये जीव में नहीं हैं इसलिये जीव अमूर्तिक है और व्यवहार नय से कर्म बन्ध होने से जीव मूर्तिक है ।

ऐसे ही श्री भट्टाकलंक देव ने भी कहा है—

प्रश्न—^१आत्मा अमूर्तिक है अतः उसका कर्म पुद्गलों से अभिभव नहीं होना चाहिए ।

उत्तर—अनादि कर्मबन्धन के निमित्त से उसमें विशेष शक्ति आ जाती है । यद्यपि अनादि पारिणामिक चैतन्यस्वरूप आत्मा की नरनारकादि एवं मतिजानादि पर्यायें चेतन हो हैं, फिर भी वह अनादि कार्मण शरीर के कारण मूर्तिक हो रहा है और इसीलिये उस पर्याय सम्बन्धी शक्ति के कारण मूर्तिक कर्मों को ग्रहण करता है । आत्मा कर्मबद्ध होने से कथंचित् मूर्तिक है तथा अपने ज्ञानादि स्वभाव को न छोड़ने के कारण अमूर्तिक है । जैसे मदिरापेयो की स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है वैसे ही कर्मोदय से आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानादि गुण अभिभूत हो जाते हैं । कहा भी है—^२“बंध की अपेक्षा से आत्मा और कर्म में एकत्व होने पर भी लक्षण की अपेक्षा से दोनों में भिन्नता है अतः आत्मा एकान्त से अमूर्तिक नहीं है ।”

[अब टोकाकार श्री मुनिराज पट्टद्रव्यों में से समयसार की सिद्धि रूप फल को बताते हुए श्लोक कहते हैं—]

१. द्रव्यसंग्रह गाथा ७. अ. १ । २. तत्त्वार्थवार्तिक पृष्ठ ११७ ।

३. “बंधं पठि एषत्तं लक्षणदो होदि तस्स शाणत्तं ।

तम्हा अमुत्तिभावो गोयतो होदि जीवस्स” ॥ तत्त्वार्थ वा. पृ. ११८ ॥

सपदि समयसारस्तस्य हृत्पुण्डरीके
लसति निशितबुद्धेः किं पुनश्चित्रमेतत् ॥५३॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवजितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमल-
धारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ अजीवाधिकारो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः ।

(५३) श्लोकार्थ—इसप्रकार ललित पदों को पंक्ति जिस भव्योत्तम के मुख कमल में सदा शोभती है उस तीक्ष्ण बुद्धिवाले पुरुष के हृदयकमल में शीघ्र ही समय-सार स्वरूप शुद्ध आत्मा प्रकाशित होता है पुनः इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

भावार्थ—छह द्रव्यों का पठन-पाठन करनेवाले जीव आत्मा के शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है ।

विशेष—द्वितीय अधिकार में आचार्य महोदय ने गाथा २० से ३७वीं गाथा पर्यन्त अजीव द्रव्य का वर्णन किया है । इसमें सबसे प्रथम पुद्गल के अणु और स्कन्ध से दो भेद कहे हैं पुनः अणु के चार भेद किये हैं और स्कन्ध के छह भेद किये हैं तथा उन्हें उदाहरण देकर स्पष्ट समझाया है । परमाणु का बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हुए पुद्गल द्रव्य में भी निश्चय, व्यवहारनयों की अपेक्षा घटित की है । अनन्तर संक्षेप में धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य का वर्णन करके पुनः काल द्रव्य का वर्णन विशदरूप से किया है । स्थल-स्थल पर टीकाकार ने निश्चय-व्यवहार नयों की अपेक्षा को खोलते हुये शुद्धात्म तत्त्व की भावना की ओर ही पाठकों को भुकाया है । टीकाकार ने अजीव तत्त्व को समझाकर उससे पृथक् होने के लिए बारंबार प्रेरणा दी है । तथा जगह २ साहित्य सौष्ठव से विद्वानों के मन को अनुरजित करते हुए अध्यात्म के आनन्द रस का पान कराया है । आगे शुद्ध अधिकार में केवल शुद्ध आत्म तत्त्व की मुख्यता से जीव द्रव्य को कहेंगे ।

इसप्रकार से सुकविजन रूपी कमलों के लिए सूर्य के समान पंचेन्द्रिय विषयों के प्रसार से रहित, गात्र मात्र परिग्रह धारी श्री पद्मप्रभमलधारी देव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में अजीवाधिकार नाम का द्वितीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।



[३]

शुद्धभाव अधिकार

अथेदानीं शुद्धभावाधिकार उच्यते ।

जीवादिबहिस्तत्त्वं, हेयमुपादेयमप्यणो अप्पा ।
कर्मोपाधिसमुद्भव, गुणपज्जाएहि वदिरित्तो ॥३८॥

जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुपादेयमात्मनः आत्मा ।
कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः ॥३८॥

जीवादि तत्त्व बाह्य हैं वे हेय बताये ।
स्वात्मा ही आत्मा को उपादेय कहाये ॥
कर्मों की उपाधी से हुए जो भी गुण कहैं ।
पर्यायें भी उन सबसे भिन्न आत्म शुद्ध हैं ॥३८॥

अब शुद्धभाव अधिकार को कहते हैं—

गाथा ३८

अन्वयार्थ—[जीवादि बहिस्तत्त्वं] जीवादि बाह्यतत्त्व [हेयं] छोड़ने योग्य हैं [कर्मोपाधि समुद्भवगुणपर्यायैः] कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुये गुण और पर्यायों से [व्यतिरिक्तः] रहित [आत्मा] आत्मा [आत्मनः उपादेयं] आत्मा को उपादेय है ।

[३]

शुद्धभाव अधिकार

अथेवानीं शुद्धभावाधिकार उच्यते ।

जीवाविबहिस्तत्त्वं, हेयमुपादेयमप्यणो अप्या ।
कर्मोपाधिसमुद्भव, गुणपञ्जाएहिं वविरित्तो ॥३८॥

जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुपादेयमात्मनः आत्मा ।
कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः ॥३८॥

जीवादि तत्त्व बाह्य हैं वे हेय बताये ।
स्वात्मा ही आत्मा को उपादेय कहाये ॥
कर्मों की उपाधी से हुए जो भी गुण कहें ।
पर्यायें भी उन सबसे भिन्न आत्म शुद्ध हैं ॥३८॥

अब शुद्धभाव अधिकार को कहते हैं—

गाथा ३८

अन्वयार्थ—[जीवादि बहिस्तत्त्वं] जीवादि बाह्यतत्त्व [हेयं] छोड़ने योग्य हैं [कर्मोपाधि समुद्भवगुणपर्यायैः] कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुये गुण और पर्यायों से [व्यतिरिक्तः] रहित [आत्मा] आत्मा [आत्मनः उपादेयं] आत्मा को उपादेय है ।

(मालिनी)

जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसागरः
सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारभारः ।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः ॥५४॥

एो खलु सहावठाणा, एो माणवमाणभावठाणा वा ।
एो हरिसभावठाणा, एो जीवस्साहरिस्सठाणा वा ॥३६॥

दर्शन ही कहेगा न कि क्षायिक भाव रूप ऐसा यहां अभिप्राय है तथा शुद्धोपयोगी महामुनियों की निर्विकल्प ध्यान में परिणत आत्मा ही कारण परमात्मा है ।

[अब टीकाकार मुनिराज उस शुद्धात्मा को आशीर्वादात्मक शब्दों से वसस्कार करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(५४) श्लोकार्थ—जो सर्व तत्त्वों में एक सारभूत है, सकल विलय-नष्ट होने योग्य भावों से दूर है, जिसने दुर्वार काम को नष्ट कर दिया है, जो पाप रूप वृक्ष को काटने के लिए कुठार स्वरूप है, शुद्धज्ञान का अवतार है, सुख समुद्र का पूर है और जो क्लेश रूपी समुद्र का तट है ऐसा समयसार (शुद्ध आत्मा) जयशील हो रहा है ।

भावार्थ—परम योगीजन अपने हृदय में शुद्ध आत्मा का ध्यान करके अपनी कारण परमात्मारूप आत्मा को कार्य बना लेते हैं । अर्थात् देहरूपी देवालय में शक्तिरूप कारण परमात्मा विराजमान है वही व्यक्तरूप से कार्य परमात्मा बन जाता है ।

गाथा ३६

अन्वयार्थ—[जीवस्य खलु स्वभावस्थानानि न] जीव के वास्तव में स्वभाव स्थान नहीं हैं [मानापमानभावस्थानानि वा न] और मान-अपमान भाव के स्थान भी नहीं हैं [हर्षभावस्थानानि न] हर्षभाव के स्थान नहीं हैं [वा अहर्षस्थानानि न] और अहर्ष-विषाद भाव के स्थान भी नहीं हैं ।

न खलु स्वभावस्थानानि न मानापमानभावस्थानानि वा ।
न हर्षभावस्थानानि न जीवस्याहर्षस्थानानि वा ॥३६॥

स्वभाव श्री विभाव स्थान जीव के नहीं ।
नहि मान व अपमान भाव जीव में कहीं ॥
नहि हर्ष भाव भी कभी होता है जीव के ।
वैसे हि न विषाद भाव भी हो जीव के ॥३६॥

निर्विकल्पतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपस्य शुद्धजीवास्तिकायस्य न खलु विभावस्वभावस्थानानि । प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावात् न मानापमानहेतुभूतकर्मोदयस्थानानि । न खलु शुभपरिणतेरभावाच्छुभकर्म, शुभकर्माभावात् संसारसुखं, संसारसुखस्या भावात् हर्षस्थानानि । न चाशुभपरिणतेरभावात् अशुभकर्म, अशुभकर्माभावात् दुःखं, दुःखाभावात् चाहर्षस्थानानि चेति ।

टीका—यह निर्विकल्प तत्त्व के स्वरूप का कथन है ।

तीनों कालों में उपाधि रहित है स्वरूप जिसका, ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय के निश्चितरूप से विभावरूप स्वभाव स्थान नहीं हैं, उस शुद्ध जीव के प्रशस्त और अप्रशस्त रूप संपूर्ण मोह-राग तथा द्वेष का अभाव हो जाने से मान-अपमान में कारण-भूत ऐसे कर्मों के उदयरूप स्थान नहीं हैं, वास्तव में शुभ परिणति के अभाव से शुभ कर्म नहीं हैं, शुभ कर्म के अभाव से संसार सुख नहीं है और संसार सुख के अभाव से जीव के हर्षस्थान भी नहीं हैं तथा अशुभ परिणति के अभाव से अशुभ कर्म नहीं हैं अशुभ कर्म के अभाव से दुःख नहीं हैं और दुःख के अभाव से हर्ष से विपरीत विषाद आदि स्थान नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए ।

विशेषार्थ —यहां पर भी गाथा में श्री आचार्य देव ने कहा है कि जीव के स्वभाव स्थान नहीं है । अभिप्राय यह है कि यहां पर निर्विकल्प तत्त्व का वर्णन होने से स्वभाव और विभाव आदि सभी विकल्प दूर किये गये हैं अथवा संसारी जीवों के जो भाव हैं वे संसार अवस्था में जीव के स्वभाव कह दिये जाते हैं उनकी विवक्षा से भी यहां स्वभाव शब्द को लिया जा सकता है जैसे कि टीकाकार ने स्वभाव के पहले

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रोत्थप्रोतिविमुक्तशास्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख—
निर्भेदोदितशर्मनिमित्तवियद्विबाकृतावात्मनि ।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषि प्रेक्षावतां गोचरे
बुद्धि किं न करोषि वांछसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःकृतेः ॥५५॥

एणे ठिदिबंधट्ठाणा, पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा ।

एणे अणुभागट्ठाणा, जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥४०॥

विभाव विशेषण लगाकर स्पष्ट किया है । इसप्रकार जीव द्रव्य के शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से कर्मोदय का अभाव होने से स्वभाव-विभाव, मान-अपमान, सुख-दुःख, हर्ष विषादादि भाव नहीं हैं वह निर्विकल्प चिच्चैतन्य स्वरूप मात्र ही है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज शाश्वत सुख में रुचि करने के लिये संसार के दुःख से छूटने के लिए प्रेरणा देते हुए श्लोक कहते हैं—]

(५५) श्लोकार्थ — जिसका प्रीति अप्रीति में रहित शाश्वत स्थान है जो सर्वप्रकार से अन्तर्मुख होने से भेद रहित निर्विकल्प उत्पन्न हुये सुख से निमित्त आकाश विम्ब के आकार वाला है — आत्मिक सुख से निमित्त निराकार है, चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह से पूर्ण भरित ही जगका गरीर है जो बुद्धिमानों के गोचर है ऐसे आत्म तत्व में तू बुद्धि क्यों नहीं करता है ? प्रत्युत दुष्कृत रूप संसार के सुखों की वांछा करता है ।

भावार्थ—वास्तव में आत्मा हर्ष विषाद से रहित अविनाशी है आत्मा से उत्पन्न हुए निराकुल सुख से बनी हुई मूर्ति होते हुए भी निराकार है, चैतन्यामृत प्रवाह से लबालब भरी हुई है । ऐसी आत्मा में तो तू अपनी बुद्धि को नहीं लगाता है और इन सभी विशेषणों से विपरीत पापों के स्थान स्वरूप ऐसे सांसारिक सुखों को चाहता है सो क्या बात है ? वास्तव में तुम्हें सांसारिक सुखों को छोड़कर आत्मा में बुद्धि लगानी चाहिए ।

न स्थितिबन्धस्थानानि प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा ।
 नानुभागस्थानानि जीवस्य उदयस्थानानि वा ॥ ४० ॥

इस जीव के स्थितिबन्ध स्थान नहीं हैं ।
 निश्चय से प्रकृति प्रदेश स्थान नहीं हैं ॥
 अनुभाग के स्थान नहीं फल भी नहीं हैं ।
 नहीं जीव के उदय स्थान कर्म जनित ये ॥ ४० ॥

अत्र प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धोदयस्थाननिश्चयो जीवस्य न समस्तीत्युक्तम् ।
 नित्यनिरुपरागस्वरूपस्य निरंजननिजपरमात्मतत्त्वस्य न खलु जघन्यमध्यमोत्कृष्टद्रव्यकर्म-
 स्थितिबन्धस्थानानि । ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्यस्वाकारः प्रकृति-
 बन्धः, तस्य स्थानानि न भवन्ति । अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्गलयोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशः
 प्रदेशबन्धः, अस्य बन्धस्य स्थानानि वा न भवन्ति । शुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये
 सुखदुःखफलप्रदानशक्तियुक्तो ह्यनुभागबन्धः, अस्य स्थानानां वा न चावकाशः । न च
 द्रव्यभावकर्मोदयस्थानानामप्यवकाशोऽस्ति इति ।

गाथा ४०

अन्वयार्थ—[जीवस्य] जीव के [स्थितिबन्धस्थानानि] स्थितिबन्ध स्थान
 [प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा न] प्रकृति स्थान और प्रदेश स्थान नहीं है
 [अनुभागस्थानानि न] अनुभाग स्थान नहीं है [उदयस्थानानि वा न] और उदय-
 स्थान भी नहीं हैं ।

टीका—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन बन्ध स्थानों का समूह तथा
 उदय स्थानों का समूह जीव के नहीं है ऐसा यहां पर कहा है ।

नित्य हो निरुपराग स्वरूप निरंजन निजपरमात्मतत्त्व के निश्चित रूप से
 जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप द्रव्य कर्म के स्थितिबन्ध स्थान नहीं हैं । ज्ञाना-
 वरणादि आठ प्रकार के कर्मों के उस-उस कर्म के योग्य पुद्गलद्रव्य का जो स्वाकार
 अपना स्वभाव है वह प्रकृतिबन्ध है शुद्ध परमात्मतत्त्व के ये प्रकृतिबन्ध के स्थान भी
 नहीं हैं । अशुद्ध चेतनतत्त्व और कर्म पुद्गलों के प्रदेशों का परस्पर में अनुप्रवेश हो

तथा चोक्तः श्री अमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

“न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहोभूय सम्यक्स्वभावम् ॥”

माना प्रदेशबन्ध है, इस बन्ध के स्थान भी शुद्ध जीव में नहीं हैं । शुभ-अशुभ कर्मों की निर्जरा के समय में सुख-दुःख फल को प्रदान करने की शक्ति से युक्त अनुभाग-बन्ध होता है, इस अनुभाग के स्थावों का भी शुद्ध जीव में अवकाश नहीं है ऐसा समझना ।

उसीप्रकार अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—“ये बद्ध और स्पष्ट भाव आदि स्पष्ट रीति से ऊपर तैरते हुये भी जहां पर आकर प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते हैं । हे जगत्—हे जगत् के जीवों ! मोह से रहित होकर आप सब ओर प्रकाशमान सम्यक् स्वभाव वाले उसी आत्मा का ही अनुभव करो ।”

भावार्थ—जिस शुद्धनय के अवलम्बन से शुद्ध अवस्था में आने के बाद मैं ऐसा हूं या कर्मों से स्पर्शित हूं इत्यादि भाव यद्यपि विद्यमान हैं फिर भी वहां बुद्धि-सम्यक् नहीं होते हैं क्योंकि जब उस निर्विकल्प ध्यान में ध्यान-ध्येय का या पंचपरमेष्ठी का ही विकल्प नहीं है तब इन भावों की वहां क्या गणना होगी ? ऐसी अवस्था को प्राप्त जो शुद्ध आत्म तत्त्व है । आचार्य कहते हैं हे जगत् के भव्य प्राणियों तुम मोह से रहित होकर उसी शुद्ध आत्म तत्त्व का अनुभव करो ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज अपनी संपत्ति का भान कराते हुए तथा विष-सदृश संसार के दुःखों से छुड़ाते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

नित्यशुद्धचिदानन्दसंप्रवामाकरं परम् ।

विपदाभिदमेवोच्चैरपवं चेतये पदम् ॥५६॥

(वसन्ततिलका)

यः सर्वकर्मविषमूहसंभवानि

मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि ।

भुङ्क्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्त्वं

प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति संशयः कः ॥५७॥

(५६) श्लोकार्थ—नित्य, शुद्ध, चिदानन्दमयी संपत्तियों की श्रेष्ठ खान स्वरूप तथा विपत्तियों का अत्यन्त रूप से यही अपद-अस्थान रूप है ऐसे पद का मैं अनुभव करता हूँ ।

भावार्थ—जो अपना उत्कृष्ट पद है वह चिच्चैतन्यमयी संपत्तियों का स्थान है और विपत्तियों से सर्वथा दूर है उसीका अनुभव करना चाहिये ।

(५७) श्लोकार्थ—जो सर्व कर्म रूपी विषवृक्ष से उत्पन्न हुए, निज आत्मतत्त्व से विलक्षण फलों को छोड़कर इस समय सहज चिन्मय आत्म तत्त्व का अनुभव करता है वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है । इसमें क्या संशय है ।

भावार्थ—कर्म तो विषवृक्ष के समान हैं उनसे उत्पन्न हुए फल भी कड़वे ही होंगे इसलिए इन कर्म के उदयरूप सुख-दुःख फलों को छोड़कर आत्म तत्त्व का अनुभव करने से ही मुक्ति मिलती है । अभिप्राय यह है कि कर्म के उदय से उत्पन्न हुए सुख-दुःख फल छोड़े नहीं जा सकते हैं किन्तु उस समय हर्ष विषाद परिणति को न करते हुए परम समताभाव को धारण करके उन सुख-दुःखों से अपने उपयोग को हटाकर अपने परमानन्द स्वरूप आत्म तत्त्व में स्थिर कर लेना ही उनको छोड़ना है और तभी कर्मों की निर्जरा होकर मुक्ति होती है इसमें कुछ भी संशय नहीं है ऐसा इस कलश का अभिप्राय है ।

जो खड्यभावठाणा, एणे खयउवसमसहावठाणा वा ।

श्रीदयभावठाणा, जो उवसमणे' सहावठाणा वा ॥४१॥

न क्षायिकभावस्थानानि न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा ।

श्रीदयिकभावस्थानानि नोपशमस्वभावस्थानानि वा ॥४२॥

कर्मों के क्षय से क्षायिक वह भाव भी नहीं ।

क्योंकि विशुद्धनय से नहीं कर्मवन्ध ही ॥

क्षायोपशमिक भाव व श्रीदयिक भाव भी ।

उपशम स्वभाव जीव में होते न ये कभी ॥४१॥

चतुर्णां विभावस्वभावानां स्वरूपकथनद्वारेण पंचमभावस्वरूपाख्यानमेतत् ।

चतुर्णां क्षये भवः क्षायिकभावः । कर्मणां क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिकभावः । कर्मणा-

गाथा ४१

अन्वयार्थ — [क्षायिकभावस्थानानि न] जीव के क्षायिकभाव स्थान नहीं है [क्षयोपशमभावस्थानानि वा न] क्षयोपशमभाव स्थान भी नहीं है [श्रीदयिकभावस्थानानि न] श्रीदयिकभाव स्थान भी नहीं है [वा उपशमभावस्थानानि न] और उपशमभाव स्थान भी नहीं है ।

टोका—चार विभाव स्वभावों के स्वरूप के कथन द्वारा यह पंचमभाव के रूप का कथन है ।

कर्मों के क्षय होने पर हुआ भाव क्षायिकभाव है, कर्मों के क्षयोपशम के होने पर हुआ भाव क्षायोपशमिक भाव है, कर्मों के उदय के होने पर हुआ भाव श्रीदयिकभाव है, कर्मों के उपशम के होने पर हुआ भाव औपशमिकभाव है और संपूर्ण कर्मों की उपाधि से रहित ऐसा जो परिणाम में हुआ भाव वह पारिणामिकभाव है । पाँचों भावों में से प्रथम ही औपशमिकभाव दो प्रकार का है, क्षायिकभाव नौ

मुदये भवः औदयिकभावः । कर्मणा उपशमे भवः औपशमिकभावः । सकलकर्मोपाधि-
विनिर्मुक्तपरिणामे भवः पारिणामिकभावः । एषु पंचसु तावत् औपशमिकभावो द्विविधः,
क्षायिकभावश्च नवविधः, क्षायोपशमिकभावोऽष्टादशभेदः, औदयिकभाव एकविंशतिभेदः,
पारिणामिकभावस्त्रिभेदः । औपशमिकभावस्य उपशमसम्यक्त्वस्य उपशमचारित्र्यस्य
च । क्षायिकभावस्य क्षायिकसम्यक्त्वं, यथाख्यातचारित्र्यं, केवलज्ञानं केवलदर्शनं च,
अन्तरायकर्मक्षयसमुपजनितदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि चेति । क्षायोपशमिकभावस्य
मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि चत्वारि, कुमतिकुश्रुतविभंगभेदादज्ञानानि त्रीणि,
चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदादर्शनानि त्रीणि, कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यताभेदान्त्रयः
पंच, वेदकसम्यक्त्वं, वेदकचारित्र्यं, संयमासंयमपरिणतिश्चेति । औदयिकभावस्य नारक-
तिर्यङ्मनुष्य देवभेदाद् गतयश्चतस्रः, क्रोधमानमायालोभभेदात् कषायाश्चत्वारः, स्त्रीपुं-
नपुंसकभेदात्त्रिगानि त्रीणि, सामान्यसंग्रहनयापेक्षया मिथ्यादर्शनमेकम्, अज्ञानं चैकम्,

प्रकार का है, क्षायोपशमिकभाव अठारह भेद वाला है, औदयिकभाव के २१ भेद हैं
और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं ।

औपशमिक भाव के उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र्य ये दो प्रकार हैं ।
क्षायिकभाव के क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र्य, केवलज्ञान और केवलदर्शन ये चार
तथा अन्तराय के क्षय से उत्पन्न होने वाले दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये
पांच ऐसे नव भेद हैं । क्षायोपशमिकभाव के मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये
चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और विभंग के भेद से तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन
और अवधिदर्शन के भेद से तीन दर्शन, काललब्धि, कारणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशम-
लब्धि और प्रायोग्यतालब्धि के भेद से पांचलब्धि, वेदक सम्यक्त्व, वेदक चारित्र्य और
संयमासंयम परिणति ये तीन, ऐसे सब मिलाकर अठारह भेद हो गये हैं ।

औदयिकभाव के नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव ये चार गति, क्रोध, मान,
माया और लोभ के भेद से कषाय चार, स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से लिंग तीन,
सामान्य संग्रहनय को अपेक्षा से मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक, असंयम एक, असिद्धत्व
एक, शुक्ल, पद्म, पीत, कापीत, नील, कृष्ण के भेद से लेश्या छह, ऐसे सब मिलकर

असंयमता चैका, असिद्धत्वं चैकम्, शुक्लपद्मपीतकापोतनीलकृष्णभेदाद्वैश्याः षट् च भवन्ति । पारिणामिकस्य जीवत्वपारिणामिकः, भव्यत्वपारिणामिकः, अभव्यत्वपारिणामिकः इति त्रिभेदाः । अथायं जीवत्वपारिणामिकभावो भव्याभव्यानां सदृशः, भव्यत्वपारिणामिकभावो भव्यानामेव भवति, अभव्यत्वपारिणामिकभावोऽभव्यानामेव भवति । इति पञ्चभावप्रपञ्चः ।

इसकोस भेद होते हैं । पारिणामिक भाव के जीवत्व पारिणामिक, भव्यत्व पारिणामिक और अभव्यत्व पारिणामिक ऐसे तीन भेद हैं ।

यह जीवत्व नाम का पारिणामिक भाव भव्य और अभव्य सभी जीवों में समान है, भव्यत्व नाम का पारिणामिक भाव भव्यजीवों में ही होता है और अभव्यत्व नामक पारिणामिकभाव अभव्यों में ही होता है । इसप्रकार से पाँचों भावों का विस्तार हुआ ।

इन पाँचों भावों में से आधिकभाव कार्यसमयसार स्वरूप है, वह तीनों लोकों में प्रक्षोभ-हलचल के लिए कारणभूत जो तीर्थंकर प्रकृति उसके द्वारा अर्जित जो सकल विमल केवलज्ञान उससे सनाथ भगवान् तीर्थंकर देव अथवा सिद्ध भगवान् के होता है । औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव संसारी जीवों में ही होते हैं, मुक्त जीवों में नहीं होते हैं ।

पूर्वोक्त चारों भाव आवरण सहित होने से मुक्ति के कारण नहीं हैं । तीनों कालों में उपाधि से रहित है स्वरूप जिसका ऐसे निरंजन-निर्दोष, निजपरम पंचम भाव-पारिणामिक भाव की भावना से मुमुक्षुजन पंचमगति को जाते हैं, जावेंगे और गये हैं ।

विशेषार्थ—यहां पर पाँचों भावों में जो क्षायोपशमिक भाव है उसमें श्री टीकाकार ने काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशमलब्धि और प्रायोग्यलब्धि ऐसे पांच भेद किये हैं किन्तु सर्वत्र क्षायोपशमिक भावों में दानादि ५ क्षयोपशम लब्धियां ली गई हैं । जैसे—श्री वीरसेनाचार्य ने कहा है “लब्धी पंचविहा दानादि

पंचानां भावानां मध्ये क्षायिकभावः कार्यसमयसारस्वरूपः स त्रैलोक्यप्रक्षोभ-
हेतुसूततीर्थकरत्वोपाजितसकलविभलकेवलावबोधसनाथतीर्थनाथस्य भगवतः सिद्धस्य वा
भवति । औदयिकोपशमिकक्षायोपशमिकभावाः संसारिणामेव भवन्ति, न मुक्तानाम् ।

भेएण” । 'श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्ताचार्य ने कहा है—“अग्नौवसमिय भावो चउणाण
तिदंसण ति अण्णाणं । दाणादि पंच वेदण सरागचारित्त देसजमं ॥८१७॥” क्षायोप-
शमिक भाव से चार ज्ञान, तीन दर्शन, तीन अज्ञान, दानादि पांच लब्धि, वेदक सम्य-
क्त्व, सराग चारित्र और देशसंयम ये १८ भेद हैं । 'श्री अकलंक देव ने कहा है कि—
“लब्धयः पंच क्षायोपशमिक्यः दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरूपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धि-
श्चेति” अर्थात् क्षायोपशमिक लब्धि के पांच भेद हैं—दान लब्धि, लाभ लब्धि, भोग
लब्धि, उपभोग लब्धि और वीर्यलब्धि । ऐसी ही ये लब्धियां मिथ्यात्व गुणस्थान में
तथा एकेन्द्रिय आदि जीवों में भी मानी गई हैं ।

गोम्मटसार जीवकांड में सम्यक्त्व के लिए पांच लब्धि कही गई हैं—

“अयउपसमिय विसोही देसणपाउगकरण लढी य ।

चत्तारि विसामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ॥६५१॥”

नाथार्थ—क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पांच
लब्धियां हैं । इनमें से पहले की चार तो सामान्य हैं, ये भव्य-अभव्य दोनों के संभव
हैं, किन्तु करणलब्धि विशेष है यह भव्य के ही हुआ करती है और इसके होने पर
सम्यक्त्व या चारित्र नियम से होता है ।

यहां टीका में उपर्युक्त लब्धि में विशुद्धि का नाम नहीं है किन्तु काललब्धि
का नाम है । टीकाकार ने किस अपेक्षा से इन लब्धियों को लिया है इसका निर्णय
केवली-श्रुतकेवली के पादमूल में ही हो सकता है ।

आगे एक पंक्ति है कि “पूर्वोक्तभावचतुष्टयमावरणसंयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणं”
इसमें क्षायिकभाव को भी आवरण संयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं कहा है किन्तु

शुद्धभावचतुष्टय भावरणसंयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणम् । त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरं-
गनिष्परमपञ्चमभावभावनया पञ्चमर्गात् मुमुक्षुषो यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति ।

इक्षायिकभाव आवरणों के क्षय से प्रगट होता है और मुक्ति में भी विद्यमान है
इहाँ केवल पारिणामिक शुद्ध स्वभावकी विवक्षा होने के कारण इसे कर्मोपाधि के
भाव होने से औपपाधिक रूप ही मान लिया है ऐसी विवक्षा ज्ञान होती है क्योंकि
जय गाथा ४१ में स्वयं ही श्री भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने “णो खड्यभावठाणा” वाक्य
इसका हृष्टा है । 'कहीं पर इससे विपरीत भी कहा है जैसे—

“मोक्षं कुर्वति मिश्रौपशमिक क्षायिकाभिधाः ।

बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः ॥”

अर्थ—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिकभाव मोक्ष को करने वाले हैं,
मौदयिक भाव बंध को करने वाला है और पारिणामिक भाव निष्क्रिय है । अर्थात्
टीकाकार श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि “निर्विकल्प शुद्धात्म परिच्छिन्ति” लक्षण
श्रीतराग चारित्र से अविनाशुत अभेदनय से वही शुद्धात्म शब्द से वाच्य क्षायोपशमिक
भाव श्रुतज्ञान मोक्ष का कारण होता है किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव शुद्ध भावना
की अवस्था में ध्येय रूप है, ध्यान रूप नहीं है इत्यादि ।

पञ्चास्तिकाय में कहा है—

“उदयेण उपसमेण य खयेण दुहिं मिस्सदेहिं परिणामे ।

जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु वित्थिण्णा ॥५६॥”

अर्थ—उदय से, उपशम से, क्षय से और दोनों के मिश्रित-क्षयोपशम से
तथा परिणाम से युक्त ऐसे ये जीव के गुण हैं और उन्हें अनेक प्रकार से विस्तृत
किया गया है ।

उपर्युक्त गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्र देव ने कहा है—“तत्रोपाधिचतु-
ष्टयनिबन्धनाश्चत्वारः स्वभावनिबन्धन एकः” । इन पांच गुणों में उपाधि की चार

(धार्या)

अञ्चितपञ्चमगतये पञ्चमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः ।

सञ्चितपञ्चाचाराः किञ्चनभावप्रपञ्चपरिहीणाः ॥५८॥

प्रकार की दशा जिनका कारण है ऐसे चार भाव हैं और स्वभाव जिसका कारण है ऐसा एक है ।

इसी गाथा की द्वितीय तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—“श्रीदयिक, श्रीपशमिक और क्षायिक ये तीन भाव कर्मजनित हैं, क्षायिकभाव केवलज्ञानादिरूप है यद्यपि यह वास्तविक दृष्टि से शुद्ध बुद्ध एक जीव का स्वभाव है तथापि कर्मक्षय से उत्पन्न होने की अपेक्षा उपचार से कर्मजनित ही है । शुद्ध पारिणामिक भाव पुनः साक्षात् कर्मों से निरपेक्ष ही है । यहां व्याख्यान में मिश्रादि तीन मोक्ष के कारण हैं, मोहोदय से सहित श्रीदयिक भाव बंध का कारण है और शुद्ध पारिणामिक भाव बंध-मोक्ष का अकारण है । इसके बाद “तथा चोक्तं” कहकर यह श्लोक दिया है जिसको कि समयसार की टीका में उद्धृत किया है ।

इस कथन से परस्पर विरोध आदि नहीं समझना चाहिये क्योंकि अपेक्षाकृत कथन है । यहां पर ग्रन्थकार का अभिप्राय जीव के स्वभाव मात्र कथन करने का ही है । अतएव क्षायिकभाव को भी विवक्षित नहीं किया है अतः इसमें बाधा नहीं है ।

[अब टीकाकार मुनिराज पञ्चमभाव के महत्व को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(५८) श्लोकार्थ—पांच आचारों से सहित और किञ्चनभाव-परिग्रह भाव के प्रपञ्च से रहित विद्वान् साधु पूज्य पञ्चमगति को प्राप्त करने के लिए पञ्चम पारिणामिक भाव का स्मरण करते हैं ।

भाषार्थ—जिन्होंने परिग्रह का त्याग नहीं किया है, गृहस्थ हैं, वे इसका श्रद्धान तो कर सकते हैं लेकिन पञ्चम भाव का आश्रय लेकर निर्विकल्प ध्यान नहीं कर सकते हैं ऐसा समझना चाहिए ।

(मालिनी)

सुकृतमपि समस्तं मां गिनां भोगमूलं
त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः ।
उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं
भजतु भवविमुक्तये कोऽत्र दोषो मुनीशः ॥५६॥

(५६) श्लोकार्थ—परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात चित्त वाले मुनीश, योगीजनों के भोगों के मूल ऐसे संपूर्ण पुण्य को भी छोड़ें और भव से मुक्त होने के लिये सार तत्त्व स्वरूप उभय प्रकार के समयसार का आश्रय लेवें इसमें क्या दोष है ?

भावार्थ—निज आत्म तत्त्व के अभ्यास में कुशल साधुओं को उपदेश दिया गया है कि आप समस्त पुण्य को भी छोड़ो और कारण समयसार रूप शुद्धोपयोग को प्राप्त करके कार्य समयसार रूप शुद्धोपयोग को प्राप्त करके कार्य समयसार रूप शुद्ध आत्मा को प्राप्त करो । तुम्हारे लिये इसमें कोई दोष नहीं है किन्तु जो अभी अपरूप क्रिया से निवृत्त नहीं हुए हैं उनके लिए पुण्य क्रिया के छोड़ने का उपदेश नहीं है ।

विशेषार्थ—उभय समयसार का अभिप्राय है कारण और कार्य समयसार । इसका स्वरूप समयसार ग्रन्थ में बहुत ही स्पष्ट रूप से कहा है । तथाहि—“अनंत आदि चतुष्टय लक्षण कार्यसमयसार का उत्पादक होने से निर्विकल्प समाधि परिणाम परिणत कारण समयसार लक्षण रूप भेदज्ञान से ज्ञानमय हो होता है ।”

“केवलज्ञानादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार का साधक निर्विकल्प समाधि जो कारण समयसार है ।”.....

“भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग संज्ञक जो व्यवहार कारण समयसार सबसे साध्य जो निश्चय कारण समयसार है जो कि विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाव

१. समयसार गाथा १२७, टीका पृष्ठ १८४ । २. गाथा ३५५, टीका पृष्ठ ४३६ ।

३. गाथा ३७३ से ३८२ तक की टीका के अन्तर्गत पृष्ठ ४५६ ।

चउगइभवसंभ्रमणं, जाइजरामरणरोगशोका' य ।
कुलजोणिजीवमार्गण्ठाणा जीवस्स एणो संति ॥४२॥

चतुर्गतिभवसंभ्रमणं जातिजरामरणरोगशोकाश्च ।
कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि जीवस्य नो संति ॥४२॥

शुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुचरण रूप अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप है और अनन्तकेवलज्ञानादि चतुष्टय की व्यक्तिरूप ऐसे कार्यसमयसार का उत्पादक है । इस व्यवहार कारण समयसार और निश्चय कारण समयसार के बिना यह अज्ञानी जीव रोष और तोष करता है ।"

ऐसे ही जयसेनाचार्य ने स्थल-स्थल पर केवलज्ञानरूप व्यक्त अवस्था को कार्यसमयसार कहा है और उसके लिए कारण स्वरूप ऐसे निश्चय रत्नत्रय को कारण समयसार कहा है । तथा यहां पर तो जयसेनाचार्य ने उस निश्चय के लिए कारण स्वरूप ऐसे व्यवहार रत्नत्रय को भी व्यवहार कारण समयसार संज्ञा दी है । अस्तु,

यहां पर नियमसार की टीका में टीकाकार ने भी कारण समयसार और कार्यसमयसार रूप ऐसे सारभूत तत्त्व के स्वरूप का आश्रय लेने का आदेश दिया है । इसका ऐसा भी अभिप्राय समझना चाहिये कि पहले भेदरत्नत्रय होता है, अनन्तर ही अभेद रत्नत्रय प्रगट होता है । भेदरत्नत्रय के बिना अभेद रत्नत्रय हो नहीं सकता है, फिर भी उसको प्राप्त करने के बाद आगे शुद्धोपयोग रूप अभेद में पहुंच कर शुद्धात्म को प्रगट करना है ।

गाथा ४२

अन्वयाथं—[चतुर्गतिभवसंभ्रमणं] चार गतियों के भवों का परिभ्रमण [जातिजरामरणरोगशोकाश्च] जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, [कुलयोनि जीव-मार्गणस्थानानि च] कुल योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान [जीवस्य नो संति] जीव के नहीं होते हैं ।

चारों गति के भव में जो हो रहा भ्रमण ।
ये रोग शोक वृद्धावस्था जनम मरण ॥
कुल योनि जीव के स्थान मांगणाएँ भी ।
नहि शुद्धनय से होवें ये जीव में कभी ॥४२॥

इह हि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्य समस्तसंसारविकारसमुदयो न समस्ती-
त्यम् । द्रव्यभावकर्मस्वीकाराभावाच्चतसृणां नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवत्वलक्षणानां गतीनां
भ्रमणं न भवति । नित्यशुद्धचिदानन्दरूपस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य द्रव्यभावकर्म-
व्योम्यविभावपरिणतेरभावाच्च जातिजरामरणरोगशोकाश्च । चतुर्गतिजीवानां कुल-
विवेक इह नास्ति इत्युच्यते । तद्यथा—पृथ्वीकायिकजीवानां द्वाविंशतिलक्षकोटि-
मानि, अकायिकजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, तेजस्कायिकजीवानां त्रिलक्षकोटि-
मानि, वायुकायिकजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, वनस्पतिकायिकजीवानाम् अष्टोत्तर-
शतिलक्षकोटिकुलानि, द्वेन्द्रियजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, त्रीन्द्रियजीवानाम् षष्ट-
लक्षकोटिकुलानि, चतुरिन्द्रियजीवानां नवलक्षकोटिकुलानि, पंचेन्द्रियेषु जलचराणां सार्द्ध-
वत्सप्तलक्षकोटिकुलानि, आकाशचरजीवानां द्वादशलक्षकोटिकुलानि, चतुष्पदजीवानां
सप्तलक्षकोटिकुलानि, सरीसृपाणां नवलक्षकोटिकुलानि, नारकाणां पंचविंशतिलक्षकोटि-

टीका—शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीव के समस्त संसार के विकारों का समूह
है ऐसा यहां पर कहा है ।

द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के स्वीकार करने का अभाव होने से नारक, तिर्यच,
मानुष और देवत्व लक्षणवाली चार प्रकार की गतियों का परिभ्रमण नहीं होता है ।
शुद्ध चिदानन्दमय कारण परमात्मा स्वरूप जीव के द्रव्यकर्म, भावकर्म के ग्रहण
के विभाव परिणति का अभाव होने से जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक नहीं है ।
गति वाले जीवों के कुल योनि के भेद नहीं हैं ऐसा यहां पर कहा गया है ।
का स्पष्टीकरण—

पृथ्वीकायिक जीवों के २२ लाख करोड़ कुल हैं, जलकायिक जीवों के ७ लाख
कुल हैं, वनस्पतिकायिक जीवों के २८ लाख करोड़ कुल हैं, द्वेन्द्रिय जीवों के

कुलानि, मनुष्याणां द्वादशलक्षकोटिकुलानि, देवानां षड्विंशतिलक्षकोटिकुलानि ।
सर्वाणि सार्द्धं सप्तनवत्ययशतकोटिलक्षाणि १६७५००००००००००० ।

पृथ्वीकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, क्षपकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनि-
मुखानि, तेजस्कायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, वायुकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनि-
मुखानि, नित्यनिगोदिजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, चतुर्गतिनिगोदिजीवानां सप्तलक्ष-
योनिमुखानि, वनस्पतिकायिकजीवानां दशलक्षयोनिमुखानि, द्वीन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनि-
मुखानि, त्रीन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, चतुरिन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि,
देवानां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, नारकाणां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, तिर्यग्जीवानां चतुर्लक्षयोनि-
मुखानि, मनुष्याणां चतुर्दशलक्षयोनिमुखानि ।

७ लाख करोड़ कुल हैं, त्रीन्द्रिय जीवों के ८ लाख करोड़ कुल हैं, चतुरिन्द्रिय जीवों के
६ लाख करोड़ कुल हैं, पंचेन्द्रिय जीवों में जलचर जीवों के १२॥ लाख करोड़ कुल
हैं, नभचर जीवों के १२ लाख करोड़ कुल हैं, चतुष्पद-जलचर जीवों के १० लाख
करोड़ कुल हैं, सरीसृप-सर्पादिक पेट से चलने वाले जीवों के ६ लाख करोड़ कुल हैं,
नारकी जीवों के २५ लाख करोड़ कुल हैं, मनुष्यों के १२ लाख करोड़ कुल हैं और
देवों के २६ लाख करोड़ कुल हैं । सभी मिलाकर एक सौ साढ़े सत्तानवे लाख करोड़
(१६७५०००,०००,०००,००) कुल होते हैं ।

पृथ्वीकायिक जीवों के ७ लाख योनिमुख हैं, जलकायिक जीवों के ७ लाख
योनिमुख हैं, अग्निकायिक जीवों के ७ लाख योनिमुख हैं, वायुकायिक जीवों के ७
लाख योनिमुख हैं, नित्यनिगोदी जीवों के ७ लाख योनिमुख हैं, चतुर्गति निगोद के
७ लाख योनिमुख हैं, वनस्पतिकायिक जीवों के दस लाख योनिमुख हैं, द्वीन्द्रिय
जीवों के दो लाख योनिमुख हैं, त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं, चतुरिन्द्रिय
जीवों के दो लाख योनिमुख हैं, देवों के चार लाख योनिमुख हैं, नारकियों के चार
लाख योनिमुख हैं, तिर्यच जीवों के चार लाख योनिमुख हैं और मनुष्यों के चौदह
लाख योनिमुख हैं । (कुल मिलाकर ८४०००००० योनियां हैं ।)

बादर एकेन्द्रिय और सूक्ष्म एकेन्द्रिय ऐसे एकेन्द्रिय के दो भेद, संज्ञी और
असंज्ञी अपेक्षा पंचेन्द्रिय के दो भेद, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ये तीन भेद ऐसे

स्थूलसूक्ष्मकेन्द्रियसंख्यसंज्ञिपंचेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तक-
सप्तमापचतुर्दशजीवस्थानानि । गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्य-
सम्यक्त्वसंख्याहारविकल्पलक्षणानि मार्गणास्थानानि । एतानि सर्वाणि च तस्य भगवतः
परमात्मनः शुद्धनिश्चयनयबलेन न सन्तोति भगवतां सूत्रकृतमभिप्रायः ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

“सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरंतं चारुविश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥”

सातों के पर्याप्तक अपर्याप्तक भेद होने से जीवस्थान (जीवसमास) के चौदह
भेद होते हैं ।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व,
सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार इन भेद स्वरूप चौदह मार्गणा स्थान होते हैं ।

ये सभी उन भगवान् परमात्मा के शुद्ध निश्चयनय के बल से नहीं हैं ऐसा
भगवान् सूत्रकार श्री कुन्दकुन्ददेव का अभिप्राय है । उसीप्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरि
भी कहा है—

श्लोकार्थ—“चैतन्यशक्ति से अतिरिक्त सम्पूर्ण भावों को भी शीघ्र ही छोड़-
कर और चैतन्य शक्ति मात्र अपनी आत्मा को स्पष्टतया अवगाहन करके आत्मा
साक्षात् विश्व के ऊपर स्फुरायमान होते हुए परम-उत्कृष्ट अनन्तरूप आत्मा को अपनी
आत्मा में अनुभव करो ।”

भावार्थ—यह आत्मा विश्व के अग्रिम भाग में लोकातिशायी माहात्म्य से
स्फुरायमान है अथवा जो आत्मा लोकालोक का परिच्छेदक है क्योंकि चारधातु

(अनुष्टुभ्)

“चित्शक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।

अतिरिक्तः सर्वैरि भावाः पौद्गलिका अमी ॥”

तथा हि—

(मालिनी)

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा

व्रजति न च विकल्पं संसृतेर्घोररूपम् ।

अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः

परपरिणतिदूरं याति चिन्मात्रमेषः ॥६०॥

ज्ञानार्थवाचक है ऐसी ज्ञानशक्ति मात्र आत्मा को अपनी आत्मा में ही अनुभव करना चाहिये ।

श्लोकार्थ — “यह जीव चित्शक्ति-ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों से व्याप्त सर्वस्व सारभूत इतना मात्र ही है, इससे अतिरिक्त सभी भाव पौद्गलिक हैं—ज्ञान शून्य हैं ।”

अर्थात् चैतन्य से अतिरिक्त सभी शरीर आदि पदार्थ पौद्गलिक ही हैं ऐसा अभिप्राय है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज निर्विकल्प समाधि की महिमा बतलाते हुए और श्री वीर प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए दो श्लोक कहते हैं ।]

(६०) श्लोकार्थ—सतत रूप से अखण्ड ज्ञान की सद्भावना रूप आत्मा संसार के घोर दुःख रूप विकल्प को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु निर्विकल्प समाधि स्वरूप यह आत्मा अतुल, निर्दोष पर परिणति से दूर चिन्मात्र को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—शुद्धनिश्चयनय का अवलम्बन लेकर यह आत्मा अपने को अखण्ड ज्ञान स्वरूप भावित करते हुए संसार के दुःखरूप जन्म, मरण, कुल, योनि आदि

(स्रग्धरा)

इत्थं बुद्धोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्वत्नमालार्चितांघ्रिः ।
वीरात्तीर्थाधिनायादुदुरितमलकुलध्वांतविध्वंसदक्षं
एते संतो भवाब्धेरपरतटममी यांति सञ्छीलपोताः ॥६१॥

णिहृंदो निहृंदो, निम्ममो, निक्कलो निरालंबो ।
नीरागो निदोषो, निमूढो निर्भयो अत्मा ॥४३॥

निर्दण्डः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निःकलः निरालम्बः ।

नीरागः निर्दोषः निमूढः निर्भयः आत्मा ॥४३॥

विकल्पों को नहीं करता है पुनः निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर निर्दोष चिन्मात्र भगवान् आत्मा को प्राप्त कर लेता है ।

(६१) श्लोकार्थ—भक्ति से नमस्कार करते हुए सुरेन्द्र के मुकुटों की उत्कृष्ट मालाओं की मालाओं द्वारा जिनके चरण युगल अर्चित हैं ऐसे तीर्थ के अधिनायक भगवान् महावीर से जन्म, जरा मरण के नाशक उपदेश को प्राप्त कर सम्यक्चारित्र्य रूपी नौका पर बैठे हुए ये संत पुरुष संसार समुद्र के दूसरे तट को प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—जो भव्य जीव भगवान् महावीर के निश्चय व्यवहाररूप उभय आत्मक उपदेश को प्राप्तकर सम्यक्चारित्र्य को धारण कर लेते हैं वे संसार समुद्र से बच हो जाते हैं, यहां अभिप्राय है ।

गाथा ४३

शब्दार्थ—[आत्मा] आत्मा [निर्दण्डः] दण्डरहित—मन, वचन, काय प्रवृत्ति से रहित [निर्द्वन्द्वः] द्वन्द्व रहित [निर्ममः] ममता रहित [निः कलः] कल रहित [निरालम्बः] आलम्बन रहित [नीरागः] राग रहित [निर्दोषः] दोष रहित [निमूढः] मूढ़ता रहित और [निर्भयः] भय रहित है ।

यह आत्मा निर्दण्ड है निर्द्वंद्व है निर्मम ।

है परसे निरालम्ब श्री निष्कल है विगततन ॥

नोराग है निर्दोष है निर्मूढ़ श्री निर्मय ।

व्यवहार नय से सचमुच दिखता उपाधिमय ॥४३॥

इह हि शुद्धात्मनः समस्तविभावाभावत्वमुक्तम् । मनोदण्डो वचनदण्डः काय-
दण्डश्चेत्येतेषां योग्यद्रव्यभावकर्मणामभावान्निर्दण्डः । निश्चयेन परमपदार्थव्यतिरिक्त-
समस्तपदार्थसार्थाभावान्निर्द्वन्द्वः । प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्निर्ममः ।
निश्चयेनौदारिकवैक्रियिकाहारकर्तृजसकार्मणाभिधानपञ्चशरीरप्रपञ्चाभावान्निःकलः ।
निश्चयेन परमात्मनः परद्रव्यनिरवलम्बत्वान्निरालम्बः । मिथ्यात्ववेदरागद्वेषहास्यरत्य-
रतिशोकभयजुगुप्साक्रोधमानमायालोभाभिधानाम्यन्तरचतुर्दशपरिग्रहाभावाक्षीरागः ।
निश्चयेन निखिलदुरितमलकलंकपंकनिर्णेतसमर्थसहजपरमवीतरागसुखसमुद्रमध्यनिर्मग्न-
स्फुटितसहजावस्थात्मसहजज्ञानगात्रपवित्रत्वाभिर्दोषः । सहजनिश्चयनयबलेन सहजज्ञान-

टोका—निश्चित रूप से शुद्धात्मा के सम्पूर्ण विभावों का अभाव है यहां पर
ऐसा कथन है ।

मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड इनके योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म के
अभाव से आत्मा निर्दण्ड है । निश्चयनय से परम पदार्थ से व्यतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थ
समूह के अभाव से आत्मा निर्द्वंद्व है—द्वंद्व रहित है । प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त
मोह, राग-द्वेष का अभाव होने से यह आत्मा निर्मम है । निश्चयनय से यह
औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कर्मण इन पांच शरीर के प्रपञ्च के अभाव
से शरीर रहित निष्कल है । निश्चयनय से इस परमात्मा के परद्रव्य का अवलम्बन न
होने से निरालम्ब है । मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय,
जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ इन नामवाले चौदह प्रकार अभ्यन्तर परिग्रह का
अभाव होने से रागरहित नोराग है । निश्चयनय से समस्त दुरित मल कलंकपंक को
धोने में समर्थ ऐसी जो सहज परम वीतराग सुख समुद्र के मध्य में डूबे हुए और प्रगट
हुआ सहज अवस्थारूप जो सहजज्ञान-शरीर उस ज्ञान शरीर से पवित्र होने से जो
आत्मा निर्दोष है, सहज निश्चयनय के बल से सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और

सुखदशान्तसहजचारित्र्यसहजपरमवीतरागसुखाद्यनेकपरमधर्माधारनिजपरमतत्त्वपरिच्छेद-
ममर्थाश्रिर्मुः, अथवा साद्यन्निघनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयबलेन
त्रिकालत्रिलोकवतिस्थावरजंगमात्मकनिखिलद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्सिसमर्थसकल-
विमलकेवलज्ञानावस्थत्वाश्रिर्मुः । निखिलदुरितवीरवैरिवाहिनीदुःप्रवेशनिजशुद्धान्त-
सहजमहादुर्गनिलयत्वाग्निर्भयः । अयमात्मा ह्युपादेयः इति ।

तथा चोक्तममृताशीतौ—

(मालिनी)

“स्वरनिकरविसर्गव्यंजनाद्यक्षरैर्ध्व
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसंस्थम् ।
अरसतिमिररूपस्पर्शगंधाम्बुवायु-
क्षितिपवनसखाणुस्थूलदिकृचक्रबालम् ॥”

सहज परम वीतराग सुख आदि अनेक परम धर्मों का आधारभूत ऐसा जो निज परम-
तत्त्व है उसको जानने में ममर्थ होने से जो निर्मुः है, अथवा सादि सान्त अमूर्त
तीन्द्रिय स्वभाव वाले शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय के बल से तीनों काल और तीनों
लोक में रहने वाले स्थावर-जंगमरूप सम्पूर्ण द्रव्य गुण और उनकी पर्यायों को एक
समय में जानने में समर्थ ऐसा जो सकल विमल केवलज्ञान है उस केवलज्ञानरूप से
स्थित होने से यह आत्मा निर्मुः है । सम्पूर्ण पाप रूपी वीर वैरी की सेना के
दुःप्रवेश—जिसमें प्रवेश करना दुष्कर है ऐसा जो निजशुद्धचैतन्यतत्त्वरूप महा-
दुर्ग है वही आवास स्थान होने से यह आत्मा निर्भय है । निश्चित रूप से यह (ऐसी)
आत्मा ही उपादेय है ।

उसी प्रकार अमृताशीति ग्रन्थ में भी कहा है—

श्लोकार्थ — “जो स्वर समूह से विसर्ग और व्यंजनादि अक्षरों से रहित है,
रहित से हीन—रहित है, शाश्वत है, संख्या से रहित है, रस रहित है, तिमिर रहित
रूप, स्पर्श, गंध से रहित है, जल-वायु अग्नि और पृथ्वी से रहित है, अणु और
मात्रा से रहित है, तथा दिशाओं के समूह से भी रहित है ऐसा यह आत्म तत्त्व है ।”

तथा हि—

(मालिनी)

दुरधवनकुठारः प्राप्तदुःकर्मपारः
परपरिणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूरः ।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः
सपवि समयसारः पातु मामस्तमारः ॥६२॥

(मालिनी)

जयति परमतत्त्वं तत्त्वनिष्णातपद्म-
प्रभमुनिहृदयाब्जे संस्थितं निर्विकारम् ।
हतविविधविकल्पं कल्पनामात्ररम्याद्
भवभवसुखदुःखान्मुक्तमुक्तं बुधैर्यत् ॥६३॥

[उसी प्रकार से टीकाकार श्री मुनिराज भी शुद्ध आत्मतत्त्व का वर्णन करते हुए सात श्लोक कहते हैं]

(६२) श्लोकार्थ—जो दुष्ट पापों के वन को काटने में कुठार है, दुष्ट कर्मों के पार को प्राप्त हो चुका है, पर परिणति से दूर है, रागरूपी समुद्र के प्रवाह को जिसने नष्ट कर दिया है, जिसने विविध विकारों का घात कर दिया है, जो वास्तविक सुख रूपी समुद्र का जल है और जिसने कामदेव को अस्त—समाप्त कर दिया है ऐसा वह समयसार—शुद्ध आत्मा का स्वरूप शीघ्र ही मेरी रक्षा करो ।

(६३) श्लोकार्थ—जो परमतत्त्व, तत्त्व में निष्णात ऐसे पद्मप्रभ मुनि के हृदय कमल में विराजमान हैं, निर्विकार हैं, जिसने विविध विकल्पों को नष्ट कर दिया है, जो कल्पना मात्र से रम्य ऐसे भव-भव के सुख-दुःखों से रहित है, जो बुद्धिमानों के द्वारा कहा गया है वह परमतत्त्व जयशील होता है ।

भावार्थ—यहां टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज शुद्धात्म तत्त्व का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि तत्त्व में प्रवीण ऐसे मेरे हृदय कमल में यह परमतत्त्व

(मालिनी)

अनिशमतुलबोधाधीनमात्मानमात्मा
सहजगुणमणीनामाकरं तत्त्वसारम् ।
निजपरिणतिशर्माभोधिमज्जन्तमेनं
भजतु भवविमुक्त्यै भव्यताप्रेरितो यः ॥६४॥

(द्रुतविलंबित)

भवभोगपराङ्मुख हे यते
पदमिदं भवहेतुविनाशनम् ।
भज निजात्मनिमग्नमते पुन-
स्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया ॥६५॥

(द्रुतविलंबित)

समयसारमनाकुलमच्युतं
जननमृत्युरुजादिविर्जितम् ।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयं
समरसेन सदा परिपूजये ॥६६॥

विराजमान है । वास्तव में महामुनि हमेशा छठे सातवें गुणस्थान में परिवर्तन करने वाले होते हैं इसलिए वे आत्मतत्त्व के अभ्यास में निपुण ही रहते हैं । ऐसा अभिप्राय है ।

(६४) श्लोकार्थ—आत्मा अनुल जान के आधीन है, सहज-स्वाभाविक गुण-मणी मणियों की खान है, तत्त्वों का सार है, निजपरिणति के सुखसागर में मग्न है । जो आत्मा भव्यता से प्रेरित हो वह भव से मुक्त होने के लिए ऐसी आत्मा को भजो ।

(६५) श्लोकार्थ—भव भोगों से पराङ्मुख हे यतिराज ! भव के कारणों से विनाश करने वाले इस पद को तुम भजो-इस आत्मा के स्थिर पद का तुम आश्रय लो । हे निजात्मतत्त्व में निमग्न बुद्धि वाले साधु ! पुनः तुम्हें अध्रुव अनित्य वस्तु चिन्ता से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

(६६) श्लोकार्थ—अनाकुल, अच्युत, जन्म-मृत्यु और रोगादि से रहित, शुद्ध निर्मल सुख सुधामय, समयसार-शुद्धात्मतत्त्व को मैं सदा समरसभाव से पूजता हूँ ।

(इन्द्रवज्रा)

इत्थं निजज्ञेन निजात्मतत्त्व-
मुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम् ।
बुद्ध्वा च यन्मुक्तिमुपैति भव्य-
स्तद्भावयाम्युत्तमशर्मणेऽहम् ॥६७॥

(वसंततिलका)

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं
निर्द्वन्द्वमक्षयविशालवरप्रबोधम् ।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः
सिद्धिं प्रयाति भवसंभवदुःखदूराम् ॥६८॥

णिगन्थो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मक्को ।
णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणो णिम्मदो अत्ता ॥४४॥

निर्ग्रन्थो नीरागो निःशल्यः सकलदोषनिर्मुक्तः ।

निःकामो निःक्रोधो निर्मानो निर्मदः आत्मा ॥४४॥

(६७) श्लोकार्थ—इस प्रकार से आत्मजानी सूत्रकार (श्री कुन्दकुन्द देव) ने विशुद्ध-निज आत्मतत्त्व को पहले कहा है । जिसको जानकर भव्य जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं । सुख की प्राप्ति के लिए मैं भी उस आत्मतत्त्व की भावना करता हूँ ।

(६८) श्लोकार्थ—परमात्मतत्त्व आदि अंत में रहित है, निर्दोष है, निर्द्वन्द्व-द्वैत अथवा कलह से रहित है, अक्षय विशाल श्रेष्ठ ज्ञानस्वरूप है । इस संसार में उस परमात्मतत्त्व की भावना से परिणत हुये भव्य जीव, भव से जनित दुःखों से दूर ऐसी सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं । अर्थात् जो इस परमात्मतत्त्व की भावना में परिणत-तन्मय हो जाते हैं वे संसार के दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ।

गाथा ४४

अन्वयार्थ—[आत्मा] यह आत्मा [निर्ग्रन्थः] ग्रन्थ-परिग्रह से रहित, [नीरागः] राग रहित, [निःशल्यः] शल्य रहित, [सकलदोषनिर्मुक्तः] संपूर्ण दोषों से रहित,

निर्ग्रन्थ मोह ग्रन्थि रहित वीतराग है ।
निःशल्य है संपूर्ण दोष रहित स्वस्थ है ॥
निष्काम है निष्क्रोध है निर्मान है आत्मा ।
आठों मदों से शून्य पूर्ण शुद्ध चिदात्मा ॥४४॥

अत्रापि शुद्धजीवस्वरूपमुक्तम् । बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्यागलक्षण-
निर्ग्रन्थः । सकलमोहरागद्वेषात्मकचेतनकर्मभावास्तीरागः । निदानमायाभिध्याशल्य-
भावान्निःशल्यः । शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवास्तिकायस्य द्रव्यभावनोकर्मभावात्
तल्लोषनिर्मुक्तः । शुद्धनिश्चयनयेन निजपरमतत्त्वेऽपि वाञ्छाभावास्त्रिःकामः । निश्चय-
नयेन प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तपरद्रव्यपरिणतेरभावान्निःक्रोधः । निश्चयनयेन सदा परम-
समरसीभावात्मकत्वान्निर्मानः । निश्चयनयेन निःशेषतोऽन्तर्मुखत्वान्निर्मदः । उक्तप्रकार-
शुद्धसहजसिद्धनित्यनिरावरणनिजकारणसमयसारस्वरूपमुपादेयमिति ।

[निःकामः] काम-इच्छाओं से रहित, [निःक्रोधः] क्रोध से रहित, [निर्मानः] मान से
रहित और [निर्मदः] मद से रहित है ।

टीका—यहां पर भी शुद्ध जीव के स्वरूप को कहा है ।

बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रहों के परित्याग लक्षण वाला होने से
आत्मा निर्ग्रन्थ है । संपूर्ण मोह रागद्वेष स्वरूप चेतनकर्मों-भावकर्मों का अभाव
होने से आत्मा नीराग है । माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों का अभाव होने
से यह आत्मा निःशल्य है । शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध जीवास्तिकाय के द्रव्यकर्म,
भावकर्म और नोकर्मों का अभाव होने से संपूर्ण दोष से रहित है । शुद्ध निश्चयनय से
परमतत्त्व में भी वाञ्छा का अभाव होने से यह आत्मा निष्काम है । निश्चयनय
प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त परद्रव्य की परिणति का अभाव होने से यह निःक्रोध
है । निश्चयनय से सदा परमसमरसी भाव स्वरूप होने से यह निर्मान है । निश्चयनय
अपेक्षा से संपूर्णतया अंतर्मुख होने से यह आत्मा निर्मद है । उक्तप्रकार का विशुद्ध
सिद्ध रूप जो नित्य, निरावरण निजकारण समयसार का स्वरूप है वही उपादेय
समझना ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—[प्रवचनसारे]

(मंदाक्रांता)

“इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृ कर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिरात्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः ।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशवे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ॥”

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तसंघातकात्मा
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्तः ।
स्वस्मिन्नुच्चैरविवलतया जातशीलस्य मूलं
यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम् ॥६६॥

उसी प्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

“श्लोकार्थ—इस प्रकार से परपरिणति के नष्ट हो जाने से और कर्ता, कर्म आदि भेदों की भ्रान्ति के भी ध्वंस हो जाने से चिरकाल से बड़ी मुश्किल से जिसने आत्म तत्त्व को उपलब्ध किया है ऐसा यह चेतन आत्मा सच्चैतन्य मात्र, स्वच्छ तेज में मूर्च्छित होता हुआ—तन्मय होता हुआ या लीन होता हुआ और उदित हो रही है सहज महिमा जिसकी ऐसा यह सर्वदा मुक्त ही रहेगा ।”

उसी प्रकार [अब टीकाकार श्री मुनिराज शुद्ध आत्म तत्त्व की वंदना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(६६) श्लोकार्थ—जिसने ज्ञानज्योति से पापरूपी अंधकार के समूह को समाप्त कर दिया है, जो नित्य आनन्द आदि अतुल महिमा का धारण करने वाला है जो हमेशा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रूप मूर्ति से रहित है, अपने स्वरूप में अत्यन्त रूप से स्थिर होने से उत्कृष्ट शील का मूल है, ऐसे उस भवभय को हरण करने वाले मोक्ष लक्ष्मी के सुख के स्वामी-भोक्ता को मैं नमस्कार करता हूँ ।

वर्णरसगंधकासा, स्त्रीपुंसणुसकादिपर्यायाः ।
संस्थानां संहनानां, सर्वे जीवस्य नो सन्ति ॥४५॥
अरसमरूपमगंधं, अव्यक्तं चेदणागुणमशब्दं ।
जानिह्यलिंगग्रहणं, जीवमनिदिष्टसंस्थानं ॥४६॥

वर्णरसगंधस्पर्शाः स्त्रीपुंसपुंसकादिपर्यायाः ।
संस्थानानि संहननानि सर्वे जीवस्य नो सन्ति ॥४५॥
अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिदिष्टसंस्थानम् ॥४६॥

ये वर्ण रस व गंध व स्पर्श जो कहें ।
स्त्री पुरुष नपुंसक जो भेद दिख रहें ॥
संस्थान और संहनन नाना प्रकार के ।
नहि जीव के हैं निश्चिन क्योंकि विकार ये ॥४५॥

रस रूप गंध ये स्वभाव जीव के नहीं ।
यह है अव्यक्त चेतना गुणमय अशब्द ही ॥
नहि लिंग व अनुमान से हो जीव का ग्रहण ।
आकार का भी इसके नहि हो सके वाचन ॥४६॥

गाथा ४५-४६

अन्वयार्थ—[वर्णरसगंधस्पर्शाः] वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, [स्त्रीपुंसपुंसकादि-
पर्यायाः] स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि पर्यायें, [संस्थानानि] सभी संस्थान और
[संहननानि] संहनन [सर्वे] ये सभी [जीवस्य नो सन्ति] जीव में नहीं हैं ।

[जीव] इस जीव को [अरस] रसरहित, [अरूपं] रूपरहित, [अगंधं]
गंधरहित, [अव्यक्तं] व्यक्तरहित, [चेतनागुणं] चेतना गुण सहित [अशब्दं] शब्द-
रहित [अलिंग ग्रहणं] लिंग-हेतु से नहीं ग्रहण करने योग्य और [अनिदिष्ट संस्थानं]
जिसका कोई संस्थान-आकार नहीं कहा जा सकता है ऐसा [जानीहि] तुम जानो ।

इह हि परमस्वभावस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य समस्तपौद्गलिकविकारजातं न समस्तीत्युक्तम् । निश्चयेन वर्णपंचकं, रसपंचकं, गन्धद्वितयं, स्पर्शाष्टकं, स्त्रीपुंनपुंसकाविविजातीयविभावव्यंजनपर्यायाः, कुब्जादिसंस्थानानि, वज्रवृषभनाराचादिसंहननानि विद्यन्ते पुद्गलानामेव, न जीवानाम् । संसारावस्थायां संसारिणो जीवस्य स्थावरनामकर्मसंयुक्तस्य कर्मफलचेतना भवति, त्रसनामकर्मसनाथस्य कार्ययुतकर्मफलचेतना भवति । कार्यपरमात्मनः कारणपरमात्मनश्च शुद्धज्ञानचेतना भवति । अत एव कार्यसमयसारस्य वा कारणसमयसारस्य वा शुद्धज्ञानचेतना सहजफलरूपा भवति । अतः सहजशुद्धज्ञानचेतनात्मानं निजकारणपरमात्मानं संसारावस्थायां मुक्तावस्थायां वा सर्वदैकरूपत्वादुपादेयमिति हे शिष्य त्वं जानीहि इति ।

तथा चोक्तमेकत्वसप्तती—

टीका—परम स्वभाव वाले कारण परमात्मा के स्वरूप में संपूर्ण पौद्गलिक विकारों का समूह नहीं है, यहां पर ऐसा कथन है ।

निश्चयनय से पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि विजानीय विभाव व्यंजन पर्यायें कुब्जक आदि संस्थान, वज्रवृषभनाराच आदि संहनन पुद्गलों के ही हैं, किन्तु जीवों के नहीं हैं । संसारावस्था में स्थावरनामकर्म से संयुक्त ऐसे संसारी जीव के कर्मफलचेतना होती है और त्रसनामकर्म से सहित जीव के कार्ययुत-कर्मचेतना सहित कर्मफलचेतना होती है । तथा कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा के शुद्धज्ञान चेतना होती है । अतएव कार्यसमयसार के अथवा कारण समयसार के शुद्धज्ञानचेतना सहजफलरूप होती है । इसलिये हे शिष्य ! सहज शुद्धज्ञानचेतना स्वरूप निजकारणपरमात्मा को तुम संसार अवस्था में अथवा मुक्त अवस्था में सर्वदा एकरूप होने से उपादेयभूत जानो, ऐसा अभिप्राय है ।

उसी प्रकार 'एकत्वसप्तति' में कहा भी है—

(मंदाक्रांता)

“आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्वा
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ॥”

तथा हि—

(मालिनी)

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्
रहितमखिलमूर्तद्रव्यजालं विचित्रम् ।
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां
भुवनविदितमेतद्ब्रूय जानीहि नित्यम् ॥७०॥

“श्लोकार्थ—आत्मा भिन्न है और उसके पीछे-पीछे चलने वाला कर्म भी भिन्न ही है। आत्मा और कर्म इन दोनों की अत्यन्त निकटता से होने वाली जो विकृति है वह भी उसी प्रकार से भिन्न ही है । तथा काल और क्षेत्र हैं प्रमुख जिसमें वे भी आत्मा से भिन्न हैं । अपने-अपने गुण और कलाओं से शोभित हुए ये सभी भिन्न-भिन्न ही हैं ।”

भावार्थ—सभी चेतन, अचेतन आदि द्रव्य अपने-अपने गुण पर्यायों से समलंकृत हैं और एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं । कर्मद्रव्य पौद्गलिक होने से वे जीव रूप नहीं हैं और जीव चैतन्यस्वरूप होने से पुद्गलरूप नहीं है । ऐसा यह कथन निश्चयनय का आश्रय करने वाला है ।

उसी प्रकार—[टीकाकार श्री मुनिराज भव्यों को शुद्धजीव के स्वरूप को समझाते हुए ब्लोक कहते हैं—]

(७०) श्लोकार्थ—बन्ध होवे चाहे न हांवे, अखिलमूर्त-पुद्गलद्रव्य का समूह जो कि विचित्र नाना प्रकार का है वह शुद्ध जीव के स्वरूप से भिन्न है । जिनेंद्र भगवान के वचन इस प्रकार से कहते हैं कि वह शुद्ध है बुद्धिमानों को भुवन में प्रसिद्ध है इस तत्व को हे भव्य ! तुम हमेशा जानो ।

जारिसिया' सिद्धप्पा, भवमल्लिय' जीवतारिसा होति ।
जरमरणजन्ममुक्ता, अष्टगुणालंकिया जेण ॥४७॥

यादृशाः सिद्धात्मानो भवमालीना जीवास्तादृशा भवन्ति ।
जरामरणजन्ममुक्ता अष्टगुणालंकृता येन ॥४७॥

जैसे हैं सभी सिद्ध आत्मायें मोक्ष में ।
संसारि जीव वैसे हैं सर्वलोक में ॥
जैसे ये जन्मजरामरण रहित सिद्ध हैं ।
ओ अष्टगुणों युक्त हैं वैसे हि ये भी हैं ॥४७॥

शुद्धद्रव्याधिकनयाभिप्रायेण संसारिजीवानां मुक्तजीवानां विशेषाभावोपन्या-
सोयम् । ये केचिद् अत्यासन्नभव्यजीवाः ते पूर्वं संसारावस्थायां संसारक्लेशायासचित्ताः

भावार्थ—भले ही कर्म का बंध होवे तो भी शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव परद्रव्य के संबंध से रहित है । ऐसा समझकर शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए । और उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए ।

गाथा ४७

अन्वयार्थ—[यादृशाः] जैसे [सिद्धात्मानः] सिद्ध परमात्मा हैं, [तादृशाः] वैसे [भवं आलीनाः] भव को प्राप्त हुए [जीवाः] संसारी जीव [भवन्ति] होते हैं । [येन] जिससे वे [जरामरणजन्ममुक्ताः] जन्म, जरा और मरण से रहित हैं, तथा [अष्टगुणालंकृताः] आठ गुणों से अलंकृत हैं । अर्थात् जिस नय से वे सिद्धसदृश हैं उसी नय से वे जन्मादि से रहित और अष्ट गुणों से सहित हैं ।

टीका—शुद्ध द्रव्याधिकनय के अभिप्राय से संसारी जीवों में और मुक्त जीवों में कुछ अंतर नहीं है, यहां यह कथन है ।

जो कोई अत्यासन्न-अतिनिकट भव्य जीव हैं वे पूर्व में संसार अवस्था में संसार के क्लेश से थके हुए चित्त वाले होते हुए सहज वैराग्य भाव में तत्परता सहित,

सन्तः सहजवैराग्यपरायणाः द्रव्यभावालिंगधराः परमगुरुप्रसादासादितपरमागमाभ्यासेन सिद्धक्षेत्रं परिप्राप्य निर्व्याबाधसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्ताः सिद्धात्मानः कार्यसमयसाररूपाः कार्यशुद्धाः । ते यादृशास्तादृशा एव भविनः शुद्धनिश्चयनयेन । येन कारणेन तादृशास्तेन जरामरणजन्ममुक्ताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणपुष्टितुष्टाश्चेति ।

(अनुष्टुभ्)

प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि ।

नयेन केनचित्तेषां भिवां कामपि वेदम्यहम् ॥७१॥

अशरीरा अविनाशा, अणिदिया शिम्मला विसुद्धया ।

जह लोयगो'सिद्धा, तह जीवा संसिदो जेया ॥४८॥

द्रव्य और भावलिंग के धारक थे वे, परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त हुये परमागम के अभ्यास के बल से सिद्ध क्षेत्र को प्राप्त करके बाधा रहित सकल विमल केवलज्ञान केवलदर्शन केवलगुण और केवलशक्ति से युक्त सिद्ध आत्मा परमात्मा कार्यसमयसार रूप कार्य शुद्ध हो चुके हैं, वे जैसे हैं, शुद्धनिश्चयनय से वैसे ही संसारी जीव हैं और जिस हेतु से वे संसारी मुक्त जीवों के सदृश हैं, उसी हेतु से वे जन्म जरा और मरण से रहित हैं तथा सम्यक्त्व आदि आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट हैं, ऐसा अभिप्राय है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज भी शुद्धनिश्चयनय के बल से संसार में भी संसारी जीवों को शुद्ध कहते हुए श्लोक कहते हैं—]

(७१) श्लोकार्थ—जिन मुबुद्धि-सिद्ध परमेष्ठी और कुबुद्धि-संसारी जीवों में भी पहले से ही शुद्धता है । उनमें कुछ भी भेद को मैं किसी नय से जानता हूँ । अर्थात् शुद्धनिश्चयनय में सभी संसारी जीव सिद्धों के सदृश शुद्ध ही हैं । कभी अशुद्ध हुये ही नहीं हैं ।

गाथा ४८

अन्वयार्थ—[अशरीराः] शरीर से रहित, [अविनाशाः] विनाश से रहित, [अतीन्द्रियाः] इंद्रियों के ज्ञानादि से रहित-अतीन्द्रिय, [निर्मलाः] कर्ममल रहित,

अशरीरा अविनाशा अतीन्द्रिया निर्मला विशुद्धात्मानः ।

यथा लोकाग्रे सिद्धास्तथा जीवाः संसृतौ ज्ञेयाः ॥४८॥

अशरीरि नाशशून्य और अमल अतीन्द्रिय ।

होकर विशुद्ध आत्मा शुचि दर्शनानमय ॥

जैसे त्रिलोकमस्तक पर सिद्ध राजते ।

वैसे ही जग में प्राणी सब साधु भाषते ॥४८॥

अयं च कार्यकारणसमयसारयोर्विशेषाभावोपन्यासः । निश्चयेन पञ्चशरीर-
प्रपञ्चाभावादशरीराः, निश्चयेन नरनारकाविपर्यायपरित्यागस्वीकाराभावादविनाशाः,
युगपत्परमतत्त्वस्थितसहजदर्शनादिकारणशुद्धस्वरूपपरिच्छित्समर्थसहजज्ञानज्योतिरपह-
स्तितसमस्तसंशयस्वरूपत्वादतीन्द्रियाः, मलजनकक्षायोपशमिकादिविभावस्वभावानाम-
भावान्निर्मलाः, द्रव्यभावकर्माभावाद् विशुद्धात्मानः यथैव लोकाग्रे भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठि-
नस्तिष्ठन्ति, तथैव संसृतावपि अभी केनचिन्नयबलेन संसारिजीवाः शुद्धा इति ।

[विशुद्धात्मानः] विशुद्ध स्वरूप वाले [यथा लोकाग्रे] जैसे लोक के अग्रभाग में
[सिद्धाः] सिद्ध भगवान् हैं, [तथा] वैसे ही [संसृतौ] संसार में [जीवाः] जीवों का
[ज्ञेयाः] जानना चाहिए ।

टीका—यह, कार्यसमयसार और कारणसमयसार में अन्तर के अभाव का
कथन है ।

निश्चयनय की अपेक्षा में पांच प्रकार के शरीर के प्रपञ्च का अभाव होने से
जो अशरीरी हैं । निश्चयनय से नरनारक आदि पर्यायों के छोड़ने और ग्रहण करने का
अभाव होने से जो अविनाशी हैं । युगपत् परमतत्त्व में स्थित सहजदर्शन आदि रूप जो
कारण शुद्धस्वरूप हैं उसको जानने में समर्थ सहजज्ञान ज्योति से समस्त संशय के
स्वरूप को दूर कर देने वाले होने से जो अतीन्द्रिय हैं, मलको उत्पन्न करने वाले ऐसे
क्षायोपशमिक आदि विभाव स्वभावों के अभाव से जो निर्मल हैं, और द्रव्यकर्म भाव-
कर्म के अभाव से जो विशुद्धात्मा हैं, जैसे वे लोक के अग्रभाग में सिद्ध परमेष्ठी
विराजमान हैं, वैसे ही संसार में भी ये संसारी जीव किसी नय के बल से शुद्ध हैं, यहां
यह अभिप्राय है ।

(शादूलविक्रीडित)

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं
शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहम् ।
इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं
सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम् ॥७२॥

विशेषार्थ—मूल गाथा में आचार्य श्री ने यही कहा है कि जैसे लोक के शिखर पर सिद्ध भगवान् विराज रहे हैं वैसे ही संसार में संसारी जीव हैं । टीकाकार ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि “केनचिन्नयबलेन” अर्थात् किसी नय की अपेक्षा ये संसारी जीव सिद्धों के सद्भाव हैं न कि व्यक्त गुणपर्यायों की अपेक्षा से । पुनः आगे स्वयं ग्रंथकार श्री कुन्दकुन्द ने ४९ वीं गाथा में नयविवक्षा खोल दी है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज नयों से अतीत अवस्था को प्राप्त हुए निर्विकल्प ध्यान में परिणत महामुनियों की वंदना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(७२) श्लोकार्थ—जो शुद्ध अशुद्ध की कल्पना है वह मिथ्यादृष्टि जीवों में हमेशा हुआ करती है । किंतु कार्यतत्त्व और कारणतत्त्व दोनों शुद्ध हैं इस प्रकार की कल्पना हमेशा सम्यग्दृष्टि को होती है । जो सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रकार से परमागम के अनुल्ल अर्थ को स्वयं जानता है । सारासार विचार से सहित मुन्दर बुद्धि वाले हम उसकी वंदना करते हैं ।

भांवार्य—सिद्ध जीव शुद्ध हैं और संसारी जीव अशुद्ध हैं इस प्रकार की कल्पना मिथ्यादृष्टि को ही रहती है उसका अभिप्राय यह है कि जिसने नयों की विवक्षा समझी नहीं है जो निश्चयनय से जीव के शुद्ध स्वरूप को नहीं जानते हैं एकांत से मात्र सिद्धों को शुद्ध और संसारी को अशुद्ध मान रहे हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं । तथा जो निश्चयनय से संसार अवस्था में भी जीव के स्वभाव को तथा सिद्धों के स्वभाव को इन दोनों अवस्थाओं को शुद्ध समझते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं । तथा वे ही शुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय से होने वाली शुद्ध अशुद्ध कल्पनारूप विकल्पों से आगे बढ़कर निर्विकल्परूप ध्यान अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं वे वीतराग सम्यग्दृष्टि होते हैं उन्हें

एवे सव्वे भावा, व्यवहारणं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा, शुद्धणया संसिदी जीवा ॥४६॥

एते सर्वे भावा व्यवहारणं प्रतीत्य भणिताः खलु ।
सर्वे सिद्धस्वभावाः शुद्धनयात् संसृता जीवाः ॥४६॥

ये सर्वे भाव जितने कह ग्राये पूर्व में ।
व्यवहार नय से होते भावा है मुरि ने ॥
संसार में भी जितने हैं जीव सदा ही ।
वे शुद्धनय से माने सब सिद्ध स्वभावी ॥४६॥

निश्चयव्यवहारनययोरुपादेयत्वप्रद्योतनमेतत् । ये पूर्व न विद्यन्ते इति प्रतिपादि-
तास्ते सर्वे विभावपर्यायाः खलु व्यवहारनयादेजेन विद्यन्ते । संसृतावपि ये विभावभाव-

ही टीकाकार महामान ने नमस्कार किया है । क्योंकि छठे मानवें गुणस्थान में परिवर्तन करने वाले मृनिराज पञ्चप्रभमलधारिदेव चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को नमस्कार नहीं कर सकते हैं ।

गाथा ४६

अन्वयार्थ—[एते सर्वे भावाः] ये सर्वे भाव [खलु] निश्चय से [व्यवहारणं प्रतीत्य भणिताः] व्यवहारण की अपेक्षा से कहे गये हैं, [शुद्धनयात्] किन्तु शुद्धनय से [संसृता] संसार में [सर्वे जीवाः] सभी जीव [सिद्धस्वभावाः] सिद्ध स्वभाव वाले हैं ।

टीका—निश्चय और व्यवहारण की उपादेयता का यह प्रकाशन है । जो 'पूर्व में विद्यमान नहीं हैं' इस प्रकार से प्रतिपादित की गई हैं वे सभी विभावपर्यायें निश्चितरूप से व्यवहारण के आदेश से (जीव में) विद्यमान हैं । संसार में भी जो जीव चार प्रकार के विभाव भावों से—आयिक, आयोपशमिक, औपशमिक और औदयिक भावों से परिणत होते हुए रहते हैं, वे भी सभी जीव शुद्धनय के आदेश से भगवान् सिद्धों के शुद्धगुण और शुद्धपर्यायों के समान ही हैं ।

चतुर्भिः परिणताः सन्तस्तिष्ठन्ति अपि च ते सर्वे भगवतां सिद्धानां शुद्धगुणपर्यायैः
सदृशाः शुद्धनयादेशादिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मानिनी)

“व्यवहारनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चिन् ॥”

विशेषार्थ — यहां पर जिस अपेक्षा से संसारी जीवों को सिद्धों के समान कहा है उसी अपेक्षा से उन संसारी जीवों के गुणपर्यायों को भी सिद्धों के समान शुद्ध कहा है । यह बात नहीं है कि द्रव्य तो वैकालिक शुद्ध हो और पर्याय संसार अवस्था में अशुद्ध है और सिद्ध अवस्था में शुद्ध हों । प्रत्युत वास्तविक बात यही है कि जिस नय ने संसारी जीवों का द्रव्य शुद्ध है उसी नय में गुणपर्यायों भी शुद्ध हैं और जिस व्यवहार-नय में संसारी जीवों का गुणपर्याय अशुद्ध है उसी नय में गुणपर्यायों के समूहस्वरूप द्रव्य भी अशुद्ध ही है, ऐसा समझना ।

उसी प्रकार से श्रीमदमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है —

“श्लोकार्थ—यद्यपि व्यवहारनय, प्राथमिक अवस्था में (जन्होंने पैर रखा है उनके लिये हस्तावलम्बन स्वरूप होता है, फिर भी अंतर्गम में पर से विरहित चिच्चामत्कार मात्र उत्कृष्ट अर्थ—शुद्धचिद्रूप लक्षण पदार्थ को देखने वालों—अनुभव करने वालों के लिये यह कुछ भी नहीं है ।”

भावार्थ—यद्यपि चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान में प्रवृत्ति करने वालों के लिये यह व्यवहारनय प्रयोजनीय है फिर भी निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर शुद्ध आत्मतत्त्व के अनुभव करने वालों के लिये यह कुछ भी महत्त्व नहीं रखता है । क्योंकि सीढ़ी की आवश्यकता ऊपर चढ़ने के लिये अवलम्बनस्वरूप होती है किन्तु ऊपर पहुंचने

तथा हि—

(स्वागता)

शुद्धनिश्चयनयेन विमुक्तौ
संसृतावपि च नास्ति विशेषः ।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे
शुद्धतत्त्वरसिकाः प्रवदन्ति ॥७३॥

के बाद सीढ़ी की आवश्यकतारूप अवलंबन स्वयं छूट जाता है । उसी प्रकार से नय प्रमाणातीत निर्विकल्प ध्यान अवस्था को प्राप्त करने के लिये ही यह व्यवहारनय अवलंबनस्वरूप है किन्तु उस निर्विकल्प अवस्था में पहुँचने पर वह स्वयं छूट जाता है ऐसा अभिप्राय है । यहाँ पर कलशकाव्य में जो 'हंत' शब्द है, श्रीशुभचंद्राचार्य ने परमाध्यात्मतरंगिणी नामकी इन कलशों की टीका में उस 'हंत' पद का अर्थ 'वाक्या-लंकाररूप' ही किया है ।

इसीप्रकार—[टीकाकार श्रीमुनिराज 'तत्त्व के विचार के अवनर में ही शुद्धनय के कथन को अपेक्षित रखना चाहिए' ऐसा कहते हुए श्लोक कहते हैं—]

(७३) श्लोकार्थ—शुद्ध निश्चयनय से मुक्ति में और संसार में भी अंतर नहीं है इस प्रकार ही निश्चित रूप से तत्त्व के विचार के समय में शुद्धतत्त्व के रसिकजन कहते हैं ।

भावार्थ—यहाँ उन लोगों को सोचना चाहिए जो कहते हैं 'कि द्रव्य त्रैकालिक शुद्ध हैं' पर्यायों ही अशुद्ध हैं । जिस नय से द्रव्य त्रैकालिक शुद्ध है अर्थात् सिद्धों के सदृश है उसी नय से गुण और पर्यायों भी त्रैकालिक शुद्ध हैं क्योंकि गुण पर्यायों कुछ आधेयरूप हों और द्रव्य आधारभूत हों ऐसा तो है नहीं प्रत्युत गुण और पर्यायों के समुदाय का नाम ही द्रव्य है । इसलिये जब व्यक्तरूप में सिद्ध अवस्था में द्रव्य शुद्ध हो जाता है तब उस द्रव्य के सभी गुण और सभी पर्यायों शुद्ध हो जाती हैं । चूँकि गुणपर्यायों की शुद्धता ही द्रव्य की शुद्धता है ।

पुर्ववृत्तसयलभावा,^१ परद्रव्यं परस्वभावमिदि हेयं ।
सगद्व्यमुपादेयं, अतस्तत्त्वं हवे अस्या ॥५०॥

पूर्वोक्तसकलभावाः परद्रव्यं परस्वभावा इति हेयाः ।
स्वकद्रव्यमुपादेयं अतस्तत्त्वं भवेदात्मा ॥५०॥

संपूर्ण भाव जितने हैं पूर्व में कहे ।
पर द्रव्य पर स्वभावी अतएव हेय है ।
निज द्रव्य सो ही अंतः स्वतत्त्व जगत में ।
निज आत्मा ही सबको उपादेय सत्य में ॥५०॥

हेयोपादेयत्यागोपादानलक्षणकथनमिदम् । ये केचिद् विभावगुणपर्यायास्ते पूर्व व्यवहारनयादेशादुपादेयत्वेनोक्ताः शुद्धनिश्चयनयबलेन हेया भवन्ति । कुतः, परस्वभावत्वात्, अत एव परद्रव्यं भवति । सकलविभावगुणपर्यायिनिर्मुक्तं शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपं स्वद्रव्यमुपादेयम् । अस्य खलु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्म-

गाथा ५०

अन्वयार्थ—[पूर्वोक्तसकलभावाः] पूर्वोक्त सभी भाव [परद्रव्यं परस्वभावाः] परद्रव्यरूप परस्वभाव हैं, [इतिहेयाः] इसलिए हेय हैं, [अतस्तत्त्वं आत्मा] चैतन्य-तत्त्वरूप आत्मा [स्वकद्रव्यं उपादेयं भवेत्] स्वकीयद्रव्य है, इसलिए उपादेय होना है ।

टीका—यह हेय के त्यागस्वरूप का और उपादेय के ग्रहणस्वरूप का कथन है ।

जो कोई भी विभावगुण और विभावपर्यायें हैं वे पूर्व में व्यवहारनय की ओक्षा से उपादेयरूप से कही गई हैं किंतु वे शुद्धनिश्चयनय के बल से हेय होनी हैं । क्यों ? क्योंकि वे परस्वभावरूप हैं और इसीलिए वे परद्रव्य हैं । सकलविभावगुण और

कस्य शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्याधारः सहजपरमपारिणामिकभावलक्षणकारणसमयसार इति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(शार्दूलविक्रीडित)

“सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितमोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परब्रह्मं समग्रा अपि ॥”

तथा हि—

विभावपर्यायों से रहित शुद्धचैतन्यतत्त्वस्वरूप जो स्वद्रव्य है वही उपादेय है । निश्चित रूप से सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र्य, सहजपरमवीतराग सुखात्मक शुद्धचैतन्य-तत्त्वस्वरूप इस स्वकीय द्रव्य का आधार सहज परमपारिणामिक भाव लक्षणवाला कारणसमयसार है, ऐसा समझना ।

उसी प्रकार से श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है —

“श्लोकार्थ—‘जिनके चित्त का चारित्र्य उदात्त—उत्तम है ऐसे मोक्षार्थी-मुमुक्षुयोगीजन इस सिद्धान्त का संवन करो—आश्रय लेवो कि “मैं तो सदा ही शुद्ध हूँ चिन्मय एक ही परम ज्योतिस्वरूप हूँ” और ये जो भिन्न-भिन्न लक्षण वाले विविधभाव स्फुरित हो रहे हैं, वे भाव मैं नहीं हूँ क्योंकि यहां पर वे सम्पूर्ण भी भाव मुझसे पर ब्रह्मरूप हैं । अर्थात् अपने शुद्ध चैतन्यभाव को ही ग्रहण करके सम्पूर्ण पौद्गलिक परभावों को छोड़ना चाहिए, यहां ऐसा उपदेश है ।

उसी प्रकार से—[अब टीकाकार श्री मुनिराज अपूर्वलाभ के उपाय को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(शालिनी)

न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकाया-
दन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः ।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी
सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वाम् ॥७४॥

विवरीयाभिनिवेशविवर्जितसद्ग्रहणमेव सम्मत्तं ।
संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं होदि सण्णाणं ॥५१॥
चलमलिणमगाढतविवर्जितसद्ग्रहणमेव सम्मत्तं ।
अधिगमभावो णाणं, हेयोवादेयतच्छाणं ॥५२॥
सम्मत्तस्स णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अन्तरहेऊ भणिदा, दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

(७४) श्लोकार्थ—शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य सभी पुद्गल द्रव्य के भाव निश्चित ही हमारे नहीं हैं । इस प्रकार से जो तत्त्ववेदी स्पष्टनया कहता है वह अनि अपूर्व सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—शुद्ध जीव से सभी पौद्गलिक भाव भिन्न हैं ऐसा जो तत्त्ववेदी कहता है वह अपूर्व सिद्धपद को प्राप्त कर लेता है । यहां ऐसा कहने का अर्थ वचन मात्र से कहना नहीं लेना, क्योंकि वचन मात्र से कहने वाले जीव कभी मुक्त नहीं हुए हैं । यहां अभिप्राय यह है कि जो इस प्रकार से अपने शुद्ध आत्मतत्त्व को पर से पृथक् करके अनुभव करता है उसका ध्यान करते हुए उसमें तन्मय हो जाता है वही पूर्व में कभी नहीं प्राप्त हुई ऐसी अपूर्व सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

गाथा ५१ से ५५

अन्वयार्थ—[विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानं एव सम्यक्त्वं] विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, [संशयविमोहविभ्रमविवर्जितं संज्ञानं भवति] संशय, विमोह और विभ्रम से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है ।

सम्मतं सण्णाणं, विज्जदि मोक्खस्स होदि सुणं चरणं ।
 ववहारणिच्छएण दु, तम्हा चरण पवक्खामि ॥५४॥
 ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।
 णिच्छयणयचारित्ते, तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

विपरीताभिनिवेशविर्वाजितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।
 संशयविमोहविभ्रमविर्वाजितं भवति संज्ञानम् ॥५१॥
 चलमलिनमगाढत्वविर्वाजितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।
 अधिगमभावो ज्ञानं हेयोपादेयतत्त्वानाम् ॥५२॥
 सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्य जायकाः पुरुषाः ।
 अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः ॥५३॥
 सम्यक्त्वं संज्ञानं विद्यते मोक्षस्य भवति शृणुचरणम् ।
 व्यवहारनिश्चयेन तु तस्माच्चरणं प्रवक्ष्यामि ॥५४॥

[चलमलिनं अगाढत्वविर्वाजितश्रद्धानं एव] चल. मलिन. और अगाढ़ दोषों से रहित श्रद्धान ही [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व है. [हेयोपादेयतत्त्वानां] हेय और उपादेय तत्त्वों का [अधिगमभावः] जानने रूप भाव [ज्ञानं] ज्ञान है ।

[जिनसूत्रं तस्य जायकाः पुरुषाः सम्यक्त्वस्य निमित्तं] जिनसूत्र और उनके जानने वाले पुरुष सम्यक्त्व के लिए बाह्य निमित्त हैं । [दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः अन्तर्हेतवः भणिताः] दर्शनमोह का क्षय, क्षयोपशम आदि अन्तर्गम हेतु कहे गये हैं ।

[मोक्षस्य] मोक्ष के लिए [सम्यक्त्वं ज्ञानं विद्यते] सम्यक्दर्शन और ज्ञान होता है तथा [चरणं भवति] चारित्र्य भी होता है. [तस्मात् तु] इसलिए मैं [व्यवहारनिश्चयेन] व्यवहार और निश्चय से [चरणं प्रवक्ष्यामि] चारित्र्य को कहूँगा. [शृणु] हे शिष्य ! तुम सुनो ।

व्यवहारनयचारित्र्ये व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणम् ।

निश्चयनयचारित्र्ये तपश्चरणं भवति निश्चयतः ॥५५॥

विपरीत अभिप्राय मे वर्जित जो निरन्तर ।

श्रद्धान बही माना सम्यक्त्व शुभंकर ॥

संशय विमोह विश्रम से हीन ज्ञान जो ।

निजपर विवेक कर्ता सम्यक्त्व ज्ञान वो ॥५१॥

चलदोष मलिनदोष श्री अगाढ़ दोष हैं ।

इनसे रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व श्रेष्ठ हैं ॥

जो हेय उपादेय नत्व आर्ष में साये ।

उनका हि जानना वो श्रेष्ठ ज्ञान कहाये ॥५२॥

जिनमूत्र श्री उन मूत्र के जाता जो पुरुष हैं ।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति में माने निमित्त हैं ॥

दर्शन प्रमोह का कहा धय उपशमादि जो ।

बस अन्तरंग हेतू सम्यक्त्व का है वो ॥५३॥

सम्यक्त्व व संज्ञान थे हैं मोक्ष के लिये ।

चारित्र्य भी है मोक्ष का कारण उसे सुनिये ॥

चारित्र्य वो व्यवहार व निश्चय से द्विविध हैं ।

इस हेतु मैं उसको कहूंगा जो कि विविध है ॥५४॥

व्यवहार नय के चारित में जो तपश्चरण ।

व्यवहार नय का होता है मुख्य आचरण ॥

निश्चयनयों के आश्रित चारित्र्य में चरण ।

निश्चय से वो कहाना निज का तपश्चरण ॥५५॥

[व्यवहारनय चारित्र्ये] व्यवहारनय के चारित्र्य में [व्यवहारनयस्य तपश्चरणं] व्यवहारनय का तपश्चरण [भवति] होता है और [निश्चयनय चारित्र्ये] निश्चयनय के चारित्र्य में [निश्चयतः] निश्चयनय का [तपश्चरणं] तपश्चरण [भवति] होता है ।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत् । भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेश-
विर्वाजितश्रद्धानरूपं भगवतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां पंचपरमेष्ठिनां चलमलिनागाढ-
निर्विकलितसमुपजित्तिगमिश्रयत्नवृत्तिदुक्तव्यमेव । विपरीते हरिहिरण्यगर्भादिप्रणीते पदार्थ-
सार्थे ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः । संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेव । तत्र
संशयः तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति । विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयः ।
विभ्रमो ह्यज्ञानत्वमेव । पापक्रियानिवृत्तिपरिणामश्चारित्र्यम् । इति भेदोपचाररत्नत्रय-
परिणतिः । तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेवसम्यग्ज्ञानम् । अस्य सम्यक्त्व-
परिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं बीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादन-
समर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति । ये मुमुक्षवः तेष्युपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात्
अंतरंगहेतव इत्युक्ताः दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति । अभेदानुपचाररत्नत्रय-

टीका—यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है ।

भेदोपचार रत्नत्रय भी सर्वग प्रथम विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धानरूप
है और वह सिद्धि के लिए परम्परा में कारणभूत ऐसे भगवान् पंच परमेष्ठियों में मल,
मलिन और अगाढ़ दोषों से रहित, उत्पन्न होने वाली जो निश्चल भक्ति है उसमें युक्त
ही है । अर्थात् विपरीत हरि-विष्णु, हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा आदि के द्वारा प्रणीत पदार्थों के
समूह में आग्रह का अभाव होना ही सम्यक्त्व है, यहां ऐसा अर्थ है ।

सम्यग्ज्ञान भी संशय, विमोह और विभ्रम दोषों से रहित ही है । उनमें से
प्रथम, जिनेंद्र भगवान् देव हैं या शिव-परमेश्वर देव हैं ? इस भाव को संशय कहते हैं ।
शाक्य-बुद्ध आदि के द्वारा कथित वस्तु में निश्चय करना विमोह है, विभ्रम अज्ञानरूप
ही है, और पाप क्रियाओं से निवृत्तिरूप परिणाम चारित्र्य है, इसप्रकार से भेदोपचार
रत्नत्रय की परिणति है । इसमें जिनेंद्रदेव द्वारा प्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वों का जानना
ही सम्यग्ज्ञान है । इस सम्यक्त्व परिणाम के लिए बाह्य सहकारी कारण, बीतराग
सर्वज्ञ के मुख कमल से विनिर्गत समस्त वस्तुओं के प्रतिपादन में समर्थ द्रव्य श्रुतरूप
तत्त्वज्ञान ही है और जो मुमुक्षु-मुनि हैं वे भी उपचार से पदार्थों के निर्णय में हेतु
होने से अंतरंग हेतु कहे गये हैं, क्योंकि वे भी दर्शन मोहनीय के क्षय, उपशम,
क्षयोपशम आदि में हेतु होते हैं ।

परिणतेर्जोदस्य टंकोत्कीर्णजायकैकस्वभावनिजपरमतत्त्वश्रद्धानेन, तत्परिच्छित्तिमात्रांत-
र्गपरमबोधेन, तद्रूपाविचलस्थितिरूपसहजचारित्र्येण अभूतपूर्वः सिद्धपर्यायो भवति ।
यः परमजिनयोगीश्वरः प्रथमं पापक्रियानिवृत्तिरूपव्यवहारनयचारित्र्ये तिष्ठति, तस्य
सहज निश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मक-
परमात्मनि प्रतपनं तपः । स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्र्यम् अनेन तपसा
भवतीति ।

अभेद-अनुपचार रत्नत्रय में परिणत हुए जीव के टंकोत्कीर्ण जायक एक
स्वभाव निजपरमतत्त्व के श्रद्धान से, उस टंकोत्कीर्ण जायक एक स्वभाव निजपरम
तत्त्व को जानने मात्र अंतर्मुख हुए परमबोध से और उसी टंकोत्कीर्ण एक स्वरूप में
अविचल स्थितिरूप सहजचारित्र्य में अभूतपूर्व सिद्धपर्याय प्रगट होती है ।

जो परम जिनयोगीश्वर पहले पाप क्रियाओं के अभावरूप व्यवहार चारित्र्य
में स्थित होते हैं, उनके निश्चितरूप में व्यवहारनय के विषयभूत व्यवहार तपश्चरण
ही होता है, तथा सहजनिश्चयनयात्मक परमस्वभावरूप परमात्मा में प्रतपन करना तप
ही है जो अपने स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहजनिश्चयचारित्र्य है वह इस निश्चयतप
में सिद्ध होता है, ऐसा अर्थ है ।

विशेषार्थ—यहां पर तीन गाथाओं में ग्रंथकार ने व्यवहार सम्यक्त्व और
उत्पत्ति के कारण को बतलाया है पुनः दो गाथाओं से निश्चयव्यवहार रत्नत्रय
में संकेत करते हुए व्यवहार-निश्चय चारित्र्य को कहने की सूचना दी है ।

एक बात यहां ५३ वीं गाथा की टीका में महत्त्व की बतलाई है कि सम्यक्त्व
निमित्त जिनसूत्र हैं और उनके जानने वाले पुरुष अंतरंग हेतु हैं । इसका मतलब
यह है कि सम्यक्त्व का अंतरंग हेतु तो दर्शनमोहनीय आदि कर्मों का क्षय, उपशम-
न ही का क्षयोपशम है । उस दर्शनमोहनीय के क्षय आदि में ये जिनसूत्र के जायक पुरुष
काम्य माने गये हैं, इसलिए वे भी अंतरंग हेतु के हेतु होने से उपचार से अंतरंग हेतु
माने गये हैं । आगम में श्रायिकसम्यक्त्व के लिये तो नियम से केवली या श्रुत-
केवली का पादमूल बतलाया है । यथा—“दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय होने का प्रारम्भ
श्रुतकेवली के पादमूल में कर्मभूमि का उत्पन्न हुआ मनुष्य ही करता है

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

(अनुष्टुभ्)

“दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।

स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ॥”

तथा च—

तथा निष्ठापन सर्वत्र हो सकता है ।” इसलिए यहां पर जिनसूत्र को तो बाह्य सहकारी कारण कहा है और उनके जानने वाले श्रुतकेवली आदि महामुनियों को अंतरंग हेतु कह दिया है ।

अनंतर टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय-रत्नत्रय को प्राप्तकर यह भव्यजीव जो कभी नहीं प्राप्त हुई ऐसी अभूतपूर्व सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है । आगे स्वयं ग्रंथकार व्यवहार चारित्र का वर्णन करेंगे, पुनः निश्चयप्रतिक्रमण आदि रूप में निश्चयचारित्र्य का वर्णन करेंगे ।

[निश्चयचारित्र्य की महत्ता को बतलाने हुए—]

एकत्वसप्तति में श्रीपद्मनंदि आचार्य ने भी उसी प्रकार से कहा है—

“श्लोकार्थ—आत्मा का निश्चय दर्शन है, आत्मा का बोध वह ज्ञान है, और उसी आत्मा में ही स्थिति होना सो चारित्र्य है । इसप्रकार का योग शिवपद का कारण है । अर्थात् अपनी आत्मा का निश्चय होना, ज्ञान होना और उसी में एकाग्र स्थिर हो जाना यह निश्चयरत्नत्रय ही साक्षात् मोक्ष का कारण है ।

और उसीप्रकार—[टीकाकार श्री मुनिराज निश्चयरत्नत्रय की महिमा को बतलाते हुए इस शुद्ध अधिकार को पूर्ण करते हैं—]

१. दंसणमोहकखवणापट्टवगो कम्मभूमिजादो ह ।

मणुसो केवलमूले णिट्टवगो हीदि सव्वत्थ ॥६४॥

[गो. कर्म.]

(मालिनी)

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम् ।
अघकुलमलपंकानोकनिर्मुक्तमूर्तिः
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च ॥७५॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रह-श्रीपद्मप्रभमल-
शरिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धभावाधिकारः तृतीयः
श्रुतस्कन्धः ॥

(७५) श्लोकार्थ—सहज ज्ञान, वैसा ही सहज दर्शन और वैसा ही सहज
विशुद्धचार्ित्र ये तीनों नित्य ही जयशील होते हैं, और पापरूप मलपंक की पंक्ति से
निर्मुक्त मूर्तिस्वरूप, सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयशील होती है ।

विशेषार्थ—यहां जीव के शुद्धभावों को बतलाने हुए आचार्यवर्य श्रीकुन्दकुन्द-
देव ने गाथा ३८ में लेकर ५५ पर्यंत में यह अधिकार पूर्ण किया है । सबसे पहले इस
अधिकार में ग्रंथकार शुद्धनिश्चयनय से जीव के औपपाधिक भाव नहीं हैं इस बात को
४२ गाथा तक कहा है । पुनः जीव को निर्दंड स्वभाव आदि कहते हुए ४९ गाथा तक
जीव के स्वभाव को विशेष स्पष्ट किया है । अनंतर वह बताया है कि ये संसारी जीव
भी सिद्धों के समान पूर्णतया शुद्ध हैं, आगे नयविवक्षा को स्पष्ट करते हुए शुद्धनय से
ही संसारी जीवों को सिद्धसदृश कहना चाहिए ऐसा कहा है । पुनः व्यवहार सम्यक्त्व
के लक्षण को उसकी उत्पत्ति के बहिरंग अंतरंग कारणों को कहते हुए निश्चय व्यवहार
स्मृत्य को कहा है । इस प्रकार इस अधिकार में मुख्यतया जीव को शुद्धनय से पूर्ण
शुद्ध कहा है ।

इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए सूर्य समान, पंचेन्द्रिय के विस्तार
से सात्रमात्र परिग्रहधारी श्रीपद्मप्रभमलधारीदेव के द्वारा विरचित नियमसार की
तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धभाव अधिकार नामक तृतीय श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ ।

[४]

व्यवहारचारित्र्य अधिकार

अथेदानीं व्यवहारचारित्र्याधिकार उच्यते ।

कुलजोणि जीवमग्नगणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं ।
तस्सारंभणियत्तण परिणामो होइ पढमवदं ॥५६॥

कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम् ।
तस्यारम्भनिवृत्तिपरिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥५६॥

[चाल छन्द : हे दीनबन्धु.....]

कुल योनि जीव मार्गणा स्थान आदि में ।
जीवों को जान करके जैसे कहें उनमें ॥
उन जीव के आरम्भ से निवृत्ति भाव जो ।
वो ही प्रथम महाव्रत है सर्व श्रेष्ठ वो ॥५६॥

अब इस समय व्यवहारचारित्र्य का अधिकार कहा जाता है ।

गाथा ५६

अन्वयार्थ—[कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु] कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान आदि में [जीवानाम्] जीवों को [ज्ञात्वा] जानकर [तस्य] उसके [आरम्भनिवृत्तिपरिणामः] आरम्भ से निवृत्तिरूप परिणाम वह [प्रथमव्रतं] प्रथमव्रत—पहला महाव्रत [भवति] होता है ।

अहिंसाव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् । कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणा-
स्थानविकल्पाश्च प्रागेव प्रतिपादिताः । अत्र पुनरुक्तिदोषभयान्न प्रतिपादिताः । तत्रैव
तेषां भवान् बुद्ध्वा तद्रक्षापरिणतिरेव भवत्यहिंसा । तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्न-
परिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो न भवति । अत एव प्रयत्नपरे हिंसापरिणतेरभावाद-
हिंसाव्रतं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

(विश्वरिणी)

“अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥”

टीका—यह अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है ।

कुलों के भेद, योनियों के भेद, जीवस्थान के भेद और मार्गणास्थानों के भेद
पहले ही प्रतिपादित किये गये हैं । यहाँ पुनरुक्ति दोष के भय से पुनः नहीं प्रतिपादित
किये हैं । वहीं पर कहे हुए उनके भेदों को जानकर उनके रक्षा की परिणति ही
अहिंसा होती है । उन जीवों का मरण हो अथवा न हो, किन्तु प्रयत्न परिणाम के बिना
सावद्यदोष का परिहार नहीं होता है । इसीलिए प्रयत्न में तत्पर होने पर हिंसा की
परिणति का अभाव होने से अहिंसाव्रत होता है ।

उसी प्रकार से श्री समन्तभद्रस्वामी ने कहा है—

अर्थ—जीवों की अहिंसा परमब्रह्मस्वरूप है, यह बात जगत् में विदित है ।
जिस आश्रम के विधान में अणुमात्र भी आरम्भ है वहाँ पर वह अहिंसा नहीं है । अतः
उस अहिंसा की सिद्धि के लिये हे भगवन् ! परमकारुणिक आपने ही उभय-अंतरंग
और बहिरंग परिग्रह का त्याग कर दिया, और आप विकृतवेश तथा उपधि-परिग्रह में
रत नहीं हुए ।”

तथा हि—

(मालिनी)

व्रसहृतिपरिणामध्वांतविध्वंसहेतुः

सकलभुवनजीवग्रामसौख्यप्रदो यः ।

स जयति जिनधर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां

विविधवधविदूरश्चारुशर्माब्धिपूरः ॥७६॥

रागेण वा दोषेण वा, मोहेण वा मोसभासपरिणामं ।

जो पजहदि^१ साहु सया, विदियवदं होइ तस्सेव ॥५७॥

रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा मृषाभाषापरिणामं ।

यः प्रजहाति साधुः सदा द्वितीयव्रतं भवति तस्यैव ॥५७॥

उसी प्रकार से [टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं—]

(७६) श्लोकार्थ—जो व्रसघात के परिणामरूप अंधकार के विध्वंस का हेतु है, सकलभुवन के जीवसमूह को सौख्य प्रदान करने वाला है, जिसमें स्थावर कायिक एकेन्द्रिय जीवों के विविध प्रकार के वध बहुत ही दूर हैं और जो उत्तम सुखरूपी समुद्र का पूर है ऐसा वह जैनधर्म जयशील होता है ॥७६॥

भावार्थ—जो धर्म व्रम स्थावर की हिंसा से दूर है और सभी जीवों को सुखदायी है तथा उत्तम सुख का सागर है वह आज भी जयवंत हो रहा है ।

गाथा ५७

अन्वयार्थ—[रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा] राग से अथवा द्वेष से अथवा मोह से होने वाले [मृषाभाषा परिणामं] असत्य भाषा के परिणाम को [यः साधुः]

जो राग से या द्वेष से वा मोह से कभी ।
होता असत्य भाषण परिणाम अशुभ ही ॥
उसको जो छोड़ते हैं उन साधु के सदा ।
होता द्वितीयव्रत है जो सत्य नाम का ॥५७॥

सत्यव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् । अत्र मृषापरिणामः सत्यप्रतिपक्षः, स च रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा जायते । तदा यः साधुः आसन्नभव्यजीवः तं परिणामं परित्यजति तस्य द्वितीयव्रतं भवति इति ।

(शालिनी)

वक्ति व्यक्तं सत्यमुच्चैर्जनो यः
स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात् ।
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः
सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम् ॥७७॥

प्रजहाति] जो साधु छोड़ता है, [तस्य एव सदा] उसी के सदा [द्वितीयव्रतं भवति] द्वितीय महाव्रत होता है ।

टीका—यह सत्यव्रत के स्वरूप का कथन है ।

यहां पर सत्य से विरुद्ध जो परिणाम है वह मृषा-असत्य परिणाम है । वह परिणाम राग से अथवा द्वेष से अथवा मोह से उत्पन्न होता है । जो आसन्नभव्य जीव साधु उस असत्य परिणाम का त्याग कर देता है, उसके दूसरा महाव्रत होता है ।

[अब टीकाकार श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव] टीका पूर्ण करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(७७) श्लोकार्थ—जो पुरुष अन्यन्त स्पष्टरूप सत्य वचन को बोलता है वह स्वर्ग की देवांगनाओं के विपुल भोगों का एक भागी-भोक्ता हो जाता है और इस लोक में हमेशा सर्व सत्पुरुषों के द्वारा पूज्य हो जाता है सचमुच में सत्य से बढ़कर क्या अन्य कोई सत्य-समीचीनव्रत हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है ॥७७॥

ग्रामे वा नगरे^१ वा, ऽरण्ये वा पेच्छित्वा परमर्थं ।
जो मुयदि ग्रहणभावं, तदिदिवदं होवि तस्सेव ॥५८॥

ग्रामे वा नगरे वा ऽरण्ये वा प्रेक्षयित्वा परमर्थम् ।
यो मुंचति ग्रहणभावं तृतीयव्रतं भवति तस्यैव ॥५८॥

जो ग्राम या नगर में या वन में कहीं भी ।
पर वस्तु व पर शिष्यों को देख करके भी ॥
जो छोड़ते उन सबके ग्रहण भाव को मुदा ।
उनका अचौर्यव्रत ये दे स्वात्म मंदा ॥५८॥

तृतीयव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् । वृत्त्यावृत्तो ग्रामः तस्मिन् वा चतुर्भिर्गोपुरैर्भासुरं
नगरं तस्मिन् वा मनुष्यसंचारशून्यं वनस्पतिजातवल्लीगुल्मप्रभृतिभिः परिपूर्णभरण्यं
तस्मिन् वा परेण वा विसृष्टं निहितं पतितं वा विस्मृतं वा परद्रव्यं दृष्ट्वा स्वीकार-
परिणामं यः परित्यजति, तस्य हि तृतीयव्रतं भवति ।

गाथा ५८

अन्वयार्थ—[ग्रामे वा नगरे वा ऽरण्ये वा] ग्राम में, अथवा नगर में, अथवा
वन में [यः परं अर्थं प्रेक्षयित्वा ग्रहणभावं मुंचति] जो याधु पन्धन को देखकर उसके
ग्रहण करने के भाव का त्याग कर देता है, [तस्य एव तृतीयं व्रतं भवति] उसके ही
तीसरा व्रत-अचौर्य महाव्रत होता है ।

टीका—यह तीसरे व्रत के स्वरूप का कथन है ।

जो चारों तरफ से बाड़ से वेष्टित हो वह ग्राम कहलाता है, चारों तरफ
चार गोपुर द्वारों से मुशोभित को नगर कहते हैं, मनुष्य के संचार से शून्य वनस्पति
समूह, बेल, और छोटे-छोटे वृक्षों के झुण्ड आदि से परिपूर्ण स्थान को वन कहते हैं ।
ऐसे ग्राम में अथवा नगर में अथवा वन में पर के द्वारा छोड़ी गई, रखी हुई, अथवा
गिरी हुई, अथवा भूली हुई पर वस्तु को देखकर उसके स्वीकार करने के परिणाम का
जो त्याग कर देता है, निश्चित ही उसके तीसरा महाव्रत होता है ।

(आर्या)

आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्यमेतदिह ।

स्वर्गंस्त्रीसुखमूलं क्रमेण सुवर्त्यंगनायाश्च ॥७८॥

दट्ठूण इत्थिरुवं, वांछाभावं णियत्तदे [णिवत्तदे] तासु ।

मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं [तुरियवदं] ॥५६॥

दृष्ट्वा स्त्रीरूपं वांछाभावं निवर्तते तासु ।

मैथुनसंज्ञाविवर्जितपरिणामोऽथवा तुरीयव्रतम् ॥५६॥

जो स्त्रियों के रूप को नेत्रों ने देखकर ।

वाञ्छा न करते किंचित् परिपूर्ण विरतिपर ।

या उनके भाव मैथुन संज्ञा से रहित जो ।

त्रैलोक्य पूज्य माना महाव्रत चतुर्थ वा ॥५६॥

चतुर्थव्रतस्वरूपकथनमिदम् । कमनीयकामिनीनां तन्मनोहरांगनिरीक्षणद्वारेण समुपजनितकौतूहलचित्तवांछापरित्यागेन, अथवा पुंवेदोदयाभिधाननोकषायतीव्रोदयेन संजातमैथुनसंज्ञापरित्यागलक्षणशुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्यव्रतं भवति इति ।

[अब टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक के द्वारा तृतीय व्रत का महत्त्व बतलाते हैं—]

(७८) श्लोकार्थ—यह उत्कृष्ट अचौर्यव्रत इस लोक में रत्नों के समूह को आकर्षित करता है और (परलोक में) स्वर्ग की देवांगनाओं के सुख का मूल है तथा क्रम से मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का भी कारण है ॥७८॥

गाथा ५६

अन्वयार्थ—[स्त्रीरूपं दृष्ट्वा] स्त्रियों के रूप को देखकर [तासु वांछाभावं निवर्तते] उनमें जो वांछा भाव को नहीं करता है, [अथवा मैथुनसंज्ञाविवर्जितपरिणामः तुरीयव्रतम्] अथवा मैथुन संज्ञा से रहित जो परिणाम है वह चौथा महाव्रत है ।

टीका—यह चौथे महाव्रत के स्वरूप का कथन है ।

मुन्दर कामिनियों में उनके मनोहर अंगों के निरीक्षण द्वारा उत्पन्न हुए कौतूहलरूप चित्त की इच्छा के परित्याग से, अथवा पुरुषवेद नामक नो कषाय के तीव्र

(मानिनी)

नयति लज्जामूर्तिः कामिनीनां विभूतिं
स्मरसि मनसि कामिस्त्वं तदा मद्वचः किम् ।
सहज परमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय
व्रजसि विपुलमोहं हेतुना केन चित्रम् ॥७६॥

सर्वेषां ग्रन्थानां, चागो निरपेक्षभावनापूर्वम् ।
पंचमवदमिदि^१ भणितं, चारित्रभरं वहंतस्स ॥६०॥

सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागो निरपेक्षभावनापूर्वम् ।
पंचमवतमिति भणितं चारित्रभरं वहतः ॥६०॥

जो ग्रन्थ नाम परिग्रह संपूर्ण त्यागते ।
निरपेक्ष भाव से उन्हें निरग्रन्थ मानते ॥
चारित्र भार का वहन जो करते उन्हीं को ।
होता वे पांचवाँ वत दिग्बस्त्र रूप जो ॥६०॥

उदय से उत्पन्न हुई जो मैथुन संज्ञा है, उसके परित्यागलक्षण शुभपरिणाम से ब्रह्मचर्यव्रत होता है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज स्त्री मुख की अपेक्षा सहज शुद्ध आत्मस्वरूप की महिमा को बतलाने हुए स्त्रियों के स्मरण को त्याग करने का संकेत कर रहे हैं—]

(७६) श्लोकार्थ—कामिनी स्त्रियों की जो शरीर विभूति, शरीर के आंगो-पांग सौन्दर्य आदि हैं, हे कामी पुरुष ! तू यदि उस विभूति-सौन्दर्य आदि का मन में स्मरण करता है तब तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा ? अहो ! आश्चर्य हो रहा है कि तू किस हेतु से सहज परम तत्त्व रूप निजस्वरूप को छोड़ करके अत्यधिक मोह को प्राप्त हो रहा है अर्थात् सहज तत्त्व रूप जो निज परमात्मा है उसमें जो आनन्द है वह स्त्रियों के मोह में आसक्त हुए जीवों को नहीं मिल सकता है ।

गाथा ६०

ग्रन्थार्थ—[निरपेक्षभावनापूर्वम्] किसी प्रकार की अपेक्षा से रहित निरपेक्ष भावना पूर्वक [सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागः] संपूर्ण परिग्रहों का त्याग करना, [चारित्रभरं

इह हि पञ्चमव्रतस्वरूपमुक्तम् । सकलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिजकारणपरमात्मस्वरूपावस्थितानां परमसंयमिनां परमजिनयोगीश्वराणां सदैव निश्चयव्यवहारात्मकचारित्र्यभरं वहतां, बाह्यआभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्याग एव परम्परया पञ्चमगतिहेतुभूतं पञ्चमव्रतमिति ।

तथा चोक्तं समयसारे—

“मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झं ॥”

तथा हि—

वहतः पञ्चमव्रतं इति भणितम्] वह चारित्र्य के भार को वहन करने वाले साधु का पांचवां व्रत कहलाता है ।

टीका—यहाँ यह पञ्चमव्रत का स्वरूप कहा है ।

संपूर्ण परिग्रह के परित्यागलक्षण निज कारणपरमात्मा के स्वरूप में जो स्थित हैं, परमसंयमी हैं, परमजिन योगियों के स्वामी हैं, तथा हमेशा ही जो निश्चय और व्यवहार स्वरूप श्रेष्ठ चारित्र्य के भार को वहन करने वाले हैं ऐसे साधुओं के बाह्य और आभ्यन्तररूप से चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग ही परम्परा से पञ्चमगति के लिए कारणभूत पांचवां व्रत कहलाता है ।

उसी प्रकार 'समयसार' में भी कहा है—

“यदि यह बाह्य परिग्रह मेरा हो जावे तब तो मैं अजीवपने को प्राप्त हो जाऊँ । जिस हेतु से मैं ज्ञाता ही हूँ उसी हेतु से यह परिग्रह मेरा नहीं है ।”

[इसी बात को श्री टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा आत्मस्वरूप में स्थिर होने का उपदेश दे रहे हैं—]

(हरिणी)

त्यजतु भवभीरुत्वाद्भुव्यः परिग्रहविग्रहं
 निरुपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि ।
 स्थितिमविचलां शर्माकारां जगज्जनदुर्लभां
 न च भवति महश्चित्रं चित्रं सतामसताभिदम् ॥८०॥

पासुगमग्गेण दिवा, अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि ।
 गच्छइ पुरदो समणो, इरियासमिदी हवे तस्स ॥८१॥

प्रासुकमार्गेण दिवा अवलोकयन् युगप्रमाणं खलु ।
 गच्छति पुरतः श्रमणः ईर्यासमितिर्भवेत्तस्य ॥८१॥

दिन में जो चलते प्रासुकनिर्जंतु मार्ग से ।
 आगे ही देख करके चलकर प्रमाण ले ॥
 निजकार्य वश से करते भू पर सदा गमन ।
 ईर्यासमिति है उनके वे भाव से श्रमण ॥८१॥

(८०) श्लोकार्थ—भव्यजीव भवभीरु होने से परिग्रह के विशेष आग्रह को या ग्रहण को छोड़ो और निरुपम सुख के आवास (मोक्षपद) की प्राप्ति के लिए अपनी आत्मा में जगत के जीवों को दुर्लभ, सुखमयी ऐसी अविचल स्थिति को करो । और यह निजात्मा में स्थिति करना सत्पुरुष-साधुओं के लिए कोई महान् आश्चर्य नहीं है किन्तु असत्पुरुष-असाधुजनों के लिए ही यह आश्चर्य की बात है ॥८०॥

भावार्थ—यहां परिग्रह के त्याग की प्रेरणा दी है और मोक्ष पद की प्राप्ति के लिये आत्मा में अविचल स्थिर होने का आदेश दिया है तथा यह भी बतलाया है कि संपूर्ण परिग्रह को छोड़कर शुद्ध आत्मा में स्थिर होना यह जगत के जीवों के लिए दुर्लभ है । इसके प्राप्त करने में महापुरुषों को तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है अर्थात् वे सहज ही प्राप्त कर सकते हैं किन्तु अराज्जन पुरुषों को आश्चर्यकारी अवश्य है अर्थात् वे प्राप्त नहीं कर पाते हैं ।

गाथा ६१

अन्वयार्थ—[प्रासुकमार्गेण दिवा] जीवजंतु रहित प्रासुकमार्ग में दिवस में [खलु युगप्रमाणं पुरतः अवलोकयन्] निश्चित ही चार हाथ प्रमाण आगे देखकर

अत्रैर्यासमितिस्वरूपमुक्तम् । यः परमसंयमी गुरुदेवयात्रादिप्रशस्तप्रयोजनमुद्दिश्यैकयुगप्रमाणं मार्गम् अवलोकयन् स्थावरजंगमप्राणिपरिरक्षार्थं दिव्यं गच्छति, तस्य क्लृप्तं परमधर्मणस्यैर्यासमितिर्भवति । व्यवहारसमितिस्वरूपमुक्तम् । इदानीं निश्चयसमितिस्वरूपमुच्यते । अभेदानुपचाररत्नत्रयमार्गेण परमधर्मिणमात्मानं सम्यग् इता परिणतिः समितिः । अथवा निजपरमतत्त्वनिरतसहजपरमबोधादिपरमधर्माणां संहतिः समितिः । इति निश्चयव्यवहारसमितिर्भेदं बुद्ध्वा तत्र परमनिश्चयसमितिमुपयातु भव्य इति ।

[श्रमणः गच्छति] जो श्रमण गमन करता है, [तस्य ईर्यासमितिः भवेत्] उस साधुके ईर्यासमिति होती है ।

टीका—यहां पर ईर्यासमिति का स्वरूप कहा है ।

जो परमसंयमी साधु गुरुओं की यात्रा और देव-तीर्थकर्तों की यात्रा आदि प्रशस्त प्रयोजन का उद्देश्य करके चार हाथ प्रमाण मार्ग को देखते हुये स्थावर और जंगम जीवों की रक्षा करने के लिये दिन में ही गमन करते हैं, उन परम श्रमण के निश्चित ही ईर्यासमिति होती है । इसप्रकार यह व्यवहारसमिति का स्वरूप कहा गया है ।

अब निश्चयसमिति का स्वरूप कहते हैं — अभेद और अनुपचार ऐसे रत्नत्रय स्वरूप मार्ग से परमधर्मी अपनी आत्मा को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करना—आत्म स्वरूप में परिणत होना ही निश्चयसमिति है । अथवा निजपरमतत्त्व में निरत रूप जो सहज परमज्ञान आदि परमधर्म हैं उनका समुदाय—संयोग संगठन होना ही समिति है ।

इसप्रकार से निश्चय और व्यवहार समिति के भेद को जानकर भव्यजीव उसमें से परम निश्चयसमिति को प्राप्त करें, यह अर्थ है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज चार श्लोकों द्वारा समिति की सुन्दर महिमा को बतलाते हुये उसके श्रेष्ठ फलको बतलाते हैं—]

(मंदाक्रान्ता)

इत्थं बुद्ध्वा परमसंमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो ।
 मुक्त्वा संगं भवभयकरं हेमरामात्मकं च ।
 स्थित्वाऽपूर्वं सहजविलसच्छिञ्चमत्कारमात्रे
 भेदाभावे समयति च यः सर्वदा मुक्त एव ॥ ८१ ॥

(मालिनी)

जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनां
 त्रसहतिपरिदूरा स्थावराणां हतेर्वा ।
 भवद्वपरितापबलेशजीमूतमाला
 सकलसुकृतसीत्यानीकसन्तोषदायी ॥ ८२ ॥

(मालिनी)

नियतमिह जनानां जन्म जन्मार्णवेऽस्मिन्
 समितिर्विरहितानां कामरोगातुराणाम् ।

(८१) श्लोकार्थ—इसप्रकार परमसंमिति को मुक्तिकान्ता की सभी जान करके जो जीव भव भय के करने वाले कनक और कामिनी रूप परिग्रह को छोड़कर जो अपूर्व सहज विलासरूप चैतन्य चमत्कार मात्र ऐसे—अभेद—अद्वैत में स्थित होकर सम्यग् गमन करते हैं वे सर्वदा मुक्त ही हैं ॥८१॥

(८२) श्लोकार्थ—यह समिति जयशील हो रही है जो कि मुनियोंके शील-चरित्र का मूल है त्रस जीवों के घात से बहुत दूर है वैसे स्थावर जीवों की हिंसा से भी दूर है, भव रूपी दावानल के परिताप से उत्पन्न हुए क्लेश के लिए मेष-माना है और सकलपुण्यरूपी धान्य की राशिको संतोष देने वाली है अर्थात् जैसे मेष की वर्षा से वन की दावानल—अग्नि बुझ जाती है और धान्यके खेत पुष्ट हो जाते हैं वैसे ही यह संसार के संताप को बुझाने के लिए और पुण्य का वृद्धिगत करने के लिए मेष के समान है । यहाँ समिति के उत्तम फल को बताया है ॥८२॥

(८३) श्लोकार्थ—इस जन्मरूपी समुद्र—संसार सागर में समिति से रहित कामरोग से पीड़ित (इच्छाओं से पीड़ित) जीवों का यहाँ जन्म लेना निश्चित ही है ।

मुनिष कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये
ह्यपवरकममुध्याश्चारुयोषित्सुमुक्तेः ॥ ८३ ॥

(आर्या)

निश्चयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभागभवेन्मोक्षः ।

वत न च लभतेऽप्यायात् संसारमहार्णवे भ्रमति ॥ ८४ ॥

पैशुन्यहासककश, परनिन्दप्पप्पसंसियं वयणं ।

परिचत्ता सपरहिदं, भासासमिदी वदंतस्स ॥ ६२ ॥

पैशून्यहास्यकर्कशपरनिन्दात्मप्रशंसितं वचनम् ।

परित्यक्त्वा स्वपरहितं भाषासमितिर्वदतः ॥ ६२ ॥

पैशून्य हास्य कर्कश भाषा अती कठिन ।

निज की प्रशंसा पर की निंदा के भी वचन ॥

जो त्याग इनका करके निजपर हितकरी ।

बोले वचन उन्हीं के भाषासमिति खरी ॥ ६२ ॥

इसलिये हे मुनिपते ! तुम अपने मनरूपी घर के भीतर इस सुन्दर मुक्तिरूपी स्त्री के लिए अपवरक—कमरा (निवासागृह) बनाओ । अर्थात् समिति से रहित जीवों को ही इस संसार में जन्म लेना पड़ता है और जो समिति का पालन करते हैं संमझिये उन्होंने अपने विद्यालय मनरूपी महल में मुक्ति सुन्दरी के रहने के लिए एक कमरा बनवा लिया है । मतलब वे जल्दी ही मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ॥८३॥

(८४) श्लोकार्थ—यदि यह जीव निश्चयरूप समिति को प्रकट करता है तो वह मुक्ति को प्राप्त करने वाला हो जाता है । अरे रे ! खेद है, उस समिति के अपाय-अभाव से वह मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकता है । प्रत्युत संसाररूपी महासमुद्र में भ्रमण करता है । अर्थात् निश्चयसमिति के बिना मोक्ष नहीं है । और व्यवहार समिति के बिना निश्चयसमिति नहीं हो सकती है ऐसा समझकर व्यवहार चारित्र्य को धारण कर निश्चय चारित्र्य को प्राप्त करने का उद्यम करना चाहिए ॥८४॥

गाथा ६२

अन्वयार्थ—[पैशून्य हास्यकर्कश परनिन्दात्मप्रशंसितं वचनं] पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिन्दा और अपनी प्रशंसारूप वचन को [परित्यक्त्वा] छोड़ करके [स्वपर-

अत्र भाषासमितिस्वरूपमुक्तम् । कर्णेजपमुखविनिर्गतं नृपतिकर्णाम्यर्णगतं चैक-
 पुरुषस्य एककुटुम्बस्य एकग्रामस्य वा महाविपत्कारणं वचः पैशून्यम् । क्वचित् कदाचित्
 किञ्चित् परजनविकाररूपमवलोक्य त्वाकर्ष्य च हास्याभिधाननोकषायसमुपजनितम् ईष-
 च्छुभमिश्रितमप्यशुभकर्मकारणं पुरुषमुखविकारगतं हास्यकर्म । कर्णशङ्कुलीविवराभ्यर्ण-
 गोचरमात्रेण परेषामप्रोत्तिजननं हि कर्कशवचः । परेषां भूताभूतदूषणपुरस्सरवाक्यं पर-
 निन्दा । स्वस्य भूताभूतगुणस्तुतिरात्मप्रशंसा । एतत्सर्वमप्रशस्तवचः परित्यज्य स्वस्य च
 परस्य च शुभशुद्धपरिणतिकारणं वचो भाषासमितिरिति ।

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

हितं वदतः भाषासमितिः] स्व और पर के हितरूपवचन को बोलने वाले साधुके भाषा
 समिति [स्यात्] होती है ।

टीका—यहां भाषासमिति का स्वरूप कहा है ।

चुगलखोर के मुख से निकले हुए और राजा के कान तक पहुंचे हुये वचन,
 जो कि एक पुरुष, एक कुटुम्ब अथवा एक ग्राम के लिये महान विपत्ति के कारणभूत हैं वे
 पैशून्य वचन हैं । कहीं पर कदाचित् किञ्चित् अन्यजनों के विकृतरूप को देखकर या
 मुनकर हास्य नाम के नो कषाय में उत्पन्न हुआ किञ्चित् शुभ से मिश्रित होते हुये भी
 अशुभकर्म के लिये कारणभूत पुरुष के मुख के विकार को जो प्राप्त हुआ है वह 'हास्य'
 कहलाता है । जो कानरूपी शङ्कुली-पूड़ी के छिद्र के पास पहुंचने मात्र से अन्य
 जनों को अप्रीति उत्पन्न करने वाले हैं वे कर्कश वचन कहलाते हैं । दूसरों के विद्यमान
 या अविद्यमान दूषण को कहने वाले वचन परनिन्दा हैं । अपने विद्यमान अथवा अविद्य-
 मान गुणों की स्तुति करना आत्मप्रशंसा है । इन सभी अप्रशस्त वचनों का त्याग करके
 अपने और पर के शुभपरिणति और शुद्धपरिणति के लिये कारणभूत वचन बोलना
 भाषासमिति कहलाती है ।

ऐसे ही श्री गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है—

(मालिनी)

“समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शांतसर्वप्रचाराः ।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥”

तथा च—

(अनुष्टुप्)

परब्रह्मण्यनुष्ठाननिरतानां मनीषिणाम् ।
अन्तरैरप्यलं जल्पैः बहिर्जल्पैश्च किं पुनः ॥८५॥

“सम्यक् प्रकार से सभी वस्तु के स्वरूप को जिन्होंने जान लिया है, जो संपूर्ण पापक्रियाओं से दूर हैं, जिन्होंने अपने हितमें अपने मन को लगा रखा है, जिनके सभी प्रचार-कार्य शांत हो चुके हैं, जो स्व और पर के लिये फलमहित वचन बोलने वाले हैं, और जो सभी संकल्पों से रहित हो चुके हैं । वे विमुक्त पुरुष-तिर्यथ साधु इस लोक में मुक्ति के पात्र कैसे नहीं होंगे ? अर्थात् ऐसे साधुजन मुक्ति के पात्र अवश्य होंगे ।”

और उसी प्रकार—[टीकाकार मुनिराज भाषासगिनि में निरत मुनियों की विशेषता को प्रगट करते हुये श्लोक कहते हैं]

(८५) श्लोकार्थ—परब्रह्मरूप आत्मा के अनुष्ठान में निरत मनीषी बुद्धिमान साधुओं को अंतरंग के जल्प से भी बस होवो । पुनः बहिर्जल्प की तो बात ही क्या है ?

भावार्थ—अपनी आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करने के अनुष्ठानमें संलग्न हुये साधु जब अंतर्जल्प-मन के विकल्प जालों को भी छोड़ देते हैं तो उनके बहिर्जल्प-बाहर में लोगों से बोलना चालना आदि पहले ही छूट चुका है । अर्थात् बाह्यजनों से बोलना आदि व्यापार बंद करके अंतरंग के मनके व्यापार को भी रोकना चाहिये, यह अभिप्राय है ।

कृतकारिदानुमोदनरहितं^१ तह प्रासुकं प्रशस्तं च ।
दिष्णं परेण भक्तं, समभुक्ती एषणासमिदी ॥६३॥

कृतकारितानुमोदनरहितं तथा प्रासुकं प्रशस्तं च ।
दत्तं परेण भक्तं संभुक्तिः एषणासमितिः ॥ ६३ ॥

कृत कारितानुमोदन वर्जित अहार जो ।
प्रासुक प्रशस्त उत्तम पर धर तयार जो ॥
पर ने दिया है उसको समभाव से लिये ।
उनके अशन समिति हो कर पात्र में लिये ॥ ६३ ॥

अत्रैषणासमितिस्वरूपमुक्तम् । तद्यथा—मनोवाक्कायानां प्रत्येकं कृतकारिता-
नुमोदनैः कृत्वा नव विकल्पा भवन्ति, न तैः संयुक्तमन्नं नवकोटिविशुद्धमित्युक्तम्; अति-
प्रशस्तं मनोहरं- हरितकायात्मकसूक्ष्मप्राणिस्वंचारागोचरं प्रासुकमित्याभिहितम्; प्रतिग्रहो

गाथा ६३

अन्वयार्थ—[कृतकारितानुमोदनरहितं] जो कृत, कारित और अनुमोदना से
रहित, [तथा प्रासुकं प्रशस्तं च] तथा प्रासुक और प्रशस्त—आगमानुकूल, [परेण दत्तं-
भक्तं] पर के द्वारा दिया गया भोजन है, [संभुक्तिः एषणा समितिः] उसको
सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना एषणासमिति है ।

टीका—यहां एषणासमिति के स्वरूप को कहा है ।

उसीका स्पष्टीकरण करते हैं—मन, वचन, काय में से प्रत्येक को कृत,
कारित, अनुमोदना के साथ करने पर नव भेद हो जाते हैं । उन नव विकल्पों से सहित
भोजन नवकोटि से विशुद्ध नहीं है ऐसा (आगम में) कहा है । मनोहर भोजन को
अतिप्रशस्त कहते हैं, और हरित् कायस्वरूप सूक्ष्म प्राणियों के मंचार से रहित भोजन
को प्रासुक कहते हैं ।

पङ्गाहन, उच्चस्थान, चरणप्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मन, वचन, काय की
शुद्धि और भोजन की शुद्धि इन नाम वाले नवप्रकार के पुण्यों से—नवधाभक्ति पूर्वक

अवस्थानपादक्षालनार्चनप्रणामयोगशुद्धिभिक्षाशुद्धिनामधेयैर्नवविधपुण्यैः प्रतिपत्तिं कृत्वा
भद्राशक्त्यलुब्धताभक्तिज्ञानवयाक्षमाऽभिधानसप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन योग्याचारेणोपा-
सकेन दत्तं भक्तं भुजानः तिष्ठति यः परमतपोधनः तस्यैषणासमितिर्भवति । इति
व्यवहारसमितिक्रमः । अथ निश्चयतो जीवस्याशनं नास्ति परमार्थतः, षट्प्रकारमशनं
व्यवहारतः संसारिणामेव भवति ।

तथा चोक्तं—

“एोकम्मकम्महारो लेप्पाहारो य कवलमाहारो ।

उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो जेयो ॥”

अशुद्धजीवानां विभावधर्मं प्रति व्यवहारनयस्योदाहरणमिदम् । इदानीं निश्च-
यस्योदाहृतिरुच्यते । तद्यथा—

“जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छणा समणा ।

अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥”

आदर करके श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, विवेक, दया और क्षमा इन नाम वाले सात
गुणों से सहित, शुद्ध और योग्य आचार के पालन करने वाले श्रावक के द्वारा दिये गये
आहार को ग्रहण करने हुये जो परम तपोधन रहते हैं, उनके एषणासमिति होती है ।
इस प्रकार से यह व्यवहारसमिति का क्रम है । और निश्चयनय से जीव के वास्तव
में अशन ही नहीं है, क्योंकि छह प्रकार का भोजन व्यवहारनयसे संसारी जीवों को
ही होता है ।

ममयसार' में कहा भी है (?)—

गाथार्थ—“नोकर्म आहार, कर्म आहार, लेप आहार, कवल आहार, ओज
आहार और मानसिक आहार, ऐसे क्रम से आहार के छह भेद जानना चाहिये” ।

अशुद्धजीवों के विभावधर्म के प्रति व्यवहारनय का यह उदाहरण है । अब
निश्चयनय का उदाहरण देते हैं । वो इस प्रकार है—

१. यह गाथा ममयसार में नहीं है किन्तु प्रवचनसार में प्रथम अधिकार की २० वीं गाथा की तात्पर्य
वृत्ति टीका में अवतरणरूप से है ।

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

(मालिनी)

“यमनियमनितान्तः शांतबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकंपी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
बहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥”

तथा हि—

गाथार्थ—“जिसका आत्मा भोजन की इच्छा से रहित है वही तप है और उस तप को प्राप्त करने की इच्छा करने वाले श्रमणों के अन्न आदि की भिक्षाएषणा दोष से रहित होती है इसलिये वे श्रमण अनाहारी हैं” ।

भावार्थ—स्वयं अनशन स्वभाववाला होने से और एषणा दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण करने से युक्ताहार लेने वाले मुनि साक्षात् अनाहारी ही हैं । जो साधु समस्त पुद्गलाहार से शून्य आत्मा के स्वभाव को जानने वाले हैं, समस्त भोजन की तृष्णा से रहित हैं । ऐसे साधु अनशन स्वभाव वाले आत्मा की सदा भावना करते रहते हैं और उस आत्मा की सिद्धि के लिये शास्त्र कथित छ्यालीस दोष, बत्तीस अंतराय टाल कर आहार ग्रहण करते हैं, वे आहार करते हुए भी अनाहारी हैं, यहां ऐसा अभिप्राय है ।

उसीप्रकार श्रीगुणभद्रस्वामी ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—“जो अतिशयरूप से यम और नियम से सहित हैं, बहिरंग और अंतरंग से जिनकी आत्मा शांत है, जो समाधि में परिणमन कर रहे हैं, सभी जीवों पर अनुकम्पा धारण करने वाले हैं, जो शास्त्र में कथित, हित और मित आहार को ग्रहण करने वाले हैं, जिन्होंने निद्रा को जीत लिया है और अध्यात्म के सार को निश्चित कर लिया है ऐसे परमसाधु क्लेश समूह को समूल-चूल जला देते हैं ।

(शालिनी)

भुक्त्वा भक्तं भक्तहस्ताग्रदत्तं
ध्यात्वात्मानं पूर्णबोधप्रकाशम् ।
तप्त्वा चैवं सत्तपः सत्तपस्वी
प्राप्नोतीद्धां मुक्तिवारांगनां सः ॥८६॥

पोत्यङ्कमण्डलाद्, गहणविसर्गेषु प्रयत्नपरिणामो ।
आदावणणिकखेपणसमिती होदि त्ति णिदिट्ठा ॥८४॥

पुस्तककमण्डलादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा ॥८४॥

पुस्तक कमण्डलू वा संस्तर जो वस्तु हों ।
उनको उठाने धरने में यत्न भाव हों ॥
समिती सदा उन्हें है आदाननिक्षेपण ।
जो सावधान मुनि हैं उनको सदा नमन ॥८४॥

उसीप्रकार से—[टीकाकार श्री मुनिराज एणणाममिति के पालन करने वाले महामुनि के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुये श्लोक कहते हैं—]

(८६) श्लोकार्थ—भक्त के हस्ताग्र से दिये हुए भुक्त-भोजन को खाकर पूर्ण ज्ञान के प्रकाश स्वरूप आत्मा का ध्यान करके और इसीप्रकार से सम्यक् तपश्चरण को तप करके वह सत्तपस्वी देदीप्यमान मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् जो महाव्रती साधु विधिवत् श्रावक के द्वारा शुद्ध आहार ग्रहण करके अपनी आत्मा का ध्यान करता है, वही मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है ।

गाथा ६४

अन्वयार्थ—[पुस्तककमण्डलादिग्रहणविसर्गयोः] पुस्तक, कमण्डलु आदि के ग्रहण करने और रखने में [प्रयत्नपरिणामः] जो प्रयत्नरूप परिणाम है, [आदाननिक्षेपण-समितिः इति निर्दिष्टा भवति] वह आदाननिक्षेपण समिति है इसप्रकार कहा गया है ।

अत्रादाननिक्षेपणसमितिस्वरूपमुक्तम् । अपहृतसंयमिनां संयमज्ञानाद्युपकरण-
ग्रहणविसर्गसमयसमुद्भवसमितिप्रकारोक्तिरियम् । उपेक्षासंयमिनां न पुस्तककमण्डलु-
प्रभृतयः, अतस्ते परमजिनमुनयः एकान्ततो निस्पृहाः, अत एव बाह्योपकरणनिर्मुक्ताः ।
अभ्यन्तरोपकरणं निजपरमतत्त्वप्रकाशदक्षं निरुपाधिस्वरूपसहजज्ञानमन्तरेण न किम-
प्युपादेयमस्ति । अपहृतसंयमधराणां परमागमार्थस्य पुनः पुनः प्रत्यभिज्ञानकारणं पुस्तकं

टीका—यहां आदाननिक्षेपण समिति के स्वरूप को कहा है ।

अपहृतसंयमी मुनियों के संयम, ज्ञान आदि के उपकरण ग्रहण करते और रखने समय होने वाली समिति के प्रकार का यह कथन है, क्योंकि उपेक्षासंयमी मुनियों के पुस्तक कमण्डलु आदि नहीं हैं, इसलिये वे परम जिनमुनि एकांत से सर्वथा निस्पृह होते हैं अतएव वे बाह्य उपकरण से रहित हैं । अभ्यन्तर उपकरण निजपरमतत्त्व के प्रकाशन करने में कुशल ऐसा जो उपाधिरहित लक्षणवाला सहज ज्ञान है उसके बिना उन मुनियों को कुछ भी उपादेय नहीं है ।

अपहृत संयमधारी मुनियों को परमागम के अर्थ का जो पुनः पुनः अभ्यास-रूप जो प्रत्यभिज्ञान है उसमें कारणभूत पुस्तक ज्ञान का उपकरण है, शौच का उपकरण जरीर की विशुद्धि में हेतुभूत कमण्डलु है और संयम के उपकरण हेतुक पिच्छी है । इनके ग्रहण करने और रखने के समय उत्पन्न हुये प्रयत्न से परिणाम की विशुद्धि ही निश्चितरूपसे आदाननिक्षेपण समिति है इसप्रकार से कहा गया है ।

विशेषार्थ—संयम के दो भेद हैं, उपेक्षासंयम और अपहृतसंयम । “अपनी शुद्ध आत्मा से भिन्न संपूर्ण बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग कर देना ‘उत्सर्ग मार्ग’ है । इसे ही निश्चयनय, सर्वपरित्याग, परमोपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र और शुद्धोपयोग कहते हैं अर्थात् ये सब पर्यायवाची नाम हैं । जो मुनि इस निश्चयरत्नत्रय में ठहरने को असमर्थ हैं वे शुद्धात्मा के सहकारीभूत कुछ भी प्रामुख आहार ज्ञानोपकरण आदि ग्रहण करते हैं उनका यह अपवाद चारित्र कहलाता है इसे ही व्यवहारनय एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग कहते हैं

ज्ञानोपकरणमिति यावत्, शौचोपकरणं च कायविशुद्धिहेतुः कमण्डलुः, संयमोपकरणहेतुः पिच्छः । एतेषां ग्रहणविसर्गयोः समयसमुद्भवप्रयत्नपरिणामविशुद्धिरेव हि आदाननिक्षेपणसमिति रिति निविष्टयति ।

अर्थात् ये सब पर्यायवाची नाम हैं । इन उत्सर्ग और अगवाद में कथंचित्-परस्पर-सापेक्ष भाव को रखने वाले साधु के ही चारित्र्य की रक्षा होती है ।"

श्री अवलोकितेश्वर ने भी कहा है—

"संयम के दो भेद हैं—उपेक्षासंयम और अपहृतसंयम । देश और काल के विधान को जानने वाले, स्वाभाविकरूप से शरीर विरक्त और तीन गुणियों में सहित साधुके राग और द्वेष रूप मनोवृत्ति का न होना उपेक्षासंयम है । अपहृतसंयम के उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा तीन भेद हैं । प्रासुक आहार और प्रासुक वसति मात्र बाह्य साधन जिनके पास हैं, तथा जो ज्ञान और चारित्र्यरूप क्रियाओं में स्वाधीनता से तत्पर हैं ऐसे साधु बाह्य जंतुओं के आने पर उनसे अपने को बचाकर संयम पालते हैं सो उत्कृष्ट अपहृतसंयम है । मृदु उपकरण से जंतुओं को हटाकर संयम पालना मध्यम है एवं अन्य उपकरणोंसे हटाकर जीवरक्षा करना जघन्य अपहृतसंयम कहलाता है । इस अपहृतसंयम के लिये आठ प्रकार की शुद्धियों का कथन है । भावशुद्धि, क्रियशुद्धि, वित्तशुद्धि, ईश्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि और शौचशुद्धि ।" इनका विशेष वर्णन तत्त्वार्थवार्तिक, मूलाचार, अनगारधर्माभूत आदि ग्रंथों से जान लेना चाहिये ।

यहां अभिप्राय इतना ही है कि उपेक्षासंयमी मुनि ध्यान में तीन शुद्धोपयोगी और वे ही वीतराग चारित्र्यधारी हैं । तथा अपहृतसंयमी मुनि आगमानुकूल भूति करते हुये शुभोपयोगी हैं और वे ही सराग चारित्र्य का पालन करने वाले हैं ।

(मालिनी)

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां
परमजिनमुनीनां संहतौ क्षांतिमैत्री ।
त्वमपि कुरु मनःपंकेरुहे भव्य नित्यं
भवसि हि परमश्रीकामिनीकांतकांतः ॥८७॥

पासुगभूमिप्रदेशे, गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारादिच्छागो, पइट्ठा'समिदी हवे तस्स ॥८५॥

प्रासुकभूमिप्रदेशे गूढे रहिते परोपरोधेन ।
उच्चारादित्यागः प्रतिष्ठासमितिर्भवेत्तस्य ॥८५॥

निर्जंतु भूमि स्थल एकांत गूढ हो ।
नहिं रोक टोक पर का हरितादि शून्य हो ॥
मलमूत्र आदि का जो वह त्याग करे हैं ।
वे ही मुनि प्रतिष्ठा समिति को धरे हैं ॥८५॥

अब टीकाकार मुनिराज इस समिति के फल को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—

(८७) श्लोकार्थ—उत्तम परम जिन जिनमुनियों की समितियों में यह आदाननिक्षेपण समिति शोभित होती है जो कि प्राणियों के समुदाय में क्षमा और मैत्री स्वरूप है । हे भव्य ! तुम भी अपने मनरूपी पंकज में नित्य ही इसको धारो, निश्चित ही परमश्री-मुक्तिलक्ष्मीरूपी स्त्री के प्रियकांत हो जावोगे ॥८७॥

गाथा ६५

अन्वयार्थ—[परोपरोधेन रहिते] पर के रोक टोक से रहित [गूढे प्रासुक-प्रदेशे] गूढ-मर्यादित-एकांत, जीवजंतु रहित प्रासुक स्थान में [उच्चारादित्यागः] जो मल-मूत्र आदि शरीर के मल का त्याग करते हैं, [तस्य प्रतिष्ठासमितिः भवेत्] उनके प्रतिष्ठापनसमिति होती है ।

मुनीनां कायमलादित्यागस्थानशुद्धिकथनमिदम् । शुद्धनिश्चयतो जीवस्य देहा-
भावात् चाह्नग्रहणपरिणतिः, व्यवहारतो देहः विद्यते, तस्यैव हि देहे सति ह्याहारग्रहणं
भवति, आहारग्रहणान्मलमूत्रादयः संभवन्त्येव, अत एव संयमिनां मलमूत्रविसर्गस्थानं
निर्जंतुकं परेषामुपरोधेन विरहितम्, तत्र स्थाने शरीरधर्मं कृत्वा पश्चात्तस्मात्स्थानादु-
त्तरेण कतिचित् पदानि गत्वा ह्युदङ्मुखः स्थित्वा चोत्सृज्य कायकर्माणि संसारकारणं
परिणामं मनश्च संसृतेर्निमित्तं, स्वात्मानमव्यग्रो भूत्वा ध्यायति यः परमसंयमी मुहुर्मुहुः
स्तेवरस्याप्यशुचित्वं वा परिभावयति, तस्य खलु प्रतिष्ठापनसमिति रिति । नान्येषां स्वैर-
वृत्तीनां यतिनामधारिणां काचित् समितिरिति ।

टीका—मुनियों के शरीर के मलादि त्याग करने के लिए स्थान की शुद्धि
का यह कथन है ।

शुद्ध निश्चयनय से जीव के शरीर का अभाव होने से भोजन को ग्रहण करने
की परिणति नहीं है, किन्तु व्यवहारनय से देह है अतः उस जीव के ही शरीर के होने
पर निश्चितरूप से आहार ग्रहण होता है, आहार के ग्रहण करने से मल-मूत्रादि होने
ही हैं, इसीलिये संयमियों के मल-मूत्र विसर्जन के स्थान को निर्जंतुक और अन्य जनों
के रोक-टोक से रहित कहा है, उस स्थान में शरीरधर्म को करके पश्चात् उस स्थान
से उत्तर में या आगे कुछ डग जाकर वहां उत्तर दिशा में मुख करके खड़े होकर काय
की क्रिया का त्याग करके अर्थात् कायोत्सर्ग करके तथा संसार के कारणभूत परिणाम
का और संसार के निमित्तस्वरूप मन का भी त्याग करके निराकुल चित्त होकर जो
परमसंयमी अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं अथवा शरीर की अपवित्रता का पुनः पुनः
विचार करते हैं, उनके निश्चित ही प्रतिष्ठापनसमिति होती है । अन्य यतिनामधारी
स्वच्छंद प्रवृत्ति वाले साधुओं में कोई भी समिति नहीं होती है ।

विशेषार्थ—साधुओं को मल-मूत्र विसर्जन के कायोत्सर्ग करने में पञ्चीम
श्वासोच्छ्वास का विधान है । और देवकंदना, स्वाध्याय आदि क्रियाओं में जो
कायोत्सर्ग होता है उसमें सत्ताईस श्वासोच्छ्वास होते हैं ।

[आगे पद्मप्रभमलधारिदेव समिति के प्रकरण की टीका पूर्ण करते हुए
समितियों का महत्त्व और उनके पालन करने का फल बतलाते हुए तीन श्लोकों में
अपने उद्गार प्रगट करते हैं—]

(मालिनी)

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं
जिनमतकुशलानां स्वात्मचिन्तापराणाम् ।
मधुसखनिशितास्त्रवातसंभिन्नचेतः—
सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात् ॥८८॥

(हरिणी)

समितिसमिति बुद्ध्वा मुक्त्यंगनाभिमतामिमां
भवभवभयध्वांतप्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम् ।
मुनिप तव सद्दीक्षाकान्तासखीमधुना मुदा
जिनमततपःसिद्धं यायाः फलं किमपि ध्रुवम् ॥८९॥

(द्रुतविलंबित)

समितिसंहतितः फलमुत्तमं
सपदि याति मुनिः परमार्थतः ।
न च मनोवचसामपि गोचरं
किमपि केवलसौख्यसुधामयम् ॥९०॥

(८८) श्लोकार्थ—जिनमत में कुशल और स्वात्मचिन्तन में तत्पर यतियों के लिए यह समिति मुक्तिसाम्राज्य का मूल है । मधुसख-कामदेव के तीक्ष्ण जस्य समूह में भिदे हुए हृदय वाले मुनिगणों के वह समिति गोचर ही नहीं होती है । अर्थात् जो मुनि आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करने वाले हैं उन्हीं की यह समिति उन्हें मोक्ष प्राप्त कराने वाली है किंतु जो सांसारिक विषयसुखों में आसक्त हैं उनके यह समिति ही नहीं होती है पुनः मोक्ष की बात उनसे बहुत दूर है ।

(८९) श्लोकार्थ—हे मुनिपते ! मुक्तिरूपी स्त्री को अभिमत-प्रिय, भव भव के भयरूपी अंधकार को ध्वंस करने में पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा-चांदनी स्वरूप और तुम्हारी सम्यक् दीक्षारूपी कांता की सखी ऐसी इस सम्यग् प्रवृत्तिरूप समिति को अब हर्ष से जान करके तुम जिनमत के तप से सिद्ध होने वाले ऐसे कोई एक-अनुपम ध्रुव-अविनश्वर फल को प्राप्त करोगे ।

(९०) श्लोकार्थ—समिति के समूह से वास्तव में मुनिराज शीघ्र ही उत्तम फल को प्राप्त कर लेते हैं । जो कि मन और वाणी के अगोचर केवल सौख्य सुधामय

कालुस्समोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम् ।

परिहारो मणुगुत्तो^१, व्यवहारणयेण परिकथियं ॥६६॥

कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम् ।

परिहारो मनोगुप्तिः व्यवहारनयेन परिकथिता ॥६६॥

कालुष्य मोह संज्ञा आहार भयादी ।

बहुविध के भाव जो हैं अशुभ राग द्वेषादी ॥

इनका करें परिहार मनोगुप्ति वे धरें ।

व्यवहार नय से गुप्ति इसविध मुनि उचरें ॥६६॥

व्यवहारमनोगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । क्रोधमानमायालोभाभिधानैश्चतुर्भिः
कषायैः क्षुभितं चित्तं कालुष्यम् । मोहो दर्शनचारित्र्यभेदाद् द्विधा । संज्ञा आहारभयमथु-

कोई एक अद्भुत है ॥७०॥

अर्थात् ये समितियां मांशरूपी सर्वोत्तम फल को देने वाली हैं जो मुनि इन समितिरूप से प्रवृत्ति करते हैं वे शीघ्र ही अविनश्वर फल को प्राप्त कर लेते हैं ।

गाथा ६६

अन्वयार्थ—[कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम्] कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेष आदि अशुभभावों के [परिहारः] परिहार को [व्यवहारनयेन] व्यवहारनय से [मनोगुप्तिः कथिता] मनोगुप्ति कहा है ।

टीका—यह व्यवहार मनोगुप्ति के स्वरूप का कथन है ।

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से क्षुभित चित्त को कलुषता कहते हैं । दर्शनमोह और चारित्र्यमोह के भेद से मोह दो प्रकार का है । आहार, भय, मथुन, और परिग्रह के भेद से संज्ञा के चार भेद हैं । प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से राग दो प्रकार का है । असह्यजनों में अथवा असह्यपदार्थों के समूह में वैर का परिणाम यह द्वेष है । इत्यादि अशुभ परिणाम के कारणों का परिहार ही व्यवहारनय के विभिन्नाय से मनोगुप्ति कहलाती है ।

नपरिग्रहाणां भेदाच्चतुर्था । रागः प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविधः । असह्यजनेषु वापि चासह्यपदार्थसार्थेषु वा वैरस्य परिणामो द्वेषः । इत्याद्यशुभपरिणामप्रत्ययानां परिहार एव व्यवहारनयाभिप्रायेण मनोगुप्तिरिति ।

(वसंततिलका)

गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ-

चितासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य ।

बाह्यान्तरंगपरिषंगविवर्जितस्य

श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वितस्य ॥६१॥

विशेषार्थ—गुप्ति का लक्षण है “असह्यजोऽविग्रहो गुप्तिः” व्याप्ति, पूजा आदि की अपेक्षा से रहित सम्यक्प्रकार से मन, वचन और काय के योगों का निग्रह करना गुप्ति है । यद्यपि ये गुप्तियां निवृत्तिरूप हैं फिर भी आचार्यदेव स्वयं आगे निश्चयगुप्ति को गाथा ६६, ७० में कहेंगे । इसलिये यहां पर व्यवहारनय से गुप्ति का वर्णन करने से इस गुप्ति में अशुभभावों की निवृत्ति ही विवक्षित है क्योंकि गाथा में “असुहभावाणं” पद स्पष्ट कह रहा है कि अशुभभावों का परिहार मनोगुप्ति है । टीकाकार ने भी “इत्याद्यशुभपरिणामप्रत्ययानां परिहार एव” वाक्य से जोर देकर कहा है कि इत्यादि अशुभपरिणामों के कारणों का परिहार ही मनोगुप्ति है, अतः यहां पर व्यवहारगुप्ति में ‘पुण्यरूप शुभभावों का परिहार’ अर्थ नहीं लेना चाहिए ।

(६१) श्लोकार्थ—परमागम के अर्थ के चित्तवन में जिनका मन लगा हुआ है जो विजितेन्द्रिय हैं, जो बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित हैं और जो श्रीमान् जिनेन्द्र भगवान् के चरणों को स्मरण करने में दत्तचित्त हैं, ऐसे साधु के सदा मनोगुप्ति होती है ॥६१॥

भावार्थ—निर्ग्रन्थ जितेन्द्रिय मुनि जब तत्त्व चिन्ता में तत्पर होते हैं और जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति में रत होते हैं तब उनके शुभ परिणामों से मन का शुभ व्यापार भी मनोगुप्ति कहलाता है ।

श्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य पापहेतुः ।

परिहारो वयगुप्ती, अलियादिनिवृत्तिवचनं वा ॥६७॥

श्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य पापहेतोः ।

परिहारो वाग्गुप्तिरलीकादिनिवृत्तिवचनं वा ॥६७॥

श्रीकथा व राजकथा चौर का कथन ।

भोजनकथा इत्यादि पाप हेतु जो वचन ॥

परिहार करें इनका वचन गुप्ति पालने ।

या झूठ आदि वचनों को भी वे टालते ॥६७॥

इह वाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम् । अतिप्रवृद्धकामैः कामुकजनैः स्त्रीणां संयोगविप्रलं-
भजनितविविधवचनरचना कर्तव्या श्रोतव्या च सर्व स्त्रीकथा । राज्ञां युद्धहेतुपत्न्यासो
राजकथाप्रपञ्चः । चौराणां चौरप्रयोगकथनं चौरकथाविधानम् । अतिप्रवृद्धभोजनप्रीत्या
विचित्रमंडकावलीखण्डवधि खंडसिताशनपानप्रशंसा भक्तकथा । आसामपि कथानां परि-
हारो वाग्गुप्तिः अलीकनिवृत्तिश्च वाग्गुप्तिः । अन्येषां अप्रशस्तवचसां निवृत्तिरेव वा
वाग्गुप्तिः इति ।

गाथा ६७

अन्वयार्थ—[पापहेतोः] पाप के कारणभूत [श्रीराज चौर भक्त कथादिवच-
नस्य] स्त्री कथा, राज कथा चौर कथा और भोजन कथा इत्यादिरूप वचनों का
[परिहारः] त्याग करना [वा अलीकादिनिवृत्तिवचनं] अथवा असत्य आदिके अभाव
रूप वचन बोलना [वाग्गुप्तिः] वचनगुप्ति है ।

टीका—यहाँ पर वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है ।

अतिशय वृद्धिगत हो रही है कामवासना जिनकी ऐसे कामीजनों के द्वारा
स्त्रियों के संयोग अथवा वियोग से उत्पन्न हुई अनेक प्रकार की कथाओं की जो रचना
है उसकी चर्चा करना या सुनना वही स्त्रीकथा है । राजाओं की युद्धहेतुक चर्चा
राजकथा का प्रपञ्च है । चोरों के चौर्य कर्म की कथा-चर्चा चौर कथा है । अतिशय
वृद्धिगत भोजन की प्रीति से पूड़ी, शक्कर, दही-शक्कर, मिश्री इत्यादि भोजन-पान की
प्रशंसा करना भोजन कथा है । इन कथाओं के भी करने का त्याग करना वचन गुप्ति है

तथा चोक्तं श्री पूज्यपादस्वामिभिः—

(अनुष्टुभ्)

“एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।

एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥”

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा वाचं भवभयकरो भव्यजीवः समस्तां

ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिच्चमत्कारमेकम् ।

पश्चान्मुक्तिं सहजमहिमानंदसौख्याकरो तां

प्राप्नोत्युच्चैः प्रहृतदुरितध्वांससंघातरूपः ॥६२॥

और असत्य वचनों से निवृत्त होना वचनगुप्ति है अथवा अन्य सभी अप्रशस्त वचनों का त्याग ही वचन गुप्ति है ।

इसीप्रकार से श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है—

श्लोकार्थ—इसप्रकार से बाह्य वचनों को त्याग कर परिपूर्णरूपमें अंतर्जल्प को भी छोड़े संक्षेप से यह योग-समाधि परमात्मा का प्रदीप है अर्थात् अंतर्बाह्य वचनों का त्याग ही संक्षेप से परमात्मतत्त्व को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान है ।”

विशेषार्थ—यहां वचन गुप्ति में भी विकथाओं के त्याग करने को और असत्य वचन के त्याग को गुप्ति कहा है । इसलिये यहां पर भी प्रशस्त सत्यवचन के त्याग को नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि यह भी व्यवहार वचन गुप्ति ही है । अशुभ वचनों से निवृत्ति मात्र ही यहां पर विवक्षित है ।

(६२) श्लोकार्थ—भव्यजीव भवभय को करनेवाली ऐसी समस्त वाणी को छोड़कर शुद्ध, एक, सहजप्रकाशमान, चिच्चमत्कार आत्मा का ध्यान करके पापरूपी अंधकार के समूह को नाश करने वाले ऐसे वे साधु सहज महिमा स्वरूप और आनंद की खान उस मुक्ति को अतिशयरूप से प्राप्त कर लेते हैं ॥६२॥

बंधनछेदनमारणश्राकुञ्चण तह प्रसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती, णिहिट्ठा कायगुप्ति त्ति ॥६८॥

बंधनछेदनमारणाकुञ्चनानि तथा प्रसारणादीनि ।
कायक्रियानिवृत्तिः निर्दिष्टा कायगुप्तिरिति ॥६८॥

पर जीव का बंधन, व छेदन मारना आदि ।

निजन्त को भी मिकोड़ना फेलावना आदि ॥

इन काय क्रियाओं का करने अभाव जो ।

उन साधु के ही निर्दिष्ट यह काय गुप्ति ही ॥६८॥

अत्र कायगुप्तिस्वरूपमुक्तम् । कस्यापि नरस्य तस्यान्तरंगनिमित्तं कर्म,
बंधनस्य बहिरंगहेतुः कस्यापि कायव्यापारः । छेदनस्याप्यन्तरंगकारणं कर्मोदयः, बहि-
रंगकारणं प्रमत्तस्य कायक्रिया । मारणस्याप्यन्तरंगहेतुरांतर्यक्षयः, बहिरंगकारणं कस्यापि-

जितने भी बचन भव परंपरा को बढ़ाने वाले हैं, और अप्रशस्त हैं उन
सबको छोड़कर शुद्धचैतन्य आत्मा का ध्यान करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

गाथा ६८

अन्वयार्थ—[बंधन छेदन मारणा कुञ्चनानि] बंधन, छेदन, मारण, संकोचन
[तथा प्रसारणादीनि] उसीप्रकार फेलाना आदि [काय क्रिया निवृत्तिः] कायक्रियाओं
का न होना [कायगुप्तिरिति निर्दिष्टा] वह कायगुप्ति इसप्रकार कही गई है ।

टीका—यहां काय गुप्ति के स्वरूप का कथन है ।

किसी भी मनुष्य को बंधन में उसका अंतरंग निमित्त कर्म का उदय है और
उस बंधन में बहिरंगकारण किसी के काय का व्यापार है । छेदन में भी अंतरंग
कारण कर्म का उदय है, बहिरंग कारण प्रमत्तजीव की कायक्रिया है । मारण में भी
अंतरंग हेतु अंतरंग के आयुर्कर्म का क्षय होना है और बहिरंग कारण किसी के भी
काय की विकृति है । आकुञ्चन और प्रसारण आदि में कारण संकोच-विस्तारादि
निमित्तक समुद्घात है । इन कायक्रियाओं का अभाव होना कायगुप्ति है ।

कायविकृतिः । आकुञ्चनप्रसारणादिहेतुः संहरणविसर्पणादिहेतुसमुद्घातः । एतासां कायक्रियाणां निवृत्तिः कायगुप्तिरिति ।

(अनुष्टुभ्)

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः ।

संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृती ॥६३॥

जा रायादिणिगच्छी, मरणस्स जाणीहि' त मणोगुत्ती ।

अलियादिणिगच्छी वा, मोणां वा होइ वदिगुत्ती ॥६६॥

या रागादिनिवृत्तिर्मनसो जानीहि तां मनोगुप्तिम् ।

अलीकादिनिवृत्तिर्वा मौनं वा भवति वागुप्तिः ॥६६॥

विशेषार्थ—यहां कायगुप्ति में भी व्यवहारनय की प्रधानता होने से काय की अशुभ क्रियाओं के त्याग को ही विवक्षित किया है । इसलिये व्यवहारनयकी अपेक्षा से नीनों ही गुप्तियां अशुभयाग में निवृत्तिरूप होती हैं । ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये । आगे आचार्यवर्य स्वयं संपूर्ण शुभ-अशुभ योग के निग्रह को गुप्ति सिद्ध करते हुये निश्चयनयकी अपेक्षा से कह रहे हैं ।

[अब टीकाकार श्लोक द्वारा कायगुप्ति के फल को बतलाते हैं—]

(६३) श्लोकार्थ—जो साधु काय के विकार को छोड़कर पुनः पुनः शुद्धात्मा की सम्यक्प्रकार से भावना करते हैं, इस संसार में उन्हींका जन्म सफल है ॥६३॥

अर्थात् यथाजात पद्मासन या खड्गासन मुद्रा से शरीरको स्थिर करना काय की गुप्तिरूप क्रिया है, इससे अतिरिक्त काय की किसी प्रकार की भी प्रवृत्ति काय का विकार है, उसको छोड़कर अपने शुद्ध आत्मनस्त्व का ध्यान करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, यहां पर इसप्रकार से काय गुप्ति के फल को सूचित किया है ।

गाथा ६६

अन्वयार्थ—[मनसः या रागादिनिवृत्तिः] मन से जो रागादि परिणामों का अभाव है [तां मनोगुप्तिं जानीहि] तुम उसे मनोगुप्ति जानो, [अलीकादिनिवृत्तिर्वा]

रागादि भाव से जो मन दूर हटाते ।
उनके ही निश्चयनय में मनगुप्ति बताते ॥
असत्य आदि में सदा जो दूर रहे हैं ।
या मौन को धरें उरो वच गुप्ति कहे हैं ॥६६॥

निश्चयनयेन मनोवाग्गुप्तिसूचनेयम् । सकलमोहरागद्वेषाभावादखंडाद्वैतपरम-
तिद्रूपेसम्यग्बुद्धिस्थितिरेव निश्चयमनोगुप्तिः । हे शिष्य त्वं तावदचलितां मनोगुप्ति-
मिति जानोहि । निखिलानृतभाषापरिहृतिर्वा मौनव्रतं च । मूर्तद्रव्यस्य चेतनाभावाद्
अमूर्तद्रव्यस्येन्द्रियजानागोचरत्वादुभयत्र वाक्प्रवृत्तिर्न भवति । इति निश्चयवाग्गुप्तिस्व-
रूपमुक्तम् ।

और असत्य वचन आदि का अभाव होना, [मौन वा वाग्गुप्तिः भवति] अथवा मौन
रहना वह वचनगुप्ति होती है ।

टीका—यह निश्चयनय से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की सूचना है । संपूर्ण
मोह, राग और द्वेष का अभाव हो जाने से अखंड अद्वैत परम चैतन्य स्वरूप में सम्यक्-
प्रकार में अवस्थित होना ही निश्चय मनोगुप्ति है । हे शिष्य ! तुम उस अचल
अवस्था को 'मनोगुप्ति' इसप्रकार से जानो ।

संपूर्ण असत्य भाषा का त्याग होना अथवा मौनव्रत होना मां वचनगुप्ति है ।
क्योंकि मूर्तिकद्रव्य में चेतना का अभाव होने से और अमूर्तिक द्रव्य इंद्रियज्ञान के
विषय नहीं होने से इन दोनों जगह वचन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । इसप्रकार
से निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है ।

विशेषार्थ—मन में पूर्णतया रागादि परिणामों का न होना ही निश्चय मनो-
गुप्ति है जो कि पूर्णरूप से ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में घटित होती है, उसके पूर्व
क्षेत्री में बुद्धिपूर्वक रागादि का अभाव होने से वहां पर भी घटित हो जाती है, क्योंकि
यह गुप्ति आत्मा में एकाग्र ध्यान की परिणतिरूप है अतः अंशरूप में—या प्रारंभरूप
से सातवें गुणस्थान में भी घटित हो सकती है । मौनव्रत को वचनगुप्ति कहते हुये
आचार्यश्री का यह अभिप्राय है कि पुद्गलद्रव्य जो कि मूर्तिक है वह अचेतन है और
चैतन्यद्रव्य अमूर्तिक होने से इंद्रियज्ञान के अगोचर हैं अतः किससे वचनालाप किया
जाय ? इसलिये वचनप्रवृत्ति को रोकना निश्चयवाग्गुप्ति है ।

(शार्दूलविकीर्णित)

शस्ताशस्तमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः
 शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिम् ।
 प्राप्यानंतचतुष्टयात्मकतया सार्धं स्थितां सर्वदा
 जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीषावकः ॥६४॥

परिमित' काल तक संपूर्ण योग का निग्रह होना गुप्ति है । उस गुप्ति में असमर्थ हुये साधु की कुशल-शुभ कार्यों में जो प्रवृत्ति है वह समिति कहलाती है । "इसलिये मनो'गुप्ति में संपूर्ण मन संबंधी परिस्पंद का निषेध है" । ऐसे वचनगुप्ति में भी 'मौन को वचनगुप्ति' कहने पर उसमें संपूर्ण वचनों का अभाव हो जाता है । अतः यहां पर निश्चयगुप्ति में मन-वचन के परिस्पंदन का निषेध समझना चाहिये ।

[अब टीकाकार इन दोनों निश्चयगुप्तियों के फल को बतलाने हुये श्लोक कहते हैं—]

(६४) श्लोकार्थ—पापरूपी वन के लिये अग्निस्वरूप ऐसे योगितिलक प्रशस्त और अप्रशस्त मन-वचन के समूह को छोड़ करके आत्मस्वरूप में लीन हुये, शुद्ध और अशुद्ध नयों से रहित, निर्दोष, चिन्मात्र चिन्तामणि को प्राप्त करके अनंतचतुष्टयात्मकरूप के साथ सदा रहने वाली ऐसी जीवन्मुक्त अर्हत अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं ॥६४॥

भावार्थ—निश्चय रत्नत्रय से परिणत हुए महामुनि प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के मन वचन के व्यापारों को छोड़कर नयातीत अवस्था को प्राप्त ऐसे शुद्धात्मतत्त्व में लीन होकर अर्हत हो जाते हैं । यहां पर निश्चयगुप्ति में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के मन वचन के व्यापार को छुड़ाया गया है ।

कायकिरियाणियत्तो, काउस्सग्गो सरीरग्गे गुत्तो ।

हिंसाइणियत्तो वा, सरीरगुत्ति त्ति णिहिट्ठा ॥७०॥

कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः ।

हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरिति निर्दिष्टा ॥७०॥

सब काय की क्रिया का परिहार जो करें ।

कायोत्सर्ग करके काय गुप्ति वे धरें ॥

अथवा जो हिंसा आदि क्रियाओं में दूर हैं ।

निश्चय में काय गुप्ती पाले वे पूर हैं ॥७०॥

निश्चयशरीरगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । सर्वेषां जनानां कायेषु बह्वचः क्रिया विद्यन्ते, तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः स एव गुप्तिर्भवति । पंचस्थावरानां त्रसानां च हिंसानिवृत्तिः कायगुप्तिर्वा । परमसंयमधरः परमजिनयोगीश्वरः यः स्वकीयं वपुः स्वस्य वपुषा विवेश तस्यापरिस्पंदमूर्तिरेव निश्चयकायगुप्तिरिति ।

तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने—

गाथा ७०

अन्वयार्थ—['कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः] काय की क्रियाओं के अभावरूप कायोत्सर्ग करना कायगुप्ति है, [वा हिंसादिनिवृत्तिः शरीर गुप्तिः इति निर्दिष्टा] अथवा हिंसादि पापों का अभाव होना भी कायगुप्ति है ऐसे कहा गया है ।

टीका—यह निश्चयकायगुप्ति के स्वरूप का कथन है ।

सभी जनों के कार्यों में बहुतसी क्रियायें होती हैं उन कायसंबंधी क्रियाओं का अभाव होना कायोत्सर्ग है, वही कायगुप्ति होती है । अथवा पांच स्थावर और एक असंख्य ऐसी पट्कायिक जीवों की हिंसा का न करना कायगुप्ति है । जो परम संयमधारी परम जिनयोगीश्वर महासुनि अपने चैतन्यमय शरीर में अपने चैतन्यमय शरीर से प्रवेश कर चुके हैं, उनकी परिस्पन्दन रहित निश्चलमूर्ति ही निश्चयकाय गुप्ति है ।

इसीप्रकार तत्त्वानुशासन ग्रन्थ में भी कहा है—

१. ये ६९वीं और ७० वीं गाथा मूला० में ११८७, ११८८ नंबर की हैं ।

(अनुष्टुभ्)

“उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम् ।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥”

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दात्मिका तनुः ।
व्यवहाराद्भूवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनोः ॥६५॥

घनघाद्वकर्मरहिया, केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।
चोत्तिसश्रदिसयजुत्ता, अरिहता एरिसा होंति ॥७१॥

घनघातिकर्मरहिताः केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः ।
चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता अर्हन्त ईदृशा भवन्ति ॥७१॥

अर्थ—“काय की क्रियाओं को और भव के कारणस्वरूप भावों को छोड़ करके जो व्याकुलता रहित अपनी आत्मा में स्थित रहता है, वह कायोत्सर्ग कहलाता है ।”

उसीप्रकार—[श्री टीकाकार निश्चयकायगुप्ति को प्राप्त करने का उपदेश देते हुए श्लोक कहते हैं—]

(६५) श्लोकार्थ—अपरिस्पन्दनस्वरूप आत्मा का शरीर परिस्पन्दस्वरूप है वह शरीर व्यवहारनय से मेरा है अतः मैं शरीर के विकार का त्याग करता हूँ । अर्थात् आत्मा अविचलस्वरूपी है, यह परिस्पन्दनरूप शरीर व्यवहारनय से ही मेरा है निश्चयनय से मेरा नहीं है, इसीलिए मैं इस शरीर की क्रियाओं को छोड़ रहा हूँ । शरीर की क्रियाओं को छोड़कर शरीर से निर्मम होकर आत्मा के स्वरूप में स्थिर हो जाना ही निश्चयकायगुप्ति है ॥६५॥

गाथा ७१

अन्वयार्थ—[घनघातिकर्मरहिताः] निविड़ ऐसे चार घातिया कर्मों से रहित, [केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः] केवलज्ञान आदि परम गुणों से सहित

घन घातिकर्म घात के सर्वज हो गये ।
केवल्य ज्ञान अबि परम गुण सहित भये ॥
चीत्तीस अतिशयो से युक्त देव हमारे ।
ऐसे श्री अरिहंत हमें भव गे उबारें ॥७१॥

भगवतोऽर्हत्परमेश्वरस्य स्वरूपाख्यानमेतत् । आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि
घनरूपाणि सान्द्रीभूतात्मकानि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयानि तैर्विरहितास्तथोक्ताः ।
प्रागुक्तघातिचतुष्कप्रध्वंसनासादितत्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुमूतसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शन-
केवलशक्तिकेवलसुखसहितारच । निःस्वेदनिर्मलादिचतुस्त्रिंशदतिशयगुणनिलयाः ईदृशा
भवन्ति भगवन्तोऽर्हन्त इति ।

(शान्तिगीत)

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः
सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः ।

[चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता ईदृशा अर्हन्तः भवन्ति] और चीत्तीस अतिशयों से युक्त ऐसे
अर्हन्त भगवान् होते हैं ।

टीका—भगवान् अर्हन्त परमेश्वर के स्वरूप का यह कथन है ।

आत्मा के गुणों के घात करने वाले कर्म घातिकर्म कहलाते हैं, गाढ़ सान्द्री-
भूत-निविड को घनरूप कहते हैं, ऐसे ये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहनीय
ये चार कर्म हैं, अर्हन्त भगवान् इनसे रहित होते हैं । इन उपर्युक्त चार घातिया कर्मों
के प्रध्वंस कर देने से प्राप्त, ऐसे तीनों लोकों में प्रक्षोभ-आश्चर्य के कारणभूत जो
सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य और केवलसुख इन चार अनन्त
चतुष्टयों से सहित हैं । और जो पसीना रहित, मलरहित आदि चीत्तीस अतिशय गुणों
के निवासगृह हैं ऐसे भगवान् अर्हन्त परमेष्ठी होते हैं ।

[अब टीकाकार अर्हन्त के गुणों को लवमात्र वर्णन करते हुए पांच श्लोकों
के द्वारा श्री पद्मप्रभ भगवान् की स्तुति करते हैं—]

(६६) श्लोकार्थ—जिनका शरीर प्रसिद्धि को प्राप्त-परमौदारिक है, खिले
हुये कमल के समान जिनके नेत्र हैं, जिनका गोत्र-तीर्थकर पद अथवा गोत्र पुण्य का

मुनिजनकनारदः कामदेवसिंहप्रतिज्ञः
सकलहितचरित्रः श्रीसुसीमासुपुत्रः ॥६६॥

(मांजिनी)

स्मरकरिमृगराजः पुण्यकंजाद्विराजः
सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः ।
स जयति जिनराजः प्रास्तदुःकर्मबीजः
पवनुतसुरराजस्त्यक्तसंसारभूजः ॥६७॥

(मांजिनी)

जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः
परिणतसुखरूपः पापकीनाशरूपः ।
हतभवपरितापः श्रीपदानम्रभूषः
स जयति जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः ॥६८॥

निवासगृह है, जो पंडितरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान हैं, जो मुनिजनरूपी वन-उद्यान के लिए चंद्रमास-वसंतऋतु के समान हैं, जो कर्मरूपी सेना के लिए शत्रु हैं और जिनका चारित्र्य सभी जीवों का हित करने वाला है, ऐसे श्री सुसीमा के सुपुत्र-पद्मप्रभ भगवान् जयशील होते हैं ॥६६॥

(६७) श्लोकार्थ—जो कामदेवरूपी हाथी के मद को नष्ट करने के लिए सिंह हैं, जो पुण्यरूपी कमल को विकसित करने के लिए दिवाकर हैं, जो सकलगुणों के समुदायरूप हैं, जो संपूर्ण कल्पित-इच्छित वस्तुओं को प्रदान करने के लिए कल्पवृक्ष हैं, जो दुष्टकर्मों के बीज नष्ट कर चुके हैं, जिनके चरणों में सुरेन्द्र नमन करते हैं और जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष का (आश्रय) त्याग कर दिया है ऐसे श्री पद्मप्रभ जिनराज जयशील हो रहे हैं ॥६७॥

(६८) श्लोकार्थ—जिन्होंने कामदेव के धनुष को जीत लिया है, जो संपूर्ण विद्याओं के प्रदीप-प्रकाशक हैं, जो सुखस्वरूप से परिणत हो रहे हैं, जो पाप को नाश करने के लिए यमराज स्वरूप हैं, संसार के संताप को जिन्होंने नष्ट कर दिया है,

(मालिनी)

जयति विवितमोक्षः पद्मप्रवायत्पक्षः
प्रजितदुरितकक्षः प्रास्तकंदर्पपक्षः
पद्मयुगनतयक्षः तत्त्वविज्ञानदक्षः
कृतबुधजनशिक्षः प्रोक्तनिर्घाणदीक्षः ॥९९॥

(मालिनी)

मदननगसुरेशः कान्तकायप्रदेशः
पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपाशः
दुरघवनहुताशः कौतसंपूरिताशः
जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रभेशः ॥१००॥

जिनके श्रीचरणों में राजागण नमस्कार करते हैं, जिन्होंने क्रोध को जीत लिया है और जिनके निकट विद्वानों का समूह नष्ट हो रहा है ऐसे वे श्री पद्मप्रभ भगवान् जयवंत हो रहे हैं ॥९८॥

(९९) श्लोकार्थ—जिन्होंने मोक्ष को जान लिया—प्राप्त कर लिया है, जिनके नेत्र कमलदल के समान विस्तृत हैं, जिन्होंने दुरितकक्ष—पापसमूह को जीत लिया है, जिन्होंने कामदेव के पक्ष को समाप्त कर दिया है, जिनके चरणयुगल में यक्षदेव नमन करते हैं, जो तत्त्वों के विज्ञान में दक्ष हैं, जिन्होंने विद्वान् जनों को शिक्षा दी है और जिन्होंने निर्घाणदीक्षा के स्वरूप को कहा है ऐसे श्रीजिनपद्मप्रभ भगवान् जयशील होते हैं ॥९९॥

(१००) श्लोकार्थ—जो कामदेवरूपी पर्वत के लिए सुरेन्द्र हैं अर्थात् जैसे इंद्र वज्र से पर्वत को फोड़ डालता है वैसे ही भगवान् कामदेव के मद को चूर चूर करने वाले हैं, जिनके शरीर के प्रदेश अतीव सुन्दर हैं, जिनके चरणों में संयमधारी मुनिवर विनत रहते हैं, जिन्होंने यमराज के जाल को समाप्त कर दिया है, जो दुष्ट पापरूपी वन को भस्म करने के लिए अग्निस्वरूप हैं, जिन्होंने अपनी कीर्ति से संपूर्ण दिशाओं को व्याप्त कर दिया है, जो भुवन के अधीश हैं ऐसे सुन्दर पद्मप्रभस्वामी जयशील होते हैं, अथवा ऐसे सुन्दर पद्मप्रभमुनिराज के स्वामी श्रीपद्मप्रभ जितेन्द्र जयवंत हो रहे हैं ॥१००॥

राहुटुकर्मसंबंधा, षष्ठमहागुणसमन्विता' परमा ।
लोकाग्रस्थिता एतत्त्वा, सिद्धा ते एरिसा ह्येति ॥७२॥

नष्टाष्टकर्मबन्धाः षष्ठमहागुणसमन्विताः परमाः ।
लोकाग्रस्थिता नित्याः सिद्धास्ते ईदृशा भवन्ति ॥७२॥

जिनमें समस्त अष्ट कर्मबंध नाशिया ।
वर्ष षष्ठ महागुण समेत मुक्ति पा लिया ॥
जो नित्य है त्रिलोक्य शिखर पर विराजने ।
तैसे वे सिद्ध उनको नमूँ कर्म नाशते ॥७२॥

विशेषार्थ—यहाँ पर टीकाकार श्रीपद्मप्रभ मुनिराज ने अरिहंत भगवान् के लक्षण के अनन्तर बहुत ही मधुर शब्दों में पांच श्लोकों द्वारा श्री पद्मप्रभ भगवान् की स्तुति की है । इसमें अनेकों गुणों के वर्णन के साथ-साथ मुनिराज ने 'पदांतवर्ण यमक' अलंकार के द्वारा प्रत्येक श्लोक में साहित्य रस को भर दिया है । प्रथम श्लोक में प्रत्येक पद के अंत में 'व' शब्द का प्रयोग है, द्वितीय श्लोक में सभी पदों के अंत में 'ज' शब्द का प्रयोग है, तृतीय श्लोक में सर्वत्र पदों में 'प' शब्द का प्रयोग है, चतुर्थ श्लोक के प्रत्येक पद में 'क्ष' शब्द प्रयुक्त हुआ है एवं पांचवें श्लोक के प्रत्येक पद के अन्त में 'श' शब्द का प्रयोग हुआ है । इसप्रकार की रचना से टीकाकार की सर्वतो-मुखी प्रतिभा का अवलोकन होता है ।

गाथा ७२

अन्वयार्थ—[नष्टाष्टकर्मबन्धाः] आठ कर्मों के बन्ध को जिन्होंने नष्ट कर दिया है, [षष्ठमहागुणसमन्विताः] जो आठ महागुणों से समन्वित हैं, [परमाः] परम हैं—सर्वश्रेष्ठ हैं, [लोकाग्रस्थिताः] लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं, और [नित्याः] नित्य हैं [ईदृशास्ते सिद्धाः भवन्ति] ऐसे वे सिद्ध भगवान् होते हैं ।

भगवतां सिद्धिपरंपराहेतुभूतानां सिद्धपरमेष्ठिनां स्वरूपमत्रोक्तम् । निरवशेषे-
हान्तमुखाकारध्यानध्येयविकल्पविरहितनिश्चयपरमशुक्लध्यानवत्तेन नष्टाष्टकर्मबंधाः ।
क्षायिकसम्यक्त्वाद्यष्टगुणपुष्टितुष्टाश्च । त्रितत्त्वस्वरूपेषु विशिष्टगुणावारत्वात् परमाः ।
त्रिभुवनशिखरात्परतो गतिहेतोरभावात् लोकाग्रस्थिताः । व्यवहारतोऽभूतपूर्वपर्यायप्रच्य-
वनाभावान्नित्याः । ईदृशास्ते भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिन इति ।

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजः स सिद्धः
त्रिभुवनशिखराग्रशावचूडामणिः स्यात् ।
सहजपरमचिन्विन्तामणौ नित्यशुद्धे
निवसति निजरूपे निश्चयेनैव देवः ॥१०१॥

टीका—सिद्धि की प्राप्ति के लिए परम्परा से कारणभूत ऐसे भगवान् सिद्ध
परमेष्ठी के स्वरूप का यहाँ कथन किया है ।

परिपूर्णरूप से अन्तर्मुखाकार ध्यान और ध्येय के विकल्प से रहित जो
निश्चय परम शुक्लध्यान है उस ध्यान के बल से आठकर्मों के बन्ध समूह को जिन्होंने
नष्ट कर दिया है । जो क्षायिक सम्यक्त्व, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व,
अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व इन आठगुणों की पुष्टि में संतुष्ट हैं ।
तीन तत्त्व के स्वरूपों में विशिष्ट गुणों के आधारभूत होने से जो परम हैं अर्थात्
बहिस्तत्त्व अन्तस्त्व और परमात्म तत्त्व इन तीन तत्त्वों में से अनन्तगुणों के आधार-
भूत होने से श्रेष्ठ परमात्मतत्त्व स्वरूप हैं । तीनलोक के शिखर से ऊपर गति हेतुक
धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के अग्रभाग (तनुवातवन्य) में विराजमान हैं ।
व्यवहारनय से अभूतपूर्व सिद्धपर्याय से प्रच्युत न होने से जो नित्य हैं—अविनाशी हैं ।
ऐसे वे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी होते हैं ।

[अब टीकाकार श्रीपद्मप्रभ मुनिराज उभयनय की अपेक्षा सिद्धों के निवास
स्थान को स्पष्ट करते हुए एक श्लोक कहते हैं, पुनः दो श्लोकों द्वारा उनके विशेष
गुणों के स्मरणपूर्वक उन्हें नमस्कार करते हैं—]

(१०१) श्लोकार्थ—व्यवहारनय से ज्ञान के पुंजस्वरूप वे सिद्ध भगवान्
त्रिभुवन शिखर की शिखा के चूडामणिस्वरूप हैं, निश्चयनय से वे ही देव सहजपरम

(स्रग्धरा)

नीत्वास्तान् सर्वदोषान् त्रिभुवनशिखरे ये स्थिता वेहमुक्ताः
तान् सर्वान् सिद्धिसिद्धिर्षं निरुपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान् ।
सिद्धान् नष्टाष्टकर्मप्रकृतिसमुदयान् नित्यशुद्धाननन्तान्
अव्याबाधात्तमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धसोमन्तिनीशान् ॥१०२॥

(अनुष्टुभ्)

स्वस्वरूपस्थितान् शुद्धान् प्राप्ताष्टगुणसंपदः ।
नष्टाष्टकर्मसंदोहान् सिद्धान् वंदे पुनः पुनः ॥१०३॥

पंचाचारसमग्गा, पंचिन्द्रियदंतिवर्ष्पणिद्वलणा ।
धीरा गुणगंभीरा, धारिरिया एरिसा होति ॥७३॥

पंचाचारसमग्गाः पंचेन्द्रियदंतिवर्ष्पनिर्दलनाः ।
धीरा गुणगंभीरा आचार्य्या ईदृशा भवन्ति ॥७३॥

चैतन्य चिन्तामणिरूप नित्यशुद्ध अपने स्वरूप में ही निवास करते हैं ।

(१०२) श्लोकार्थ—जो उन संपूर्ण दोषों को समाप्त करके लोक के शिखर पर स्थित हैं और शरीर से मुक्त हैं, उन निरुपम, विशद ज्ञान, दर्शन, शक्ति से युक्त, आठों कर्मप्रकृतियों के समुदाय को नष्ट करने वाले, नित्यशुद्ध, अन्तरहित अथवा गणनारहित अनन्त, बाधाजन्य इंद्रियसुख से रहित—अव्याबाधसुखस्वरूप, त्रिभुवन के तिलक और मुक्तिकांता के पति, ऐसे संपूर्ण सिद्धों को मैं सिद्धपद की सिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ ।

(१०३) श्लोकार्थ—अपने स्वरूप में स्थित, शुद्ध अष्टगुणों की संपत्ति को प्राप्त, अष्टकर्मसमूह को नष्ट करने वाले ऐसे सिद्धों को मैं पुनः पुनः वंदन करता हूँ ।

गाथा ७३

अन्वयार्थ—[पंचाचारसमग्गाः] पंचाचारों से परिपूर्ण [पंचेन्द्रियदंतिवर्ष्प-
निर्दलनाः] पांच इंद्रियरूपी हाथी के मद को दन्तन करने वाले, [धीराः] धीर

जो पांच आचारों का पूर्ण आचरण करें ।
पंचेन्द्रि हस्तियों के दर्प का दलन करें ॥
जो धीर गुणों से गंभीर संध अधिपती ।
ऐसे श्री आचार्य हमें देवें सम्मती ॥७३॥

अत्राचार्यस्वरूपमुक्तम् । ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोवीर्याभिधानैः पंचभिः आचारैः
समग्राः । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियमदान्धसिन्धुरदर्पनिर्दलनदक्षाः ।
निखिलधोरोपसर्गविजयोपाजितधीरगुणगंभीराः । एवं लक्षणलक्षितास्ते भगवन्तो
ह्याचार्या इति ।

तथा चोक्तं श्रीवाविराजदेवैः—

(शार्दूलविक्रीडित)

“पंचाचारपरानकिञ्चनपत्नीनश्यत्कषायश्रमान्
चंचज्ज्ञानबलप्रपंचितमहापंचास्तिकायस्थितीन्
स्फाराचंचलयोगचंचुरधियः सूरौनुदंचद्गुणान्
अंचामो भवदुःखसंचयभिदे भक्तिक्रियाचुंचवः ॥”

[गुणगंभीराः] और गुणों से गंभीर [ईदृशाः] ऐसे [आचार्याः] आचार्य परमेष्ठी
[भवन्ति] होते हैं ।

टीका—यहां आचार्य के स्वरूप को कहा है ।

जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चात्रिआचार, तप आचार और वीर्याचार इन
नाम वाले पांच आचारों से परिपूर्ण हैं, जो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन
नाम वाली पांच इंद्रियरूपी मदान्ध हाथी के गर्व को चूर करने में कुशल हैं, जो सकल
धोर उपसर्गों के विजय से उपाजित धीरता आदि गुणों से गंभीर हैं, इन लक्षणों से
लक्षित वे आचार्य भगवान् होते हैं ।

श्रीवादिराजदेव ने भी इसी प्रकार कहा है—

श्लोकार्थ—“पंचाचार में तत्पर, अकिञ्चन-अपरिग्रह के स्वामी, कषायों के
स्थानों को नष्ट करने वाले, शोभायमान ज्ञान के बल से महान् पंचास्तिकाय की स्थिति
को विस्तृत करने वाले, वृद्धिगत निश्चलयोग में-ध्यान में कुशल वृद्धिवाले, उत्कर्षता

तथा हि—

(हरिणः)

सकलकरणग्रामालंबाद्विमुक्तमनाकुलं
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्व्वाणकारणकारणम् ।
शमवमयमावासं मैत्रीदयादमसंदिरं
निरुपममिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ॥१०४॥

रयणतयसंजुता, जिणकहियपयत्थदेसया सूर। ।
णिक्कंखभावसहिया, उवज्झाया एरिसा होति ॥७४॥

रत्नत्रयसंयुक्ताः जिनकथितपदार्थदेशकाः शूराः ।
निःकांक्षभावसहिताः उपाध्याया ईदृशा भवन्ति ॥७४॥

को प्राप्त हुए गुणों से सहित ऐसे आचार्यों को भक्तिक्रिया में निपुण हम भवदुःखों के समूह को भेदन करने के लिए अर्चित करते हैं ।

उसीप्रकार से—[श्री टीकाकार सूरि के गुणों में विशिष्ट ऐसे श्रीचन्द्रकीर्ति मुनि की वंदना करने हुए श्लोक कहते हैं—]

(१०४) श्लोकार्थ—समस्त इंद्रिय समुदाय के आलंबन से रहित, अनाकुल, स्वहित में निरत, शुद्ध, निर्वाण के कारण—भेदाभेदरत्नत्रय का कारण, कपार्यों का शमन, इंद्रियों का दमन, यम-त्याग का निवास स्थान मैत्री, दया और दम का घर ऐसा यह श्रीचन्द्रकीर्तिमुनिराज का उपमारहित मन वंदनीय है ।

भावार्थ—यहां पर टीकाकार ने गुरुदेव श्रीचन्द्रकीर्ति सूरि के निर्मलमन की वंदना की है । इससे स्पष्ट होता है कि ये मुनिराज इनके दीक्षागुरु हों या शिक्षा गुरु हों, गुरु अवश्य होंगे ।

गाथा ७४

अन्वयार्थ—[रत्नत्रयसंयुक्ताः] रत्नत्रय से संयुक्त, [जिनकथित पदार्थ-देशकाः] जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये पदार्थों के उपदेश करने वाले, [शूराः]

जो तीन रत्न से समेत नान्वेष है ।
जितराजकथित तन्त्रका द्वे सद्गुदेश है ॥
निष्कांक्षभावयुक्त वे ही शूर मुनि हैं ।
ऐसे वे उपाध्याय सुविद्या के धनी हैं ॥३४॥

अध्यापकाभिधानपरमगुरुस्वरूपाख्यानमेतद् । अविचलिताखंडाद्वैतपरमचिद्-
रूपश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानशुद्धनिश्चयस्वभावरत्नत्रयसंयुक्ताः । जिनेन्द्रवदनारविंदबिनिर्ग-
तजीवादिसमस्तपदार्थसार्थोपदेशशूराः । निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमा-
त्मतत्त्वभावनोत्पन्नपरमवीतरागसुखामृतपानोन्मुखास्तत एव निष्कांक्षाभावनासनाथाः ।
एवंभूतलक्षणलक्षितास्ते जैतानामुपाध्याया इति ।

(अनुष्टुप्)

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्यांभोजदिवाकरान् ।
उपदेष्टुनुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः ॥१०५॥

शूर, [निःकांक्षभावसहिताः] निःकांक्षितभाव से सहित, [ईदृशा उपाध्याया भवन्ति]
ऐसे उपाध्याय होते हैं ।

टीका—अध्यापक नामक परमगुरु के स्वरूप का यह वचन है ।

अविचलित, अखंड, अद्वैत, परम चैतन्यस्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान-
रूप शुद्धनिश्चयस्वभाव रत्नत्रय से जो सहित हैं । जिनेन्द्रभगवान् के मुख कमल से
निकले हुए जो जीवादिपदार्थों के समूह, उसके उपदेश में जो शूर हैं । संपूर्ण परिग्रह
के परित्यागलक्षण निरंजन निज परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न हुआ जो परम
वीतरागसुखरूप अमृत; उसका पान करने वाले हैं और इसीलिये निष्कांक्ष भावना से
सहित हैं । जो इन उपर्युक्त लक्षणों से लक्षित होते हैं वे जैनों के उपाध्याय परमेष्ठी
होते हैं ।

[अब टीकाकार उपाध्याय परमेष्ठी की वंदना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१०५) श्लोकार्थ—जो रत्नत्रयमय हैं, शुद्ध हैं, भव्यजनरूपी कमलों के
लिये दिवाकर हैं, उपदेश देने वाले हैं ऐसे उपाध्याय गुरुओं को मैं नित्य ही पुनः पुनः
वंदन करता हूँ ।

वावारविप्रमुक्ता, 'चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिग्गमोहा, साहू दे एरिसा होंति ॥७५॥

व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधाराधनासदारक्ताः ।
निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवन्ति ॥७५॥

जो साधु सकल बाह्य के व्यापार से रहित ।
जो चार विध आराधना में लीन रहें वित ॥
निर्ग्रन्थ व निर्मोह यथा जातरूपधर ।
ऐसे सभी साधु को नमू शीश मुकाकर ॥७५॥

निरन्तराखंडितपरमतपश्चरणनिरतसर्वसाधुस्वरूपाख्यानमेतत् । ये महान्तः
परमसंयमिनः त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरमपंचमभावभावनापरिणताः अत एव समस्त-
बाह्यव्यापारविप्रमुक्ताः । ज्ञानदर्शनचारित्र्यपरमतपश्चरणाभिधानचतुर्विधाराधनासदानु-

गाथा ७५

अन्वयार्थ—[व्यापारविप्रमुक्ताः] व्यापार—बाह्यव्यापार से, रहित हैं,
[चतुर्विधाराधनासदारक्तः] चारप्रकार की आराधनाओं में हमेशा लगे हुए हैं,
[निर्ग्रन्थाः निर्मोहाः] निर्ग्रन्थ और निर्मोह हैं [एतादृशाः साधवः भवन्ति] ऐसे साधुगण
होते हैं ।

टीका—निरन्तर अखंडित परम तपश्चरण में निरत सर्व साधु के स्वरूप का
यह कथन है ।

जो महान परमसंयमी त्रिकाल निरावरण निरंजन परम पारिणामिकभाव की
भावना से परिणत हैं, इसलिये समस्त बाह्यव्यापार—बाह्यक्रियाओं से रहित हैं,
ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, चारित्र्याराधना और परम तपश्चरणआराधना नामकी चार
आराधनाओं में सदा अनुरक्त हैं, बाह्य और अभ्यन्तर समस्त परिग्रह के आग्रह से

रक्ताः । बाह्याभ्यन्तरसमस्तपरिग्रहाग्रहविनिर्मुक्तत्वाभिर्ग्रन्थाः । सदा निरंजननिजकारणसमयसारस्वरूपसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानाचरण प्रतिपक्षमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्याभावान्निर्मोहाः च । इत्थं सतपरमनिर्वाणसीमंतिनीचारुसीमंतसीमाशोभामसृणधसृणरजःपुंजपिंजरितवर्णालंकारावलोकनकौतूहलबुद्धयोऽपि ते सर्वेपि साधवः इति ।

विनिर्मुक्त होने से जो निर्ग्रन्थ हैं । और सदा निरंजन निजकारण समयसार के स्वरूप का सम्यक्श्रद्धान, परिज्ञान और आचरण, उसके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्य के अभाव हो जाने से जो निर्मोह—मोहकर्मरहित हैं । इसप्रकार के परम मोक्षरूपी स्त्री की सुन्दर मांग की शोभास्वप्न स्निग्ध केशर के रजकणों से भुवर्ण-सदृश पीले रंग वाले अलंकार के अवलोकन में कौतूहल बुद्धि वाले होते हुए भी वे सभी साधु कहलाते हैं ।

विशेषार्थ—पंचमभावस्वप्न पारिणामिकभाव की भावना में आत्मा का स्वरूप त्रिकाल निरावरण निरंजन है अर्थात् शुद्धनिश्चयनय में जीव द्रव्य त्रिकाल में भी आवरण में रहित होने से निरंजन है, शुद्ध है इस दृष्टि से त्रिकाल निरावरण का अर्थ लेना चाहिए । साधुजन शुद्धनिश्चयनय से आत्मा के स्वरूप को सदा ही आवरण रहित भाते हैं और लौकिक क्रियाओं में गुंथ होने से सकल व्यापार में विमुक्त रहते हैं चार आराधनाओं में लीन रहते हैं । दश प्रकार के बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ हैं । यद्यपि यहां ये निर्ग्रन्थ अवस्था बारहवें गुणस्थान में घटित होती है फिर भी जो छोटे-साने गुणस्थान के योग्य उभय परिग्रह से रहित होने से यहां पर भी निर्ग्रन्थ कहलाते हैं अथवा भावी नैगमनय की अपेक्षा सभी दिगम्बर साधु निर्ग्रन्थ कहलाते हैं । निरंजन निजकारणसमयसार शब्द से—शुद्धनिश्चयनय से भी आत्मा का स्वभाव निरंजन है ऐसा निश्चय करके जो भेदरत्नत्रय के बल से अभेदरत्नत्रयस्वरूप—निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परिणत अवस्था है उसीका नाम कारणसमयसार है क्योंकि वही कारण, कार्यसमयसार—अनंतचनुष्टय की व्यक्ति-रूप से परिणत होता है । निष्कर्ष यह निकला कि जो शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना से सहित, बाह्यप्रपंचों से रहित, चार आराधनाओं की आराधना करने वाले हैं, निर्ग्रन्थ हैं निर्मोही हैं । वे, जिसकी सुन्दर केशर से मांग भरी हुई है ऐसी निर्वाणसुन्दरी का अवलोकन करने वाले हैं, फिर भी वे साधु हैं । यहां विरोधाभास भी है, जो स्त्री के रूप

(आर्या)

भवितां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषंगसंबन्धात् ।

मक्षु विमंक्ष्व निजात्मनि वंद्यं नस्तन्मनः साधोः ॥१०६॥

एरिसयभावणाए, व्यवहारणयस्स होदि चारित्तं ।

णिच्छयणयस्स चरणं, एतो उड्ढं पवक्खामि ॥७६॥

ईदृशभावनायां व्यवहारणयस्य भवति चारित्र्यम् ।

निश्चयनयस्य चरणं एतदूर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥७६॥

इस विषय में जो तेरह प्रकार चरित हैं सही ।

श्री पंचगुरु भक्ति की भी भावना कही ॥

व्यवहार नय से होता चारित्र्य है यही ।

आगे कहूँगा चारित जो निश्चयनय से हो ॥७६॥

का अवलोकन करते हैं वे साधु नहीं कहे जा सकते हैं किन्तु फिर भी ये साधु कहलाते हैं । मतलब सर्वकर्मरहित जो मुक्त अवस्था है उसकी प्राप्ति की तरफ जिनका उपयोग लगा हुआ है । ऐसे वे साधु परमेष्ठी होते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज साधुपरमेष्ठी की वंदना करते हुए एक श्लोक कहते हैं—]

(१०६) श्लोकार्थ—जो संसारी जीवों के संसार के मुख से विमुख है और सर्व संग के सम्बन्ध से रहित है वह साधु का मन हम सभी के लिए वंदनीय है । हे साधो ! आप उस मन को शीघ्र ही अपनी आत्मा में निमग्न करो ॥१०६॥

गाथा ७६

अन्वयार्थ—[ईदृशभावनायां] ऐसी पूर्वोक्त भावना के होने पर [व्यवहार-
नयस्य] व्यवहारणय का [चारित्रं भवति] चारित्र्य होता है । [एतदूर्ध्वं] इसके आगे
[निश्चयनयस्य] निश्चयनय के [चारित्रं] चारित्र्य को [प्रवक्ष्यामि] कहूँगा ।

व्यवहारचारित्र्याधिकारव्याख्यानोपसंहारनिश्चयचारित्र्यसूचनोपन्यासोऽयम् ।
इत्थंभूतायां प्रगुक्तपंचमहाव्रतपंचसमितिनिश्चयव्यवहारत्रिगुप्तिपंचपरमेष्ठिध्यानसंयुक्ता-
याम् अतिप्रशस्तशुभभावनायां व्यवहारनयाभिप्रायेण परमचारित्रं भवति, वक्ष्यमाणपंच-
माधिकारे परमपंचमभावनिरतपंचमगतिहेतुभूतशुद्धनिश्चयनयात्मपरमचारित्रं ब्रह्मव्यं
भवतीति ।

तथा चोक्तं मार्गप्रकाशे—

(वंशस्थ)
“कुसूलगर्भस्थितबीजसोदरं
भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम् ।
तदेव देवासुरमानवस्तुतं
नमामि जैतं चरणं पुनः पुनः ॥”

टीका—यह व्यवहार चारित्र्याधिकार के व्याख्यान का उपसंहार और
निश्चयचारित्र्य की सूचना का कथन है ।

इसप्रकार से पूर्व में कथित पांचमहाव्रत, पांचसमिति, निश्चय—व्यवहार-
रूप तीनगुप्ति तथा पांचपरमेष्ठी के ध्यान से संयुक्त अतिप्रशस्त शुभ भावना के होने
पर व्यवहारनय के अभिप्राय से परम चारित्र्य होता है । अब आगे कहे जाने वाले
पांचवें अधिकार में परम पंचमभाव—पारिणामिक भाव में तीन और पंचमगति के लिये
कारणभूत ऐसे शुद्धनिश्चयनयस्वरूप परम चारित्र्य को देखना चाहिए, ऐसा कथन है ।

इसीप्रकार मार्गप्रकाश में कहा है—

श्लोकार्थ—“जिसके बिना—जिस चारित्र्य के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान
ये दोनों कोठार में रखे हुये बीज के सदृश हैं, सुर—असुर और मनुष्यों के द्वारा स्तुति
को प्राप्त और जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कथित उसी चारित्र्य को मैं पुनः पुनः नमस्कार
करता हूँ ।”

भावार्थ—चारित्र्य के बिना सम्यक्त्व और ज्ञान गोदाम के बीज के समान
हैं । चारित्र्य के द्वारा वे अंकुरित होकर मुक्तिरूपी फलरूप से फलित हो जाते हैं
अर्थात् चारित्र्य से सहित हुये ये दर्शनज्ञान मुक्ति को प्राप्त करा देते हैं ।

तथा हि—

(आर्या)

शीलमपवर्गयोषिदनंगमुखस्यापि मूलमाचार्याः ।

प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परंपरा हेतुः ॥१०७॥

इति सुकविजनपयोजामित्रपंचेन्द्रियप्रसरवांजितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमल-
धारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ व्यवहारचारित्राधिकारः चतुर्थः
श्रुतस्कन्धः ॥

उसीप्रकार में— [टीकाकार श्री पद्मप्रभमुनिराज व्यवहारचारित्र की
सफलता को सूचित करने हुए श्लोक कहते हैं—]

(१०७) श्लोकार्थ—आचार्यवर्य, शील-निश्चयचारित्र को मुक्तिरमणी के
अतीन्द्रिय मूल का भी मूल कारण कहते हैं, और व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका
परंपराकारण है । अर्थात् व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्र के लिये कारण है और
निश्चयचारित्र साक्षात् मोक्ष का कारण है, इसलिये व्यवहारचारित्र मोक्ष के लिये
परम्पराकारण है ।

इसप्रकार नृकावजनरूपी कमलों के लिए सूर्य, पंचेन्द्रियों के विस्तार में
रहित, शरीरमात्र परिग्रह के धारी श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव के द्वारा विरचित नियमसार
की तात्पर्यवृत्ति नामकी व्याख्या-टीका में व्यवहार चारित्राधिकार नामक चौथा
श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ ।

❀ व्यवहारचारित्र अधिकार समाप्त ❀



[५]

परमार्थ-प्रतिक्रमण अधिकार

(वंशस्थ)

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये
स्मरेभकुम्भस्थलमेदनाय वै ।
विनेयपङ्केजविकासभानवे
विराजते माधवसेनसूरये ॥१०८॥

अथ सकलव्यावहारिकचारित्र्यतत्फलप्राप्तिप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयनयात्मकपरम-
चारित्र्यप्रतिपादनपरायणपरमार्थप्रतिक्रमणाधिकारः कथ्यते । तत्रादौ तावत् पञ्चरत्नस्व-
रूपमुच्यते । तद्यथा—

[पञ्चम अधिकार के प्रारम्भ में टीकाकार श्रीपद्मप्रभमुनिराज श्रीमाधव-
सेनाचार्य को नमस्कार करते हुए एक श्लोक कहते हैं—]

(१०८) श्लोकार्थ—संयम और ज्ञान की मूर्तिस्वरूप, कामदेवरूपी हाथी के
गण्डस्थल को विदारण करने वाले, और शिष्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिये
भास्करस्वरूप, शोभायमान जो माधवसेनमूरि हैं उन्हें मेरा नमोऽस्तु होवे ॥१०८॥

अब सकलव्यवहारचारित्र्य और फल की प्राप्ति के प्रतिपक्षभूत शुद्धनिश्चय-
नयात्मक परमचारित्र्य के प्रतिपादन में परायण ऐसे परमार्थ प्रतिक्रमण के अधिकार को
कहते हैं । उसमें सबसे प्रथम 'पञ्चरत्न' के स्वरूप को कहते हैं । वह इसप्रकार हैं—

अथ पंचरत्नावतारः ।

णाहं नारयभावो, तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ ।
 कत्ता ए हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७७॥
 णाहं मग्गण्ठाणो, एाहं 'गुण्ठाण जीवठाणो ण ।
 कत्ता ए हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७८॥
 एाहं बालो बुद्धो, ए चेव तरुणो ए कारणं तेसिं ।
 कत्ता ए हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७९॥
 णाहं रागो दोसो, ण चेव मोहो ए कारणं तेसिं ।
 कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८०॥
 णाहं कोहो माणो, ण चेव माया ण होमि लोहो हं ।
 कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीण ॥८१॥

नाहं नारकभावस्तियंङ्मानुषदेवपर्यायः ।

कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥७७॥

अव पांचरत्नों का अवतार होता है—

गाथा ७७ से ८१

अन्वयार्थ—[अहं] मैं [नारकभावः तिर्यङ्मानुषदेवपर्यायः न] नारक पर्याय, तिर्यचपर्याय, मनुष्यपर्याय अथवा देवपर्यायरूप नहीं हूँ, [कर्ता न हि कारयिता] मैं उनका कर्ता नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ और [कर्तृणां अनुमंता न एव] करने वालों का अनुमोदन करने वाला भी नहीं हूँ ।

[अहं मार्गणास्थानानि न] मैं मार्गणास्थानरूप नहीं हूँ, [अहं गुणस्थानानि वा जीवस्थानानि न] मैं गुणस्थानरूप अथवा जीवसमासरूप नहीं हूँ, [कर्ता न हि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव] मैं उनका करने वाला, कराने वाला और करते हुए की अनुमोदना करने वाला भी नहीं हूँ ।

१. गुणठाण तद्देव जीवठाणाणि (क) पाठान्तर ।

नाहं मार्गणास्थानानि नाहं गुणस्थानानि जीवस्थानानि च ।
 कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥७८॥
 नाहं बालो वृद्धो न चैव तरुणो न कारणं तेषाम् ।
 कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥७९॥
 नाहं रागो द्वेषो न चैव मोहो न कारणं तेषाम् ।
 कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥८०॥
 नाहं क्रोधो मानो न चैव माया न भवामि लोभोऽहम् ।
 कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥८१॥

शंभु छंद

मैं नहीं तारकी नहि तियक् नहि मनुज नहीं हूँ देव कर्मा ।
 नहि इन पर्यायों का कर्ता नहि इन्हें कराने वाला भी ॥
 नहि इनके करने वालों का अनुमोदन करने वाला हूँ ।
 मैं तो निश्चय से चिन्मूरत निजतनु मे भिन्न निराला हूँ ॥७७॥
 मैं गति आदिक मार्गणा नहीं, नहि गुणस्थान परिणामी हूँ ।
 नहि चोदह जीवसमासरूप स्थानों का अनुगामी हूँ ॥
 मैं नहि इन सबका कर्ता हूँ और नहीं कराने वाला हूँ ।
 नहि अनुमोदन कर्ता इनका मैं निजरस पीने वाला हूँ ॥७८॥

[अहं बालः वृद्धः न] मैं बालक नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ, [तरुणः एव च न]
 और तरुण भी नहीं हूँ [न तेषां कारणं] उनका कारण भी नहीं हूँ । [कर्ता नहि
 कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव] मैं उनका करने वाला नहीं हूँ, कराने वाला भी
 नहीं हूँ और करते हुए की अनुमोदना करने वाला भी नहीं हूँ ।

[अहं रागः द्वेषः न] मैं रागरूप नहीं हूँ, द्वेषरूप नहीं हूँ [न च मोहः
 एव] और मोहरूप भी नहीं हूँ, [न तेषां कारणं] उनका कारण भी नहीं हूँ ।
 [कर्ता नहि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव] उनका करने वाला, कराने वाला और
 करते हुये की अनुमोदना करने वाला मैं नहीं हूँ ।

मैं बालक नहिं मैं वृद्ध नहीं मैं नहीं तरुण हूं इस जग में ।
 नहिं इनका कारण हो सकता यह सब पुद्गल के रूप बने ॥
 नहिं इन पर्यायों का कर्ता, नहिं कभी कराने वाला हूं ।
 नहिं इनका अनुमोदन कर्ता मैं सशमे भिन्न निराला हूं ॥७६॥
 मैं राग नहीं मैं द्वेष नहीं मैं मोह नहीं निश्चयनय से ।
 मैं इनका कारण भी नहिं हूं वे होते हैं कर्मोदय से ॥
 मैं नहिं इनका कर्ता सच मैं नहिं कभी कराने वाला हूं ।
 नहिं इनका अनुमोदन कर्ता, सुख शांति सुधारस वाला हूं ॥७७॥
 मैं क्रोध नहीं मैं मान नहीं मैं नहिं माया मैं लोभ नहीं ।
 नहिं इनका कर्ता नहीं कराने वाला नहीं अनुमोदक ही ॥
 वे सब कर्मोदय से होते श्रीर कर्म नहीं मेरे कुछ भी ।
 मैं निश्चयनय से पूर्ण शुद्ध नहिं किंचित् दुःखा अनुद्वेष्टा ही ॥७८॥

अत्र शुद्धात्मनः सकलकर्तृत्वाभावं दर्शयति । बह्वारंभपरिग्रहाभावादहं तारकपर्यायो न भवामि । संसारिणो जीवस्य बह्वारंभपरिग्रहत्वं व्यवहारतो भवति अत एव तस्य तारकायुष्कहेतुभूतनिखिलमोहरागद्वेषा विद्यन्ते, न च मम शुद्धनिश्चयबलेन शुद्धजीवास्तिकायस्य । तिर्यक्पर्यायप्रायोग्यमायामिश्राशुभकर्मभावात्सदा तिर्यक्-

[अहं क्रोधः मानः न] मैं क्रोधरूप नहीं हूं मानरूप नहीं हूं, [अहं माया च एव लोभः न भवामि] मैं मायारूप नहीं हूं और मैं लोभरूप भी नहीं हूं, [कर्ता न हि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव] मैं इनका करने वाला, कराने वाला और करते हुए को अनुमोदना देने वाला भी नहीं हूं ।

टीका—यहां शुद्ध आत्मा के संपूर्ण कर्तृत्व का अभाव दिखलाते हैं ।

बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह के अभाव से मैं तारकपर्यायरूप नहीं होता हूं । संसारी जीव के व्यवहारनय से बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होता है, अतएव उस संसारी जीव के नरक आयु के लिए कारणभूत संपूर्ण मोह, राग और द्वेष विद्यमान हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीवास्तिकायस्वरूप मेरे में वे नहीं हैं । तिर्यक्पर्याय के योग्य माया से मिश्रित अशुभकर्म के अभाव से मैं सदा तिर्यक्पर्याय के कर्तृत्व से

पर्यायकर्तृत्वविहीनोऽहम् । मनुष्यनामकर्मप्रायोग्यद्रव्यभावकर्माभावान्न मे मनुष्यपर्यायः शुद्धनिश्चयतो समस्तीति । निश्चयेन देवनामधेयाधारदेवपर्याययोग्यसुरसमुगन्धस्वभावात्मकपुद्गलद्रव्यसम्बन्धाभावात्त मे देवपर्यायः इति । चतुर्दशभेदभिन्नानि मार्गणास्थानानि तथाविधभेदविभिन्नानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि वा शुद्धनिश्चयनयतः परमभावस्वभावस्य न विद्यन्ते । मनुष्यतिर्यक्पर्यायकायवयःकृतविकारसमुपजनितबाल-यौवनस्थविरवृद्धावस्थाद्यनेकस्थूलकृशविविधभेदाः शुद्धनिश्चयतयाभिप्रायेण न मे सन्ति । सत्तावबोधपरमचैतन्यसुखानुभूतिनिरतविशिष्टात्मतत्त्वग्राहकशुद्ध द्रव्यार्थिकनयबलेन मे सकलमोहरागद्वेषा न विद्यन्ते । सहजनिश्चयनयतः सदा निरावरणात्मकस्य शुद्धावबोध-रूपस्य सहजचिच्छक्तिमयस्य सहजरूपस्फूर्तिपरिपूर्णमूर्तेः स्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजयथा-

रहित हूं । मनुष्यनामकर्म के योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म के अभाव से शुद्धनिश्चयनय मे मेरे मनुष्यपर्याय नहीं है । निश्चयनय मे देवनाम के लिए आधारभूत ऐसी देवपर्याय के योग्य सुरस और मुगन्धिन स्वभाव वाले पुद्गलद्रव्य के सम्बन्ध का अभाव होने से मेरे देवपर्याय नहीं है ।

चौदह भेद सहित मार्गणास्थान और उसीप्रकार-चौदह भेद सहित जीव समास अथवा चौदह भेद सहित गुणस्थान शुद्धनिश्चयनय मे परमभाव स्वभाव वाले ऐसे मुझ में नहीं हैं ।

मनुष्य और तिर्यक्पर्याय के शरीर में उम्र के निमित्त से किये गये विकार रूप से उत्पन्न हुई बाल अवस्था, यौवन अवस्था, स्थविर अवस्था और वृद्धावस्था आदि तथा अनेक स्थूल और कृश से होने वाले विविध भेद, शुद्धनिश्चयनय के अभिप्राय से मुझमें नहीं है ।

सत्ता, ज्ञान, परमचैतन्य और सुख की अनुभूति में लीन, विशिष्ट आत्मतत्त्व को ग्रहण करने वाला जो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है उस नय के बल से मेरे में सकल मोह, राग और द्वेष नहीं हैं ।

सहज निश्चयनय से सदा निरावरणरूप, शुद्धज्ञानस्वरूप, सहजचैतन्यशक्ति-मय, सहजदर्शन के स्फुरायमान से परिपूर्ण मूर्तिस्वरूप और स्वरूप में अविचल स्थिति

व्यासचारित्र्यस्य न मे विस्मयसंभूतिरित्येव हेतवः क्रोधमानमायालोभाः स्युः । अथामीषां विविधविकल्पाकुलानां विभावपर्यायाणां निश्चयतो नाहं कर्ता, न कारयिता वा भवामि, न चानुमंता वा कर्तृणां पुद्गलकर्मणामिति । नाहं नारकपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं निर्यकपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं देवपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं मनुष्यपर्यायं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं चतुर्दशमार्गणास्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं एकेन्द्रियादिजीवस्थानभेदं कुर्वे, सहज-

रूप सहज यथाख्यात चारित्रवाले ऐसे मेरे में सकल संसार के क्लेश के कारणभूत ऐसे क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं हैं ।

अब इन विविधविकल्पों-भेदों से व्याप्त सभी विभाव पर्यायों का निश्चयनय मे में करने वाला नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ और करने वाले पुद्गल कर्मों का मैं अनुमोदन करने वाला भी नहीं हूँ ।

मैं नरकपर्याय को नहीं करता हूँ, सहज चैतन्य के विलासरूप अपनी आत्मा का ही मैं सम्यक्प्रकार से अनुभव करता हूँ । मैं निर्यकपर्याय को नहीं करता हूँ, सहज चैतन्य के विलासरूप आत्मा का ही मैं सम्यक्प्रकार से चितवन करता हूँ । मैं मनुष्य पर्याय को नहीं करता हूँ, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही मैं सम्यक्चितवन करता हूँ । देवपर्याय को मैं नहीं करता हूँ, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप ऐसी आत्मा का ही मैं सम्यक्प्रकार से चितवन करता हूँ ।

। मैं चौदह मार्गणास्थान के भेदों को नहीं करता हूँ, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही मैं सम्यक्प्रकार से चितवन करता हूँ । मैं मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान के भेदों को करने वाला नहीं हूँ, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही सम्यक्प्रकार से अनुभव करता हूँ । मैं एकेन्द्रिय आदि चौदह जीवसमास के भेदों को करने वाला नहीं हूँ, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही सम्यक्प्रकार से अनुभव करता हूँ ।

चिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं शरीरगतबालाद्यवस्थानभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं रागादिभेदभावकर्मभेदं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । नाहं भावकर्मस्वभावकषायचतुष्कं कुर्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये । इति पञ्चरत्नांचितोपन्यासप्रपञ्चनसकलविभावपर्यायसंन्यासविधानमुक्तं भवतीति ।

मैं शरीर में होने वाली बाल्य आदि अवस्थाओं के भेदों को नहीं करता हूँ, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही सम्यक् अनुभव करता हूँ । मैं रागादि भावस्वरूप भावकर्मों के भेदों को नहीं करता हूँ, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप आत्मा का ही सम्यक्प्रकार से चितवन करता हूँ । मैं भावकर्मस्वरूप चार कषायों को नहीं करता हूँ, सहज चैतन्य के विलासस्वरूप अपनी आत्मा का ही सम्यक्प्रकार से चितवन करता हूँ । (जैसे यहां कर्ता के विषय में धटित किया है वैसे ही कार्यायता और अनुमोदनकर्ता के सम्बन्ध में भी धटित कर लेना चाहिए ।)

इसप्रकार से पञ्चरत्न से गोभिन कथन के विस्तार में संपूर्ण विभावपर्यायों के संन्यास-त्याग के विधान का कथन किया गया है ।

भावार्थ—यहां आचार्यों का कहना है कि यद्यपि संसारी जीवों के संसार अवस्था में नरनारकादि पर्यायें तथा गुणस्थानादि परिणाम और रागादि विभाव भाव विद्यमान हैं फिर भी शुद्धनिश्चयनय से ये कुछ भी जीव में नहीं हैं इसलिए यह चितवन करना चाहिए कि शुद्धनिश्चयनय से मैं इन नरनारकादि पर्यायों का विभाव भाव आदि का न कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न ही अनुमति देने वाला हूँ । मैं तो केवल चिच्चैतन्यस्वरूप अपनी शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करने वाला हूँ । इसप्रकार की भावना भाते-भाते ही एक दिन ऐसा आयेगा कि उस आत्मस्वरूप में पूर्णतन्मयता हो जावेगी और सभी मोहनीय कर्म का नाश होकर आत्मा में ज्ञान सूर्य का प्रकाश प्रगट हो जावेगा । इसलिए जब तक आत्मस्वरूप में पूर्णस्थिरता नहीं आती है तब तक यह भावना भाते ही रहना चाहिए ।

[अब टीकाकार श्रीमृनिराज इन पांचरत्नों का मूल्यांकन कराने हुए श्लोक कहते हैं—]

(वसंततिलका)

भव्यः समस्तविषयाग्रहमुक्तचिन्तः
 स्वद्वन्द्वपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्तः ।
 मुक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
 प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति पंचरत्नात् ॥१०६॥

एरिसभेदवभासे, मज्झस्थो होदि तेण चारित्तं ।
 तं दढकरणणिमित्तं, पांडिक्कमणादीं पवक्खामि ॥८२॥

ईदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्थो भवति तेन चारित्र्यम् ।
 तद्दृढीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादि प्रवक्ष्यामि ॥८२॥
 इस विध में स्वपर भेद का जव, अभ्यास जीव कर पाता है ।
 मध्यस्थ हुआ तब पूर्णतया, निज समरम अनुभव पाता है ॥
 उससे जो चारित होना है वह बीतराग कहलाता है ।
 उसके दृढ करने हेतु प्रतिक्रमणादि कहा गत जाता है ॥८२॥

(१०६) श्लोकार्थ—जो समस्त विषयों के आग्रह की चिन्ता से मुक्त है, द्रव्य गुणपर्यायात्मक अपने आत्मस्वरूप में जिन्होंने चित्त को लगाया है, वे भव्य जीव अपने स्वभाव से भिन्न सम्पूर्ण विभावों को छोड़करके इन पंचरत्नों के निमित्त से शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—टीकाकार श्री मुनिराज ने भेदविज्ञान की भावनास्वरूप पूर्वोक्त पांच गाथाओं को पंचरत्न की संज्ञा दी है । क्योंकि इन पांच गाथा कथित भेदविज्ञान के द्वारा ही मुनिराज संपूर्ण विषय कषायों की चिन्ता से छूट सकते हैं और अपनी आत्मा में अपने आपको स्थिर कर सकते हैं । इसलिये जो भव्य इन पंचरत्न को ग्रहण करते हैं वे तीन लोक के साम्राज्य को हस्तगत कर लेते हैं ।

गाथा ८२

अन्वयार्थ—[ईदृग्भेदाभ्यासे] इसप्रकार के भेद का अभ्यास हो जाने पर [मध्यस्थो भवति] जीव मध्यस्थ होता है, [तेन चारित्रं] इसलिए चारित्र्य होता है ।

अत्र भेदविज्ञानात् क्रमेण निश्चयचारित्र्यं भवतीत्युक्तम् । पूर्वोक्तपंचरत्नांचि-
क्षणपरिज्ञानेन पंचमगतिप्राप्तिहेतुभूते जीवकर्मपुद्गलयोर्भेदाभ्यासे सति, तस्मिन्नेव च
ये मुमुक्षवः सर्वदा संस्थितास्ते ह्यत एव मध्यस्थाः तेन कारणेन तेषां परमसंयमिनां
वास्तवं चारित्र्यं भवति । तस्य चारित्र्याविचलस्थितिहेतोः प्रतिक्रमणादिनिश्चयक्रिया
निगद्यते । अतीतदोषपरिहारार्थं यत्प्रायश्चित्तं क्रियते तत्प्रतिक्रमणम् । आदिशब्देन
प्रत्याख्यानान्तीकां संभवश्चेत्यत इति ।

[तद्दृढीकरणनिमित्तं] उस चारित्र्य को दृढ़ करने में निमित्तभूत [प्रतिक्रमणादि]
प्रतिक्रमण आदि को [प्रवक्ष्यामि] मैं कहूंगा ।

टीका—यहां भेदविज्ञान से क्रम से निश्चयचारित्र्य होता है ऐसा कहा है ।

पूर्वोक्त पंचरत्न से सुगोभित पदार्थों के ज्ञान से पंचमगतिरूप सिद्धगति के
लिए कारणभूत ऐसा जीव और कर्मपुद्गल में भेद का अभ्यास हो जाने पर, उसी-भेद
के अभ्यास में ही जो मुमुक्षु-महामुनि हमेशा संस्थित रहते हैं वे उसी हेतु से मनन
भेदाभ्यास से मध्यस्थ होते हैं, और इसकारण से उन परमसंयमी मुनियों के निश्चय-
चारित्र्य होता है । उस चारित्र्य में अविचलस्थिति के लिए प्रतिक्रमण आदि निश्चय-
क्रियाओं को कहते हैं । अतीतकाल के दोषों का परिहार करने के लिये जो प्रायश्चित्त
किया जाता है वह प्रतिक्रमण है । आदि शब्द से प्रत्याख्यान आलोचना आदि भी होते
हैं ऐसा कहा गया है ।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त पंचरत्नस्वरूप पांच माथाओं के मनन से जीव और
पौद्गलिक कर्मों का भेद मालूम होता है । उस भेदविज्ञान के दृढतर अभ्यास से महा-
मुनि संपूर्ण संकल्प, विकल्प से रहित वीतराग अवस्था को प्राप्त होकर अपने आत्म
स्वरूप के ध्यान में तन्मय हो जाते हैं उस समय उन मुनियों के रत्नत्रय की एकाग्र
परिणतिरूप निश्चय चारित्र्य होता है । उस अवस्था में ही निश्चय प्रतिक्रमण आदि
क्रियाएँ घटित होती हैं । इसलिये निश्चयचारित्र्य में निश्चल स्थिर होने के लिये ही
आचार्यदेव इन निश्चय क्रियाओं को बताते हैं । आदि शब्द से जो यहां प्रत्याख्यान
आदि की सूचना की है उसको स्वयं श्री भगवान् कुंदकुंददेव के आगे छठे-सातवें आदि
अधिकारों में निश्चयप्रत्याख्यान, निश्चयआलोचना आदि का वर्णन किया है ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(अनुष्टुप्)

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

तथा हि—

(मालिनी)

इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भेदभावे

स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोहः ।

शमजलनिधिपूरक्षालितांहःकलंकः

स खलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः ॥११०॥

इस भेदविज्ञान के विषय में श्रीमान् अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—‘निश्चितरूप से जो कोई भी सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुये हैं, और निश्चितरूप से जो कोई भी बंधे हुये हैं वे सभी जीव भेदविज्ञान के अभाव में ही बंधे हुए हैं’ ।

उसीप्रकार—[टीकाकार श्री मुनिराज भेदविज्ञान की महिमा के विषय में आश्चर्य प्रगट करने हुए श्लोक कहते हैं—]

(११०) श्लोकार्थ—इसप्रकार से मुनिनाथ को उत्कृष्टरूप से भेदविज्ञान के हो जाने पर स्वयं यह (भेदविज्ञान) उपयोग से मोहरहित होता हुआ शोभायमान होता है, शमसमुद्र के प्रवाह से धो डाला है पापरूपी कलंक को जिसने, ऐसा जो भेद है वह निश्चित ही इस समयसार का कोई एक भेद है । अर्थात् वह भेदविज्ञान समय-सार का कोई एक अद्भुत चमत्कारी भेद है ।

भावार्थ—जिससमय महामुनि भेदविज्ञान के द्वारा आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव करते हैं उससमय उनके उपयोग में मोहभाव नहीं रहता है, यद्यपि मोहनीय कर्म का बंध और उदय दशवें गुणस्थान तक तथा सत्त्व ग्यारहवें गुणस्थान तक

मोक्षतूणवधरणरणं, रागदी^१भावधारणं किञ्चा ।
अप्याणं जो ज्ञायति, तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं ॥८३॥

मुक्त्वा वचनरचनां रागादिभावधारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु भवतीति प्रतिक्रमणम् ॥८३॥

जो प्रतिक्रमण का पाठ वचन रचनामय उसको तज करके ।
रागादि भाव को छोड़ सर्वविध निर्विकल्प मन बन करके ।
निज आत्मा को नित ध्याते हैं अतिशय एकाग्रचित्त करके ।
यह प्रतिक्रमण निश्चयसंज्ञक उनके होता है निश्चय से ॥८३॥

देनं देनं मुमुक्षुजनसंस्तूयमानवाङ्मयप्रतिक्रमणनामधेयसमस्तपापक्षयहेतुभूत-
सूत्रसमुदयनिरासोयम् । यो हि परमतपश्चरणकारणसहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथस्य

विद्यमान है फिर भी उपयोग में मोह के न रहने से वह भेदज्ञान कणायों की उपशमना-
रूप सागर के जल प्रवाह से पापरूपी पंक को धोकर स्वच्छ हो जाता है । यह भेद
विज्ञानरूप पणिगाम-समयसार का ही कोई एक अद्भुत प्रकार है । ऐसा समझना ।

गाथा ८३

अन्वयार्थ—[वचनरचनां मुक्त्वा] वचनरचनारूप प्रतिक्रमण को छोड़कर,
[रागादिभावधारणं कृत्वा] रागादि भावों का निवारण करके [यः] जो शायु
[आत्मानं ध्यायति] आत्मा को ध्याता है [तस्य तु] उसके [प्रतिक्रमणं भवति इति]
प्रतिक्रमण होता है ।

टीका—प्रतिदिन मुमुक्षु जनों के द्वारा उच्चारण किये जाने वाला जो वचन-
मय प्रतिक्रमण इस नाम वाला है जो संपूर्ण पापों के क्षय करने में कारणभूत सूत्रों का
समुदाय है, उसका यह निरास है अर्थात् उस वचनरचनारूप प्रतिक्रमण का यहां पर
निराकरण किया गया है ।

जो परमतपश्चरण के कारणभूत सहज वैराग्यरूपी अमृत समुद्र के लिए
पूर्णिमासी के पूर्ण चन्द्रमा हैं और जो अप्रशस्त वचनों की रचना से सर्वतः भुक्त होते

राकानिशोथिनीनाथः अप्रशस्तवचनरचनापरिमुक्तोऽपि प्रतिक्रमणसूत्रविषयवचनरचनां मुक्त्वा संसारलतामूलकंदानां निखिलमोहरागद्वेषभावनां निवारणं कृत्वाऽखण्डानंदमयं

हुए भी प्रतिक्रमण सूत्र की विषम-विविध वचनरचना को छोड़कर संसार लता के मूलकंदभूत संपूर्ण मोह, राग, द्वेष भावों का निवारण करके अखंड आनंदमय निजकारण परमात्मा का ध्यान करते हैं, उनके जो कि परमतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान के सन्मुख हुये हैं ऐसे साधु के निश्चितरूप में संपूर्ण वचन के विषयभूत व्यापारों से रहित निश्चय प्रतिक्रमण होता है ।

विशेषार्थ—वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप अवस्था से परिणत हुये शुद्धोपयोगी महासाधुओं के पूर्णतया अंतर्जल्प भी रुक जाते हैं, उस समय संपूर्ण वचन का व्यापार समाप्त हो जाता है ऐसे निश्चय रत्नत्रय से परिणत एकाग्र अवस्था में निश्चय-प्रतिक्रमण घटित होता है ।

अपने व्रतों में लगे हुए अतीत काल के दोषों को दूर करना प्रतिक्रमण कहलाता है । इसमें प्रतिक्रमण के दण्डक मूत्रों का उच्चारण करते हुए भावपूर्वक 'मिच्छा मे दुवकड' मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ऐसा बार बार कहते हुए होता है । इन प्रतिक्रमण के सात भेद हैं—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ । दिवस में लगे हुए दोषों को दूर करने के लिये सायंकाल में प्रतिक्रमण करना दैवसिक है । रात्रि में लगे हुए दोषों को दूर करने के लिये रात्रि के अंत में प्रतिक्रमण करना रात्रिक है । आहार को जाते समय या देववंदना, गुरु-वंदना आदि के लिये अथवा मल मूत्रादि विसर्जन के लिये जाते-आते समय जो जीव बाधा हुई हो उससे निवृत्त होने के लिये प्रतिक्रमण करना ऐर्यापथिक है । पंद्रह दिन में किया गया पाक्षिक, चार महिनों में किया गया चातुर्मासिक और आषाढ़ मुदी पूर्णिमा को किया गया प्रतिक्रमण सांवत्सरिक कहलाता है तथा सल्लेखना ग्रहण करने के बाद अंतकाल में जो संपूर्ण दोषों का विशोधन किया जाता है वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है । इनमें से दैवसिक, रात्रिक और ऐर्यापथिक ये तीन प्रतिक्रमण तो साधु को प्रतिदिन ही करने पड़ते हैं । प्रमाद आदि के निमित्त से हुये दोषों की शुद्धि प्रतिक्रमण

निजकारणपरमात्मानं ध्यायति, तस्य खलु परमतत्त्वश्रद्धानाथबोधानुष्ठानाभिमुखस्य सकलबाग्विषयव्यापारविरहितनिश्चयप्रतिक्रमणं भवतीति ।

से होती है । और यदि प्रतिक्रमण न करें तो उस आवश्यक क्रिया की विराधना से हृये दोषों की शुद्धि के लिये गुरुदेव से प्रायश्चित्त लेना होता है ।

जो साधु शुद्धोपयोग में तो पहुँचे नहीं हैं और इस द्रव्य-भावरूप प्रतिक्रमण को भी छोड़ देते हैं वे तो महान् दोषी होते हैं । इसी बात को श्री अमृतचन्द्रमूरि ने कहा है—यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं तथाप्रतिक्रमणमेव मुधाकुतः स्यात् । तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निःप्रमादः ॥१८९॥

अर्थ—हे भाई ! जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकता है ? इमानिये यह जीव नीचे-नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होना है ? निःप्रमादी होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ता है ? अर्थात् जहाँ प्रतिक्रमण को ही विषकुंभ कह दिया है ऐसे शुद्धोपयोग में स्थिर होनेरूप अवस्था में ही द्रव्यप्रतिक्रमण छूटकर निश्चयप्रतिक्रमणरूप अवस्था हो जाती है उसके पूर्व छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों को यह दंडक 'सूत्रों के उच्चारणरूप प्रतिक्रमण करना ही चाहिए ।

श्रावक के तो व्यवहार प्रतिक्रमण भी नहीं है अतः निश्चय प्रतिक्रमण की बात तो बहुत ही दूर है । श्रावक की पट् आवश्यक क्रियायें निम्नलिखित हैं—देव-पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान । इनमें भी 'दानं पूजा मुक्त्रो सावयधम्मो ण सावया तेण विणा' श्रावक धर्म में दान और पूजा मुख्य है इन दो क्रियाओं के बिना श्रावक धर्म नहीं हो सकता है ऐसा श्री कुंदकुंद भगवान का उपदेश है ।

१. समयसार कलश १८६ पृ. ३६२ ।

२. आज जो क्रियाकलाप आदि में मुद्रित हो चुके हैं ऐसे वे देवसिक 'रात्रिक' पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण सूत्र श्री गौतमस्वामी रचित हैं ऐसा टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने कहा है ।

३. रयणसार श्री कुंदकुंददेवकृत ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मालिनी)

“अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥”

तथा हि—

(आर्या)

अतितीव्रमोहसंभवपूर्वाजितं [कर्म] तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि सद्बोधात्मनि नित्यं वर्तेऽहमात्मना तस्मिन् ॥१११॥

संपूर्ण विकल्पों से रहित होने पर ही ये निश्चय क्रियायें होती हैं ऐसा सकेन करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—“बहुत कुछ कहने से तथा बहुत कुछ दुर्विकल्प—आर्त्त रात्रि ध्यान रूप अशुभ विकल्पों से बच होवे, बच होवे, यहां इतना ही कहना बस है कि इस एक परमार्थस्वरूप का ही नित्य अनुभव करो । अपने आत्मा के रस के विस्तार से पूर्ण लबालब भरा हुआ जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार है, निश्चित-रूप से उससे बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है ।”

उसीप्रकार से [टीकाकार श्रीमुनिराज निश्चयप्रतिक्रमण में अपने आपको सन्मुख करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१११) श्लोकार्थ—अतितीव्र मोह के उत्पन्न होने से जो पूर्व में उपाजित कर्म, उनका प्रतिक्रमण करके मैं सद्बोधस्वरूप ऐसी उस आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा नित्य ही रहता हूं । अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले जो मोह राग द्वेष आदि परिणाम हैं इन परिणामों के निमित्त से ही प्रतिक्षण कर्म आते रहते हैं

आराहणाद् वट्टइ, मोत्तूण विराहण विसेसेण ।

सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८४॥

आराधनायां वर्तते मुक्त्वा विराधनं विशेषेण ।

स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८४॥

जो साधु विशेषरूप से सध व्रत की विराधना तजते हैं ।

निज आराधन वा चर आराधन में नित वर्तन करते हैं ॥

वे ही प्रतिक्रमण कहाते हैं क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं ।

वे निश्चय प्रतिक्रमणकर्ता, मुनि आत्मध्यान में तत्त्वमय हैं ॥८४॥

अत्रात्माआराधनायां वर्तमानस्य जन्तोरेव प्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तम् । यस्तु परम-
तत्त्वज्ञानी जीवः निरंतराभिमुखतया ह्यनुदधत्परिणामसंतत्या साक्षात् स्वभावस्थिता-
वात्माआराधनायां वर्तते अयं निरपराधः । विगतात्माआराधनः सापराधः, अत एव

इसलिये इन रागद्वेषादि भावों से उपाजित किये गये कर्मों को प्रतिक्रमण के द्वारा हूर
करके मैं मेरे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही निवास करता हूँ, यही निश्चयप्रतिक्रमण
होता है ।

गाथा ८४

अन्वयार्थ—[विशेषेण] विशेषरूप से [विराधनं मुक्त्वा] विराधना को

छोड़कर [आराधनायां वर्तते] जो आराधना में वर्तन करता है, [सः प्रतिक्रमणं]
वह जीव प्रतिक्रमण कहलाता है, [यस्मात्] क्योंकि वह [प्रतिक्रमणमयं भवेत्]
प्रतिक्रमणमय हो जाता है ।

टीका—यहां आत्मा की आराधना में वर्तन करते हुए जीव को ही प्रतिक्रमण-
स्वरूप कहा है ।

जो परमतत्त्वज्ञानी जीव निरंतर अपनी तरफ उपयुक्त होने से अविच्छिन्न
परिणाम संतति के द्वारा साक्षात् स्वभाव में स्थित होने रूप आत्मा की आराधना में
वर्तन करते हैं वे निरपराधी हैं । जो आत्मा की आराधना से रहित हैं वे सापराधी हैं,
इसीलिये “संपूर्णरूप से विराधना को छोड़कर” ऐसा गाथा में कहा है । ‘विगत’—निकल

निरवशेषेण विराधनं मुक्त्वा । विगतो राधो यस्य परिणामस्य स विराधनः । यस्मा
 निश्चयप्रतिक्रमणमयः स जीवस्तत एव प्रतिक्रमणस्वरूपमुच्यते ।

तथा चोक्तं समयसारे—

“संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयदृ” ।

अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥”

उक्तं हि समयसारव्याख्यायां च—

(भाषिनी)

“अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः

स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु ।

गई है, 'राध'-आराधना जिग परिणाम मे वह परिणाम विराधनारूप कहलाता है ।
 जिस हेतु से (विराधना रहित होने से) वह जीव निश्चय प्रतिक्रमणमय है उसी हेतु से
 वह प्रतिक्रमणस्वरूप कहा जाता है ।

भावार्थ—यहां आचार्यदेव ने व्रतों में विराधना से रहित और चतुर्विध
 आराधना से सहित साधु को ही प्रतिक्रमणमय स्वभाव कह दिया है क्योंकि वह साधु
 ही प्रतिक्रमणरूप से परिणत होने से प्रतिक्रमणमय हो रहा है ।

भगवान् श्री कुंदकुंद ने समयसार में भी उसीप्रकार कहा है—

गाथार्थ—“संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित ये सब एकार्थवाची
 शब्द हैं, निश्चित ही जो आत्मा राध-आराधना संसिद्धि आदि से अपगत-रहित है वह
 आत्मा अपराध-अपराधी है” ।”

श्री अमृतचन्द्रमूरि ने समयसार की व्याख्या-आत्मव्याप्ति नाम टीका में भी
 कहा है—

श्लोकार्थ—“अपराध सहित आत्मा निरंतर ही अनंत पुद्गल परमाणुरूप
 कर्मों से बँधता है, और अपराधरहित आत्मा कदाचित् भी बंधन को स्पर्श नहीं

नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥”

तथा हि—

(मालिनी)

अपगतपरमात्मध्यानसंभावनात्मा
नियतमिह भवार्तः सापराधः स्मृतः सः ।
अनवरतमखंडाद्वैतचिद्भावयुक्तो
भवति निरपराधः कर्मसंन्यासवक्षः ॥११२॥

मोसूण अणायारं, आयारे जो दु कुणदि थिरभावं ।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमग्रो हवे जम्हा ॥८५॥

करता है । यह जीव नियम से अपने को अशुद्ध भजता हुआ अर्थात् अपने को अशुद्ध अनुभव करता हुआ सापराध-अपराधसहित है, और सम्यक्प्रकार से शुद्ध आत्मा का सेवन करने वाला-अनुभव करने वाला निरपराधी है” ।

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिगज भी अपराध-निरपराध का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(११२) श्लोकार्थ—जो जीव परमात्मा के ध्यान की सम्यक्भावना में रहित है, यहां पर नियम से वे भव से पीड़ित हुए सापराधी माने गये हैं । जो जीव सदा ही अखंड, अद्वैत चैतन्यभाव से युक्त है वे कर्म के त्याग में कुशल होने से निरपराधी होते हैं ।

गाथा ८५

अन्वयार्थ—[यः तु अनाचारं मुक्त्वा] जो साधु अनाचार को छोड़कर [आचारे स्थिरभावं करोति] आचार में स्थिरभाव को करता है, [सः] वह-साधु

मुक्त्वानाचारमाचारे यस्तु करोति स्थिरभावम् ।
स प्रातिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८५॥

जो व्रत के सर्व अनाचारों को बृद्धीपूर्वक तजते हैं ।
निजभावों को स्थिर करके, निजआत्म अनुभव करते हैं ॥
वे ही प्रतिक्रमण कहें जाते, क्योंकि प्रतिक्रमणरूप हैं वे ।
जो परमसमाधि में स्थित, निज में ही एकरूप हैं वे ॥८५॥

अत्र निश्चयचरणात्मकस्य परमोपेक्षासंयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं च भवतीत्युक्तम् । नियतं परमोपेक्षासंयमिनः शुद्धात्मारधनाध्यतिरिक्तः सर्वोप्यनाचारः, अत एव सर्वमनाचारं मुक्त्वा ह्याचारे सहजचिद्धिलासलक्षणनिरंजने निजपरमात्मतत्त्व-भावनास्वरूपे यः सहजवैराग्यभावनापरिणतः स्थिरभावं करोति, स परमतपोधन एव प्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मात् परमसमरसीभावनापरिणतः सहजनिश्चयप्रतिक्रमण-मयो भवतीति ।

[प्रतिक्रमणं उच्यते] प्रतिक्रमण कहलाता है, [यस्मात्] क्योंकि वह [प्रतिक्रमणमयो भवति] प्रतिक्रमणमय होता है ।

टीका—यहां निश्चय चारित्र्यस्वरूप परमोपेक्षासंयमधारी मृत्तियों के निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप होता है, ऐसा कहा है ।

निश्चितरूप से परमोपेक्षासंयमी साधु के शुद्धात्मा की आराधना से अतिरिक्त सब कुछ अनाचार है, इसीलिए सभी अनाचार को छोड़कर सहज चैतन्य के विलास लक्षण वाले निरंजनरूप, निज परमात्मतत्त्व की भावनास्वरूप आचार में जो—साधु सहजवैराग्यभावना से तन्मयरूप हुआ स्थिरभाव को करता है, वह परमतपोधन ही प्रतिक्रमणस्वरूप है इसप्रकार कहा जाता है । क्योंकि वह साधु परमसमरसी भावना से परिणत हुआ सहजनिश्चय प्रतिक्रमणमय होता है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज आत्मस्वरूप में स्थिर होने की प्रेरणा देते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(मालिनी)

अथ निजपरमानन्दैकपीयूषसान्द्रं
स्फुरितसहजबोधात्मानमात्मानमात्मा ।
निजशममयवाभिनिर्भरानन्दभवत्या
स्तपयतु बहुभिः किं लौकिकालापजालैः ॥११३॥

(स्रग्धरा)

मुक्तवानाचारमुच्चैर्जननमृतिकरं सर्वदोषप्रसंगं
स्थित्वात्मन्यात्मनात्मा निरुपमसहजानन्ददृग्भक्तिशक्ती ।
बाह्याचारप्रमुक्तः शमजलनिधिवाबिन्दुसंदोहपूतः
सोयं पुण्यः पुराणः क्षपितमलकलिर्भाति लोकोद्घसाक्षी ॥११४॥

(११३) श्लोकार्थ—आत्मा निजपरमानन्दरूप एक-अद्वितीय अमृत से सान्द्र-आर्द्र-भीरे हुए या पूर्ण भरित और स्फुरायमान सहजबोधस्वरूप आत्मा को अपने परिणामों के उपणसरूप जल से अतिशय आनन्द और भक्तिपूर्वक स्नान कराओ, बहुत से लौकिक वचन समूहों से क्या प्रयोजन है ? अथान् कुछ भी नहीं है ।

भावार्थ—परिणामों में जो कणायों की संदना या उपशमना है वही एक प्रकार का निर्मल जल है, उस जल से अपनी आत्मा को स्नान कराने में वह पवित्र हो जाती है, इसलिए साधुओं को प्रेरणा देते हुए आचार्य कहते हैं कि बहुत से बाह्य वचनों के आडम्बर से लोगों को प्रसन्न करने से कुछ भी निज कार्य मिट नहीं होगा ।

(११४) श्लोकार्थ—जो आत्मा जन्म-मरण के करने वाले, सर्व दोषों के प्रसंगरूप ऐसे अनाचार को अत्यन्तरूप से छोड़कर, उपमारहित सहज आनन्द-मुख, सहज दर्शन, सहज ज्ञान और सहज वीर्यस्वरूप अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा स्थित होकर, बाह्य आचार से रहित होता हुआ, शमसमुद्र के जलबिन्दुओं के समूह से पवित्र हो जाता है, सो वह-पुण्यरूप, पुराण-महापुरुष आत्मा, नाष्ट कर दिया है मल-रूपी क्लेश को जिसने ऐसा, और लोक को उत्कृष्टरूप से साक्षात् करने वाला होता हुआ शोभायमान होता है ।

उन्मार्गं परित्यज्य, जिनमार्गे जो दुःकुणदि स्थिरभावं ।
सो पडिकमणं उच्चय, पडिकमणमयो हवे जम्हा ॥८६॥

उन्मार्गं परित्यज्य जिनमार्गे यस्तु करोति स्थिरभावम् ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८६॥

रत्नत्रय में विपरीत सर्व, उन्मार्ग को जो तज करके ।

जिनमार्ग में ही अर्हतिही, स्थिर परिणामों को करते ॥

वे ही प्रतिक्रमण कह जाते, क्योंकि प्रतिक्रमण स्वरूप हुए ।

वे निश्चयप्रतिक्रमण धारी, निज में परिणत निजरूप हुए ॥८६॥

अत्र उन्मार्गपरित्यागः सर्वज्ञवीतरागमार्गस्वीकारश्चोक्तः । यस्तु शंकाकांक्षा-
विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवमलकलंकपंकनिर्मुक्तः शुद्धनिश्चयसद्दृष्टिः बुद्धावि-

भावार्थ—जो संसार की परंपरा के कारणभूत अनाचार हैं उनको छोड़कर जो साधु अनंत चतुष्टय स्वरूप अपनी शुद्ध आत्मा में स्थिर हो जाते हैं, निर्विकल्प समाधि के द्वारा अपनी आत्मा में ही लीन हो जाते हैं । उस समय उनके बाह्य आवश्यक आदि सारी क्रियायें भी छूट जाती हैं पुनः अन्य अनर्गल क्रियाओं की बात तो बहुत ही दूर है, तब कषायों के पूर्ण उपशम तथा क्षयरूपी जल से आत्मा के कर्म-मल धुल जाते हैं और आत्मा पूर्णतया पवित्र होकर लोक को प्रत्यक्ष देखने-जानने वाला हो जाता है ।

गाथा ८६

अन्वयार्थ—[यः तु] जो साधु [उन्मार्गं परित्यज्य] उन्मार्ग को छोड़ करके [जिनमार्गे स्थिरभावं करोति] जिनेंद्र भगवान के मार्ग में स्थिरभाव करता है, [सः प्रतिक्रमणं उच्यते] वह साधु प्रतिक्रमण कहलाता है [यस्मात् प्रतिक्रमणमयो भवेत्] क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है ।

टीका—यहां पर उन्मार्ग के परित्याग और सर्वज्ञ वीतराग देव के मार्ग के स्वीकार करने को कहा है ।

जो शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि संस्तव इन पांच अतिचार रूप मलकलंक पंक से रहित शुद्ध निश्चय सम्यग्दृष्टि साधु बुद्ध,

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्यात्मकं मार्गाभासमुन्मार्गं परित्यज्य व्यवहारेण महादेवाधि-
श्वरसर्वज्ञबीतरागमार्गे पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिपञ्चेन्द्रियनिरोधषडावश्यक-
समितिमूलगुणात्मके स्थिरपरिणामं करोति, शुद्धनिश्चयनयेन सहजबोधादिशुद्ध-
मूर्ति सहजपरमचित्तामान्यविशेषभासिनि निजपरमात्मद्रव्ये स्थिरभावंशुद्धचारित्र-
्यमिति, स मुनिनिश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणं परम-
तत् एव स तपोधनः सदा शुद्ध इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम्—

(जादून्तविर्जडित)

“इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरं-

रुत्सर्गादिपरादरान्न विचारद्वह्वीः पृथग्भूमिकाः ।

आदि प्रणीत मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्यात्मक मार्गाभासरूप का परित्याग करके व्यवहारनय की अपेक्षा से पांच महाव्रत, पांच समिति, पञ्चगुप्ति, पांच इन्द्रियों का निरोध और षट्आवश्यक क्रिया आदि अष्टाईस मूलगुण-
सहित महादेवाधिदेव, परमेश्वर, सर्वज्ञ, बीतराग के मार्ग में स्थिरभाव करता है, और निश्चयनय की अपेक्षा से सहज ज्ञान-दर्शन आदि शुद्ध गुणों से अलंकृत, सहजपरम चित्त के सामान्य-विशेष प्रतिभासरूप में निज परमात्म द्रव्य में शुद्धचारित्र्यमय भाव को करता है, वह मुनि निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप है ऐसा कहा जाता है ।
वह परमतत्त्व को प्राप्त हुआ निश्चय प्रतिक्रमण है और इस निश्चय प्रतिक्रमण में वह तपोधन सदा शुद्ध है ।

उसी प्रकार प्रवचनसार की व्याख्या में भी कहा है—

“इसप्रकार से विशेष आदर वाले पुराण पुरुषों द्वारा सेवित, उत्सर्ग और
आद द्वारा अनेक पृथक्-पृथक् भूमिकाओं में विचरण करने वाले यति चारित्र को
करके क्रमशः अनुल निवृत्ति करके सामान्य-विशेषरूप चैतन्य जिसका प्रकाश है
निज द्रव्य में सत्र प्रकार से स्थिति करो’ ।”

१. अमृतचन्द्राचार्यकृत नृत्तदीपिका नामक टीका, गाथा २३१ की टीका में श्लोक १५ ।

आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वत-
श्चित्तसामान्यविशेषभासिनि निजद्वये करोतु स्थितिम् ॥”

तथा हि—

(मालिनी)

विषयसुखविरक्ताः शुद्धतत्त्वानुरक्ताः

तपसि निरतचित्ताः शास्त्रसंघातमत्ताः ।

गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः

कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते ॥११५॥

भावार्थ—भगवान् श्री कृष्णदेव ने प्रवचनसार ग्रन्थ में ७०० गाथाओं तक जान आर ज्ञेय तत्त्व का वर्णन करके २०१ से २३१ गाथाओं तक चरणानुयोग चूर्णित्वा नाम से मुनियों के चारित्र्य का वर्णन किया है । उसमें शुद्धोपयोग और शुभोपयोग अथवा वीतराग चारित्र्य-सराग चारित्र्य, या उपेक्षामयम-अपहृतमयम अथवा उत्सर्ग चारित्र्य और अपवाद चारित्र्य इन दो प्रकार के नाम वाले चारित्र्य का वर्णन किया है । तथा निश्चय और व्यवहार चारित्र्य में परम्पर में मैत्री को बतलाते हुए इनको सापेक्षरूप से धारण करने का स्पष्ट आदेश दिया है । उसी उभय चारित्र्य के प्रकरण के उपसंहार में उस श्लोक के द्वारा साधुओं का प्रेरित करते हुए कहा है कि आप लोग प्रारम्भ में उभयचारित्र्य में बार बार विचरण करते हुए आगे केवल निवृत्ति-रूप निश्चयचारित्र्यमय निज आत्मा में तन्मय हो जावो ।

उसी प्रकार से—[अब टीकाकार मुनिराज निश्चय प्रतिक्रमण के उत्तम फल की ओर लक्ष्य दिलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(११५) श्लोकार्थ—जो विषय सुखों से विरक्त हैं, जो शुद्ध तत्त्व में अनुरक्त हैं, तपश्चरण में जिनका मन स्थिर है, जो शास्त्रों के समूह में मत्त-आनन्दित हैं, गुण मणियों के समूह से युक्त हैं, और सर्व संकल्पों से मुक्त हैं ऐसे परमतपोधन अमृतवधूटी-मुक्तिवधू के बल्लभ-प्रियतम क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् मुक्ति स्त्री के पति अवश्य होंगे ।

१. मदी हर्षे-मद धातु हर्ष में भी है ।

सोत्तूण सल्लभावं, णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि ।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८७॥

मुक्त्वा शल्यभावं निःशल्ये यस्तु साधुः परिणमति ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८७॥
जो माया मिथ्या औ निदान, गत्र शल्यभाव को तज करके ।
चिन्मय चित्तमणि निजस्वरूप निःशल्यभाव में परिणमते ।
वे ही प्रतिक्रमण कहे जाते, क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हैं ।
वे साधु शुद्ध आत्मध्याती, निज में ही निर्विकल्पक हैं ॥८७॥

इह हि निःशल्यभावपरिणतमहातपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्तः ।
निश्चयतो निःशल्यस्वरूपस्य परमात्मनस्तावद् व्यवहारनयबलेन कर्मपंकयुक्तत्वात्
विज्ञानमायामिथ्याशल्यत्रयं विद्यत इत्युपचारतः । अत एव शल्यत्रयं परित्यज्य परमनिः
शल्यस्वरूपे तिष्ठति यो हि परमयोगी स निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते, यस्मात्
स्वरूपगतवास्तवप्रतिक्रमणमस्त्येवेति ।

गाथा ८७

अन्वयार्थ—[यः तु साधुः शल्यभावं त्यक्त्वा] जो साधु शल्यभाव का त्याग
करके [निःशल्ये परिणमति] निःशल्य भाव में परिणमत करता है, [सः प्रतिक्रमणं
मुच्यते] वह प्रतिक्रमण कहा जाता है, [यस्मात्] क्योंकि [प्रतिक्रमणमयो भवेत्]
इह प्रतिक्रमणमय होता है ।

टीका—निःशल्यभाव से परिणत महातपोधन ही निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप
है, ऐसा यहां पर कहा है ।

निश्चयनय से आत्मा निःशल्यस्वरूप परमात्मा है, फिर भी व्यवहारनय के
बल से कर्मपंक से युक्त होने से उस आत्मा के निदान, माया और मिथ्या ये तीन शल्य
विद्यमान हैं, ऐसा उपचार से कहा है । अतएव तीनों शल्यों का त्याग करके जो परम-
योगी परम निःशल्यस्वरूप में स्थित होने हैं, वे निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप हैं, ऐसा
कहा जाता है, क्योंकि स्वरूप को प्राप्त होना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है ।

(अनुष्टुभ)

शल्यत्रयं परित्यज्य निःशल्ये परमात्मनि ।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम् ॥११६॥

(पृथ्वी)

कषायकलिरंजितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारणं स्मरशराग्निदग्धं मुहुः ।
स्वभावनियतं सुखं विधिवशादनासादितं
भजत्वमलिनं यत्ते प्रबलसंसृतेर्भोतितः ॥११७॥

[अब टीकाकार मुनिराज शल्यरहित शुद्ध आत्मा की भावना से प्रेरित कहे हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(११६) श्लोकार्थ—तीनों शल्यों का परित्याग करके, शल्य रहित परमात्म में स्थित होकर विद्वान्-साधु सदा स्पष्टरूप में शुद्ध आत्मा की भावना करे । अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से शल्यादि विकल्पां से रहित जो शुद्ध है उसमें तन्मय होकर अनुभव करे ।

(११७) श्लोकार्थ—जो भव भ्रमण का कारण है, पुनः पुनः कामदेव वाणों की अग्नि से दग्ध है और कषाय की कलि-मैल से रंगा हुआ है ऐसे चित्त को आप अत्यन्तरूप से छोड़ो, जो विधि-कर्म के वश से अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे स्वभाव से नियत स्वाभाविक सुख है वह अमलिन-निर्मल है । हे यति ! तुम प्रलय संसार के भय से उस सुख का आश्रय लेवो ।

भावार्थ—आचार्य का कहना है कि अशुभ भावों से मलिन हुये चित्त को शुभ भावों से निर्मल करके स्वभाव में निश्चित रहने वाले ऐसे सहज परम सुख का अनुभव करो ।

यत्ता अगुप्तिभावं' तिगुप्तिगुप्तो हवेइ जो साधू ।

सो पडिकमणं उच्यइ, पडिकमणमयो हवे जम्हा ॥८८॥

त्यक्त्वा अगुप्तिभावं त्रिगुप्तिगुप्तो भवेद्यः साधुः ।

स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८८॥

मन वचन काय की किर्यारूप, जो भाव अगुप्ती को तजकर ।

तीनों गुप्ती से गुप्त हुए, संपूर्ण विकल्पों को तजकर ॥

वे ही प्रतिक्रमण कहाते हैं, क्योंकि प्रतिक्रमणमय हैं वे ।

शुद्धोपयोग में रत साधू स्वयमेव साध्यरूप ही वे ॥८८॥

त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणपरमतपोधनस्य निश्चयचारित्राख्यानमेतत् । यः परमतपश्च-

सरःसरसिरुहाकरचंडचंडरश्मिरत्यासन्नभव्यो मृनीश्वरः बाह्यप्रपंचरूपम् अगुप्ति-

गाथा ८८

अन्वयार्थ—[यः साधुः] जो साधु [हि अगुप्तिभावं त्यक्त्वा] निश्चितरूप

अगुप्तिभाव का त्याग करके [त्रिगुप्तिगुप्तः भवेत्] तीन गुप्तियों से गुप्त-सहित-

सुरक्षित होते हैं, [सः प्रतिक्रमणं उच्यते] वे-साधु प्रतिक्रमण कहलाते हैं, [यस्मात्]

क्योंकि [प्रतिक्रमणमयः भवेत्] वे प्रतिक्रमणमय हो जाते हैं ।

टीका—तीन गुप्तियों से गुप्त लक्षण वाले परमतपोधन के निश्चयचारित्र

का यह कथन है ।

जो परम तपश्चरण वो ही हुआ सरोवर जो कि कमलों का आकार-खान

स्वरूप है उसके लिये प्रचंड किरण वाले सूर्य के समान, ऐसे अन्यासन्न भव्य-अतिनिकट

भव्य मृनीश्वर बाह्यप्रपंचरूप अगुप्तिभाव-गुप्तिरहित अवस्था को छोड़कर त्रिगुप्ति से

गुप्त निर्विकल्प परमसमाधि लक्षण से सहित अनिअपूर्व-जिसका पूर्व में कभी नहीं प्राप्त

किया है ऐसी आत्मा का ध्यान करते हैं, वे जिस हेतु से प्रतिक्रमणमयी परमसंयमी हैं

उसी हेतु से ही वे निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप होते हैं ।

भावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तिनिर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणलक्षितम् अत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति,
यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंयमी अत एव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवतीति ।

भावार्थ—यहां पर उत्कृष्ट तपश्चरण को सरोवर के कमलों की उपमा दी है और अति निकट भव्य मुनिराज को सूर्य बनाया है । जैसे सूर्य की प्रचंड किरणें कमलों को प्रफुल्लित कर देती हैं वैसे ही वे मुनिराज तपश्चरण को विकसित करते हैं अथवा उग्र-उग्र तपश्चरणरूपी किरणों से अपनी आत्मारूपी कमलों को खिलवा देते हैं । वे मुनिराज तीन गुप्तियों से अपने आपको पूर्ण सुरक्षित करके निर्विकल्प ध्यान में लीन हो जाते हैं, तभी अपूर्व-अपूर्व परिणामों से अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त होते हुए अपूर्व आत्मा के स्वरूप का अनुभव करते हैं वे ही तपोधन वीतरागचारित्र्य के साथ अविनाभावी ऐसे निश्चयरत्नत्रय से परिणत हुए निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप हो जाते हैं ।

वहा भी है—“जो” कर्म अज्ञानी जीव लक्षकोटि भवों में खपाना है वह कर्म तीन गुप्तियों से गुप्त हुआ क्षपकश्रेणी वाला ज्ञानी उच्छ्वास मात्र में क्षपित कर देता है ।” यहां पर त्रिगुप्ति से सहित साधु को ही ज्ञानी कहा है यह त्रिगुप्तावस्था वीतराग निर्विकल्प ध्यान में ही संभव है ।

कोटिजन्म तपतपं ज्ञान विन कर्म हरं जे ।

ज्ञानी के छिन मांदि त्रिगुप्ति तं सहज हरं ते ॥

यहां पर जो ‘त्रिगुप्ति तं’ शब्द है वह भी ऐसे ध्यानपरिणत साधु को ही सूचित करता है । जब जो मुनि त्रिगुप्ति से परिणत नहीं हैं उन साधारण-छटे गुण-स्थानवर्ती मुनि को भी यहां पर ‘ज्ञानी’ शब्द से नहीं लिया है फिर असंयत और देशसंयत श्रावकों की बात तो बहुत ही दूर है ।

गुप्ति के उदाहरण के लिये देखिये—

राजा श्रेणिक ने जैन मुनियों की परीक्षा के लिये गुप्तीति से राजमन्दिर में एक गड्ढे में हड्डी, चर्म आदि भरवा दिये और रानी से कहा कि आप इस पवित्र

१. जं श्रेणाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहि । तं शाणी तिहि गुत्तो खवेदि उस्सास-
मेत्तेण ॥२३८॥ [प्रवचनसार]

२. श्रेणिकचरित, श्री शुभचन्द्रवि०, सर्ग ६, १० से ।

स्थान पर मुनियों को आहार देना । रानी चेलना ने राजा के अभिप्राय को जान लिया और धर्म का अपमान न होने पावे इस भाव से आहारार्थ आये हुये मुनियों को नमस्कार करके कहा—हे मनोगुप्ति आदि त्रिगुप्तिपालक पुरुषोत्तम मुनिराजों ! आप आहारार्थ राजमन्दिर में निपटें । इतना गुनते ही तीनों मुनिराज दो उंगलियों को उठाकर वापस चले गये । अनन्तर गुणसागर मुनिराज अवधिज्ञानी थे वे त्रिगुप्ति के शरक थे आ गये, वे भोजनालय तक गये किंतु अवधिज्ञान के बल से उन्हें शीघ्र ही अपवित्रता का ज्ञान हो गया और वे मौन छोड़कर स्पष्ट बान बहकर बिना आहार किये वन में चले गये ।

अनन्तर राजा श्रेणिक ने प्रारम्भ में थापम गये मुनियों के पास जाकर विनम्र हो दो उंगली दिखाने के बारे में पूछा । प्रथम धर्मयोग मुनिराज बोले राजन् ! मैं एक समय कौशांबी नगरी के मंत्री गण्डवर्ग के घर पर आहार कर रहा था उनकी पत्नी के हाथ से अकस्मान् एक कवच नीचे गिर गया, उस समय मेरी दृष्टि नीचे गई, गरुड़दत्ता के पैर का अंगूठा देखकर मेरे मन में अचानक मेरी पत्नी लक्ष्मीमयी के अंगूठे की याद आ गई । उस समय से आज तक मेरे मनोगुप्ति की सिद्धि नहीं हुई है ।

अनन्तर द्वितीय मुनि जिनपाल से प्रश्न करने पर उन्होंने कहा कि—भूमि तिलक के राजा वसुपाल की वसुकांता कन्या के लिये चंडप्रद्योतन का वसुपाल के साथ युद्ध हो रहा था । वसुपाल धर्मार्थी था उसके हारने का प्रसंग देखकर एक मनुष्य ने कहा कि दर्शनार्थ आये हुये राजा को आप अभयदान दे दीजिये, परन्तु मैंने अपना कर्तव्य न समझ मौन रखा किंतु उस समय वनरक्षिका देवी ने दिव्य वाणी से अभयदान सूचक आशीर्वाद दे दिया । राजा ने तथा सवने मेरा आशीर्वाद ही समझा । कालांतर में इसका स्पष्टीकरण भी हो गया फिर भी उसी कारण से मुझे आज तक वचनगुप्ति की सिद्धि नहीं हुई है ।

गुनः मणिमाली मुनिराज से प्रश्न करने पर उन्होंने कहा कि—मैं उग्रतपस्वी सिद्धांत का ज्ञाता पृथ्वी पर अकेला विहार करता हुआ उज्जयिनी के इमशान में मुर्दे के आसन से ध्यान में लीन था । एक मंत्रवादी वैताली विद्या की सिद्धि के लिये मुझे मृतक समझ मस्तक पर एक चूल्हा रखकर मृत कपाल में खीर पकाने लगा । अग्नि की ज्वाला से यद्यपि मैं तरकादि दुःखों को स्मरण करने लगा, तथा आत्मा को शरीर

(हरिणी)

अथ तनुमनोवाचां त्यक्त्वा सदा विकृतिं मुनिः
 सहजपरमां गुप्तिं संज्ञानपुंजमयीमिमाम् ।
 भजतु परमां भव्यः शुद्धात्मभावनया समं
 भवति विशदं शीलं तस्य त्रिगुप्तिमयस्य तत् ॥११८॥

से भिन्न चितवन करने लगा किंतु मेरा मस्तक हिलने से वह खीर गिर गई और अग्नि शांत हो गई । किंतु मंत्रवादी डरकर भाग गया । प्रातः गांव से जिनदत्त सेठ आकर मुझे ले गये और तुंकारी के यहां से लाक्षामूल तेल लाकर अनेकों औषधियों से मेरा उपचार किया । तबसे मुझे अभी तक कायगुप्ति की सिद्धि नहीं हुई है ।

“जो मुनि त्रिगुप्ति के पालक होने हैं वे नियम से अवधिजानी होते हैं । तीनों में से यदि एक भी गुप्ति नहीं है तो अवधि मन पर्यय और केवलज्ञान इनमें से एक ज्ञान भी प्रगट नहीं हो सकता है ।”

[अब टीकाकार मुनिराज गुप्ति के महत्त्व को बतलाने हुए श्लोक कहते हैं—]

(११८) श्लोकार्थ—मन, वचन और काय की विकृति को सदा छोड़कर भव्य मुनिराज सम्यग्ज्ञान की पुंजमयी इस सहज परम गुप्ति को शुद्धात्मा की भावना से सहित उत्कृष्टरूप से भजो—सेवन करो, क्योंकि त्रिगुप्तिमय उन साधु के ही वस्त्र पवित्र शील होता है ।

भाचार्य—जो मुनिराज पूर्णतया मन, वचन, काय के व्यापारों का निरोध कर देते हैं और शुद्ध आत्मतत्त्व में अपने उपयोग को स्थिर कर लेते हैं वे ही विशद शील अर्थात् निश्चय चारित्र्य को प्राप्त कर लेते हैं । अनंतर त्रिगुप्ति के प्रसाद से घातिया कर्मों का नाश करके अठारह हजार शील के भेदों को पूर्ण करके—

मोक्षरूपं श्रद्धां, ज्ञानं जो ज्ञादि धम्मसुक्कं वा ।
सो पडिकमणं उच्चइ, जिनवरणिदिट्ठसुत्तेसु ॥८६॥

मुक्त्वार्तरौद्रं ध्यानं यो ध्यायति धर्मशुक्लं वा ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते जिनवरनिदिष्टसूत्रेषु ॥८६॥

जो चार प्रकार आर्तध्यानों, श्री रौद्रध्यान को तज करके ।
चारों विध धर्मध्यान करते, या शुक्लध्यान धरने मन्त्रि में ॥
जिनवर के भाषित सूत्रों में, वे ही प्रतिक्रमण कहलें हैं ।
प्रतिक्रमणरूप से परिणत हो, मुनि प्रतिक्रमण बन जाते हैं ॥८६॥

सीलेसि संपत्तो णिरुद्धं णिस्सेम आगथो जावो ।
कम्मस्य विप्पमुक्को गयजोगो केवली होई ॥८७॥

अर्थ—जो अठारह हजार शील के भेदों के स्वामी हो चकें हैं, जिनके कर्मों के आने का आसव सर्वथा बंद हो गया है, तथा सत्त्व और उदयरूप अवस्था को प्राप्त करके रज की सर्वथा निर्जरा होने से उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख हैं, वे योग रहित केवली चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली कहलाते हैं । अभिप्राय यह हुआ कि त्रिगुणित के बिना ध्यान की सिद्धि असंभव है और ध्यान की सिद्धि के बिना कर्मों का नाश करना असंभव है तथा कर्मों के नाश हुए बिना सिद्धपद को प्राप्त करना जो कि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा का ही स्वरूप है ऐसे आत्मा के शुद्धस्वरूप को प्राप्त करना असंभव ही है ।

गाथा ८६

अन्वयार्थ—[यः] जो [आर्तरौद्रं मुक्त्वा] आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़करके [धर्मशुक्लं वा ध्यायति] धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है [सः] वह साधु [जिनवरनिदिष्टसूत्रेषु] जिनेंद्रदेव द्वारा कथित सूत्रों में [प्रतिक्रमणं उच्यते] प्रतिक्रमण कहा जाता है ।

ध्यानविकल्पस्वरूपाध्यानमेतत् । स्वदेशत्यागात् द्रव्यनाशात् मित्रजनविदेश-
गमनात् कमनीयकामिनीवियोगात् अनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमातं ध्यानम्, चौरजार-
शाश्रवजनवधबंधनसनिबद्धहाद्वेषजनितरौद्रध्यानं च, एतद्विद्वितयम् अपरिमितस्वर्गापवर्ग-
सुखप्रतिपक्षं संसारदुःखमूलत्वाच्चिरवशेषेण त्यक्त्वा, स्वर्गापवर्गनिःसीमसुखमूलस्वात्मा-
श्रितनिश्चयपरमधर्मध्यानम्, ध्यानध्येयविविधविकल्पविरहितान्तर्मुखाकारसकलकरण-
ग्रामातीतनिर्भेदपरमकलासनाथनिश्चयशुक्लध्यानं च ध्यात्वा यः परमभावभावना-
परिणतः भव्यवरपुण्डरीकः निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपं भवति, परमजिनेन्द्रवदनारवि-
विनिर्गतद्रव्यश्रुतेषु विदितमिति । ध्यानेषु च चतुर्षु हेयमाद्यं ध्यानद्वितयं, त्रितयं
तावदुपादेयं, सर्वदोषादेयं च चतुर्थमिति ।

तथा चोक्तम्—

टीका—ध्यान के भेदों के स्वरूप का यह कथन है ।

अपने देश के त्याग से, द्रव्य के नाश से, मित्रजनों के विदेश चले जाने से,
सुन्दर स्त्रियों के वियोग से अथवा अनिष्ट के संयोग से उत्पन्न होने वाला आतं ध्यान
है, और चौर, जार, शत्रुजनों के मारने, बांधने से सम्बन्धित महान् द्वेष भाव से
उत्पन्न होने वाला रौद्रध्यान है, ये दोनों ध्यान अपरिमित स्वर्ग-मोक्ष सुख के विरोधी हैं
क्योंकि ये संसार के दुःखों के मूलकारणभूत हैं इसलिये इन दोनों ध्यानों को संपूर्णतया
छोड़ करके, स्वर्ग और मोक्ष के असीम सुख का मूल ऐसा जो अपनी आत्मा के आश्रित
निश्चयपरम धर्मध्यान है और ध्यान-ध्येय के विविध विकल्पों से रहित, अंतर्मुखाकार
संपूर्ण इन्द्रिय समूह से अतीत, भेद रहित—अद्वैत स्वरूप परमकलाओं से सहित ऐसा
निश्चय शुक्लध्यान है, इन दोनों ध्यानों को ध्याकर जो परमभावरूप पारिणामिकभाव
की भावना में परिणत हैं ऐसे भव्यवरजनों में भी उत्तम साधु निश्चय प्रतिक्रमण
स्वरूप होते हैं, परमजिनेन्द्रदेव के मुखकमल से निकले हुए द्रव्यश्रुतों में यह कथन
किया गया है ।

यहां चार ध्यानों में आदि के दो ध्यान हेय हैं, तीसरा ध्यान प्रारम्भ
उपादेय है और चौथा ध्यान सदा उपादेय है ।

कहा भी है—

(अनुष्ठम्)

“निष्क्रियं करणातीतं ध्यानध्येयविवर्जितम् ।

अन्तर्मुखं तु यद्विधानं तच्छुक्लं योगिनो विदुः ॥”

“श्लोकार्थ—जो ध्यान क्रिया रहित होने में निष्क्रिय है—अचल है, इन्द्रियों से वृत्तीत-परे है, ध्यान ध्येय के विकल्प से रहित है और अन्तर्मुख है उस ध्यान को योगीजन शुक्लध्यान कहते हैं ।”

विशेषार्थ—‘इसमें संवृत्त बालों के एकाग्रचित्त निरोध को ध्यान कहते हैं, यह उत्कृष्टतया अन्तर्मुख हो सकता है’ । अर्थात् गमन, भोजन, शयन, अध्ययन आदि विविध क्रियाओं में भटकने वाली चित्तवृत्ति का एक क्रिया में रोक देना निरोध कहलाता है । द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु या आत्मा आदि किसी अन्य अर्थ में चित्तवृत्ति को केंद्रित करना ध्यान है ।

इस ध्यान के चार भेद हैं—आर्त, रीद्र, धर्म और शुक्ल ।

ऋत-दुःख-पीड़ा में उत्पन्न हुआ ध्यान आर्तध्यान है, उसके भी चार भेद हैं—विष, कंटक, शत्रु आदि अप्रिय वस्तुओं के मिल जाने पर ये मुझसे कैसे दूर हों इस प्रकार की सबल चिन्ता आर्तध्यान है अर्थात् स्मृति को दूसरे पदार्थ की ओर न जाने देकर बार-बार उसीमें लगाये रखना, ऐसा यह अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है ।

इष्ट वस्तु के वियोग होने पर पुनः उसकी प्राप्ति के लिये चिन्ता करना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है ।

शरीर में रोग से वेदना होने पर आकुल होकर बार बार चिन्तन करना वेदनाजन्य आर्तध्यान है ।

प्रीतिविशेष आदि से आगामी भव में कायवत्प्रेष के बदले विषय सुखों की चाह करना निदान आर्तध्यान है ।

रुद्र-कूर परिणामों से हुआ ध्यान रौद्रध्यान है, इसके भी चार भेद हैं—हिंसा में आनन्द मानना हिंसानंदी, असत्य में आनन्द मानना मृषानंदी, चोरी में आनन्द मानना चौरानंदी और परिग्रह के संग्रह में आनन्द मानना परिग्रहानंदी ऐसे चार ध्यान हैं ।

धर्मयुक्त ध्यान धर्म्यध्यान है, इसके भी चार भेद हैं—सर्वज्ञप्रणीत आत्म को प्रमाण मानकर 'यह ऐसा ही है जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं होते हैं' इसप्रकार निश्चय करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है ।

सर्वज्ञ के मार्ग से विमुख जीव सन्मार्ग से दूर होकर उन्मार्ग में भटक रहे कैसे ये सुपथगामी बनें ? उसप्रकार का चिंतन अपायविचय है ।

कर्मों के फलों का विचार करना दिपाकविचय है ।

और लोक के स्वभाव, संस्थान, द्वीप, नदी आदि के स्वरूप का विचार करना संस्थान विचय है ।

जब तक इन विषयों में चिंतन धारा चलती है तब तक ये ज्ञान रूप हैं, जब उनमें चिंतन धारा एकाग्रचित्तानिरोधरूप से केन्द्रित हो जाती है तभी ये ध्यान कहलाते हैं ।

निर्मल गुणरूप आत्मपरिणति में शुक्लध्यान होता है उसके भी चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरस्तक्रिया निवृत्ति ।

इनमें से आदि के आर्तरीद्रध्यान संसार के ही कारण हैं । अंत के दो धर्म शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु हैं^१ । आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक हो सकता है परन्तु छठे निदान नहीं होता है । रौद्रध्यान पांचवें तक हो सकता है । धर्म्यध्यान चौथे से सातवें गुणस्थान तक है और प्रथम शुक्लध्यान आठवें से ग्याह्रवें तक है, द्वितीय बारहवें तक है, ये दोनों शुक्लध्यान द्वादशांगपाठी 'श्रुतकेवली' को ही होते हैं । अन्तिम दोनों शुक्लध्यान केवली के होते हैं ।

१. 'परे मोक्षहेतु' ॥२६॥ तत्त्वा. ।

२. 'शुक्ले चाग्रे पूर्वविदाः' ॥३७॥ तत्त्वा.

(वसन्तनित्यका)

ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति
व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे ।
सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग-
स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम् ॥११६॥

शुद्धोपयोग में मुख्यरूप से शुक्लध्यान विवक्षित है । परमात्मप्रकाश में कहा भी है—“दिव्यजोओ” द्वितीयशुक्लध्यानाभिधानो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्वपो दिव्ययोगः कथंभूतः ? मोक्षदो मोक्षप्रदायकः द्वितीय शुक्लध्यान नामका वीतराग निर्विकल्पसमाधिस्वपो दिव्यमोक्ष का प्रदायक है ।

[अब टीकाकार श्रीमुनिराज निश्चय-व्यवहारनय में ध्यान को बताने हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(११६) श्लोकार्थ—व्यक्तस्वप्न मे सदाशिवमय-अनादिनिश्चय शिवस्वरूप परमात्मतत्त्व के होने पर शुद्धनय ध्यान समूह को भी नहीं कहता है । 'वह ध्यानावली है'-'ध्यान समूह है' इसप्रकार से हमेशा व्यवहार मार्ग कहता है । हे जिनेन्द्र ! आपका यह तत्त्व, अहो ! महा इन्द्रजाल स्वरूप है ।

भावार्थ—शुद्धनिश्चयनय से सभी संसारी जीवराणि सदा शुद्ध ही है किसी को कर्मलेप है ही नहीं, पुनः आत्मा के सदाशिवरूप सिद्ध हो जाने पर जब कर्म का सम्बन्ध ही नहीं है तब कर्मबन्ध के हेतु अथवा कर्मनाश के हेतुभूत ध्यान भी कैसे उदित होंगे ? इसलिए शुद्धनय ध्यान को उसके भेद प्रभेदों को मानता ही नहीं है । जो कुछ यह संसार-मोक्ष की या ध्यान आदि की व्यवस्था है उसको कहने वाला व्यवहारमार्गी, व्यवहारनय ही है । आचार्य कहते हैं कि हे भगवन् ! आपका यह तत्त्व महान् इन्द्रजालरूप आश्चर्यकारी है ।

इसका अर्थ यह नहीं है कि यह इन्द्रजाल के समान मिथ्या है किंतु जैसे इन्द्रजाल के खेल को समझना अत्यन्त कठिन है वैसे ही आपके इन नयचक्रों को समझना भी अत्यन्त गहन है । इसी बात को श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

“इति विविध भंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।

गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः” ॥५८॥

अर्थ—इसप्रकार विविध भेदों से गहन सुदुस्तर जिनशासन में मार्ग से मूढ़ हुए जीवों को नयचक्र के संचार को जानने वाले गुरु महाराज ही शरण होते हैं ।

इसमें जो ‘सदाशिव’ शब्द आया है अन्य सम्प्रदायों में एक वैशेषिक संप्रदाय वाले हैं । जो ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं उनके यहां कहा है—“सदैव मुक्त सदैवेश्वरः पूर्वस्याः कोटिर्मुक्तात्मानमिवाभावात्” इत्यागमान्महेश्वरस्य सर्वदा कर्मणा-मभावप्रसिद्धः—“वह ईश्वर सदा ही मुक्त है, सदा ही ऐश्वर्य में युक्त है क्योंकि जिस प्रकार मुक्तात्माओं के पूर्व-गहरी बंधकोटि रहती है उसप्रकार ईश्वर के नहीं हैं” इस आगम से महेश्वर के सदा ही कर्मा का अभाव सिद्ध है ।

“शाश्वत्कर्ममलैरस्पृष्टः परमात्मानुपायसिद्धत्वान्”^१ भगवान् परमात्मा सदा कर्ममलों से अस्पृष्ट है, क्योंकि अनुपायसिद्ध हैं—उपायपूर्वक तपस्या आदि करके मुक्त नहीं हुये हैं ।

इस वैशेषिक की मान्यता पर आचार्य श्री विद्यानंद महोदय कहते हैं—

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्विश्वदृश्वास्ति कश्चन ।

तस्थानुपायसिद्धस्य सर्वथानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

अर्थ—कोई सर्वज्ञ हमेशा कर्मों से अस्पृष्ट नहीं है, क्योंकि वह प्रमाण से अनुपायसिद्ध प्रतिपन्न नहीं होता है ।

यहां पर जैनाचार्य इन लोगों का खण्डन करके भी जो परमात्मा को स्वयं सदाशिव कह रहे हैं उसमें केवल शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से कथन है चूंकि शुद्ध निश्चयनय औपाधिक अवस्था को मानता ही नहीं है, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ही कहता है ।

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ।

२. [योगाद. भाष्य. १-२४] आप्त परीक्षा पृ. ३०-३१, ३२ ।

(वसंततिलका)

सद्बोधमंडनमिदं परमात्मतत्त्वं
मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात्
नास्त्येष सर्वनयजातगतप्रपञ्चो
ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता ॥१२०॥

मिच्छत्तपहुदिभावा, पुर्वं जीवेण भाविता सुचिरं ।
सम्मतपहुविभावा, अभाविता होति जीवेण ॥६०॥

मिथ्यात्वप्रभृतिभावाः पूर्वं जीवेन भाविताः सुचिरम् ।
सम्यक्त्वप्रभृतिभावाः अभाविता भवन्ति जीवेन ॥६०॥

मिथ्यात्व अरांपत आदि भाव, जो भव के बीज बनाये हैं ।

गहन अनादि से लेकर के, अब तक कि जीव ने भाये हैं ॥

सम्यक्त्व विरति शुभ-शुद्ध भाव, मुक्ति के बीज बनाये हैं ।

उन भावों को अब तक भी तो, इन जीवों ने नहीं भाये हैं ॥६०॥

(१२०) श्लोकार्थ—सम्यग्ज्ञान का मंडन-आभूषणस्वरूप यह परमात्मतत्त्व संपूर्ण विकल्प के समूहों से सब तरफ से मुक्त है । यह समस्त नयों के समूह से होने वाला विस्तार इस परमात्मतत्त्व में नहीं है, पुन आप ही कहिये वह ध्यानसमूह यहां कैसे हो सकता है ?

भावार्थ—जब अनादि निधन परमात्मतत्त्व स्वयं सिद्धस्वरूप है तब साधन स्वरूप ध्यान के भेदों की उसे क्या आवश्यकता है ? यद्यपि व्यवहार नय से सयोग केवली और अयोग केवली के भी ध्यान माने हैं । क्योंकि उनके कर्मनाशरूप कार्य को देखकर कारण का अस्तित्व माना गया है, किन्तु वहां पर भी ध्यान उपचार से ही है ।

गाथा ६०

अन्वयार्थ—[जीवेन] जीव ने [पूर्वं सुचिरं] पूर्व में चिरकाल तक [मिथ्या-
त्वप्रभृतिभावाः भाविताः] मिथ्यात्व आदि भाव भावित किये हैं, (किन्तु) [सम्य-
क्त्वप्रभृति भावाः] सम्यक्त्व आदि भाव [जीवेन] जीव ने [अभाविताः भवन्ति]
भावित नहीं किये हैं ।

आसन्नानासन्नभव्यजीवपूर्वापरपरिणामस्वरूपोपन्यासोऽयम् । मिथ्यात्वाव्रत-
कषाययोगपरिणामास्सामान्यप्रत्ययाः, तेषां विकल्पास्त्रयोदश भवन्ति 'मिच्छादिद्वीश्रादी
जाव सजोगिस्स चरमंतं' इति वचनात्, मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिगुणस्थानचरम-
समयपर्यंतस्थिता इत्यर्थः ।

अनासन्नभव्यजीवेन निरंजननिजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानविकलेन पूर्वं सुचिरं
भाविताः खलु सामान्यप्रत्ययाः, तेन स्वरूपविकलेन बहिरात्मजीवेनानासादितपरम-
नैकर्मचरित्रेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि न भावितानि भवन्तीति । अस्य मिथ्यादृष्टे-
विपरीतगुणनिचयसंपन्नोऽत्यासन्नभव्यजीवः । अस्य सम्यग्ज्ञानभावना कथमिति चेत्—

टीका—आसन्न भव्य और अनासन्न भव्य जीव के पूर्वापर परिणामों के
स्वरूप का यह कथन है ।

मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग ये परिणाम सामान्यप्रत्यय-सामान्य कर्म
व्यव के कारण कहलाते हैं, उनके तेरह भेद होते हैं, "मिथ्यादृष्टि आदि से लेकर सयोग
केवर्त्ता पर्यंत होते हैं" ऐसा परमागम का वचन है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से
लेकर मयांभ केवर्त्ता गुणस्थान के चरमसमय पर्यंत स्थित हैं, यह अर्थ हुआ ।

निरंजन निज परमात्मतत्त्व के श्रद्धान से रहित हुए दुरवर्त्ती भव्य जीव ने
पूर्व में चिन्काल तक निश्चिन्त रूप से सामान्यप्रत्ययों की भावना की है । जिसने परम
नैकर्म-निश्चल चारित्र को प्राप्त नहीं किया है ऐसे स्वरूप के ज्ञान से रहित उस
बहिरात्मा जीव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भावित नहीं किया
है । और इस मिथ्यादृष्टि जीव से विपरीत गुण समूहों से संपन्न हुआ जीव अत्यासन्न-
अतिनिकट भव्यजीव है ।

इस अतिनिकट भव्यजीव के सम्यग्ज्ञान की भावना किसप्रकार से होती है ?
ऐसा प्रश्न करने पर—

१. सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छन्तं अविग्मणं कसायजोगा य बोद्धव्या ॥१०९॥
तेसि पुणो वि य इमा भण्णिदो भेदो दु तेरस विपप्पो ।
"मिच्छादिद्वी श्रादी जाव सजोगिस्स चरमंतं" ॥११०॥ (समयसार)

तथा चोक्त' श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

(अनुष्टुप्)

“भावयामि भवावर्तभावनाः प्रागभाविताः ।

भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः ॥”

तथा हि—

उसीप्रकार श्री गुणभद्रस्वामी ने कहा है—

“श्लोकार्थ—भव के आवर्त में पहले नहीं भायी हुई ऐसी भावना को मैं भाता हूँ । और जिन की भावना की है उनको नहीं भाता हूँ, क्योंकि इसप्रकार की भावनार्यें भव का अभाव करने वाली हैं ।”

भावार्थ—पुनः पुनः जिनका चित्त में चितवन किया जाता है उन्हें भावना कहते हैं पूर्व में जिनको नहीं भाया है ऐसी सम्यग्दर्शन आदि भावनार्यें हैं, और जिनको पहले से भाया है ऐसी मिथ्यादर्शन आदि भावनार्यें हैं । इस संसार भंवर में फँसकर मैंने जिन सम्यग्दर्शन आदि भावनाओं का चितवन नहीं किया है उनका अब चितवन करता हूँ और जिन मिथ्यादर्शन आदि भावनाओं का बार बार चितवन कर चुका हूँ उनको अब छोड़ता हूँ । पूर्व भावित भावनाओं को छोड़कर अपूर्व भावनाओं को भाता हूँ क्योंकि इस प्रकार की भावनार्यें संसार के नाश का कारण होती हैं ।

उसीप्रकार—

[टीकाकार श्री मुनिराज अपूर्व अद्वैत एक ज्ञानभावना को भाने के लिये प्रेरित करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(मालिनी)

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्वं
किमपि वचनमात्रं निर्वृतेः कारणं यत् ।
तदपि भवभवेषु श्रूयते बाह्यते वा
न च न च बत कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम् ॥१२१॥

(१२१) श्लोकार्थ—इस संसार समुद्र में डूबे हुये जीव ने पूर्व में निर्वाण के कारण रूप ऐसे कुछ भी जो वचनमात्र है उन वचनमात्र को भव भय में सुना है अथवा धारण भी किया है, किन्तु बड़े दुःख की बात है कि सर्वदा एक ज्ञानस्वरूप को नहीं सुना है और न धारण ही किया है ।

भावार्थ—अर्थात् जिनवचन मात्र को भावों से रहित होकर इस जीव ने सुना भी होगा और कुछ न कुछ अंश में धारण भी किया होगा किन्तु मोक्ष के लिये साक्षात् कारण ऐसे अभेद रत्नत्रय स्वरूप एक अद्वैतरूप ज्ञान को नहीं प्राप्त किया है । समयसार में कहा भी है—

“तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये गानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्रं वीतराग-सम्यक्त्वं च लभ्यते इति सम्यग्ज्ञानादेव बन्धनिरोधसिद्धिः” ।

उस भेदज्ञान में ठंडई के समान अभेदनय से वीतरागचारित्र और वीतराग-सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, इसलिये सम्यग्ज्ञान से ही बंध के निरोध की सिद्धि हो जाती है । अर्थात् जहां पर ज्ञानमात्र से बंध का अभाव होता है ऐसा कहा है वहां पर उस ज्ञान के साथ वीतरागचारित्र और वीतरागसम्यक्त्व अविनाभावी हैं, मतलब वह निश्चयरत्नत्रयरूप अवस्था विशेष का ज्ञान है ।

यहां पर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव महामुनि को भी वही ज्ञान विवक्षित है ।

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रं चङ्कलं गिरवसेसेण ।

सम्मतणाणचरणं, जो भावइ सो पडिक्कमणं ॥६१॥

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रं त्यक्त्वा निरवशेषेण ।

सम्यक्त्वज्ञानचरणं यो भावयति स प्रतिक्रमणम् ॥६१॥

मिथ्यादर्शन मिथ्यात्वज्ञान, मिथ्याचारित्र भव के कारण ।

इनको संपूर्णतया तजकर, जो करने अशुभ भाव वारण ॥

जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र को निशचिन माने रहने हैं ।

वे ही प्रतिक्रमण कहाते हैं, क्योंकि वे निज में रहते हैं ॥६१॥

अत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेषस्वीकारेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेषत्यागेन च परममुमुक्षोर्निश्चयप्रतिक्रमणं भवति इत्युक्तम् । भगवदहंत्परमेश्वर-मार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनं, तत्रैवावस्तुति वस्तुबुद्धिमिथ्याज्ञानं, क्रमार्गाचरणं मिथ्याचारित्रं च, एतत्त्रितयमपि निरवशेषं त्यक्त्वा, अथवा स्वात्मश्रद्धान-परिज्ञानानुष्ठानरूपविमुखत्वमेवमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मकरत्नत्रयम्, एतदपि त्यक्त्वा ।

गाथा ६१

अन्वयार्थ—[मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रं] मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र को [निरवशेषेण] संपूर्ण रूप से [त्यक्त्वा] छोड़कर [सम्यक्त्वज्ञानचरणं] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को [यः] जो-साधु [भावयति] भावित करता है, [सः प्रतिक्रमणं] वह-साधु प्रतिक्रमणरूप है ।

टीका—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को संपूर्णतया स्वीकार करने से और मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र को परिपूर्णरूपतया त्याग करने से परम मुमुक्षु-महामुनि के निश्चयप्रतिक्रमण होता है, यहां पर ऐसा कथन किया है ।

भगवान् अर्हत परमेश्वर के मार्ग के प्रतिकूल जो मार्गाभास है उसमें मार्गरूप से श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है, उसी अवस्तु में वस्तु की बुद्धि होना मिथ्याज्ञान है, और उनके कथित मार्ग का आचरण करना मिथ्याचारित्र है, इन तीनों का संपूर्णरूप से त्याग करके अथवा अपने आत्मस्वरूप का श्रद्धान उसी का परिज्ञान और उसी में अनुष्ठानस्थिरतारूप से चारित्र ऐसे निश्चयरत्नत्रय में विमुख होना ही मिथ्यादर्शन,

त्रिकालनिरावरणनित्यानंदैकलक्षणनिरंजननिजपरमपारिणामिकभावात्मककारणपरमात्मा ह्यात्मा, तत्स्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं हि निश्चयरत्नत्रयम्, एवं भगवत्परमात्मसुखाभिलाषी यः परमपुरुषार्थपरायणः शुद्धरत्नत्रयात्मकम् आत्मानं भावयति स परमतपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्तः ।

(वसंतनिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्ग-
रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी ।
शुद्धात्मतत्त्वनियतं निजबोधमेकं
श्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे ॥१२२॥

मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्यरूप रत्नत्रय है, इनका भी छोड़कर, त्रिकाल में निरावरण नित्य ही एक स्वरूप निरंजन निज परमपारिणामिक भावात्मक जो कारण परमात्मा है, यह आत्मा ही है, उसके स्वरूप का श्रद्धान, परिज्ञान और उसी में आचरणस्वरूप ऐसा जो निश्चयरत्नत्रय है । इसप्रकार जो भगवान् परमात्मा के सुख के अभिलाषी महा-मुनि परमपुरुषार्थ-मोक्ष पुरुषार्थ में तत्पर हुए उस शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप आत्मा की भावना करते हैं वे परम तपोधन ही निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप हैं ऐसा कहा है ।

[अथ टीकाकार श्री मुनिराज निश्चयरत्नत्रय में प्रेरित करते हुए श्लोक कहने हैं—]

(१२२) श्लोकार्थ—संपूर्ण विभावभावों को और व्यवहारमार्ग के रत्नत्रय को छोड़कर जो निजतत्त्व का अनुभव करने वाला बुद्धिमान-साधु शुद्धात्मतत्त्व में नियत-निश्चित ऐसा जो एक निजबोध है, अन्यरूप-निश्चय श्रद्धान है और अपर-निश्चयरूप जो चारित्र्य है उसको प्राप्त कर लेता है ।

विशेषार्थ—यहां पर विभावभावों को छोड़ने का उपदेश दिया है वैसे ही व्यवहाररत्नत्रय को भी छोड़ने का कथन है, क्योंकि उसको छोड़े बिना निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो सकती है । किंतु इस पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहाररत्नत्रय छोड़ा नहीं जाता है किंतु निर्विकल्पध्यान की अवस्था में निश्चय

**उत्तमश्रद्धं प्राप्ता, तस्मिन् ठिदा हृणदि मुनिवरा कर्म ।
तस्माद् दुःशानमेव हि, उत्तमश्रद्धस्स पडिकमणं ॥६२॥**

उत्तमार्थ आत्मा तस्मिन् स्थिता घ्नन्ति मुनिवराः कर्म ।
तस्मात्तु ध्यानमेव हि उत्तमार्थस्य प्रतिक्रमणम् ॥६२॥

उत्तमपदार्थ यह आत्मा ही, जो उसमें स्थिर बसते हैं ।
वे मुनिवर उत्तमार्थ प्रतिक्रम, करके कर्मों को हनते हैं ॥
इसलिये ध्यान ही वास्तव में, वस उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहा ।
जो निर्विकल्प ध्यानी साधु, उनसे ही परमानंद कहा ॥६२॥

रत्नत्रय के होने पर वह स्वयं ही छूट जाता है वहां पर बुद्धिपूर्वक छोड़ना या ग्रहण करना नहीं होता है । सो ही समयमात्र में टीकाकार श्री जयमेनाचार्य ने कहा है—

“निर्विकल्पसमाधिकाले वृत्ताग्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति” निर्विकल्प समाधि के समय वृत्त और अवृत्त का स्वयं ही प्रकरण नहीं रहता है । और भी कहा है कि “निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः किंतु तस्यां त्रिगुणावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति नान्यार्थः” १ ।

निर्विकल्प समाधिरूप निर्वच्यरत्नत्रय में स्थित होने पर व्यवहार त्याग करने योग्य है, किंतु उस तीन गुणित से सहित अवस्था में व्यवहार स्वयं ही नहीं है ऐसा यहां तात्पर्य है ।

इसलिये जैसे मिथ्यात्व अविरति आदि को छोड़ा जाता है, वैसे ही व्यवहार रत्नत्रय को छोड़ने का प्रसंग नहीं आता है किंतु उत्कृष्ट ध्यान में लीन होने पर स्वयं ही व्यवहाररत्नत्रय छूट जाता है । ऐसा समझना ।

गाथा ६२

अन्वयार्थ—[उत्तमार्थः] उत्तम अर्थ—पदार्थ [आत्मा] आत्मा है, [तस्मिन् स्थिताः मुनिवराः] उस उत्तमार्थ में स्थित हुए मुनिवर [कर्म घ्नन्ति] कर्म का घात

१. गाथा १५४ टीका पृ. २१६ ।

२. गाथा २७६, २७७ की टीका में पृ. ३५७ ।

अत्र निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तम् । इह हि जिनेश्वरमार्गे मुनीनां सल्लेखनासमये हि द्विचत्वारिंशद्भिराचार्यैर्देतोत्तमार्थप्रतिक्रमणाभिधानेन देहत्यागी धर्मो व्यवहारेण, निश्चयेन नवार्थेषूत्तमार्थो ह्यात्मा तस्मिन् सच्चिदानन्दमयकारणसमयसार-स्वरूपे तिष्ठन्ति ये तपोधनास्ते नित्यमरणभीरवः, अत एव कर्मविनाशं कुर्वन्ति । तस्मादध्यात्मभाषयोक्तभेदकरणध्यानध्येयविकल्परहितनिरवशेषेणान्तर्मुखाकारसकलेन्द्रियागोचरनिश्चयपरमशुक्लध्यानमेव निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणमित्यवबोद्धव्यम् । किंच, निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्यशुक्लध्यानमयत्वादमृतकुम्भस्वरूपं भवति, व्यवहारोत्तमार्थप्रतिक्रमणं व्यवहारधर्मध्यानमयत्वाद्विषकुम्भस्वरूपं भवति ।

तथाचोक्तं समयसारे—

कर देते हैं, [तस्मात् तु] इसलिए [ध्यानं एव] ध्यान ही [हि] निश्चितरूप से [उत्तमार्थस्य] उत्तमार्थ का [प्रतिक्रमणं] प्रतिक्रमण है ।

टीका—यहां पर निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण के स्वरूप को कहा है ।

यहां पर श्री जिनेश्वर के मार्ग में मुनियों की सल्लेखना के समय में निश्चित-रूप से व्याख्याम आचार्यों के द्वारा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण उस नाम से दिया जाने से देहत्यागरूप धर्म व्यवहार में होता है । अर्थात् सल्लेखना के समय आचार्य मृनि को उत्तमार्थ प्रतिक्रमण सुनाकर चतुर्विध आहार का त्याग कराते हैं वह व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है । और निश्चयेनय से नव अर्थ-नव पदार्थों में उनम पदार्थ आत्मा ही है जो तपोधन सच्चिदानन्दमय कारण समयसार रूप उस आत्मा में स्थित होते हैं वे नित्य ही मरण से भीरु हैं, इसीलिए वे कर्म का विनाश करते हैं । अतः अध्यात्मभाषा से कहे गये जो भेद को करने वाले ध्यान और ध्येय के विकल्प हैं उनसे रहित, निरवशेष रूप से अंतर्मुखाकार, संपूर्ण इंद्रियों से अगोचर निश्चय परम शुक्लध्यान ही निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ऐसा समझना चाहिए ।

दूसरी बात यह है कि यह निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण अपने आत्मा के आश्रयभूत निश्चय धर्मध्यान, शुक्लध्यानमय होने से अमृत कुम्भस्वरूप होता है, और व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण व्यवहार धर्मध्यानमय होने से विषकुम्भस्वरूप होता है ।

समयसार में कहा है—

“पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा नियत्ती य ।
निंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुम्भो ॥”

तथा चोक्तं समयसारव्याख्यायाम्—

(वसन्ततिलका)

“यस्य प्रतिक्रमणमेव निश्चिं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।

गाथार्थ—^१“प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि ये आठ प्रकार के विषकुम्भ हैं ।”

उसीप्रकार से समयसार की व्याख्या में भी कहा है—

श्लोकार्थ—^२जहां पर प्रतिक्रमण ही विपरूप कहा है, वहां अप्रतिक्रमण ही अमृत कैसे हो सकेगा ? तो फिर जन-साधु नीचे-नीचे गिरते हुए प्रमाद क्यों करते हैं ? क्यों नहीं प्रमाद रहित होकर ऊपर-ऊपर चढ़ते हैं ?

विशेषार्थ—यहां गाथा में श्री कुन्दकुन्द देव ने निश्चयरूप उत्तमार्थ प्रतिक्रमण को शुद्धोपयोगी महामुनियों में घटित किया है । अतः व्यवहार उत्तमार्थ के लक्षण को आचार शास्त्रों से समझ लेना भी जरूरी है । ऐर्यापथिक आदि सात प्रकार के प्रतिक्रमणों में यह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण अंतिम कहलाता है । अनगार धर्मामृत में इसका लक्षण ऐसा है—

“उत्तमार्थो निःशेषदोषालोचनपूर्वकाङ्क्षविसर्गसमर्थो यावज्जीवं चतुर्विधाहार-परित्यागः” निःशेष दोषों की आलोचनापूर्वक शरीर के त्याग में समर्थ ऐसा जो जीवन-पर्यंत के लिये चार प्रकार के आहार का परित्याग करना वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है । इस प्रतिक्रमण को करने वाले मुनियों की सल्लेखना के प्रसंग में यहां पर टीकाकार ने

१. समयसार गाथा ३०६ ।

२. समयसार कण्ठ, १८६ ।

३. अनगार धर्मामृत पृ. ५७८ ।

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः

किं तोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥”

ब्यालीस आचार्यों के द्वारा उत्तमार्थ प्रतिबुद्धि कराने का विधान बतलाया है। अन्यत्र आचार ग्रंथों में इसी प्रसंग में ४८ निर्यापकों का विधान है। वह इस प्रकार है— सल्लेखना ग्रहण करने वाले आचार्य अपने संघ को छोड़कर पर संघ में जाकर अन्य आचार्य की शरण लेते हैं वे सल्लेखना कराने में कुशल आचार्य निर्यापकाचार्य कहलाते हैं।

“वह क्षपक निर्यापकाचार्य पर अपना सम्पूर्ण भार सौंपकर संस्तर पर आरोहण करता है और विधिवत् सल्लेखना को प्रारम्भ करता है। स्थिर बुद्धि वाले, धर्मप्रेमी, पापभीरु आदि अनेक गुणों से सम्पन्न और प्रत्याख्यान के ज्ञाता ऐसे परिचारक क्षपक की शुश्रूषा के योग्य माने गये हैं ऐसे निर्यापक यति अड़तालीस होते हैं। ये ४८ निर्यापक यति क्या-क्या उपकार करते हैं उसे बताते हैं—

निर्यापकाचार्य क्षपक की शरीर सेवा के लिये चार परिचारक मुनि नियुक्त करते हैं, चार मुनि धर्मकथा सुनाते हैं, चार मुनि क्षपक के आहार की व्यवस्था करते हैं, चार मुनि क्षपक के योग्य आहार के पेय पदार्थों की व्यवस्था करते हैं, चार मुनि निष्प्रमादी हुये आहार की वस्तुओं की देखभाल करते हैं, चार मुनि क्षपक के मल-मूत्रादि विसर्जन, वसतिका, उपकरण, संस्तर आदि को स्वच्छ करते हैं, चार मुनि क्षपक की वसतिका के दरवाजे पर प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हैं अर्थात् असंयत आदि अयोग्यजनों को भीतर आने से रोकते हैं, चार मुनि उपदेश मंडप के द्वारों के रक्षण करने का भार लेते हैं, निद्राविजयी चार मुनि क्षपक के पास रात्रि में जागरण का कार्य करते हैं, चार मुनि जहाँ संघ ठहरा है। उसके आसपास के शुभाशुभ वातावरण का निरीक्षण करते हैं, चार मुनि आये हुये दर्शनार्थी जनों को सभा में उपदेश सुनाते हैं, चार मुनि धर्मकथा कहने वाले मुनियों की सभा की रक्षा का भार लेते हैं। ऐसे ये ४८ मुनि क्षपक की सल्लेखना में पूर्ण सहायता करते हैं।

‘आचार्य कहते हैं कि यदि भरतादि क्षेत्र में कदाचित् उत्कृष्ट रूप से इतने निर्यापक यति संभव न हों तो क्रम से ८४ भी हो सकते हैं अथवा देश काल के अनुसार उपर्युक्त गुणों से युक्त ४० भी होते हैं ऐसे चार-चार कम करते हुए अंतिम चार निर्यापक तो अवश्य होना चाहिए । कदाचित् चार मुनि इन निर्यापक गुणों से युक्त नहीं मिल सके तो दो तो अवश्य होना चाहिए । क्योंकि एक निर्यापक का विधान आगम में नहीं है, बल्कि एक निर्यापक से असमाधि आदि अनेक हानि होने की संभावना हो सकती है ।’ इसप्रकार से मूलाराधना में वर्णन है, विशेष जिज्ञासुओं को वहां से देख लेना चाहिए ।

इसप्रकार जो व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण में समर्थ ऐसे पूर्ण निष्णात महा-मुनि हैं उन्हीं के निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण होना है । यहां पर टीकाकार ने तो निश्चयपरम शुक्लध्यान को ही निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहा है जो कि आज पंचमकाल में है ही नहीं क्योंकि शुक्लध्यान उत्तम मंथनन धारी के श्रेणी में ही होता है ऐसा आगम का कथन है । ऐसे निर्विकल्प धर्मध्यान और शुक्लध्यानमय प्रतिक्रमण को टीकाकार ने अमृतकुंभ कहा है और उसमें अनिरिक्त व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण को विषकुंभ कहा है । तथा उद्धरण में समयसार की गाथा दी है । इस समयसार गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि और श्री जयमेनाचार्य के अभिप्राय को भी देखिये—

“प्रश्न—‘शुद्धात्मा की उपासना से क्या लाभ है जबकि प्रतिक्रमण आदि से ही यह जीव निरपराधी हो जाता है क्योंकि व्यवहाराचार सूत्र में भी कहा है कि “अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिदा, अगर्हा और अशुद्धि ऐसे आठ प्रकार के लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त न करना सो विषकुंभ है और इनसे विपरीत प्रतिक्रमणादि हैं उनसे लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करना वह अमृतकुंभ है ऐसा व्यवहारनय वाले का तर्क है ।

१. षष्ठचत्वारिंशत्संख्या । शिञ्जवगा निर्यापकायनयः । मूलाराधना पृ. ८४८ ।

२. अमृतचन्द्रसूरिकृत टीका का सार, पृ. ३८६, ३९० ।

३. अपडिक्रमणं ... २ गाथायें ।

उत्तर—यहां निश्चयनय के प्रकरण में आचार्य कहते हैं कि "प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा आदि ये आठ विषकुंभ हैं इनसे विपरीत अप्रतिक्रमण आदि आठ अमृतकुंभ हैं ।"

टीका में जो अज्ञानी जनों में साधारण अप्रतिक्रमण आदि हैं वे शुद्धात्मा की सिद्धि के अभाव स्वभाव वाले होने से स्वयं ही अपराध रूप हैं अतः विषकुंभ ही हैं उनके विचार करने का यहां क्या प्रयोजन है ? किन्तु द्रव्य प्रतिक्रमण आदि हैं वे संपूर्ण दोषों को दूर करने वाले होने से अमृतकुंभ होते हुए भी प्रतिक्रमण, अप्रतिक्रमण के विकल्प से परे ऐसे वीतराग निर्विकल्प ध्यानी मुनियों के लिये विषकुंभ हैं न कि छोटे गुणस्थानवर्ती मुनियों के लिए ।.....इसलिये ऐसा नहीं समझना कि ये आगम प्रतिक्रमण आदि को त्याग करने के लिये कह रहे हैं, किन्तु ध्यानरूप कोई एक शुद्धात्म सिद्धि लक्षण दुष्कर अवस्था को प्राप्त कराना चाहते हैं ऐसा यहां अभिप्राय है । श्री जयसेनाचार्य कृत टीका में—

"किये हुए दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है, सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा प्रतिसरण है, मिथ्यान्व रागादि दोषों का निवारण परिहार है, पंचनमस्कारादि-मंत्र, प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यों के अवलम्बन से चित्त का स्थिर करना धारणा है, बाह्य विषय कषायों की इच्छा में रहते हुए चित्त को मोड़ना निवृत्ति है, आत्मसाक्षी से दोष प्रगटता निंदा है, गुरु की साक्षी से दोष प्रगट करना गर्हा है और दोषों के लगने पर प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि करना शुद्धि है । ये आठ प्रकार का शुभोपयोग यद्यपि मिथ्यात्व विषय कषायादि की परिणति रूप अशुभोपयोग की अपेक्षा से सविकल्प रूप सराग चारित्र्य की अवस्था में अमृतकुंभ है फिर भी ये रागद्वेषादि विभाव परिणामों से शून्य निर्विकल्प शुद्धोपयोग लक्षण जो तृतीय भूमि है उसकी अपेक्षा से वीतराग चारित्र्य में स्थित महामुनियों के लिए विषकुंभ ही है ।" सारांश यह है कि यह व्यवहार प्रतिक्रमण निश्चयप्रतिक्रमण के लिए साधक है, सविकल्प अवस्था में करना ही पड़ेगा और निर्विकल्प अवस्था में स्वयं छूट जावेगा ।

१. पडिकमणं पडिसरणं ॥ ३०६ ॥
अपडिकमणं ॥ ३०७ ॥

समयसार

२. जयसेनाचार्य कृत टीका पृ. ३५६, ३६० ।

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

आत्मध्यानावपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपःकल्पनामात्ररम्यम् ।
बुद्ध्या धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे ॥१२३॥

ज्ञाणनिलीणो साधु, परिचागं कुण्डं सर्वदोषाणां ।
तस्माद् बु ज्ञाणमेव हि, सर्वदिचारस्य पडिकमणं ॥६३॥

ध्याननिलीनः साधुः परित्यागं करोति सर्वदोषाणाम् ।
तस्मात्तु ध्यानमेव हि सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणम् ॥६३॥

उसी प्रकार [टीकाकार श्री मुनिराज आत्मध्यान की प्रेरणा देने हुए श्लोक कहते हैं—]

(१२३) श्लोकार्थ—आत्मा के ध्यान में भिन्न अन्य सभी कल घोर संसार का मूलकारण हैं और ध्यान-ध्येय भेद हैं प्रमुख जिसमें ऐसा जो सम्यक् तप है वह भी कल्पना मात्र से सुन्दर है ऐसा समझकर बुद्धिमान् साधु सहज परमानन्दरूपी अमृत के पूरे में डुबकी लगाते हुए ऐसे एक सहज परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—तपश्चरण के बारह भेदों में ध्यान तप अंतिम है वह निर्विकल्प रूप-एकाग्रस्थिति रूप होता है । यदि ध्याता में ध्यान और ध्येय के विकल्प विद्यमान हैं तो वह ध्यानरूप तप ध्यान नाम को प्राप्त तो हो रहा है किन्तु वास्तविक कार्य की सिद्धि नहीं कर पाता है इसलिये इसे कल्पना मात्र से ही सुन्दर कह दिया है । वास्तव में बीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शुक्लध्यान से ही कर्मों का नाश होकर सहज परमात्मारूप अर्हत अवस्था प्रगट होती है अन्यथा नहीं, यहां यह अभिप्राय है ।

गाथा ६३

अन्वयार्थ—[ध्याननिलीनः] ध्यान में अतिशयरूप से लीन हुए [साधुः] साधु [सर्वदोषाणां] संपूर्ण दोषों का [परित्यागं] परित्याग [करोति] कर देते हैं

जब ध्यानमग्न साधु होते, गृणरूप स्वयं परिणमते हैं ।
वे ही तो बीतराग होकर, संपूर्ण दोष को तजते हैं ॥
इसलिये ध्यान ही वास्तव में, सर्वातिचार प्रतिक्रमण कहा ।
यह निश्चय ध्यान शुक्ल संज्ञक, जिन पाया उनने कर्म दहा ॥६३॥

अत्र ध्यानमेकमुपादेयमित्युक्तम् । कश्चित् परमजिनयोगीश्वरः साधुः अत्या-
सन्नभव्यजीवः अध्यात्मभासयोक्त स्वात्माश्रितनिश्चयधर्म्यध्याननिलीनः निर्भेदरूपेण
स्थितः, अथवा सकलक्रियाकाण्डाडम्बरव्यवहारनयात्मकभेदकरणध्यानध्येयविकल्पनिर्मुक्त-
निखिलकरणप्राप्तागोचरपरमतत्त्वशुद्धान्तस्तत्त्वविषयभेदकल्पनानिरपेक्षनिश्चयशुक्लध्यान-
स्वरूपे तिष्ठति च, स च निरवशेषेणान्तर्मुखतया प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाणां
परित्यागं करोति, तस्मात् स्वात्माश्रितनिश्चयधर्म्यशुक्लध्यानद्वितयमेव सर्वातिचाराणां
प्रतिक्रमणमिति ।

[तस्मात् तु] इसलिये [ध्यानं एव] ध्यान ही [हि] निश्चित रूप से [सर्वाति चारस्य]
सर्वातिचार का [प्रतिक्रमणं] प्रतिक्रमण है ।

टीका—एक ध्यान ही उपादेय है ऐसा यहाँ पर कहा है ।

कोई परमजिन योगीश्वर साधु जो कि अतिनिकट भव्य जीव हैं वे अध्यात्म-
भाषा से कथित अपने आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान में निश्चित रूप से लीन हुए
अभेदरूप से स्थित होते हैं अथवा संपूर्ण क्रियाकाण्ड के आडम्बर रूप व्यवहारनयात्मक
और भेद के करने वाले जो ध्यान-ध्येय के विकल्प हैं उनसे रहित सकल इन्द्रियों के
समूह के अगोचर, परमतत्त्वरूप शुद्धचैतन्यतत्त्व विषयक भेद कल्पना से निरपेक्ष जो
निश्चय शुक्लध्यान का स्वरूप है उसमें स्थित होते हैं, वे साधु निरवशेषरूप से अंतर्मुख
होने से प्रशस्त और अप्रशस्त रूप समस्त मोह, राग-द्वेष को परित्याग कर देते हैं
इसलिये अपने आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों ध्यान ही
संपूर्ण अतिचारों के लिए प्रतिक्रमण हैं ऐसा अर्थ हुआ है ।

विशेषार्थ—यहाँ पर सर्वातिचार प्रतिक्रमण के विषय में निश्चयप्रतिक्रमण
को कहते हुए उसे निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यान की संज्ञा दी है । व्यवहार

(अनुष्टुभ्)

शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं यस्य चित्तालये बभौ ।

स योगी तस्य शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति स्वयम् ॥१२४॥

पडिकमरणामध्ये, सुत्ते जह वणिणदं पडिकमणं ।

तह णच्चा जो भावइ, तस्स तदा होवि पडिकमणं ॥६४॥

प्रतिक्रमणनामधेये सूत्रे यथा वर्णितं प्रतिक्रमणम् ।

तथा ज्ञात्वा यो भावयति तस्य तदा भवति प्रतिक्रमणम् ॥६४॥

सर्वातिचार प्रतिक्रमण का लक्षण "सर्वातिचारा दीक्षाग्रहणात्प्रभृति सन्यासग्रहणकालं यावत्कृता दोषाः" दीक्षाग्रहण काल से लेकर संन्यासग्रहण कालपर्यन्त जितने दोष हुए हैं वे सर्वातिचार हैं उनका शोधन भी अंतसमय में ही होता है यह प्रतिक्रमण उत्तमार्थ में ही सम्मिलित होता है । व्यवहार प्रतिक्रमण के बल से जब निश्चय प्रतिक्रमण रूप ध्यान का अवलम्बन ले लेता है तब साधु कर्मों का भी नाश करके केवलज्ञान रूप ज्योति को प्रगट कर लेता है ऐसा अभिप्राय है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज शुक्लध्यान के महत्व को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१२४) श्लोकार्थ—यह शुक्लध्यानरूपी प्रदीप जिसके मनरूपी गृह में सुशोभित हो रहा है वह योगी है उसके स्वयं शुद्ध आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है ।

भावार्थ—शुक्लध्यान के बल से ही आत्मा में शुद्ध परमात्मा प्रगट हो जाता है अन्यथा नहीं ऐसा अभिप्राय है ।

गाथा ६४

अन्वयार्थ—[प्रतिक्रमणनामधेये सूत्रे] प्रतिक्रमण नाम वाले सूत्र में [यथा प्रतिक्रमणं वर्णितं] जिसप्रकार से प्रतिक्रमण का वर्णन किया है [तथा ज्ञात्वा] उमी

प्रतिक्रमण नाम के सूत्रों में, जैसा वर्णित है प्रतिक्रमण ।
 इस युग में श्री गौतम स्वामी, द्वारा विरचित वह प्रतिक्रमण ॥
 उनको वैसे ही जान पुनः जो उसको भाते रहते हैं ।
 उनके ही प्रतिक्रमण होता, जो उभय प्रतिक्रम करते हैं ॥६४॥

अत्र व्यवहारप्रतिक्रमणस्य सफलत्वमुक्तम् । यथा हि निर्यापकाचार्यैः समस्त-
 गमसारासारविचारचारुचातुर्यगुणकदम्बकैः प्रतिक्रमणाभिधानसूत्रे द्रव्यश्रुतरूपे व्यावर्णित-
 मतिविस्तरेण प्रतिक्रमणं, तथा ज्ञात्वा जिननीतिमलंघयन् चारुचरित्रमूर्तिः सकलसंयम-
 भावनां करोति, तस्य महामुनेर्बाह्यप्रपञ्चविमुखस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रह-
 परमगुरुचरणस्मरणार्हत्तुवित्तस्य तथा प्रतिक्रमणं भवतीति ।

प्रकार से जानकर [यः भावयति] जो साधु उसको भाता है [तस्य तदा प्रतिक्रम-
 भवति] उस साधु के उस काल में प्रतिक्रमण होता है ।

टीका—यहां पर व्यवहार प्रतिक्रमण की सफलता को कहा है ।

संपूर्ण आगमज्ञान से सारासार विचार में श्रेष्ठ चतुरता आदि गुण समूह के
 धारक ऐसे निर्यापकाचार्यों के द्वारा द्रव्यश्रुत रूप प्रतिक्रमण नामक सूत्रों में प्रतिक्रमण
 का जैसे अतिविस्तार से वर्णन किया गया है वैसे ही उसको जानकर जिनेन्द्रभगवान्
 की नीति का उलंघन न करते हुए उत्तम चारित्र्य की मूर्तिस्वरूप ऐसे मुनिराज सकल
 संयम की भावना को करते हैं, बाह्यप्रपञ्चों से विमुख पञ्चेन्द्रिय के विस्तार से रहित
 देहमात्र परिग्रह को धारण करने वाले और परमगुरु के चरणों के स्मरण में अनुरक्त
 चित्तवाले ऐसे उन महामुनि के उसकाल में प्रतिक्रमण होता है ऐसा समझना ।

विशेषार्थ—यहां पर प्रतिक्रमणदण्डक के उच्चारण में जो निर्यापकाचार्य
 वर्णन है उसके विषय में सल्लेखना कराने वाले निर्यापकों के अतिरिक्त अन्य
 निर्यापक कहलाते हैं ऐसा प्रवचनसार में कहा है—

“लिंगगहणे तेसि गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि ।

छेदेसूवट्ठवगा सेस्सा णिज्जावगा समणा ॥२१०॥”

गाथार्थ—लिंगग्रहण-दीक्षाग्रहण के समय जो दीक्षादायक हैं वह उनके दीक्षा गुरु हैं और छेदद्वय में उपस्थापक हैं वे श्रमण निर्यापक हैं ।

प्रवज्यादायक के समान ही अन्य भी निर्यापक संज्ञक गुरु हैं । दीक्षादायक गुरु दीक्षागुरु हैं, शेष श्रमण निर्यापक हैं वे शिक्षागुरु हैं । एक देशव्रत में या सर्वदेश व्रत में छेद होने पर प्रायश्चित्त देकर संवरण करते हैं वे निर्यापक शिक्षागुरु हैं और श्रुतगुरु हैं ।

वर्तमान में जो दैवसिक, पाक्षिक प्रतिक्रमण के सूत्र हैं वे श्री गौतमगणधर द्वारा रचित हैं ऐसा कथन श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने किया है । दूसरी बात यह है कि "जो पाक्षिक प्रतिक्रमण है तथा चातुर्मासिक और संवत्सरिक और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण हैं उनमें बहुत से पाठ ऐसे हैं जो आचार्य और सर्व शिष्यगण मिलकर करते हैं । कुछ पाठ ऐसे हैं जो केवल शिष्यवर्ग ही पढ़ते हैं और बहुत से दण्डक पाठ वे हैं जिन्हें केवल आचार्य ही पढ़ते हैं शेष सभी मुनि आदि शिष्यगण ध्यान मुद्रा से बैठे हुए श्रवण करते हैं यहां पर ऐसी विवक्षा है ।"

यहां पर जो "जिननीति अलंघन" ऐसा पाठ है उसका अर्थ यह है कि जिनेन्द्र-देव का वर्तमान के साधुओं के लिए समय-समय पर प्रतिक्रमण करने का जो आदेश है उसे पालन करना ही चाहिए । यथा—^१"आजकल के साधु दुष्काल के निमित्त से वक्र और जड़ स्वभाव वाले हैं, स्वयं भी किये हुये व्रतों के अनिचारों का स्मरण नहीं रख पाते हैं और चंचलचित्त होने से प्रायः बार-बार अपराध करते हैं । इसलिये ईर्यापथ दैवसिक आदि प्रसंगों में दोष हों या न हों किन्तु उन साधुओं को सर्वातिचार की विशुद्धि के लिये सभी प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करना ही चाहिए । उनमें से जिस किसी में भी चित्त स्थिर हो जाता है तो संपूर्ण दोषों का विशोधन हो जाता है । कहा भी है—^२"आदि जिनेन्द्र और अंतिम जिनेन्द्र के समय (शासन) के शिष्यों को यथासमय प्रतिक्रमण करना ही चाहिए चाहे दोष हों या न हों किन्तु मध्यम २२ तीर्थंकरों के शिष्यों के लिये अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण का आदेश है ।"

१. अतगार धर्माभूत पृ. ५८२, ५८३ ।

२. सप्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्दययोः ।

अपराधे प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिताम् ॥ अतगार धर्माभूत पृ. ५८३ ॥

(इन्द्रवज्रा)

निर्यापकाचार्यनिरुक्तियुक्ता-
मुक्ति सदाकर्ण्य च यस्य चित्तम् ।
समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात्
तस्मै नमः संयमधारिणेऽस्मै ॥१२५॥

(वसंततिलका)

यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षो-
नस्त्यप्रतिक्रमणमध्यणुमात्रमुच्चैः ।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय
श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यम् ॥१२६॥

[टीकाकार मुनिराज संयमी मुनि और श्री वीरनन्दि मुनि को नमस्कार करते हुए दो श्लोकों द्वारा इस प्रतिक्रमण अधिकार को पूर्ण करते हुए कहते हैं—]

(१२५) श्लोकार्थ—निर्यापक आचार्यों की निरुक्ति-व्याख्या सहित (प्रतिक्रमण आदि संबंधी) कथन को सदा सुनकर जिनका हृदय समस्त चारित्र्य का निवासगृह हो चुका है ऐसे उन संयमधारी मुनि को मेरा नमस्कार होवे ।

(१२६) श्लोकार्थ—जिन मुमुक्षु के सदा प्रतिक्रमण ही है और अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है । अतिशय रूप से सकलसंयम ही है भूषण जिनका ऐसे उन श्री वीरनन्दि नाम के मुनिराज को नित्य ही मेरा नमस्कार होवे ।

भावार्थ—यहां पर टीकाकार श्री मुनिराज ने संयम के स्थान स्वरूप ऐसे श्री वीरनन्दि मुनिराज को नमस्कार किया है । ये इनके शिक्षा गुरु आदि कोई गुरु अवश्य ही होंगे ऐसा प्रतीत होता है । इसप्रकार से यहां इस अधिकार में निश्चय प्रतिक्रमण के स्वरूप का वर्णन करते हुए अंतिम गाथा में श्री आचार्य देव ने व्यवहार प्रतिक्रमण को भी करने का आदेश स्पष्ट किया है ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवजितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमल -
धारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयप्रतिक्रमणाधिकारः पंचमः
श्रुतस्कन्धः ॥

इस प्रकार सुकविजन रूपी कमलों के लिए सूर्यस्वरूप पंचेन्द्रिय के प्रसार से
रहित गात्र मात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारी देव के द्वारा विरचित नियमसार
की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चयप्रतिक्रमण अधिकार नामक पंचम श्रुतस्कन्ध
पूर्ण हुआ ।



निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार

अथेदानीं सकलप्रव्रज्यासाम्राज्यविजयवैजयन्तीपृथुलदंडमंडनायमानसकलकर्म
निर्जराहेतुभूतनिःश्रेयनिःश्रेणीभूतमुक्तिभामिनीप्रथमदर्शनोपायनीभूतनिश्चयप्रत्याख्यान
अधिकारः कथ्यते । तद्यथा—

अत्र सूत्रावतारः ।

मोक्षरूपं सयत्नजल्पमणागयसुहृदसुहृदवारणं किञ्चा ।

अप्याणं जो आयदि, पञ्चवक्त्राणं हवे तस्स ॥६५॥

अब निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार को कहते हैं—जो कि सफल प्रव्रज्या मुक्ति
दीक्षा रूपी साम्राज्य की विजय पताका के विशाल दण्ड को विभूषित करने वाले
के समान है, सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा में हेतुभूत है, मोक्षमहल पर चढ़ने के लिए
के समान है, और मुक्तिसुन्दरी से प्रथम मिलन में भेंट रूप है, ऐसा यह निश्चय
प्रत्याख्यान है । उसी को कहते हैं—यहां पर गाथा सूत्र का अवतार होता है—

गाथा ६५

अन्वयार्थ—[यः] जो—माधु [सकलजल्पं] सम्पूर्ण जल्प को [मुक्ति
छोड़कर [अनागत शुभाशुभ निवारणं कृत्वा] अनागत शुभ-अशुभ का निवारण

मुक्त्वा सकलजल्पमनागतशुभाशुभनिवारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति प्रत्याख्यानं भवेत्तस्य ॥६५॥

गोकार्णव

जो मुनि अंतर्बुद्धि, सकल जल्प की तजके ।
भावी शुभ वा अशुभ, भाव निवारण करके ॥
परम ध्यान में लीन, आत्मा का ध्याते हैं ।
निश्चय प्रत्याख्यान, उनके मुनि माने हैं ॥६५॥

निश्चयनयप्रत्याख्यानस्वरूपाख्यानमेतत् । अत्र व्यवहारनयादेशात् मुनयो
भुक्त्वा दैनं दैनं पुनर्योग्यकालपर्यन्तं प्रत्याविष्टान्नपानखाद्यलेह्यरुचयः, एतद् व्यवहार-
प्रत्याख्यानस्वरूपम् । निश्चयनयतः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनाप्रपंचपरिहारेण
शुद्धज्ञानभावनासेवाप्रसादादभिनवशुभाशुभद्रव्यभावकर्मणां संवरः प्रत्याख्यानम् । यः
सबान्तर्मुखपरिणत्या परमकलाधारमत्यपूर्वमात्मानं ध्यायति तस्य नित्यं प्रत्याख्यानं
भवतीति ।

करके [आत्मानं ध्यायति] अपनी आत्मा का ध्यान करता है, [तस्य] उस साधु के
[प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [भवेत्] होता है ।

- टीका—निश्चयनय के प्रत्याख्यान के स्वरूप का यह कथन है ।

यहां पर, व्यवहारनय के कथन से मुनिगण प्रतिदिन भोजन करके पुनः योग्य
कालपर्यन्त अन्नपान, खाद्य और लेह्य की रुचिवाले ऐसे चार प्रकार के आहार का
त्याग कर देते हैं, यह व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप है । निश्चयनय से प्रशस्त-
अप्रशस्त रूप संपूर्ण वचन व्यापार के विस्तार को छोड़करके शुद्धज्ञान भावना की
सेवा के प्रसाद से नवीन शुभ-अशुभरूप द्रव्यकर्म और भावकर्मों का संवर होना वह
प्रत्याख्यान (निश्चय प्रत्याख्यान) है । जो सदा अन्तर्मुख परिणति से परमकला के
आधारभूत ऐसे अतिशय-अपूर्व आत्मा का ध्यान करता है उस साधु के नित्य ही
प्रत्याख्यान होता है । ऐसे ही समयसार में कहा है ।

तथा चोक्तं समयसारे—

“सन्धे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं नियमा सुणोयब्बं ॥”

तथा समयसारख्यायां च—

(प्रार्थना)

“प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥”

“गाथार्थ”—जिस हेतु से सभी भावों को अपने से भिन्न सभी पदार्थों को ‘ये पर हैं’ इस प्रकार से जानकर त्याग करना है, उसी हेतु से ‘पर हैं’ ऐसा जानना ही प्रत्याख्यान होता है ऐसा नियम से जानना चाहिये ।”

उसी प्रकार समयसार टीका में भी कहा है—

“श्लोकार्थ—भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके जिसका मोह-राग द्वेष नष्ट हो चुका है ऐसा मैं निष्कर्म-सम्पूर्ण कर्मों से रहित चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा नित्य ही वर्तता हूँ-रहता हूँ ।”

भावार्थ—आचार्य श्री ने निश्चयप्रत्याख्यान का वर्णन किया है । टीकाकार ने पहले व्यवहारप्रत्याख्यान का स्वरूप बतला दिया है । साधु आहार के अन्तर्गत तत्क्षण वहीं पर सिद्धभक्तिपूर्वक अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग कर देते हैं पुनः गुरु के पास आकर गोचार प्रतिक्रमण करके सिद्धभक्ति और योगिभक्ति पूर्वक गुरु से प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं अर्थात् गुरु उन्हें अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग दे देते हैं । यह मूलाचार के अनुसार प्रत्याख्यान है । निश्चयप्रत्याख्यान उस अवस्था में होता है जब साधु के समस्त शुभ अशुभ अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प समाप्त हो जाते हैं, अन्तर्मुख परिणति ऐसी हो जाती है कि

तथा हि—

(मंदाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्मनोकर्मजातं
प्रत्याख्यानं भवति नियतं तस्य संज्ञानमूर्तेः ।
सच्चारित्राण्यघकुलहराण्यस्य तानि स्युरुच्चै-
स्तं वंदेहं भवपरिभवक्लेशनाशाय नित्यम् ॥१२७॥

केवलज्ञानसहायो, केवलदंसरणसहाय सुहृमदश्रो ।

केवलसत्तिसहायो, सो हं इवि चित्तए एगणी ॥६६॥

बाहर का कुछ भी भान नहीं रहता है अर्थात् आत्मा का उपयोग अपने स्वरूप में तन्मय हो जाता है ऐसी शुद्धोपयोग की अवस्था विशेषरूप वीतराग निर्विकल्प ममाधिरूप ध्यान में ही यह प्रत्याख्यान प्रदित होता है ।

उसीप्रकार से—[टीकाकार श्री मुनिराज प्रत्याख्यान स्वरूप मुनिराज की वंदना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१२७) श्लोकार्थ—जो सम्यग्दृष्टि संपूर्ण कर्म और लोकर्म के समूह को छोड़ देता है, उस सम्यग्ज्ञान की मूर्तिस्वरूप साधु के निश्चित ही प्रत्याख्यान होता है और उसके ही पापसमूह को नष्ट करने वाले ऐसे सम्यक्चारित्र भी अतिशयरूप से होते हैं, ऐसे उन रत्नत्रय स्वरूप मुनिराज को मैं भव के परिभव निरस्कार स्वरूप क्लेश का नाश करने के लिये नित्य ही वंदन करता हूँ ।

भावार्थ—यहाँ पर सम्यग्दृष्टि शब्द से वीतराग चारित्र के साथ अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व से सहित निश्चय सम्यग्दृष्टि को ग्रहण किया गया है, क्योंकि उसी के ही सामायिक आदि से यथाख्यात पर्यन्त सभी चारित्र हो सकते हैं ऐसे मुनिराज ही अपने तथा हमारे भव के पराभव से होने वाले दुःखों को नाश करने में समर्थ होते हैं, इसीलिए यहाँ उनको नमस्कार किया है ।

गाथा ६६

अन्वयार्थ—[केवलज्ञान स्वभावः] केवलज्ञान स्वभाव वाला, [केवलदर्शन स्वभावः] केवलदर्शन स्वभाव वाला, [सुखमयः] सुखस्वरूप और [केवलशक्ति

केवलज्ञानस्वभावः केवलदर्शनस्वभावः सुखमयः ।

केवलशक्तिस्वभावः सोहमिति चितयेत् ज्ञानी ॥६६॥

केवलज्ञान स्वभाव, केवलदर्श स्वभावी ।

केवलसौख्य स्वभाव, केवलशक्ति स्वभावी ॥

जो इन चारस्वरूप, सो ही मैं हूँ इसविध ।

चित्तन करते नित्य, सो ज्ञानी मुनि निश्चित ॥६६॥

अनन्तचतुष्टयात्मकनिजात्मध्यानोपदेशोपन्यासोऽयम् । समस्तबाह्यप्रपञ्चवासना-
विनिर्मुक्तस्य निरवशेषेणान्तर्मुखस्य परमतत्त्वज्ञानिनो जीवस्य शिक्षा प्रोक्ता । कथं-
कारम् ? साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण, शुद्धस्पर्शरसगंधवर्णा-
नामाधारभूतशुद्धपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तपरमात्मा
यः सोहमिति भावना कर्तव्या ज्ञानिनेति, निश्चयेन सहजज्ञानस्वरूपोहम्, सहजदर्शन-
स्वरूपोहम्, सहजचारित्र्यस्वरूपोहम्, सहजचिच्छक्तिस्वरूपोहम्, इति भावना कर्तव्या
चेति—

स्वभावः] केवलवीर्य स्वभाव वाला, [सः अहं] वह मैं ही हूँ [इति ज्ञानी] इसप्रकार
से ज्ञानी साधु [चितयेत्] चितवन करें ।

टीका—अनन्तचतुष्टय स्वरूप अपनी आत्मा के ध्यान के उपदेश का यह
कथन है ।

समस्त बाह्य प्रपञ्च की वासना से रहित, संपूर्णतया अन्तर्मुख हुए परमतत्त्व
ज्ञानी जीव को शिक्षा दी गई है । किसप्रकार से ? सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय
स्वभाव वाले शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से शुद्ध स्पर्श, रस, गंध और वर्ण के
आधारभूत शुद्ध पुद्गल परमाणु के सदृश 'केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवल-
वीर्य से युक्त जो परमात्मा है, वह मैं ही हूँ' ज्ञानी को इस प्रकार से भावना करना
चाहिये, यहां यह अर्थ है और निश्चयनय से मैं सहजज्ञान स्वरूप हूँ, मैं सहज दर्शन
स्वरूप हूँ, मैं सहज चारित्र्यस्वरूप हूँ, तथा मैं चैतन्य शक्तिस्वरूप हूँ, ऐसी भावना करना
चाहिए, ऐसा समझना ।

❧ अनाद्य (पुराने संस्करण में आज के स्थान पर 'अनाद्य' शब्द है)

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

(अनुष्टुभ्)

“केवलज्ञानदृक्सील्यस्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥”

तथा हि—

(भाविनी)

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानन्दरूपः ।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोयं
निखिलमुनिजनानां चित्तपंकेजहंसः ॥१२८॥

इसी प्रकार एकत्व सप्तति में भी कहा है—

“श्लोकार्थ—’वह परमतेज केवलज्ञान, केवलदर्शन और केवलसौख्य स्वभावी है । उसके जान लेने पर क्या नहीं जाना गया ? उसके देख लेने पर क्या नहीं देखा गया ? और उसके सुन लेने पर क्या नहीं सुना गया है ?”

उसीप्रकार से—[टीकाकार श्री मुनिराज उसी परमतत्त्व की भावना करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१२८) श्लोकार्थ—सकल मुनिजनों के मन सरोज का हंस स्वरूप ऐसा जो यह शाश्वत, केवलज्ञान की मूर्तिरूप, सकल विमल दर्शनरूप, शाश्वत आनन्द-सौख्यरूप और सहज परमचैतन्य वीर्यरूप परमात्मा है वह जयशील होता है ।

भावार्थ—स्वाभाविक अनन्तचतुष्टय से युक्त परमात्मा निश्चयनय से अथवा शक्तिरूप से मुनियों के हृदयकमल में विराजमान है वो ही कारण परमात्मा है क्योंकि शुद्धोपयोगी साधु ही ऐसी शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हुए उसमें तन्मय हो जाते हैं, ऐसे कारण परमात्मा को यहां पर टीकाकार ने जयवन्त कहा है ।

रिण्यभावं एवि मुच्चइ', परभावं नेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सवि सव्वं, सो हं इदि चितए णाणी ॥६७॥

निजभावं नापि भुंचति परभावं नैव गृह्णाति कमपि ।
जानाति पश्यति सर्वं सोहमिति चितयेद् जानी ॥६७॥

जानादि निज भाव, जो मुनि कभी न तजते ।
किस ही भी परभाव, को जो ग्रहण न करते ॥
निजपर ज्ञेय स्वरूप, सबको देखें जाने ।
सो ही मैं हूँ नित्य, जानी इसविध माने ॥६७॥

अत्र परमभावनाभिमुखश्च ज्ञातिः, निश्चयभुक् । अस्तु कारणपरमात्मा
सकलदुरितवीरवरिसेनाविजयवज्रयन्तीलुंटाकं त्रिकालनिरावरणनिरञ्जननिजपरमभावं
वचिदपि नापि मुंचति, पंचविधसंसारप्रवृद्धिकारणं विभावपुद्गलद्रव्यसंयोगसंजातं
रागादिपरभावं नैव गृह्णाति, निश्चयेन निजनिरावरणपरमबोधेन निरञ्जनसहजज्ञानसहज-

गाथा ६७

अन्वयार्थ—[निजभावं] जो निजभाव को [न अपि मुंचति] नहीं छोड़ता
है और [कम् अपि परभावं] किसी भी परभाव को [न एव गृह्णाति] ग्रहण नहीं
करता है, (मात्र) [सर्वं] सब को [जानाति पश्यति] जानता देखता है, [सः अहं]
वह मैं हूँ [इति] इसप्रकार से [जानी चितयेत्] जानी चितवन करे ।

टीका—यहां पर परभावना के अभिमुख हुए ऐसे जानी को शिक्षण दिया है ।

जो कारणपरमात्मा, सम्पूर्ण पापरूपी वीर वीरी की सेना की विजयपताका
के लूटने वाले तीनों कालों में निरावरण निरञ्जन निज परमभाव को कहीं पर भी—
किसी अवस्था में भी नहीं छोड़ता है, और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप ऐसे
पांच प्रकार के संसार की प्रकृष्ट वृद्धि के लिए कारणभूत, विभाव पुद्गल द्रव्य के
संयोग से उत्पन्न हुए ऐसे रागादि परभावों को ग्रहण नहीं करता है, और निश्चयनय
से अपने निरावरण परमज्ञान के द्वारा, निरञ्जन रूप, सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजशील

दृष्टिसहजशोलादिस्वभावधर्माणामाधाराधेयविकल्पनिर्मुक्तमपि सदा मुक्तं सहजमुक्ति-
भामिनीसंभोगसंभयपरतानिलयं कारणपरमात्मानं जानाति, तथाविधसहजावलोकनेन
पश्यति च, स च कारणसमयसारोहमिति भावना सदा कर्तव्या सम्यग्ज्ञानिभिरिति ।

तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—

(अनुष्टुभ्)

“यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥”

तथा हि—

(वसन्ततिलका)

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाद्व्यमात्मा
जानाति पश्यति च पञ्चमभावमेकम् ।
तत्याज नैव सहजं परभावमन्यं
गृह्णाति नैव खलु पौद्गलिकं विकारम् ॥१२६॥

आदि स्वभाव धर्मों के आधार-आश्रय सम्बन्धी विकल्पों से निर्मुक्त होते हुए भी सदा
युक्त, सहज, मुक्तिरूपी सुन्दरी के संयोग से उत्पन्न हुए सौख्य के स्थानभूत ऐसे ऐसे
कारणपरमात्मा को जानता है और उसीप्रकार के सहजदर्शन के द्वारा देखता है, वह
कारणसमयसार में हूँ, सम्यग्ज्ञानियों को सदा ऐसी भावना करनी चाहिए ।

उसीप्रकार से श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

“श्लोकार्थ—जो अग्राह्य—नहीं ग्रहण करने योग्य को जो ग्रहण नहीं करता
है और ग्रहण किये हुए—अपने स्वाभाविक स्वभाव को नहीं छोड़ता है तथा सबको सभी
प्रकार से जानता है वह स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जानने योग्य मैं हूँ ।”

उसीप्रकार से—[टीकाकार भी विभावभाव को छोड़कर स्वभाव में स्थिर
होने के लिए प्रेरणा देते हुए चार श्लोक कहते हैं—]

(१२६) श्लोकार्थ—आत्मा अपने आत्मगुणों से समृद्ध, पञ्चमभावरूप—परम
पारिणामिक भाव स्वरूप ऐसी एक आत्मा को अपनी आत्मा में जानता है और देखता
है, उस सहज, पञ्चमभाव स्वरूप आत्मा को आत्मा ने छोड़ा ही नहीं है, तथा निश्चित
रूप से जो पौद्गलिक विकाररूप अन्य परभाव हैं उनको ग्रहण ही नहीं करता है,

(शार्दूलविक्रीडित)

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचितामणा-
 वन्यद्रव्यकृताग्रहोद्भवमिमं सुक्त्वाधुना विग्रहम् ।
 तच्चित्रं न विशुद्धपूर्णसहजज्ञानात्मने शर्मणे
 देवानाममृताशनोद्भवमिदं ज्ञात्वा किमन्याशने ॥१३०॥

(शार्दूलविक्रीडित)

निर्वन्द्वं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं
 तान्यद्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्मामृतं निर्मलम् ।
 पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुना
 प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचितामणिम् ॥१३१॥

अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है पुनः स्वभाव को छोड़ने और परभाव को ग्रहण करने की कुछ बात ही नहीं उठती है । निश्चयनय के अवलम्बन से ऐसे निज के स्वभाव को समझकर उसी को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए ।

(१३०) श्लोकार्थ—यह मेरा मन अन्य द्रव्य के आग्रह करने से या अन्य द्रव्य को आ-समंतात् सब तरफ से ग्रहण करने से उत्पन्न हुए इस शरीर को या विग्रह-रग-द्वेषादि कलह को छोड़कर इस समय विशुद्धपूर्ण, सहज ज्ञानस्वरूप सुख के लिये चिन्मात्र चिन्तामणि स्वरूप ऐसे मुझ में हमेशा लीन हो गया है, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, क्योंकि अमृत भोजन से उत्पन्न स्वाद को जानकरके देवों को अन्य भोजन से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् नहीं है ।

भावार्थ—एक बार अमृत का आस्वाद आ जाने पर कौन ऐसा है कि जो अन्य खारा जल पीना चाहेगा ? उसीप्रकार से एक बार जिनको अपने ही घट में विराजमान भगवान् आत्मा के अनुभव का आनन्द आ चुका है वह साधु क्या पर संकल्प विकल्पों में या ऐसे निकृष्ट शरीर में आनन्द मानेगा ? नहीं मानेगा, वह तो अपने स्वरूप में ही तन्मय होकर कर्मों का नाश करके रहेगा ।

(१३१) श्लोकार्थ—द्वन्द्व रहित, उपद्रव रहित, उपमा रहित, नित्य अपनी आत्मा में उत्पन्न होने वाले, और अन्य द्रव्य की विभावना-विकल्प से उत्पन्न न होने

(आर्या)

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेतदेव स्यात् ।

निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्चनासमुद्भूतम् ॥१३२॥

जैसे निर्मल सुखरूपी अमृत को पीकरके जो सुकृतात्मा-पुण्यात्मा इससमय इस सुकृत पुण्य को भी छोड़कर प्रगटरूप से अद्वितीय और अनुल ऐसे चिन्मात्र चिन्तामणि को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—लोक में चिन्तामणि रत्न चितित वस्तु को देने वाला होता है वैसे ही यह चिन्मात्र चिन्तामणि रत्नस्वरूप आत्मा अपने इस देह रूपी देवालय में विराजमान है, जो उसको प्राप्त करते हैं उनको सम्पूर्ण अलौकिक अचिन्त्य ऐसे अनन्तगुण रूप फल मिल जाते हैं, पुनः चितित की तो बात ही क्या है ? वे पुण्यात्मा पुण्य की राशिस्वरूप हैं फिर भी पुण्य को छोड़कर ऐसे फल को प्राप्त करते हैं अर्थात् पुण्य पापरूपी सभी कर्मों के निरोध से ही पूर्णतया कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष होता है, यह पुण्य का लटना बीतराग निर्विकल्प समाधिरूप निश्चयध्यान में ही होता है उसके पूर्व नहीं ।

(१३२) श्लोकार्थ—गुरु के चरणों की सम्यक्प्रकार अर्चना से उत्पन्न हुई ऐसी निजमहिमा को जानते हुए कौन विद्वान् ऐसा कहता है कि यह परद्रव्य मेरा ही है ? अर्थात् कोई भी विद्वान् ऐसा नहीं कहता है, अजानी ही कहते हैं ।

भावार्थ—वास्तव में गुरुदेव के चरणकमलों की उपासना से ही अपने आत्मस्वरूप का सही बोध होता है, जो गुरुचरणों का आश्रय नहीं लेने हैं वे शास्त्र के सच्चे मर्म को न समझकर एकान्त में निश्चयाभासी बन जाते हैं । गुरुपरम्परागत अर्थ को समझने के लिये और आत्मतत्त्व को प्राप्त करने के प्रयत्नों का अभ्यास सीखने के लिये गुरुओं का आश्रय लेना चाहिये । और तो क्या ? तीर्थंकर भी पूर्वभवों में गुरुओं के पादमूल में दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों आदि का अध्ययन कर तथा गुरुओं के पादमूल में ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हैं । गुरुओं के पादमूल के अतिरिक्त तीर्थंकर प्रकृति का बंध और क्षायिक सम्यक्त्व हो नहीं सकते हैं ऐसा नियम है । गुरुओं के आश्रय की अचिन्त्य महिमा है ।

पयडिद्विदिश्रणुभागप्रदेशबंधेहि वज्जिदो अप्पा ।
सो हं इदि चित्तिज्जो, तत्थेव य कुरादि धिरभावं ॥६८॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधेविवर्जित आत्मा ।
सोहमिति चित्तयन् तत्रैव च करोति स्थिरभावम् ॥६८॥

प्रकृति स्थिति अनुभाग, और प्रदेश कहाये ।
इन बंधों से शून्य, आत्मा शुद्ध कहाये ॥
मैं ही मैं हूँ निरन्तर ऐसा चिन्तन करते ।
उसमें ही धिर भाव, वे साधू निरन्तर ॥६८॥

अत्र बन्धनिर्मुक्तमात्मानं भावयेदिति भव्यस्य शिक्षणमुक्तम् । शुभाशुभमनो-
वाक्कायकर्मभिः प्रकृतिप्रदेशबंधौ स्याताम्; चतुर्भिः कषायैः स्थित्यनुभागबन्धौ स्तः,
एभिश्चतुर्भिर्बन्धनिर्मुक्तः सदानिरुपाधिस्वरूपो ह्यात्मा सोहमिति सम्यग्ज्ञानिना निरन्तरं
भावना कर्तव्येति ।

गाथा ६८

अन्वयार्थ—[प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधः विवर्जितः] प्रकृतिबंध, स्थिति-
बंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध इन बंधों से रहित. [आत्मा] जो आत्मा है, [सः अहं]
वह मैं हूँ. [इति चित्तयन्] ऐसा चिन्तन करते हुए जानी [तत्र एव च] उसी आत्मा
में [स्थिरभावं] स्थिर भाव को [करोति] करना है ।

टीका— बंध से निर्मुक्त आत्मा की भावना करना चाहिये, इसप्रकार भव्य
को यहां शिक्षा दी है ।

शुभ तथा अशुभ मन, वचन और काय सम्बन्धी क्रियाओं से प्रकृतिबंध और
प्रदेशबन्ध होते हैं तथा चार कषायों से स्थितिवंध और अनुभागबन्ध होते हैं, इसप्रकार
के बंधों से रहित सदा उपाधिरहित स्वरूपवाला ही जो आत्मा है वह मैं हूँ इसप्रकार
से सम्यग्ज्ञानी को निरन्तर भावना करनी चाहिए ।

[अब टीकाकार चिच्चमत्कार मात्र में बुद्धि लगाने का उपदेश देते हुए
कहते हैं—]

(मंदाकांता)

प्रेक्षावद्भिः सहजपरमानन्दचिद्रूपमेकं
संप्राह्यं तैत्तिरूपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम् ।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्वचःसारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे ॥१३३॥

ममत्ति परिवर्ज्यामि, शिम्ममत्तिमुवट्ठदो ।
आलम्बणं च मे आदा, अवसेसं च वोसरे ॥६६॥

ममत्वं परिवर्जयामि निर्ममत्वमुपस्थितः ।
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषं च विसृजामि ॥६६॥

मैं ममत्व का त्याग, करता हूँ सब परमे ।
सुस्थित होता हूँ, निर्ममत्व में रुचि मे ॥
मेरा आत्मा एक, मेरा आलम्बन है ।
तजता हूँ सब शेष, जो दुख के साधन हैं ॥६६॥

(१३३) श्लोकार्थ—बुद्धिमानजनों को मुक्ति साम्राज्य के मूलकारण, निरूपम, सहजपरमानन्दमय चैतन्यस्वरूप यह एक आत्मा ही सम्यक्प्रकार ग्रहण करने योग्य है, इसलिये हे मित्र ! तुम भी सारभूत ऐसे मेरे वचनों को मुनकरके अनिर्णयरूप मे चिच्चमत्कार मात्र इस आत्मा में शीघ्र ही अपनी बुद्धि लगावो ।

भावार्थ—यह आत्मा चिच्चमत्कार मात्र है इसके ध्यान करने से अलौकिक तीनों लोकों को और तीनों कालों को एक साथ जानने वाला परम चमत्कारिक दिव्य-ज्योतिरूप केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ।

गाथा ६६

अन्वयार्थ—[ममत्वं परिवर्जयामि] मैं ममत्व को छोड़ता हूँ, और [निर्ममत्वं उपस्थितः] निर्ममत्व में स्थित होता हूँ, [आत्मा च मे आलम्बनं] आत्मा ही मेरा आलम्बन है, [अवशेषं च विसृजामि] अवशेष सभी को मैं छोड़ता हूँ ।

१. मुद्रित प्रतियों में विसृजामि है ।

अत्र सकलविभावसंन्यासविधिः प्रोक्तः । कमनीयकामिनीकांचनप्रभृतिसमस्त-
परद्रव्यगुणपर्यायिषु ममकारं संत्यजामि । परमोपेक्षालक्षणलक्षिते निर्म्ममकारात्मनि
आत्मनि स्थित्वा ह्यात्मानमवलम्ब्य च संसृतिपुरंध्रिकासंभोगसंभवसुखदुःखाद्यनेकविभाव-
परिणतिं परिहरामि ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(गिरिराणी)

“निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विदंत्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥”

टीका—यहां पर सम्पूर्ण विभाव के त्याग की विधि का कथन है । सुन्दर
कामिनी, कांचन मृवर्ण आदि सम्पूर्ण परद्रव्य और उनकी गुणपर्यायों में मैं ममकार
भाव को छोड़ता हूं । परमोपेक्षा लक्षण से लक्षित निर्म्ममकार स्वरूप आत्मा में स्थिर
होकर और निश्चितरूप से आत्मा का ही अवलम्बन लेकर संसाररूपी स्त्री के संभोग
से उत्पन्न हुए सुख दुःखादि रूप अनेक विभाव परिणति का मैं त्याग करता हूं ।

उसी प्रकार से अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

“इत्युक्तं—’निश्चितरूप से पुण्य और पापरूप सम्पूर्ण कर्मों के निषिद्ध हो
जाने पर—छूट जाने पर तथा निष्कर्मरूप बाह्य क्रियाओं से शून्य अवस्था के हो जाने
पर वास्तव में मुनिराज अशरणरूप नहीं हैं । उस काल में ज्ञान में आचरण—परिणमन
करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों के लिये शरण है, वे उस ज्ञान में लीन होते हुए स्वयं
परम अमृत का अनुभव करते हैं ।”

भावार्थ—वीतरागी मुनि जब शुद्धोपयोग रूप ध्यान में लीन हो जाते हैं तब
उनके पुण्य और पाप की क्रियाओं का सम्पूर्ण व्यापार रुक जाता है, उस निर्विकल्प

तथा हि—

(मालिनी)

अथ नियतमनोवाक्कायकृत्स्नेन्द्रियेच्छा

भववनधिसमुत्थं मोहयादःसमूहम् ।

कनकयुवतिवाञ्छामप्यहं सर्वशक्त्या

प्रबलतरविशुद्धध्यानमय्या त्यजामि ॥१३४॥

अवस्था में वे योगी एकाकी होते हुए भी अशरणरूप नहीं हैं किन्तु ज्ञानस्वरूप में परिणत आत्मा ही उनके लिए शरणभूत है । उस वीतराग निर्विकल्प ध्यान के पूर्व निष्कर्मरूप निश्चल अवस्था नहीं होती है और न ही पुण्यरूप आवश्यक क्रियाएँ ही छूटती हैं ।

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज मन इन्द्रिय आदि पर नियन्त्रण करने का आदेश देते हुए कहते हैं—]

(१३४) श्लोकार्थ—मन, वचन, काय सम्बन्धी और सम्पूर्ण पाँचों इन्द्रिय सम्बन्धी इच्छाओं का जिसने नियन्त्रण कर दिया है ऐसा मैं अब भव समुद्र में उत्पन्न हुए ऐसे मोह रूप मत्स्य^१ के समूह को तथा कनक और कामिनी की वाञ्छा को भी प्रबलतर विशुद्ध ध्यानमयी सर्वशक्ति से छोड़ता हूँ ।

भावार्थ—सम्पूर्ण इच्छाओं के निरोध से ही मोह के निमित्त से होने वाली पर वस्तु की चाह रूप विभाव भावनाएँ छोड़ी जा सकती हैं अन्यथा एक पर एक इच्छाएँ तो होती ही जाती हैं । यहां पर टीकाकार ने ऐसा संकेत किया है कि इन वाञ्छाओं के त्याग करने में सर्वशक्ति लगा देनी चाहिए, क्योंकि तप और त्याग दान शक्ति के अनुसार कहे गये हैं किन्तु विभाव भावों को छोड़ने में सारी शक्ति लगा देनी चाहिए अर्थात् अत्यधिक पुरुषार्थ करके वाञ्छाओं का दमन करना चाहिए ।

१. यादो वेशारिणो भव इति-यादस्-मत्स्य ।

आदा खु मज्ज एाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य ।

आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे ॥१००॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।

आत्मा प्रत्याख्यानं आत्मा मे संवरे योगे ॥१००॥

निश्चित मेरे ज्ञान, में मेरा ही आत्मा ।

मेरे दर्शन और चारित्र, में भी आत्मा ॥

त्याग-सुप्रत्याख्यान, में है मेरा आत्मा ।

मेरे संवर योग, में भी मेरा आत्मा ॥१००॥

अत्र सर्वत्रात्मोपादेय इत्युक्तः । अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहज-
सौख्यात्मा ह्यात्मा । स खलु सहजशुद्धज्ञानचेतनापरिणतस्य मम सम्यग्ज्ञाने च, स च
प्राञ्चितपरमपंचमगतिप्राप्तिहेतुभूतपंचमभावभावनापरिणतस्य मम सहजसम्यग्दर्शनविषये
च, साक्षात्निर्वाणप्राप्त्युपायस्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरमचारित्रपरिणतेर्मम सहज-
चारित्रेऽपि स परमात्मा सदा संनिहितश्च, स चात्मा सदासन्नस्थः शुभाशुभपुण्यपापमुख-

गाथा १००

अन्वयार्थ—[खलु मम ज्ञाने आत्मा] निश्चित रूप में मेरे ज्ञान में आत्मा
है, [मे दर्शने चरित्रे च आत्मा] मेरे दर्शन और चारित्र में आत्मा है, [प्रत्याख्यानं
आत्मा] प्रत्याख्यान में आत्मा है और [मे संवरे योगे आत्मा] मेरे संवर तथा योग
में आत्मा है ।

टीका—सर्वत्र आत्मा ही उपादेय है ऐसा यहां पर कथन है । अनादि अनन्त
अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभाव वाली शुद्ध सहज सौख्यस्वरूप ही आत्मा है । वास्तव में
वह आत्मा सहज शुद्ध ज्ञान चेतना से परिणत हुए ऐसे मेरे सम्यग्ज्ञान में है और पूरा
जो परम पंचमगति-सिद्धगति उसकी प्राप्ति के लिए कारणभूत पंचम भाव रूप भावना
परिणत हुए ऐसे मेरे सहजसम्यग्दर्शन के विषय में वही आत्मा है । साक्षात् निर्वाण
प्राप्ति के लिये उपायभूत अपने स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज परम चारित्र
परिणति से परिणत हुए ऐसे मेरे सहज चारित्र में भी वह परमात्मा सदैव सन्निहित
अर्थात् विद्यमान है ।

बुद्धानां षण्णां सकलसंन्यासात्मकनिश्चयप्रत्याख्याने च मम भेदविज्ञानिनः परद्रव्य-
पराङ्मुखस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरर्वाजितगात्रमात्रपरिग्रहस्य, मम सहजवैराग्यप्राप्तावशिखर-
शिखामणेः स्वरूपगुप्तस्य पापाटवीपावकस्य शुभाशुभसंवरयोश्च, अशुभोपयोगपराङ्-
मुखस्य शुभोपयोगेऽप्युदासीनपरस्य साक्षाच्छुद्धोपयोगाभिमुखस्य मम परमागममकरन्द-
निष्पन्दिमुखपद्मप्रभस्य शुद्धोपयोगेऽपि च स परमात्मा सनातनस्वभावत्वात्तिष्ठति ।

भेद विज्ञानी, परद्रव्य में पराङ्मुख और पञ्चेन्द्रियों के व्यापार से रहित
शरीर मात्र परिग्रहधारी ऐसे मेरे निर्ग्रन्थ मुनि के शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप और सुख-दुःख
इन छहों के सम्पूर्णतया त्याग रूप ऐसे निश्चय प्रत्याख्यान में वह आत्मा सदा आसन्न
स्थित है—गास में विद्यमान है । सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि
स्वरूप अपने स्वरूप में गुप्त नीन हुए, पापरूपी वन को जलाने के लिये पावक-अग्नि-
सदृश ऐसे मेरे शुभ और अशुभ कर्म के संवर में वह परमात्मा ही है । अशुभयोग से
पराङ्मुख हुए, शुभोपयोग में भी उदासीन रूप और साक्षात् शुद्धोपयोग के अभिमुख
होते हुए तथा परमागमरूपी मकरन्द-पुष्परस झर रहा है जिसके मुख से ऐसे मुञ्ज
पद्मप्रभ मुनिराज के शुद्धोपयोग में भी वही परमात्मा सनातन स्वभाव वाला होने से
विराजमान है ।

विशेषार्थ—यहां पर टीकाकार ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए अपनी
निर्ग्रन्थ रूप महामुनि अवस्था का वे माझूम बहुत ही सुन्दर परिचय दे दिया है ।
उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया है कि मैं भेद विज्ञानी हूं, पञ्चेन्द्रियों के विषय व्यापार से
रहित हूं, गात्र मात्र परिग्रह धारी-नग्न दिगम्बर मुनि हूं, तथा वैराग्यरूपी महल के
शिखर का शिखामणि हूं । आगे यहां तक कह दिया है कि अशुभोपयोग से सर्वथा
रहित हूं, शुभोपयोग में भी उदासीन हूं तथा शुद्धोपयोग के सन्मुख हूं क्योंकि दो-तीन
घन्टे लगातार बैठकर ग्रंथ लिखने वाले उन मुनिराज को बीच-बीच में ही छठे से
सातवें गुणस्थान होता था, परिवर्तन चलता ही रहता था, कारण छठे और सातवें
गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है । दो-तीन घन्टे तक वे छठे में रह नहीं
सकते थे तथा चौथे पांचवें गुणस्थान में उनके जाने का सवाल ही नहीं है ऐसे अध्यात्म-
योगी ग्रंथ रचना के समय कोई एक अपूर्व ही आत्मा का आनन्द ले रहे होंगे ।

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

(अनुष्टुभ्)

“तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्र्यं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ॥

(अनुष्टुभ्)

नमस्यं च तदेकं तदेकं च मंगलम् ।
उत्तमं च तदेकं तदेव शरणं सताम् ॥

(अनुष्टुभ्)

आचारश्च तदेकं तदैवावश्यकक्रिया ।
स्वाध्यायस्तु तदेकमप्रमत्तस्य योगिनः ॥”

पुनः वे स्वयं कह रहे हैं कि परमागमरूपी भकरन्द का झरना मेरे मुख से झर रहा है, ओहो ! सचमुच मैं उनके मुखरूपी कमल से परम सुगन्धि से युक्त यह नियमसार की टीका रूप अमृतमयी रस का झरना झरा है जो कि प्रत्येक भव्य जीवों की आत्मा को सुरभित और अजरामर करने वाला है, परमनृप्तिदायी है । धन्य हैं ये टीकाकार मुनिराज जिन्होंने श्री कुन्दकुन्द देव की गाथा रूपी सूर्य की किरणों के सदृश इस टीका रूपी किरणों के आलोक से भव्य जीवों के हृदयभुवन को आलोकित कर दिया है ।

उसी प्रकार से एकत्व सप्तति में भी कहा है—

“श्लोकार्थ—वही एक-चैतन्य ज्योति ही परमज्ञान है, वही एक पवित्र निर्मल दर्शन है, वही एक चारित्र्य है और वही एक निर्मल तप है ।

श्लोकार्थ—सत्पुरुष-साधु पुरुषों के लिये वही एक नमस्कार करनी योग्य वही एक मंगलरूप है, वही एक उत्तम है और वही एक शरणभूत है ।

श्लोकार्थ—अप्रमत्त योगी के लिये वही एक आचार है, वही आवश्यक क्रिया है और वही एक स्वाध्याय है ।

१. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका के एकत्वसप्तति अ. में श्लोक ३६, ४०, ४१ ।

तथा हि—

(मालिनी)

मम सहजसुदृष्टी शुद्धबोधे चरित्रे
सुकृतदुरितकर्मद्वन्द्वसंन्यासकाले ।
भवति स परमात्मा संवरे शुद्धयोगे
न च न च भुवि कोप्यन्योस्ति मुक्त्यं पदार्थः ॥१३५॥

(पृथ्वी)

क्वचित्त्वसति निर्मलं क्वचन निर्मलानिर्मलं
क्वचित्पुनरनिर्मलं गहनमेवमज्ञस्य यत् ।
तदेव निजबोधदीपनिहताघभूछायकं
सतां हृदयपद्मसद्गतिं च संस्थितं निश्चलम् ॥१३६॥

उसीप्रकार से—[टीकाकार मुनिराज उसी शुद्धात्म तत्त्व की विशेषता को दिखलाते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(१३५) श्लोकार्थ—मेरे सहज शुद्धदर्शन में, शुद्धज्ञान में, चारित्र्य में, पुण्य-पापरूपी कर्मद्वय के त्याग रूप—प्रत्याख्यान के समय में, संवर में और शुद्धयोग शुद्धध्यान रूप शुद्धोपयोग में वह परमात्मा ही है, क्योंकि मुक्ति की प्राप्ति के लिये इस संसार में अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है—नहीं है ।

भावार्थ—वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में लीन होने पर यह आत्मा ही कारण परमात्मा रूप से स्थित है, वही परमात्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, प्रत्याख्यान, संवर और ध्यान रूप है । क्योंकि वही उस समय निश्चय रत्नवय की एकाग्रध परिणति में परिणत हो रहा है । उस निश्चयरूप एकाग्र अवस्था में ही ये निश्चय धर्मादि धटित होते हैं, अन्यत्र नहीं, इसीलिए इस आत्मा को छोड़कर अन्य किसी भी अनुष्ठान में मोक्ष की प्राप्ति असंभव है ।

(१३६) श्लोकार्थ—जो क्वचित्—कहीं पर—किसी अवस्था में निर्मल शोभित हो रहा है—दिखाई दे रहा है, कहीं पर निर्मलानिर्मल—उभय से मिश्रित रूप दिखाई दे रहा है, कहीं पर अनिर्मल—मलिन ही दिखाई दे रहा है, ऐसा जो यह आत्मा है वह

एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि स्वयं ।
एगस्स जावि मरणं, एगो सिज्जदि एोरयो ॥१०९॥

एकश्च म्रियते जीवः एकश्च जीवति स्वयम् ।
एकस्य जायते मरणं एकः सिध्यति नीरजाः ॥१०९॥

इस जग में यह जीव, एकाकी मरता है ।
स्वयं अकेला आप, पुनः जनम धरता है ॥
स्वयं अकेले को ही, होता जनम मरण नित ।
स्वयं कर्मरज हीन, होता सिद्धबधू प्रिय ॥१०९॥

अज्ञानी लोगों के लिये समझने में गहन ही है—अत्यन्त कठिन है । अपने ज्ञान रूपी दीपक से जिसने पापरूपी अंधकार को नष्ट कर दिया है, ऐसा वही आत्मा सज्जन पुरुष-साधुओं के हृदय कमलरूपी महल में निश्चलरूप में विराजमान है ।

भावार्थ—यह आत्मा सिद्धावस्था में पूर्णतया निर्मल हो चुका है, अतः अवस्था में चार अघातिया कर्मों के शेष रहने से कथञ्चित् असिद्धत्व अवस्था की अपेक्षा से अनिर्मल भी होने से निर्मलानिर्मल है अथवा वीतरागी मुनि के शुद्धोपयोग रूप ध्यान में-उपयोग में निर्मल होने से भी निर्मलानिर्मल है अथवा चतुर्थ गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक सराग अवस्था होते हुए पुण्य जीव कहलाने से और अंश-अंशरूप अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान आदि कषायों का अभाव होने से निर्मल भी है अतः उनकी आत्मा भी निर्मलानिर्मल है । और पहले गुणस्थान से लेकर तृतीय गुणस्थान तक पाप जीव होने से अनिर्मल ही है ।

अथवा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से संसारी जीव भी शुद्ध ही है अतः नय की अपेक्षा में सभी जीव राशि निर्मल हैं, व्यवहारनय की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि बालक से लेकर संयत आदि आत्मा निर्मलानिर्मल है और शेष संसारी जीव अनिर्मल हैं ।

गाथा १०९

अन्वयार्थ—[जीवः एकः च म्रियते] जीव अकेला ही मरता है, [स्वयं च ए जीवति] और स्वयं अकेला ही जन्मता है, [एकस्य मरणं जायते] अकेले के ही मरण होता है [एकः नीरजाः सिध्यति] अकेला ही रज-कर्म धूलि रहित सिद्ध होता है ।

इह हि संसारावस्थायां मुक्तौ च निःसहायो जीव इत्युक्तः । नित्यमरणं तद्भव-
रणे च सहायमन्तरेण व्यवहारतश्चक एव लिखते, सादिसान्तमूर्तिविजातीयविभाव-
व्यंजनतरनारकादिपर्यायोत्पत्तौ चासन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयादेशेन स्वयमेवो-
न्नीवत्येव । सर्वैर्बन्धुभिः परिरक्ष्यमाणस्यापि महाबलपराक्रमस्यैकस्य जीवस्याप्राथितमपि
स्वयमेव जायते मरणम्, एक एव परमगुरुप्रसादासादितस्वात्माश्रयनिश्चयशुक्लध्यानबलेन
स्वात्मानं ध्यात्वा नीरजाः सन् सद्यो निर्वाति ।

तथा चोक्तम्—

(अनुष्टुप्)

“स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।

स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥”

उक्तं च श्रीसोमदेवपंडितदेवः—

टीका—संसार अवस्था में और मुक्ति में यह जीव असहाय है ऐसा यहां पर
कहा है । जो प्रतिसमय आयु के निषेक उदय में आकर उड़ रहे हैं उसे नित्य मरण
कहते हैं तथा उस भव की आयु के समाप्त होने को तद्भव मरण कहते हैं । इस नित्य
मरण और तद्भव मरण में यह जीव व्यवहारनय से सहाय के बिना अकेला ही मरता
है, सादिसान्त मूर्तिक विजातीय विभाव व्यंजन पर्याय रूप तर नारकादि पर्यायों की
उत्पत्ति के समय निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय के कथन से स्वयं ही यह
जीव जन्म लेता है । सभी बंधुवर्गों के द्वारा रक्षित किया जाने पर भी महाबल और
पराक्रम वाले इस जीव के नहीं चाहते हुए भी स्वयं ही मरण हो जाता है, और एक
ही यह जीव परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त हुए ऐसे आत्मा के आश्रित निश्चय शुक्लध्यान
के बल से अपनी आत्मा का ध्यान करके रज-ज्ञानावरण, दर्शनावरण रूप कर्म रज से
रहित होता हुआ शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है । कहा भी है—

श्लोकार्थ—आत्मा स्वयं ही कर्म को करता है, स्वयं ही उसके फल को
भोगता है, स्वयं ही संसार में भ्रमण करता है और स्वयं ही उस संसार से मुक्त भी
हो जाता है ।

ऐसे ही आचार्य श्री सोमदेव पंडितदेव ने भी कहा है—

(वसन्ततिलका)

“एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम् ।
अन्यो न जातु सुखदुःखविधौ सहायः
स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते ॥”

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

एको याति प्रबलदुरघाज्जन्म मृत्युं च जीवः
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखम् ।
भूयो भुङ्क्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा-
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन् ॥१३७॥

श्लोकार्थ—हे जीव ! तू अकेला-असहाय ही अपने द्वारा किये हुए पुण्य-पापरूप कर्मों के सुख और दुःख रूप फलों का सम्बन्ध भोगने के लिये स्वयं जन्म गर्भवात में और मरण में प्रवेश करता है । दूसरा कोई कभी भी तेरे सुख-दुःख रूप कर्मफल के भोगने में अथवा तुझे सुखी या दुखी करने में सहायक नहीं है । तेरे ये पुत्र कलत्रादि समूह अपनी जीवन रक्षा के लिये विटपेटक-शत्रुसमूहसदृश ही आकर तुझे मिल गये हैं ।

उर्माप्रकार से [श्री टीकाकार मुनिराज ने भी जीव के एकाकीपन को दिखाने के लिये कहा है—]

(१३७) श्लोकार्थ—यह जीव अकेला ही प्रबल दृष्टान्त में जन्म और मृत्यु को प्राप्त करता है, तथा अकेला ही सदा तीव्र मोह के निमित्त से स्वसुख से विरक्त होता हुआ कर्मद्वन्द्व-पुण्य पापरूप दो प्रकार के कर्मोदय के फल रूप सुन्दर सौख्य और दुःख को पुनः पुनः भोगता है और अकेला ही गुरुदेव के प्रसाद में कोई एक अस्वतन्त्र-स्वात्मतत्त्व को प्राप्त करके उसीमें स्थित हो जाता है ।

एको मे सासदो अप्पा, एणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संयोगलक्खणा ॥१०२॥

एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।

शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥१०२॥

मेरा आत्मा शुद्ध, शाश्वत एक अकेला ।

दर्शन ज्ञान स्वरूप, नहिं उसमें कुछ भला ॥

शेष सभी पर भाव, मुझमें बाह्य बताये ।

वे सब जड़ संयोग, ने उत्पन्न कहाये ॥१०२॥

एकत्वभावनापरिणतस्य सम्यग्ज्ञानिनो लक्षणकथनमिदम् । अखिलसंसृतिनन्दन-
तस्मूलालवालांभःपूरपरिपूर्णप्रणालिकावत्संस्थितकलेवरसम्भवहेतुभूतद्रव्यभावकर्माभावा-
वेकः, स एव निखिलक्रियाकांडाडंबरविविधविकल्पकोलाहलनिर्मुक्तसहजशुद्धज्ञानचेतना-
मतीन्द्रियं भुंजानः सन् शाश्वतो भूत्वा समोपादेयरूपेण तिष्ठति, यस्त्रिकालनिरुपाधि-

गाथा १०२

अन्वयार्थ—[मे आत्मा एकः शाश्वतः] मेरा आत्मा एकाकी है, शाश्वत है,
[ज्ञानदर्शन लक्षणः] ज्ञान और दर्शनस्वरूप है, [शेषाः] शेष, [संयोगलक्षणाः] संयोग
से उत्पन्न होनेरूप लक्षण वाले, [सर्वेभावाः] सभी भाव-पदार्थ [मे बाह्याः] मेरे से
बाह्य हैं ।

टीका—एकत्व भावना से परिणत हुए सम्यग्ज्ञानी के स्वरूप का यह
कथन है ।

सकल संसाररूपी नन्दनवन के वृक्षों की जड़ के आसपास की क्यारियों के
मिचन हेतु जल के पूर में भरी हुई नाली के समान प्राप्त हुए शरीर के उत्पन्न करने
में कारणभूत ऐसे जो द्रव्यकर्म और भावकर्म हैं उनके अभाव से (मेरा आत्मा) एक है
और वही सम्पूर्ण क्रियाकांड के आडम्बररूप विविध विकल्पों के कोलाहल से रहित
सहजशुद्धज्ञानचेतना को अतीन्द्रियरूप में अनुभव करता हुआ शाश्वत अविनाशीरूप
होकर मेरे लिये उपादेयरूप से विद्यमान है, जो कि तीनों कालों में उपाधिरहित

स्वभावत्वात् निरावरणज्ञानदर्शनलक्षणलक्षितः कारणपरमात्मा, ये शुभाशुभकर्मसंयोग-
संभवाः शेषा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाः स्वस्वरूपाद्बाह्यास्ते सर्वे, इति मम निश्चयः ।

(मालिनी)

अथ मम परमात्मा शाश्वतः कश्चिदेकः
सहजपरमचिच्चिन्तामणिनित्यशुद्धः ।

निरवधिनिजदिव्यज्ञानद्वारभ्यां समुद्धः [समृद्धः]

किमिह बहुविकल्पेन फलं बाह्यभावं ॥१३८॥

स्वभाव होने से आवरण रहित ऐसे ज्ञान और दर्शनरूप लक्षण से लक्षित कारण-
परमात्मा है । शेष जो शुभ-अशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होने वाले बाह्य और
अभ्यन्तररूप परिग्रह हैं, वे सभी मेरे अपने स्वरूप से बहिर्भूत हैं, ऐसा मेरा
निश्चय है ।

विशेषार्थ—निश्चयनय मे इस जीव में जरीर के लिए कारणभूत ऐसे द्रव्य-
कर्म, भावकर्म नहीं हैं इसलिये वह आत्मा एक-असहाय-अकेला है तथा सदा ही सह-
शुद्धज्ञान चेतना का अनुभव कर रहा है, इसलिये शाश्वत है । वैसे ही शुद्धनिश्चय-
इस जीव को न कभी कर्मोपाधि हुई थी, न है, न होगी इसलिये वह पूर्णज्ञानदर्शन-
स्वरूप है । ऐसे मेरी आत्मा के वर्तमान में जो भी भाव दीख रहे हैं वे सब व्यवहार-
से कर्मोपाधिजन्य होने से मुक्त से भिन्न ही हैं ।

[टीकाकार मुनिराज उसी बात को कलज काव्य से दिखाने हैं—]

(१३८) श्लोकार्थ—मेरा परमात्मा शाश्वत है, कोई एक अद्भुत है, सह-
परम चैतन्य चित्तामणिरूप है, नित्य ही शुद्ध है और अनन्त निजदिव्य ज्ञानदर्शन-
समृद्ध है, इस अवस्था में पुनः बहुत से भेदरूप इन बाह्य भावों से मुझे क्या फल है
अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनय के अवलम्बन से चित्तामणि स्वरूप आत्मा
समस्त लेने के बाद मुझे बाह्य पदार्थों से कुछ भी नहीं होगा ।

जं किंचि मे दुश्चरित्तं, सर्वं त्रिविहेण वोसरे ।
सामाइयं तु त्रिविहं, करेमि सर्वं णिरायारं ॥१०३॥

यत्किंचिन्मे दुश्चरित्रं सर्वं त्रिविधेन विसृजामि ।
सामायिकं तु त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम् ॥१०३॥

दुश्चरित्र मय दोष, जो कुछ होता मुझमें ।
तजता हूं उन सर्व, को मैं मनवचनन से ॥
सामायिक त्रय भेद, कही आप में जो भी ।
करता हूं मैं शुद्ध, निराकार सबको ही ॥१०३॥

आत्मगतदोषान्निर्मुक्त्युपायकथनमिदम् । भेदविज्ञानिनोऽपि मम परमतपोधनस्य
पूर्वसंचितकर्मोदयबलाच्चारित्रमोहोदये सति यत्किंचिदपि दुश्चरित्रं भवति चेत्तत् सर्वं
मनोवाक्कायसंशुद्ध्या संत्यजामि । सामायिकशब्देन तावच्चारित्रमुक्तं सामायिकछेदोप-
स्थापनपरिहारविशुद्ध्यभिधानभेदात्रिविधम् । अथवा जघन्यरत्नत्रयमुत्कृष्टं करोमि,

गाथा १०३

अन्वयार्थ—[यत्किंचित् मे चरित्रं] जो किंचित् भी मेरा दुश्चरित्र है [सर्वं
त्रिविधेनव्युत्सृजामि] उस सभी को मैं मन वचन और काय से छोड़ता हूं [तु त्रिविधं
सामायिकं] और त्रिविध सामायिक चारित्र को [सर्वं निराकारं करोमि] सभी को
निराकार करता हूं ।

टीका—आत्मगत दोषों से निर्मुक्त होने के उपाय का यह कथन है । मैं
परमतपोधन भेदविज्ञानी हूं फिर भी मेरे पूर्वसंचित कर्मोदय के बल से चारित्रमोह का
उदय होने पर जो कुछ भी दुश्चरित्र-चारित्र में दोष यदि हो जाता है, तो मैं उस सभी
दुश्चरित्र का मन, वचन, काय की सम्यक् शुद्धिपूर्वक त्याग करता हूं । यहाँ पर
सामायिक शब्द से चारित्र को कहा है, ऐसे सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहार-
विशुद्धि इन नाम वाले तीन भेद से यह चारित्र तीन प्रकार है अथवा मैं जघन्य रत्नत्रय

१. अग्यत्र विसृजामि पाठ है ।

किंतु ऐसा ही ठीक प्रतीत होता है ।

नवपदार्थपरद्रव्यश्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साकारं, तत् स्वस्वरूपश्रद्धान-
परिज्ञानानुष्ठानरूपस्वभावरत्नत्रयस्वीकारेण निराकारं शुद्धं करोमि इत्यर्थः । किं च,
भेदोपचारचारित्र्यम् अभेदोपचारं करोमि, अभेदोपचारम् अभेदानुपचारं करोमि इति
त्रिविधं सामायिकमुत्तरोत्तरस्वीकारेण सहजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूपसहजनिरञ्च-
चारित्र्यं, निराकारतत्त्वनिरतत्वान्निराकारचारित्र्यमिति ।

को उत्कृष्ट करता हूँ, नवपदार्थ रूप जो परद्रव्य है उनका श्रद्धान परिज्ञान और
आचरण रूप जो साकार रत्नत्रय है वह व्यवहार रत्नत्रय है, उसको अपने स्वरूप के
श्रद्धानज्ञान तथा अनुष्ठानरूप स्वभाव रत्नत्रय की स्वीकृति पूर्वक निराकार-शुद्ध
करता हूँ अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय के बल से निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त करता हूँ ।

और इसी तरह से—भेदोपचार चारित्र्य को अभेदोपचार रूप करता हूँ और
अभेदोपचार चारित्र्य को अभेदानुपचार चारित्र्यरूप करता हूँ, इस तरह तीन प्रकार के
सामायिक को उत्तरोत्तर स्वीकार पूर्वक सहजपरमतत्त्व में अविचल स्थितिरूप सहज
निश्चयचारित्र्य होता है, वही निराकार चारित्र्य कहलाता है क्योंकि वह निराकार तत्त्व
में निरत है ।

विशेषार्थ—यहां पर निश्चय रत्नत्रय को निराकार सामायिक रूप कहा है
वास्तव में बीतराग निर्विकल्प समाधि की अवस्था में सम्पूर्ण बाह्य विकल्पों का अभाव
हो जाने से आत्मा निर्विकल्प-निराकार हो जाता है, उस अवस्था में उसी आत्म तत्त्व
में तल्लीन होने से यह चारित्र्य भी निराकार संज्ञक हो जाता है । टीकाकार ने
“त्रिविधं सामायिकं उत्तरोत्तर स्वीकारेण” इस पद से क्रम को स्पष्ट कर दिया
अर्थात् भेदोपचार नामवाले व्यवहाररत्नत्रय से अभेदोपचाररूप निश्चयरत्नत्रय
प्रारम्भ होता है पुनः उस अभेदोपचार से अभेदानुपचार रूप निश्चयरत्नत्रय परिण-
म हो जाती है । ये क्रम से पूर्व-पूर्व के आगे-आगे के लिये बनते हैं ।

ऐसे ही अन्यत्र भाषाकारों ने कहा है—

“भेदोपचाररूप चारित्र्यव्यवहार महाव्रतादि पालन है, अभेदोपचार

तथा चोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम् ।

(वसंततिलका)

“द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि

द्रव्यं मिथो द्वयमिदं तनु सव्यपेक्षम् ।

तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं

द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥”

तथा हि—

चारित्र्य शुद्धात्मा की भावना स्वरूप है और अभेद अनुपचार चारित्र्य स्वभाव में निश्चल अवस्थारूप स्थितिमयी है ।

पंचमहाव्रत आदि भेदोपचार चारित्र्य है जो कि लट्टे गुणस्थानवर्ती भूति के होता है । स्वस्थान अप्रमत्त वाले सन्तम गुणस्थानवर्ती के अभेदोपचार चारित्र्य होता है और सान्निग्य अप्रमत्तनामक सन्तम गुणस्थान से लेकर बान्दवों तक अभेदानुपचार चारित्र्य होता है, ऐसा समझना ।

उसीप्रकार से प्रवचनसार की व्याख्या में भी कहा है—

“श्लोकार्थ—”चरण-चारित्र्य, द्रव्य का—आत्मतत्त्व का अनुसरण करने वाला होता है और द्रव्य, चरण का अनुसरण करनेवाला होता है । ये दोनों परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा को रखने वाले हैं, इसलिये मुमुक्षु-साधु द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा चरण का आश्रय लेकर मोक्षमार्ग में आगोहण करो ।”

भावार्थ—आत्मद्रव्य को सिद्ध करनेवाला चारित्र्य है और चारित्र्य के अनुसार प्राप्त होने वाला आत्मद्रव्य है । जहां आत्मद्रव्य है वहीं पर चारित्र्य होता है, आत्मद्रव्य के अवलम्बन के बिना चारित्र्य नहीं होता है, इसीलिये आचार्यश्री ने कह दिया है कि चाहे द्रव्य का अवलम्बन लेवो चाहे चारित्र्य का, दोनों ही मोक्ष के कारण हैं ।

उसीप्रकार—[टीकाकार मुनिराज यतियों को संयम में सावधान रहने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—]

१. प्रव. की श्री अमृतचन्द्रसूरि कुन टीका का १२ वां श्लोक ।

(अनुष्टुप्)

चित्तत्त्वभावनासत्तामस्तथो यतयो दमम् ।

यतंते यातनाशीलयमनाशनकारणम् ॥१३६॥

सम्मं मे सब्बभूदेसु, वेरं मज्झं एा केणवि ।

आसाए वोसरित्ता एां, समाहि पडिवज्जए ॥१०४॥

साम्मं मे सर्वभूतेषु वैरं मह्यं न केनचित् ।

आशाम् उत्सृज्य नूनं समाधिः प्रतिपद्यते ॥१०४॥

सब जीवों प्रति नित्य, समता भाव हमारा ।

नहीं किसी के साथ, वैर विरोध हमारा ॥

सब आशा को आज, निश्चिन्त में उजता हूँ ।

भाव विशुद्ध समाधि, उसे प्राप्त करता हूँ ॥१०४॥

(१३६) श्लोकार्थ—चैतन्यतत्त्व की भावना में जिनकी मति असक्त है ऐसे यतिगण, यातना-कष्ट देने के स्वभाव वाले यमराज के नाश में कारणभूत ऐसे यम-संयम में प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्त होते हैं ।

भावार्थ—व्यवहारसंयम के बिना निश्चयसंयम की सिद्धि असंभव है, अनएव आत्मतत्त्व की सिद्धि के इच्छुक मुमुक्षुजन पहले सम्यक्त्व सहित व्यवहारसंयम को निरतिचार पालते हैं पुनः उसी के बल से निश्चयचारित्ररूप ध्यान के द्वारा यमराज इस अपरनाम वाले आयुर्कर्म को भी समाप्त कर मृत्युंजयी भगवान बन जाते हैं ।

गाथा १०४

अन्वयार्थ—[मे सर्वभूतेषु साम्मं] मेरा सभी जीवों में समभाव है, [मह्यं केनचित् वैरं न] मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है, [नूनं] निश्चित रूप से मैं, [आशां उत्सृज्य] आशा को छोड़कर [समाधिः प्रतिपद्यते] समाधि को प्राप्त करता हूँ ।

इहःन्तर्मुखस्य परमतपोधनस्य भावशुद्धिरुक्ता । विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारस्य
भेदविज्ञानिष्वज्ञानिषु च समताः; मित्राभिरपरिरक्षितैरभावाभ्य मे केनचिज्जनेन सह
सहजवैराग्यपरिणतेः न मे काप्याशा विद्यते; परमसमरसीभावसनाथपरमसमाधि
समयेऽहमिति ।

तथा चोक्तः श्रीयोगीन्द्रदेवः—

(वसन्ततिलका)

“मुक्त्वा लसत्त्वमधिसत्त्वबलोपपन्नः

स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वम् ।

संज्ञानचक्रमिदमंग गृहाण तूर्ण-

मज्ञानमन्त्रियुनमोहरिपुपमदि ।”

टीका—अन्तर्मुख हुए तपोधन की भाव शुद्धि का यहाँ पर वर्णन है ।

गमरत इन्द्रियों के व्यापार रहित ऐसे मुझे भेदविज्ञानी और अज्ञानी सभी
जनों में समताभाव है, मित्र और शत्रुरूप परिणति का अभाव होने से मेरा किसी प्राणी
के साथ वैर नहीं है, सहज वैराग्य भाव से परिणत होने से मुझे कुछ भी आशा नहीं है
मैं परम समरसी भाव से सहित ऐसी परम समाधि की प्राप्ति होता हूँ ।

उसीप्रकार में श्री योगेन्द्र देव ने भी कहा है —

“श्लोकार्थ—‘हे वत्स ! तুম आलस्य को छोड़कर सहजसत्त्व और पराक्रम
से सहित होते हुए, उत्कृष्ट ऐसी ‘समता’ रूपी कुलदेवता का स्मरण करके, अज्ञानरूपी
शत्रु से सहित ऐसे मोहराजा रूप शत्रु का उपमर्दन करने वाले इस सम्यग्ज्ञान रूपी
चक्र को शीघ्र ही ग्रहण करो ।”

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान रूपी चक्ररत्न से मोहराजा को मार करके तीन लोक
का आधिपत्यरूप साम्राज्य पद प्राप्त किया जाता है । जो मुनिराज निप्रमादी होकर
समता देवी की उपासना करते हैं वे देवी के प्रसाद से सम्यग्ज्ञानरूपी चक्ररत्न की
प्राप्ति कर लेते हैं, यह अभिप्राय है ।

तथा हि—

(वसंततिलका)

मुक्त्यंगनालिमपुनर्भङ्गसौख्यपुलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां
या समता भवति संयमिनामजस्रम् ॥१४०॥

(हरिणी)

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा
निजमुखसुखाम्भोधिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा ।
परमयमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनःप्रियमैत्रिका
मुनिवरगणस्पोच्चैः सालंक्रिया जगतामपि ॥१४१॥

उसीप्रकार से—[टीकाकार मुनिगज समता के माहात्म्य को स्पष्ट करते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(१४०) श्लोकार्थ—मुक्तिरूपी स्त्री के प्रति भ्रमर सदृश, निर्वाण सौख्य के लिए मूलकारण, दुर्भावनारूपी अंधकार समूह के लिये चन्द्रमा की चांदनी स्वरूप ऐसी उस समता की मैं अनिश्चय रूप से सम्यक् प्रकार भावना करता हूं, जो कि संयमी साधुओं को हमेशा ही सम्मत अर्थात् मान्य है ।

भावार्थ—जीवन, मरण, शत्रु, मित्र, सुख, दुःख और लाभ, अलाभ में रागद्वेष का अभाव होना, हर्ष विषाद परिणति नहीं करना, मध्यस्थ भावना से स्थित रहना समता है । इस समता के बिना दुर्भावों का विनाश नहीं हो सकता है पुनः संकल्प-विकल्पों के होते रहने से निर्विकल्प ध्यान की मिट्टि असंभव है अतः हमेशा साम्यभाव का अवलम्बन लेना चाहिए ।

(१४१) श्लोकार्थ—जो योगियों को भी दुर्लभ है, अपने अभिमुख होने से उत्पन्न हुए सुख समुद्र की अतिशय वृद्धि के लिये पूर्णिमा का चन्द्रमा की चांदनीरूप है, परम संयमियों की दीक्षारूपी स्त्री की प्रिय सहेली है तथा मुनि समूह के लिये और जगत् के लिए भी अनिश्चयरूप में अलंकार स्वरूप है, वह समता नित्य ही जयशील हो रही है ।

एवकसायस्स दंतस्स^१ सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीतस्स पच्चक्खाणां सुहं हवे ॥१०५॥

निःकषायस्य दान्तस्य शूरस्य व्यवसायिनः ।

संसारभयभीतस्य प्रत्याख्यानं सुखं भवेत् ॥१०५॥

निष्कषाय और शूर, इन्द्रिय दमन करे हैं ।

निजहित का व्यवसाय, ही जो नित्य करे हैं ॥

भव दुःख से भयभीत, ध्यान लीन जो हों ।

निश्चय प्रत्याख्यान, उनको सुख से हों ॥१०५॥

निश्चयप्रत्याख्यानयोग्यजीवस्वरूपाख्यानमेतत् । सकलकषायकलंकपंकविमुक्तस्य निखिलेन्द्रियव्यापारविजयोपाजितपरमदान्तरूपस्य अखिलपरीषहमहाभटविजयोपाजित-निजशूरगुणस्य निश्चयपरमतपश्चरणनिरतशुद्धभावस्य संसारदुःखभीतस्य व्यवहारेण

भावार्थ—इस समभाव के बिना अंतःमुख प्रगट नहीं हो सकता है, तथा इसके बिना मुनिराज सुशोभित नहीं होते हैं इसलिये जैसे यह मुनिवरों का भूषण है वैसे ही जगत् का भी भूषण है । वीतरागता के बिना जगत में शान्ति का लेश नहीं हो सकता है ।

गाथा १०५

अन्वयार्थ—[निःकषायस्य] कषाय रहित, [दान्तस्य] इन्द्रियों का दमन करने वाले, [शूरस्य व्यवसायिनः] शूरवीर, उद्यमशील और [संसार भय भीतस्य] संसार से डरने वाले ऐसे साधु के [सुखं प्रत्याख्यानं] सुखमय प्रत्याख्यान, [भवेत्] होता है ।

टीका—निश्चय प्रत्याख्यान के योग्य ऐसे जीव के स्वरूप का यह कथन है ।

सम्पूर्ण कषाय कलंक रूपी पंक से विमुक्त, संपूर्ण इन्द्रियों के व्यापार के विजय से उपाजित की है परम दमनशीलता जिन्होंने, अखिल परीषह रूपी महायोद्धाओं के विजय से प्रगट किया है अपना शूर गुण जिन्होंने निश्चय परम तपश्चरण में लीन

चतुराहारविवर्जनप्रत्याख्यानम् । किं च पुनः व्यवहारप्रत्याख्यानं कुदृष्टेरपि पुरुषस्य चारित्र्यमोहोदयहेतुभूतद्रव्यभावकर्मक्षयोपशमेन क्वचित् कदाचित्संभवति । अत एव निश्चयप्रत्याख्यानं हितम् अत्यासन्नभव्यजीवानाम् ; यतः स्वर्णनामधेयघरस्य पाषाणस्योपादेयत्वं न तथांधपाषाणस्येति । ततः संसारशरीरभोगनिर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यानस्य कारणं, पुनर्भाविकाले संभावितानां निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविभावानां परिहारः परमार्थप्रत्याख्यानम्, अथवानागतकालोद्भवविविधान्तर्जल्पपरित्यागः शुद्धनिश्चयप्रत्याख्यानम् इति ।

होने से उत्पन्न हुए शुद्धभाव से सहित तथा संसार के दुःखों में भयभीत हुए ऐसे मुनिराज के व्यवहारतथ से चतुराहार त्याग रूप प्रत्याख्यान होता है ।

किन्तु यह व्यवहार प्रत्याख्यान मिथ्यादृष्टि पुरुषों के भी चारित्र्यमोह के उदय में कारणभूत द्रव्य और भावकर्म के क्षयोपशम से क्वचित् कदाचित् संभव है, इसलिये अति निकट भव्य जीवों के लिए निश्चय प्रत्याख्यान ही हितरूप है, क्योंकि स्वर्ण नामको घरने वाला ऐसा स्वर्णपाषाण ही उपादेयभूत है न कि उसीप्रकार से अंधपाषाण । अतः संसार शरीर और भोगों से निर्वेगता-विरक्तता निश्चय प्रत्याख्यान का कारण है, और पुनः भविष्यकाल में होने वाले सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष आदि विविध विभावों का त्याग होता परमार्थ प्रत्याख्यान है, अथवा भविष्यकाल में होने वाले विविध अन्तर्जल्पों का परित्याग शुद्ध निश्चय प्रत्याख्यान है ।

विशेषार्थ—यहां ऐसा बताया है कि व्यवहार प्रत्याख्यान मिथ्यादृष्टि के भी हो सकता है इसलिये निश्चय प्रत्याख्यान सर्वथा हितरूप है । इसमें ऐसा भी समझ लेना है कि व्यवहार प्रत्याख्यान के बिना आज तक निश्चय प्रत्याख्यान न हुआ है और न होगा ही, हां, इतना अवश्य है कि व्यवहार को साधन और निश्चय को साध्य समझना चाहिए । यहां पर वैसे चार प्रकार का प्रत्याख्यान बताया गया है । प्रथम व्यवहार प्रत्याख्यान है जिसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की कोई विवक्षा नहीं है, मात्र चतुराहार त्यागरूप है । दूसरा संसार शरीर और भोगों के त्यागरूप जो कि निश्चय प्रत्याख्यान का कारण है । तीसरा भविष्य में समस्त विभावों के त्यागरूप हैं जो कि परमार्थ प्रत्याख्यान नाम वाला है, यह सातवें से प्रारम्भ हो जाता है और चौथा

(हरिणी)

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रमतोद्भवं
परमयमिनामेतस्त्रिधर्वाणिसौख्यकरं परम् ।
सहजसमतादेवीसत्कर्णभूषणमुच्चकैः
मुनिष शृणु ते दीक्षाकान्तातियौवनकारणम् ॥१४२॥

एवं भेदब्रह्मासं, जो कुव्वइ जीवकर्मणो निच्छं ।
पञ्चवक्त्राणं सबकवि, धरिदुं सो संजदो एण्यमा ॥१०६॥

एवं भेदाभ्यासं यः करोति जीवकर्मणोः नित्यम् ।
प्रत्याख्यानं शक्तो धतुं स संयतो नियमात् ॥१०६॥

भविष्य कालीन समस्त अन्तर्जलपों से भी शून्य निर्विकल्परूप हैं जो कि शुद्ध निश्चय प्रत्याख्यान कहलाता है । यह श्रेणी में ही संभव है ।

[अब टीकाकार प्रत्याख्यान की विशेषता प्रगट करते हुए कहते हैं—]

(१४२) श्लोकार्थ—जिनेन्द्र भगवान के मत में होने वाला प्रत्याख्यान सदैव जयशील हो रहा है । यह परम संयमियों के लिये निर्वाण सौख्य को करने वाला है, उत्कृष्ट है, और अनिश्चयरूप से सहज समता देवी के सुन्दर कानों का आभूषण है । हे मुनिपते ! गुनो, यह आपकी दीक्षारूपी प्रिय पत्नी के अतिशयरूप यौवन का कारण है ।

भावार्थ—यौवन से सहित स्त्री अपने पति को जितना सुख प्राप्त कराती है उतना बाला स्त्री या वृद्धा स्त्री से नहीं होता है, इसीलिये टीकाकार ने प्रलोभन रूप शब्दों में कहा है कि हे मुनिराज ! यह प्रत्याख्यान तुम्हारी दीक्षा के जीवन में अत्यधिक हितकर होने में अत्यधिक मुखदायी है ।

गाथा १०६

अन्वयार्थ—[एवं यः] इसप्रकार से जो साधु, [नित्यं] नित्य ही, [जीव-कर्मणोः भेदाभ्यासं] जीव और कर्म के भेद का अभ्यास, [करोति] करता है, [सः]

इसविध से जो नित्य, जीव और कर्मों में ।
करते भेदाभ्यास, भिन्न ग्रहें निज मन में ॥
वे संयत गुरुदेव, बाह्य त्याग के बल से ।
निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चित ही कर सकते ॥१०६॥

निश्चयप्रत्याख्यानोपसंहारोपन्यासोयम् । यः श्रीमदहन्मुखारविन्द-
विनिर्गतपरमागमार्थविचारक्षमः, अशुद्धान्तस्तत्त्वकर्मपुद्गलयोरनादिबन्धनसंबन्धयोर्भेद-
भेदाभ्यासबलेन करोति, स परमसंयमी निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यानं स्वीकरोतीति ।

(स्वगता)

भाविकालभवभावनिवृत्तः
सोहमित्यनुदिनं मुनिनाथः ।
भावयेदखिलसौख्यनिधानं
स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ॥१४३॥

संयतः] वह संयमी, [नियमात्] नियम से [प्रत्याख्यानं धर्तुं शक्तः] प्रत्याख्यान को धारण करने में समर्थ होता है ।

टीका—निश्चय प्रत्याख्यान अध्याय के उपसंहार का यह कथन है । जो श्रीमान् अरहन्तदेव के मुख कमल से विनिर्गत ऐसे परमागम के विचार में समर्थ है, अनादिकाल के बन्धन से सम्बन्धित ऐसे अशुद्ध चैतन्य तत्त्व और कर्म पुद्गल में भेदाभ्यास के बल से भेद को करता है, वह परमसंयमी निश्चय और व्यवहार इन दोनों प्रत्याख्यानो को स्वीकार करता है, ऐसा समझना ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस प्रत्याख्यान प्रकरण को समाप्त करते हुए नौ श्लोकों से इसकी महिमा को स्पष्ट करते हैं—]

(१४३) श्लोकार्थ—जो भविष्यकाल में भव को करने वाले ऐसे भावों से रहित हो चुके हैं 'सो ही मैं हूँ' मुनियों के नाथ ऐसे महामुनि मल से मुक्त होने के लिये समस्त सौख्य का निधान और अमल-निर्दोष ऐसे अपने स्वरूप की प्रतिदिन भावना करें ।

(स्वागता)

घोरसंसृतिमहाराण्वभास्व-

द्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः ।

तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं

भावयाम्यहमतो जितमोहः ॥१४४॥

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्र्यमूर्तः

भ्रान्तिध्वंसात्सहजपरमानन्दचिन्निष्ठबुद्धेः ।

नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्पदानां

भूयो भूयो भवति भवितां संसृतिघोररूपा ॥१४५॥

भावार्थ—जो संसार में भ्रमण करने वाले ऐसे भावों से पूर्ण प्रत्याख्यान स्वरूप हो चुके हैं ऐसे पूर्ण शुद्ध सिद्ध भगवान हैं । शुद्धनिश्चयनय से 'वही मैं हूँ' अर्थात् मैं भी समस्त विभाव भावों से रहित ही हूँ ऐसी भावना के द्वारा नित्य ही अपने स्वरूप का चितवन करना चाहिए ।

(१४४) श्लोकार्थ—घोर संसाररूपी महासमुद्र में वह देदीप्यमान जलयान-जहाज है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, अतएव मोह को जीत लिया है जिसने ऐसा में परमार्थ से इस परमतत्त्व को नित्य ही भाता हूँ ।

(१४५) श्लोकार्थ—भ्रान्ति के नष्ट हो जाने से सहज परमानन्दमय चैतन्य में तल्लीन है बुद्धि जिनकी, तथा जो शुद्ध चारित्र्य की मूर्तिस्वरूप ऐसे साधु के सतत ही प्रत्याख्यान होता है, किन्तु अपर समय-अन्य सम्प्रदाय में स्थान रखने वाले ऐसे अन्य योगियों के वह नहीं होता है प्रत्युत उन संसारी जीवों के पुनः पुनः घोर संसार ही होता है ।

भावार्थ—'अन्य प्रति में पाठ भेद होने से अन्य भाषाकार ने उसका अर्थ भी वैसा ही किया है । जैसे—'चिन्निष्ठ बुद्धेः' की जगह 'चिन्नष्ट बुद्धेः' है जिसने... चैतन्य शक्ति के द्वारा विकल्परूप बुद्धि को नष्ट कर दिया है । आगे 'योगिनामास्पदानां'

(शिखरिणी)

महानंदानंदो जगति विदितः शाश्वतमयः
 स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिनिर्मलगुणो ।
 अमी विद्वान्सोपि स्मरनिशितशस्त्रैरभिहताः
 कथं कांक्षन्त्येनं बत कलिहतास्ते जडधियः ॥१४६॥

(मंदाक्रांता)

प्रत्याख्यानाद्भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं
 सच्चारित्रं दुरघतरुसां द्राटवीवह्निरूपम् ।
 तन्वं शीघ्रं कुरु तव मतो भव्यशार्दूल नित्यं
 यत्किमृतं सहजसुखदं शीलमूलं पुनोनाम् ॥१४७॥

की जगद् 'योगिनामाभ्युदयानं' पाठ होने में उसका अर्थ—“अन्य आगम में लीन अन्य योगियों का मुखरान (उपयोग) उस ओर नहीं हो सकता है, ऐसा अर्थ देखा जाता है।

(१४६) श्लोकार्थ—जो महान आनन्द से भी अधिक आनन्दरूप ऐसा महान आनन्द आनन्दस्वरूप जगत् में प्रसिद्ध है, शाश्वतमय है, वह अनिशयरूप में निर्मल गुणों से सहित सिद्धात्माओं में निश्चितरूप से निवास करता है, किन्तु ये विद्वान लोग भी जो कामदेव के तीक्ष्ण शस्त्रों से घायल हैं, ऐसे इस परमतत्त्व की वाञ्छा कैसे करते हैं ? अहो ! बड़ा आश्चर्य है, कि वे जड़ बुद्धि जीव पाप से तण्ड हो रहे हैं।

भावार्थ—जो परमतत्त्व मुक्त जीवों के पास है, संसारी प्राणी सम्पूर्ण विभाव विकल्पों से रहित उन्हीं सिद्धों में तन्मय-एक रूप होकर उसे प्राप्त कर सकते हैं किन्तु जो विषय वासना में लिप्त हैं उनके लिये चाहने पर भी वह तन्व दुर्लभ है, नहीं मिलता है। इन्द्रिय और अतोन्द्रिय सुख एक साथ असंभव है। विषय सुख भी मिथ्या और परमार्थ सुख भी ऐसा कभी किसीने न देखा है और न सुना ही है। साधुजनों जब पूर्ण ब्रह्मचर्य के अवलम्बन से अंतः शुद्ध करते हैं उन्हें अंशात्मक आत्मा का आनन्द आता है, वह आनन्द भोगी गृहस्थी को स्वप्न में भी दुर्लभ है।

(१४७) श्लोकार्थ—जो सम्यक्चारित्र संयमियों में प्रगटरूप है शुद्ध में भी शुद्ध अत्यन्त शुद्ध है, और दुष्ट पाप कर्मरूपी वृक्षों से सघन ऐसे वन को जलाने

(मालिनी)

जयति सहजतत्त्वं तत्त्वनिष्णातबुद्धेः
हृदयसरसिजाताभ्यन्तरे संस्थितं यत् ।
तदपि सहजतेजः प्रास्तमोहान्धकारं
स्वरसविसरभास्वद्वबोधविस्फूर्तिमात्रम् ॥१४८॥

(पृथ्वी)

अखण्डितमनारतं सकलदोषदूरं परं
भवांबुनिधिमग्नजीवततियानपात्रोपमम् ।
अथ प्रबलदुर्गवर्गदधल्लिकीलालकं
नमामि सततं पुनः सहजमेव तत्त्वं मुदा ॥१४९॥

लिए अग्नि के सदृश है वह चारित्र्य प्रत्याख्यान से ही होता है, अतः हे भव्योत्तम !
तुम शीघ्र ही अपनी बुद्धि में उम तत्त्व की नितप्रति धारण करो । जो कि कैसा है ?
सहजमुख को देने वाला ऐसा मुनियों के शील-चारित्र्य का मूल है ।

भावार्थ — प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग, इसके बिना सम्यक्चारित्र्य ही असम्भव है
अतएव यह त्याग ही मुनियों के सम्पूर्ण चारित्र्य वृक्ष की जड़ स्वरूप है ।
ऐसा समझना ।

(१४८) श्लोकार्थ — सहजतत्त्व जयशील हो रहा है जो कि तत्त्व में निष्णात
बुद्धि वाले ऐसे महामुनि के हृदयकमल के मध्य में विराजमान है । अस्त कर दिया है
मोहरूपी अंधकार को जिसने ऐसा वह सहज तेज (स्वाभाविक ज्योति) अपने रस-
अनुभव के विस्तार में देदीप्यमान ज्ञान का स्फुरण मात्र-प्रकाश मात्र है ।

(१४९) श्लोकार्थ — जो अखण्डित-अखण्ड एक, अनारत-अविच्छिन्न, सकल
दोषों से दूर, उत्कृष्ट, संसार समुद्र में डूबे हुए जीव समूह के लिये जहाज स्वरूप,
प्रबल दुर्ग-संकट समूहरूपी दावानल को बुझाने के लिये जल के सदृश है, ऐसे उस
सहज तत्त्व को ही मैं हर्ष से पुनरपि सतत नमस्कार करता हूँ ।

(पृथ्वी)

जिनप्रभुमुखारविन्दविदितं स्वरूपस्थितं
 मुनीश्वरमनोगृहान्तरसुरत्नदीपप्रभम् ।
 नमस्यमिह योगिभिर्विजितदृष्टिमोहादिभिः
 नमामि सुखमन्दिरं सहजतत्त्वमुच्चैरदः ॥१५०॥

(पृथ्वी)

प्रनष्टदुहितोत्कण्ठं प्रहृतपुण्यकर्मसृजं
 प्रधूतमदनादिकं प्रबलबोधसौघालयम् ।
 प्रणामकृततत्त्ववित् प्रकरणप्रणाशात्मकं
 प्रवृद्धगुणमन्दिरं प्रहृतमोहरात्रि नुमः ॥१५१॥

(१५०) श्लोकार्थ—जो जिनप्रभु के मुखकमल से विश्रुत है, स्वरूप में स्थित है—अपने आपमें ही विराजमान है, मुनीश्वरों के मनरूपी महल के भीतर रखे हुए सुन्दर रत्नदीप के समान है, दर्शनमोह को जीतने वाले योगियों के द्वारा इस जगत में नमस्कार करने योग्य है ऐसे मुख के मन्दिर उस सहजतत्त्व को मैं अतिशयरूप से नमस्कार करता हूँ ।

(१५१) श्लोकार्थ—जिसने प्रकर्षरूप से पापसमूह को नष्ट कर दिया है, जिसने पुण्य कर्म के समूह को भी प्रकर्षरूप से मार दिया है, जिसने कामदेव आदि को प्रकर्षरूप से समाप्त कर दिया है, जो प्रबल—अर्थात् प्रकृष्ट बलशाली ज्ञान—केवलज्ञान का निवास गृह है, जिसको तत्त्ववेत्ता प्रणाम करते हैं, जो प्रकृष्टरूप से करण—इन्द्रियों का नाश करने वाला है अथवा जो प्रकरण करने योग्य कार्य के नाश स्वरूप—कृतकृत्य है, जो प्रकृष्ट रूप से वृद्धिगत गुणों के रहने के लिये स्थान स्वरूप है और जिसने प्रकर्ष रूप से मोहरात्रि को नष्ट कर दिया है ऐसे उस सहज परमतत्त्व को हम नमस्कार करते हैं ।

भावार्थ—यहां काव्य के प्रकाण्ड विद्वान पद्मप्रभमलधारी मुनिराज ने प्रत्येक पद के प्रारम्भ में 'प्र' शब्द का प्रयोग किया है जो कि आठ बार आया है जिससे शब्द में ही नहीं बल्कि अर्थ में भी लालित्य आ गया है ।

विशेषार्थ—साधु देववन्दना, गुरुवन्दना करके शरीर की शुद्धि करके आहार के लिए जाते हैं। श्रावक के द्वारा पड़गाहन होने पर वे उनके घर में प्रवेश करते हैं, पश्चात् नवधाभक्ति होने के बाद वे सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान की निष्ठापना करते हैं और चतुरंगुल पाद के अंतराल से खड़े होकर आहार करते हैं। यथा—'सभी प्रतिज्ञा पूर्ण हो चुकने पर सिद्ध भक्तिपूर्वक पूर्व दिन के ग्रहण किये हुए प्रत्याख्यान का त्याग करके.....खड़े होकर आहार करते हैं अर्थात् कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि गुरु के पास से प्रत्याख्यान त्याग करके आहारार्थ जावे सो गलत है क्योंकि मार्ग में प्रत्याख्यान बिना रहना उचित नहीं है, इसी बात को यहां स्पष्ट किया है। जैसे वहां प्रत्याख्यान का निष्ठापन कर आहार ग्रहण करें वैसे ही वहीं पर शीघ्र ही भोजन के अनन्तर लघु सिद्धभक्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण कर लें, पुनः आकर गुरु के पास लघु सिद्धयोगि भक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान लें। यदि वहां ग्रहण नहीं करे और मार्ग में जाते हुए अकस्मात् किसी कारण से मरण हो जावे तो 'अप्रत्याख्यान हो जावेगा।

यहां इस अधिकार में व्यवहार प्रत्याख्यान करने वाले ऐसे महामुनियों के निश्चय प्रत्याख्यान का वर्णन है और यह निश्चय रत्नत्रय में ही घटित होता है। व्यवहार प्रत्याख्यान जिनके है उनके निश्चय है और नहीं भी है, किन्तु जिनके निश्चय प्रत्याख्यान है उनके व्यवहार प्रत्याख्यान अवश्य हो चुका है, क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चय नहीं हो सकता है। इस अधिकार को पढ़कर नित्य ही निश्चय प्रत्याख्यानरूप शुद्ध आत्मा की भावना करनी चाहिये।

१. वर्यां पूर्णप्रतिज्ञोऽथ सिद्ध भक्ति विधाय तत् ।

प्रत्याख्यानं विनिष्ठाप्य प्रेरितो भक्तदातृभिः ॥११६॥ [आचारसार पृ. १३४]

हेयं त्याज्यं साधुनः निष्ठाप्यमित्यर्थः किं तत् ? प्रत्याख्यानादिक मुपोषित वा ।

क्व ? अशनादी भोजनारंभे । कया सिद्ध भक्त्या । सिद्ध भक्त्या प्रतिष्ठाप्यं साधुनाः.....

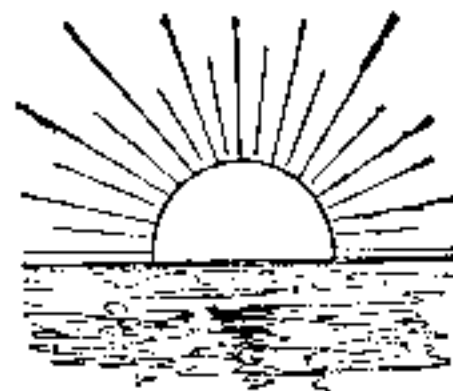
[अनंगार धर्ममृत पृ. ६४६]

२. प्रत्याख्यानं विना देवात् क्षीणायुः स्याद्विराधकः ।

तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थं पृथु चंडवत् ॥३०॥ [अतः धर्ममृत पृ. ६४०]

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिवेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्ती निश्चयप्रत्याख्यानधिकारः एकः श्रुतस्कन्धः ॥

इसप्रकार से सुकवि समूहरूपी कमल के लिये सूर्य के समान, पंचेन्द्रियों के व्यापार से रहित, गात्र मात्र परिग्रहधारी—परम निर्ग्रन्थ तपोधन श्री पद्मप्रभमलधारी देव विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार नामका छठा श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ ।



[७]

परम-आलोचना अधिकार

आलोचनाधिकार उच्यते—

णोकस्मकस्मरहियं, विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।

अप्पाणं जो ज्ञायदि, समणस्सालोचणं होदि ॥१०७॥

नोकर्मकर्मरहितं विभावगुणपर्ययैर्यतिरिक्तम् ।

आत्मानं यो ध्यावति श्रमणस्यालोचना भवति ॥१०७॥

अग्निगीच्छंद

कर्म नोकार्ग से हीन जो शुद्ध है ।

गुण व पर्याय वैभाव से रिक्त है ॥

जो उभी आत्मा को सदा ध्यावते ।

वे श्रमण ही तो आलोचना पावते ॥१०७॥

अब आलोचना अधिकार को कहते हैं—

गाथा १०७

अन्वयार्थ—[नोकर्मकर्मरहितं] नोकर्म और द्रव्यकर्म से रहित [विभाव-
गुणपर्ययैः व्यतिरिक्तं] विभावगुण पर्यायों से रहित [आत्मानं] आत्मा का [यः
ध्यावति] जो ध्यान करता है [तस्य] उस [श्रमणस्य] श्रमण के [आलोचना भवति]
आलोचना होती है ।

निश्चयालोचनास्वरूपाख्यानमेतत् । औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकर्मणानि शरीराणि हि नोर्कमाणि ज्ञानदर्शनावरणांतराय मोहनोयवेदनीयायुर्नामगोत्राभिधानानि हि द्रव्यकर्मणि । कर्मोपाधिनिरपेक्षसत्ताग्राहकशुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनयापेक्षया हि एभिर्नोर्कर्मभिर्द्रव्यकर्मभिश्च निर्मुक्तम् । मतिज्ञानादयो विभावगुणा नरनारकाविव्यंजनपर्यायाश्चैव विभावपर्यायाः । सहभुवो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाश्च, एभिः समस्तः व्यतिरिक्तः, स्वभावगुणपर्यायैः संयुक्तः त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरमात्मानं त्रिगुप्तिगुप्त-परमसमाधिना यः परमश्रमणो नित्यमनुष्ठानसमये वचनरचनाप्रपञ्चपराङ्मुखः सन् ध्यायति, तस्य भावश्रमणस्य सततं निश्चयालोचना भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीमच्छ्रुतचन्द्रसूरिभिः -

(आर्या)

“मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना यत्ते ॥”

टीका—यह निश्चय आलोचना के स्वरूप का कथन है ।

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कर्मण ये पाँचों शरीर ही नोर्कर्म हैं, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र नाम वाले ये आठ द्रव्य कर्म हैं । कर्मों की उपाधि से निरपेक्ष सत्तामात्र ग्राहक जो शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिकनय है उसकी अपेक्षा से जीव इन नोर्कर्म और द्रव्यकर्मों से निर्मुक्त है । मतिज्ञान आदि विभावगुण हैं और नर नारकादि व्यंजन पर्यायों विभाव पर्यायों हैं, क्योंकि सहभावी गुण होते हैं और क्रमभावी पर्यायों होती हैं, इन समस्त विभावगुण-पर्यायों से रहित तथा स्वभाव गुण और स्वभाव पर्यायों में सहित, त्रिकाल निरावरण निरंजनरूप ऐसी परमात्मा का जो परमश्रमण—महामुनि नित्य ही अनुष्ठान के समय में वचन रचना के प्रपञ्च से पराङ्मुख होते हुए ध्यान करते हैं, उन भावश्रमण के सतत निश्चय आलोचना होती है ।

उसीप्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—‘मोह के विलास से विस्तार को प्राप्त और उदय में आता हुआ’

उक्तं चोपासकाध्ययने—

(आर्या)

“आलोच्य सर्वमेतः कृतकारितमनुमतं च निव्यजिम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्यापि निःशेषम् ॥”

तथा हि—

आलोच्य आलोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं
शुद्धात्मानं निरुपधिगुणं चात्मनैवावलम्बे ।

जो यह सकल कर्म है उसकी आलोचना करके कर्मों से शून्य और चैतन्य स्वरूप ऐसी अपनी आत्मा में मैं नित्य ही अपनी आत्मा के द्वारा ‘निवास करता हूँ’ ।

भावार्थ—भूतकालीन दोषों के त्याग को प्रतिक्रमण, भविष्यकालीन दोषों के त्याग को प्रत्याख्यान और वर्तमानकालीन दोषों के त्याग को आलोचना कहते हैं तथा संपूर्ण दोषों की उत्पत्ति का मूलकारण द्रव्यकर्म है इसलिये यहां उन्हीं उदय में आते हुए द्रव्यकर्मों की आलोचना की गई है ।

‘उपासकाध्ययन में भी कहा है—

श्लोकार्थ—“कृत, कारित, अनुमोदना से हुये ऐसे सम्पूर्ण पापों की निष्कपट-
वृत्ति से आलोचना करके मरणकालपर्यंत संपूर्ण महाव्रतों को आरोपित करें-ग्रहण करें ।”

भावार्थ—जब कोई भी श्रावक सत्लेखना हेतु गुरु के पास जाता है तब वह संपूर्ण दोषों की आलोचना करके शेष जीवन तक के लिये गुरुदेव से महाव्रत लेकर मुनि हो जाता है ।

उसीप्रकार से [श्री टीकाकार मुनिराज आलोचना का फल बतलाते हुए
श्लोक कहते हैं—]

(१५२) श्लोकार्थ—घोर संसार के लिये मूल ऐसे सुकृत और दुःकृत की
नित्य ही बार-बार आलोचना करके उपाधि रहित गुणों से युक्त ऐसी अपनी शुद्ध आत्मा

पश्चादुच्चैः प्रकृतिमखिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां
नोत्वा नाशं सहजविलसद्बोधलक्ष्मीं व्रजामि ॥१५२॥

आलोचनमालुंछण, वियडीकरणं च भावशुद्धी य ।
चउविहमिह परिकहियं, आलोचनलक्षणं समये ॥१०८॥

आलोचनमालुंछनमविकृतिकरणं च भावशुद्धिश्च ।
चतुर्विधमिह परिकथितं आलोचनलक्षणं समये ॥१०८॥

का अपनी आत्मा के द्वारा ही मैं अवलम्बन लेता हूँ । अनन्तर द्रव्यकर्म स्वरूप समस्त प्रकृतियों को अत्यन्तरूप से नाश करके सहज विलासरूप ऐसी बोध-केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त करता हूँ ।

भावार्थ—जो पुण्य-पाप इन दोनों की आलोचना हो रही है वह अवश्य शुद्धोपयोगी परमवीतरागी मुनियों की होती है कि जहां पर—दशवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का जड़मूल से नाशकर पुनः जीव ही बारहवें गुणस्थान के अन्त में शेष धातिक कर्मों का नाश कर देते हैं और तत्क्षण ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं । छठे गुणस्थान तक मुनियों के केवल पापकर्मों की आलोचना होती है पुण्य की नहीं । तथा यह जो पुण्य को भी घोर संसार का मूल कहा है वह सामान्य कथन है किन्तु विशेष कथन में सम्यक्त्व सहित पुण्य पंचपरा से मोक्ष का कारण है और सम्यक्त्व रहित पुण्य कदाचित् सम्यक्त्व आदि में कारण है । कदाचित् वापस सुख भोग के अनन्तर पाप निवृत्ति कराकर संसार में भ्रमात्मा ही रहता है । अतः सर्वथा एकांत नहीं समझें क्योंकि “पुण्यफला अरिहंता” ऐसा श्री कुंदकुंद देव का ही कथन है ।

गाथा १०८

अन्वयार्थ—[आलोचनं] आलोचना [आलुञ्छनं] आलुंछन [अविकृति-
करणं] अविकृतिकरण [च] और [भावशुद्धिः च] भावशुद्धि ये [चतुर्विध-
मिह] चतुर्विध ही परिकथित हैं ।

१. प्रवचनसार गाथा-४५, अधिकार-१ ।

नाम आलोचना और आलुंछना ।

और अविष्कृतिकरण भावशुद्धी भरण ॥

ये चतुर्विध कहे श्रेष्ठ जिनशास्त्र में ।

सर्व आलोचना के ही लक्षण हैं ये ॥१०८॥

आलोचनालक्षणभेदकथनमेतत् । भगवदहंमुखारविन्वविनिर्गतसकलजनता-
मृतिसुभगसुन्दरानन्दनिष्यन्दनक्षरात्मकदिव्यध्वनिपरिज्ञानकुशलचतुर्थज्ञानधरगौतममह -
विमुखकमलविनिर्गतचतुरसंदर्भगर्भोक्तैराद्धांतादिसमस्तशास्त्रार्थसार्थसारसर्वस्वीभूतशुद्ध -
निश्चयपरमालोचनायाश्चस्वारो विकल्पा भवन्ति । ते वक्ष्यमाणसूत्रचतुष्टये निगद्यन्त
इति ।

(इन्द्रवज्रा)

आलोचनाभेदममुं विदित्वा

मुक्त्यंगनासंगमहेतुभूतम् ।

स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः

तस्मै नमः स्वात्मनि निष्ठिताय ॥१५३॥

आलोचनलक्षणं] चार प्रकार आलोचना का लक्षण [इह समये] यहां आगम में
[परिकथितं] कहा है ।

टीका—आलोचना के स्वरूप के भेदों का यह कथन है ।

भगवान् अर्हतदेव के मुखकमल से निकली हुई, संपूर्ण जनता के कर्ण के लिये
मनोहर और सुन्दर आनन्द को झराने वाली ऐसी जो अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि है उसके
जानने में कुशल चतुर्थ—मनःपर्यय ज्ञानधारी श्री गौतमगणधर महर्षि के मुख सरोज से
निकले हुये चतुर वचनों की रचना से गर्भित ऐसे जो सिद्धांत आदि सकल शास्त्र हैं
उन शास्त्रों के अर्थ समुदाय के सार में भी सर्वस्वरूप यह शुद्ध निश्चय परम आलोचना
है उसके चार भेद होते हैं । वे चारों भेद आगे कही गई गाथाओं से कहे जाते हैं ।

[टीकाकार श्री मुनिराज आलोचना से परिणत मुनि श्रद्धावनत नमस्कार
करते हुए तथा निश्चय आलोचना में अपनी प्रगाढ़ रुचि प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—]

(१५३) श्लोकार्थ—मुक्ति सुन्दरी के संगम के कारणभूत ऐसे इन आलोचना
के भेदों को जानकर भव्य जीव निश्चितरूप से अपनी आत्मा में ही स्थिति को प्राप्त

जो पस्सदि दप्पाणं, समभावे संठवित्तु परिणामं ।
आलोयणमिवि जाणह, परमजिणंदस्स उवएसं ॥१०६॥

यः पश्यत्यात्मनः समभावे संस्थाप्य परिणामम् ।
आलोचनमिति जानोहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ॥१०६॥

जो स्वपरिणाम को साम्य में थापके ।
स्वात्म में शुद्ध आत्मा को अवलोकने ॥
उन मुनि के हि आलोचना जानिये ।
ये हि उपदेश अर्हत का मानिये ॥१०६॥

इहालोचनास्वीकारमात्रेण परमसमताभावनोक्ता । यः सहजवैराग्यसुधासिधु-
नार्थडिंडीरपिंडपरिपांडुरमंडनमंडलीप्रवृद्धिहेतुभूतराकानिशोथिनीनाथः सदान्तमुखाकार-

होते हैं । उन अपनी आत्मा में निष्ठित-विराजमान साधु को मेरा नमस्कार होवे ।

भावार्थ—इससे मुनिराज की साधुओं के गुणों में अनुरागरूप विशेष भक्ति प्रगट हो रही है क्योंकि जो जिस गुण का इच्छुक होता है वह उस गुण से युक्त की उपासना अवश्य करता है ।

गाथा १०६

अन्वयार्थ—[यः] जो [समभावे परिणामं संस्थाप्य] समताभाव में अपने परिणाम को संस्थापित करके [आत्मानं पश्यति] अपनी आत्मा का अवलोकन करता है [आलोचनं] वह आलोचना है [इति] ऐसे [परमजिनेन्द्रस्य उपदेशं] परमजिनेन्द्र के उपदेश को [जानीहि] तुम जानो ।

टीका—यहां पर आलोचना के स्वीकार मात्र में परमसमताभावना को कहा है ।

जो सहज वैराग्यरूपी अमृतसमुद्र के फेन समूह की शोभामंडली को प्रकर्षरूप से बढ़ाने के लिये पूर्णिमा की अर्धरात्रि के पूर्णचन्द्र हैं अर्थात् स्वाभाविक वैराग्य की उज्ज्वलता को द्विगुणित किये हुये हैं ऐसे महामुनि सदा अंतर्मुखाकार-अभ्यन्तर में

अस्यपूर्वं निरंजननिजबोधनिलयं कारणपरमात्मानं निरवशेषेणान्तर्मुखस्वस्वभावनिरत-
सहजावलोकनेन निरन्तरं पश्यति । किं कृत्वा ? पूर्वं निजपरिणामं समतावलंबनं कृत्वा
परमसंयमीभूत्वा तिष्ठति । तदेवालोचनास्वरूपमिति हे शिष्य त्वं जानीहि
परमजिननाथस्योपदेशात् इत्यालोचनाविकल्पेषु प्रथमविकल्पोऽयमिति ।

(सन्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयं चात्मना पश्यतीत्यं
यो मुक्तिश्चोविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति ।
सोऽयं वन्द्यः सुरेशर्यमधरततिभिः खेचरेभूचरैर्वा
तं वन्दे सर्ववन्द्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम् ॥१५४॥

उपयोग सहित, अनिशय, अपूर्वं निरंजन निजज्ञान के निवासगृहरूप ऐसे कारण परमात्मा
को निरवशेषरूप अंतर्मुख से अपने स्वभाव में लीन सहज अवलोकन-दर्शन के द्वारा
निरन्तर देखते हैं । क्या करके ? पूर्व में अपने परिणाम को समता में अवलंबित करके
परमसंयमी होकर स्थित होते हैं, वही—आत्मावलोकन आलोचना का स्वरूप है ऐसा
हे शिष्य ! तुम परम जिननाथ के उपदेश से जानो । इसप्रकार से आलोचना के भेदों
में यह पहला भेद है ।

[अब टीकाकार मुनिराज आलोचना के गुणों का वर्णन करते हुए छह
श्लोक कहते हैं—]

(१५४) श्लोकार्थ—इसप्रकार से जो आत्मा अपनी आत्मा में अपनी आत्मा
के द्वारा ही अविचलस्थानरूप ऐसी आत्मा को देखता है वह अनङ्गसुखमय (अतीन्द्रिय-
सुखमय) मुक्ति लक्ष्मी के विलास को अल्पसमय में प्राप्त कर लेता है सो यह आत्मा
सुरेन्द्रों से, संयमधारी मुनियों के समूह से, विद्याधरों से, भूमिगोचरियों से वन्द्य है ऐसे
सभी से वन्द्य संपूर्ण गुणों के निधान उस आत्मा की मैं उन गुणों की अपेक्षा होने से
वन्दना करता हूँ ।

भावार्थ—अपनी आत्मा में अपने द्वारा ही षट्कारकी लगाने से जो साधु
अपने आप में ही स्थिर हो जाता है वह लोक में सभी के द्वारा वन्दनीय हो जाता है

(मंदाक्रांता)

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां चित्तपङ्केजमध्ये
 ज्ञानज्योतिःप्रहृतदुरितध्वान्तपुञ्जः पुराणः ।
 सोऽतिक्रान्तो भवति भविनां बाङ्मनोमार्गमस्मि-
 न्नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ॥१५५॥

एवमनेन पद्येन व्यवहारालोचनाप्रपञ्चमुपहसति किल परमजिनयोगीश्वरः ।

तथा मोक्षसुख को भी प्राप्त कर लेता है । इसलिये श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने यहां पर उन निश्चयस्त्वनवग्र से परिणत आत्मा को नमस्कार किया है ।

(१५५) श्लोकार्थ—परमसंयमियों के हृदय सरोज के मध्य में यह आत्मा स्पष्ट है जो कि ज्ञानज्योति से पापरूपी अंधकार के पुंज को नष्ट कर चुका है तथा पुराण—प्राचीन है । वह आत्मा संसारी जीवों के वचन और मन के अगोचर है ऐसे इस आरातीय—प्राचीन परमपुरुष में क्या तो विधि है और क्या निषेध है ?

भावार्थ—परमोपेक्षासंयमी योगी वीतराग निर्विकल्प ध्यान में जिस आत्मा का ध्यान करते हैं वह संसारी जीवों द्वारा न तो वचन से कही जा सकती है और न वे उसका अनुभव ही कर सकते हैं । वास्तव में ऐसी महान् अवस्था को प्राप्त करते हुए महापुरुषों के लिये क्या ग्रहण करना शेष है और क्या छोड़ना शेष रहा है ? अर्थात् ग्रहण करने और छोड़ने के विकल्पों से दूर वे विकल्पातीत अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं । हां, इतना अवश्य है कि प्रारम्भिक अवस्था में उन्होंने परिग्रहादि को विभाव भावों को भी छोड़ा है और महाव्रतादिरूप व्यवहार चारित्र्य को ग्रहण किया ही है अन्यथा यह अवस्था प्राप्त होना असंभव थी ।

इसप्रकार से परम जिनयोगीश्वर इस पद्य के द्वारा व्यवहार आलोचना के विस्तार का उपहास कर रहे हैं ।

(पृथ्वी)

जयत्यनघचिन्मयं सहजतत्त्वमुच्चैरिदं
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम् ।
नयानयनिकायदूरमपि योगिनां गोचरं
सदा शिवमयं परं परमदूरमज्ञानिनाम् ॥१५६॥

(मंदाक्रांता)

शुद्धात्मानं निजसुखसुधावाधिमज्जन्तमेनं
बुद्ध्वा भव्यः परमगुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति ।
तस्मादुच्चैरहमपि सदा भावयाम्यत्यपूर्वं
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम् ॥१५७॥

(वसंतनिलका)

निर्मुक्तसंगनिकरं परमात्मतत्त्वं
निर्मोहरूपमनघं परभावमुक्तम् ।
संभावयाम्यहमिदं प्रणमामि नित्यं
निर्वाणयोषिदतद्बुद्धवसंसदाय ॥१५८॥

(१५६) श्लोकार्थ—निर्दोष चैतन्यमय यह सहजतत्त्व अतिशयरूप से जय-शील हो रहा है जो कि सकल इन्द्रियसमूह से उत्पन्न हुए कोलाहल से रहित है । नय और कुनय के समूहों से दूर होते हुए भी योगियों के गोचर है । सदा शिवमय है, अदृष्ट है और जो अज्ञानियों के लिये बहुत ही दूर है ।

(१५७) श्लोकार्थ—जो शुद्धात्मा अपने मुखरूपी अमृत के समुद्र में डुबकी लगा रही है ऐसी इस आत्मा को भव्यजीव परमगुरु के प्रसाद से जानकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं । इसलिये मैं भी अतिअपूर्व उस आत्मा की अतिशयरूप से सदा भावना करता हूं जो कि सिद्धि से उत्पन्न हुए सुखरूप शुद्ध है, भेद के अभाव में कोई एक अद्भुत है सहज-स्वभावरूप है ।

(१५८) श्लोकार्थ—संपूर्ण परिग्रह से रहित, निर्मोहरूप, निर्दोष, परभावों से मुक्त ऐसे इस परमात्मतत्त्व को मैं निर्वाणमुन्दरी से उत्पन्न होने वाले अनंगसुख के लिये नित्य ही सम्यक्प्रकार से अनुभव करता हूं और नमस्कार करता हूं ।

(वसंततिलका)

त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावाभिन्नं
चिन्मात्रमेकममलं परिभावयामि ।
संसारसागरसमुत्तरणाय नित्यं
निर्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम् ॥१५६॥

कर्ममहीरुहमूलच्छेदसमर्थो सकीयपरिणामो ।
साहीणो समभावो, आलुंछनमिदि समुद्दिष्टं ॥११०॥

कर्ममहीरुहमूलच्छेदसमर्थः स्वकीयपरिणामः ।
स्वाधीनः समभावः आलुञ्छनमिति समुद्दिष्टम् ॥११०॥

कर्म मरुमूल को छेदने में यही ।
शुद्ध निष्ठा का जो परिणाम समर्थ वही ॥
वही है परिणाम स्वाधीन समभावभव ।
उसको कहते हैं आलुंछना जित अभय ॥११०॥

परमभावस्वरूपाख्यानमेतत् । भव्यस्य पारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभावः । औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावानामगोचरः स पंचमभावः । अत एवोदयोदीरण

(१५६) श्लोकार्थ—अपने भाव से भिन्न ऐसे सकल विभाव को छोड़कर निर्दोष एक चिन्मात्र की भावना करता है । संसार सागर से पार होने के लिये जो रूप में कथित ऐसे मोक्ष मार्ग को भी मैं नित्य ही नमस्कार करता हूँ ।

गाथा ११०

अन्वयार्थ—[कर्ममहीरुहमूलच्छेदसमर्थः] जो कर्मरुपी वृक्ष को जड़ को छेदने में समर्थ है [स्वाधीनः] अपने आधीन है और [समभावः] समभावरूप है ऐसा [स्वकीय परिणामः] अपनी आत्मा का परिणाम है वह [आलुंछनं] आलुंछन [इति निदिष्टं] ऐसा कहा है ।

टीका—परमभाव के स्वरूप का यह कथन है ।

भव्य जीव का पारिणामिक भावस्वभाव से जो परमस्वभाव है वह पंचम औदयिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिक इन चार विभावस्वभावों के अग्रे

क्षयोपशमविविधविकारविवर्जितः । अतः कारणादस्यैकस्य परमत्वम् इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरमत्वम् । निखिलकर्मविषवृक्षमूलनिर्मूलनसमर्थः त्रिकालनिरावरणनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानप्रतिपक्षतीव्रमिथ्यात्वकर्मोदयबलेन कुट्टष्टेरयं परमभावः सदा निश्चयतो विद्यमानोप्यविद्यमान एव । नित्यनिगोदक्षेत्रज्ञानामपि शुद्धनिश्चयनयेन स परमभावः अभव्यत्वपारिणामिक इत्यनेनाभिधानेन न संभवति । यथा मेरोरधोभागस्थितमुवर्णराशेरपि सुवर्णत्वं, अभव्यानामपि तथा परमस्वभावत्वं, वस्तुनिष्ठं न व्यवहारयोग्यम् । सुदृशामत्यासन्नभध्यजीवानां सफलीभूतोऽयं परमभावः सदा निरंजनत्वात्, यतः सकलकर्मविषमविषद्रुमपृथुमूलनिर्मूलनसमर्थत्वात् निश्चयपरमालोचनाविकल्पसंभवालुच्छताभिधानम् अनेन परमपंचमभावेन अत्यासन्नभध्यजीवस्य सिध्यतीति ।

है । इसीलिये वह कर्मों के उदय, उद्धारणा, क्षय, क्षयोपशमरूप विविध विकारों में वर्जित है । उस कारण यह एक भाव ही परमरूप है अन्य चार भाव अपरमरूप हैं । संपूर्ण कर्मरूपी विषवृक्ष के मूल को निर्मूलन करने में समर्थ, त्रिकाल निरावरण निजकारण परमात्मा के स्वरूप का जो श्रद्धान है उससे विपरीत जो मिथ्यात्व कर्म है उसके नीचे उदय के निमित्त में मिथ्यादृष्टि जीव के यह परमभाव निश्चयनय में सदा विद्यमान होने हुए भी अविद्यमान ही है । नित्यनिगोद क्षेत्र के जीवों में भी शुद्ध-निश्चयनय से वह परमभाव 'अभव्यत्वपारिणामिक' इस नाम से संभव नहीं है । जैसे मेरु के नीचे भाग में रहने वाली सुवर्णराशि को भी सुवर्णपना है उसीप्रकार से अभव्यों के भी परमस्वभावपना है किन्तु वह वस्तु में स्थित है व्यवहार के योग्य नहीं है ।

सम्यग्दृष्टि जो अत्यासन्न भव्य जीव है उनमें सदा निरंजनरूप होने से वह परमभाव सफलीभूत है क्योंकि वह सकल कर्मरूपी विषम विषवृक्ष की विशाल जड़ को उखाड़ने में समर्थ है ।

उस परमपंचमभाव के द्वारा अत्यासन्न जीव के यह निश्चय परमआलोचना के भेद में होने वाली आलुञ्छन नामकी आलोचना सिद्ध होती है ।

विशेषार्थ—यद्यपि क्षायिकभाव कर्मों के क्षय से होता है और वह सिद्धों में भी क्षायिक सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन आदि से विद्यमान है फिर भी यहां उसे विभाव भाव

(मंदाक्रान्ता)

एको भावः स जयति सदा पंचमः शुद्धशुद्धः
कर्मांशैस्फुटितसहजावस्थया संस्थितो यः ।

मूलं मुक्तेनिखिलयमिनामात्मनिष्ठापराणा
मेकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः ॥१६०॥

में सम्मिलित कर दिया है इसका मूल कारण यही है कि यह भी 'कर्मों के क्षय' इस उपाधि से विवक्षित है । यहां तो शुद्ध निश्चयनय से कर्मों की उपाधि आत्मा में त्रिकाल में भी नहीं है अतः परमपारिणामिकभाव ही विवक्षित है । इस निश्चयनय के अवलंबन से शुद्ध आत्मा में तन्मय होने वाली आत्मा ही कारण परमात्मा कहलाती है ।

दूसरी बात यह है कि यहा नित्यनिगोद जीवों को भी शुद्धनिश्चयनय से परम पारिणामिकभाव वाला कहा है । उसमें अभव्यत्व नामक पारिणामिक हो तो भी उसकी यहां विवक्षा नहीं है, परन्तु ऐसी नय विवक्षा से उन्हें शुद्ध कह देने से भी वे बेचारे शुद्ध नहीं हो सकते, न उनको कुछ आनन्द ही आ सकता है वे बेचारे अत्यन्त-दयनीय दुरवस्था में पड़े हुए हैं । इसलिये शुद्धनिश्चयनय से अपने को शुद्ध समझकर हम लोगों को कृतार्थ नहीं हो जाना चाहिये, प्रत्युत उस शुद्ध अवस्था को प्रगट करने में अतीव पुरुषार्थ शील होना चाहिए ।

[अब टीकाकार मुनिराज पंचमभाव की महिमा बतलाते हुये दो श्लोक कहते हैं—]

(१६०) श्लोकार्थ—जो कर्मदात्रु से रहित प्रगट सहज अवस्था से विद्यमान है आत्मा के स्वरूप में लीन हुए ऐसे सभी संवमियों के लिये मुक्ति का मूल कारण है, एक स्वरूप है, अपने रस-अनुभव के विस्तार से परिपूर्ण भरा हुआ होने से पुण्यरूप अर्थात् पवित्र है और जो पुराण-सनातन है वह शुद्ध में भी शुद्ध परिपूर्ण शुद्ध है ऐसा एक पंचमभाव सदा जयशील हो रहा है ।

(मंदाक्रान्ता)

आसंसारवखिलजनतातीव्रमोहोदयात्सा
मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा ।
ज्ञानज्योतिर्धवलितककुभ्मंडलं शुद्धभावं
मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति ॥१६१॥

कस्मादो अप्पाणं, भिण्णं भावेइ विमलगुणनिलयं ।
मज्झिम्मादण्हं, विषयीकरुं ति विण्णेयं ॥१११॥

कर्मणः आत्मानं भिन्नं भावयति विमलगुणनिलयम् ।
मध्यस्थभावनायामविकृतिकरणमिति विज्ञेयम् ॥१११॥

(१६१) श्लोकार्थ—अनादिकालीन संसार में यह अखिल जनसमूह तीव्रमोह के उदय से मत्त है, नित्य ही काम के वशीभूत है और अपनी आत्मा के कार्य में अत्यधिक मूढ़ है । यह जनसमूह मोह के अभाव में प्रगटित सहजावस्थारूप, ज्ञानज्योति से सर्व दिशाओं को धवलित करने वाले ऐसे शुद्धभाव को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—संसारी जीव अनादिकाल में मोह के उदय से अपने स्वभाव से पराङ्मुख हुये हैं और विषयों में लगे हुए हैं । कहा भी है—

अनादिविद्यादोषोत्थ—चतुःसंज्ञाज्वरानुराः ।

शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः सागाराः विषयोन्मुखाः ॥सागार धर्ममृताः॥

अनादिकालीन अविद्या के दोष से उत्पन्न हुये चार संज्ञारूपी ज्वर से पीड़ित हो रहे हैं ऐसे सागार—गृहस्थ सदैव अपने आत्मज्ञान से विमुख हैं और विषयों में तत्पर हो रहे हैं ऐसी स्थिति में मोह के अभाव से जब ज्ञानज्योति प्रगट होती है तब वही सहज शुद्ध अवस्था का अनुभव कराती है ।

गाथा १११

अन्वयार्थ—[कर्मणः भिन्नं] कर्म से भिन्न और [विमलगुणनिलयं] विमल गुणों का निवासगृहरूप [आत्मानं] आत्मा को [भावयति] जो भाता है [मध्यस्थ

कर्म से भिन्न आत्मा को जो भावते ।
 उसको निर्मल गुणों का निलय जानते ॥
 लीन होते सदा भाव मध्यस्थ में ।
 हो अविकृतिकरण जानिये तब उन्हें ॥१११॥

इह हि शुद्धोपयोगिनो जीवस्य परिणतिविशेषः प्रोक्तः । यः पापाटवौपास
 द्रव्यभावनोकर्मभ्यः सकाशाद् भिन्नमात्मानं सहजगुण [-निलयं माध्यस्थ्यभावन
 भावयति तस्याविकृतिकरण-] अभिधानपरमालोचनायाः स्वरूपमस्त्येवेति ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे-
 रस्तःशुद्धः शमदमगुणाम्भोजिनीराजहंसः ।
 मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयं
 नित्यानंदाद्यनुपमगुणश्चिच्चमत्कारमूर्तिः ॥१६२॥

भावनायां] उस मध्यस्थ-वीतराग भावना में [अविकृतिकरण] अविकृतिकरण
 है [इति विज्ञेयं] ऐसा जानना चाहिये ।

टीका—यहां पर शुद्धोपयोगी जीव की परिणति विशेष को कहा है ।

जो पाप वन को जलाने में अग्नि सदृश हुआ द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म
 के संपर्क से भिन्न तथा सहजगुणों के स्थानस्वरूप ऐसी आत्मा को वीतराग भावना
 भाता है उसके अविकृतिकरण नामकी परमआलोचना का स्वरूप होता ही है ।

[अब टीकाकार मुनिराज शुद्धोपयोग के सन्मुख करने वाली भावना
 भाते हुये नौ श्लोक कहते हैं—]

(१६२) श्लोकार्थ—आत्मा सदैव द्रव्यकर्म और नोकर्म समूह से भिन्न
 अन्तरङ्ग में शुद्ध है, शम दम गुणरूपी कमलिनी का राजहंस है अर्थात् कषायों का

१. कुछ पाठ छूटा हुआ प्रतीत है अतः उसे जोड़कर अर्थ किया है ।

(मंदाकांता)

अक्षयान्तर्गुणमणिगणः शुद्धभारतगुणाब्धौ-

राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांहःकलंकः ।

शुद्धात्मा यः प्रहृतकरणग्रामकोलाहलात्मा

ज्ञानज्योतिःप्रतिहृततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति ॥१६३॥

(वसंततिलका)

संसारघोरसहजाविभिरेव रौद्र-

दुःखादिभिः प्रतिदिनं परितप्यमाने ।

और इन्द्रियों का दमन ये दो गुण प्रमुख हैं ये ही कमलिनी के सदृश हैं इसमें केलि करने वाला यह आत्मा राजहंस के समान है, नित्यानंद आदि अनुपम गुण स्वरूप और चिच्चमत्कार की मूर्तिस्वरूप सो यह आत्मा मोह के अभाव से अन्य संपूर्ण विभावों को नहीं ग्रहण करता है ।

भावार्थ—जिसप्रकार राजहंस कमलों में केलि करता है उसीप्रकार आत्मा रूपी राजहंस वान्तभाव और जितेन्द्रियतारूपी गुणों में रमता है । वीरप्रभु का शासन शमदम शासन कहलाता है ये दो गुण ही संपूर्ण गुणों की शोभा को बढ़ाने वाले हैं इनके बिना अन्य गुण फीके हैं । इन गुणों को प्रमुख करके अनन्तगुण पुंज आत्मा चैतन्यमयी चमत्कारी मूर्ति स्वरूप है । विश्व में अलौकिक चमत्कार को प्रगट करने वाली है ।

(१६३) श्लोकार्थ—जो अक्षय, अन्तर में गुण मणियों के समूहरूप है, जिसने अत्यन्त स्वच्छ ऐसे शुद्धभावरूपी अमृत के समुद्र में अपने पापरूपी कलंक को धो डाला है जिसने इन्द्रिय ग्रामों के कोलाहल को समाप्त कर लिया है तथा जिसने ज्ञानज्योति से अंधकार दशा को प्रकर्षरूप से नष्ट कर दिया है ऐसी शुद्धात्मा अतिशयरूप से प्रकाशमान हो रही है ।

(१६४) श्लोकार्थ—संसार के घोर साहजिक इत्यादि भयंकर दुःखादिकों से प्रतिदिन संतप्त होते हुए इस जगत् में ये मुनिनाथ समता के प्रसाद से शमभावरूप अमृतमयी हिमसमूह प्राप्त कर लेते हैं ।

लोके शमामृतमयोमिह तां हिमानीं
यायादयं मुनिपतिः समताप्रसादात् ॥१६४॥

(वसंततिलका)

मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं
तद्धेतुभूतसुकृतासुकृतप्रणाशात् ।
तस्मादहं सुकृतदुष्कृतकर्मजालं
मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि ॥१६५॥

भावार्थ—संसार में साहजिक, मानसिक, शारीरिक और आगंतुक ऐसे चार प्रकार के दुःख माने गये हैं जो बहुत ही भयंकर हैं । इनसे लोक संतप्त हो रहा है, अभिप्राय यह है कि इस लोक में रहने वाले संसारी प्राणी संतप्त हो रहे हैं ऐसे ही तप्तायमान हुए संसार में समतादेवी की उपाशना के प्रसाद से मुनिराज ही शमभाव रूप वर्ष के समूह को प्राप्त करके शीतलता का अनुभव करते हैं अन्य नहीं 'परमेको मुनिः सुखी' गुणभद्र स्वामी का भी कहना है—इस संसार में एक महामुनि ही सुखी है अर्थात् मुनिराज रागद्वेष को दूर करके परमसमता भाव को धारण कर सकते हैं और उन्हें ही वीतरागता से जो मुख उत्पन्न होता है वह परम शांतिदायी है ।

(१६५) श्लोकार्थ—मुक्तजीव कभी भी विभावभाव के समूह को प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि उनके उस विभाव के कारणभूत ऐसे शुभ और अशुभ संपूर्ण कर्मों का अत्यन्त नाश हो गया है । इसलिए मैं शुभ और अशुभ ऐसे सभी कर्मों को छोड़कर इस एक मुमुक्षु के मार्ग को प्राप्त करता हूँ ।

भावार्थ—यहां पर 'मुमुक्षु' पद से वीतराग महामुनि के मार्ग को प्राप्त करने की बात है क्योंकि वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित साधु ही पुण्य पाप ऐसे सभी कर्मों का संवर करते हैं वे ही मुमुक्षु कहलाते हैं ।

(अनुष्टुभ्)

प्रपद्येऽहं सदाशुद्धमात्मानं बोधविग्रहम् ।
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कंधबंधुराम् ॥१६६॥

(अनुष्टुभ्)

अनादिममसंसाररोगस्यागदमुत्तमम् ।
शुभाशुभविनिमुक्तशुद्धचैतन्यभावना ॥१६७॥

(मालिनी)

अथ विविधविकल्पं पंचसंसारमूलं
शुभमशुभसुकर्मं प्रस्फुटं तद्विदित्वा ।
भवमरणविमुक्तं पंचमुक्तिप्रदं यं
तमहमभिनमामि प्रत्यहं भावयामि ॥१६८॥

(१६६) श्लोकार्थ—पुद्गल रक्षाओं में सुन्दर इस भवमूर्ति-देह को छोड़कर मैं जानशरीरी और सदाकाल से शुद्ध ऐसी आत्मा को प्राप्त करता हूँ ।

भावार्थ—सुन्दर सुन्दर पुद्गल वर्गणाओं में बने हुये इस शरीर को नहीं छोड़ा जा सकता है किन्तु इससे ममता को छोड़कर जानमय शुद्धनिश्चयनय से त्रिकाल शुद्ध ऐसी आत्मा का आश्रय लेने से यह जीव शरीर से बृटकर अशरीरी सिद्ध हो जाता है ।

(१६७) श्लोकार्थ—शुभ-अशुभ भावों से रहित शुद्ध चैतन्य की भावना मेरे अनादि कालीन संसार रोग की उत्तम औषधि है । अर्थात् शुद्धात्मा की भावना से ही संसार के जन्म-मरण रोग का नाश हो सकता है अन्य से नहीं । हाँ ! इस औषधि के निर्माण के लिये जो भेद रत्नत्रय है वह ग्रहण करना ही होगा अन्यथा यह औषधि मिलना असंभव है ।

(१६८) श्लोकार्थ—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव ऐसे पांच प्रकार के संसार का मूल कारण अनेक भेदरूप जो शुभ-अशुभ कर्म हैं इस बात को स्पष्ट रूप से जानकर जन्म और मरण से रहित पंचम गतिरूप मुक्ति को प्रदान करने वाला जो शुद्धात्मा है उसको मैं नमस्कार करता हूँ और प्रतिदिन उसकी भावना करता हूँ ।

(मालिनी)

अथ सुललितवाचां सत्यवाचामपीत्थं
 न विषयमिदमात्मज्योतिराद्यन्तशून्यम् ।
 तदपि गुरुवचोभिः प्राप्य यः शुद्धदृष्टिः
 भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१६६॥

(मालिनी)

जयति सहजतेजःप्रास्तरागान्धकारो
 मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः ।
 विषयसुखरतानां दुर्लभः सर्वदायं
 परमसुखसमुद्रः शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ॥१७०॥

(१६६) श्लोकार्थ—इसप्रकार यह आत्मज्योति आदि और अंत से शून्य है सुललित वचनों के तथा सत्य वचनों के भी गोचर नहीं है फिर भी गुरु वचनों से उसे प्राप्त करके जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है वह परमश्री कामिनी अर्थात् मुक्तिरूपी सुन्दरी का वल्लभ हो जाता है ।

भावार्थ—यह आत्म तत्त्व वचनों से नहीं कहा जा सकता है अनुभव का विषय है फिर भी गुरुओं के वचनों के बिना इसे प्राप्त भी नहीं किया जा सकता है यह अकाट्य नियम है, जितने भी जीव मोक्ष गये हैं उन्होंने गुरुओं के वचनों का अवलम्बन अवश्य लिया है । यहां तक कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति में देशनालब्धि भी एक लब्धि मानी है जो कि गुरु के उपदेशरूप है । निसर्गज सम्यग्दर्शन जिसको हुआ है उसे भी पूर्व में कभी गुरुरूपदेश रूप देशनालब्धि अवश्य प्राप्त हो चुकी है ।

(१७०) श्लोकार्थ—जिसने सहज स्वाभाविक तेज से रागरूपी अंधकार को अत्यन्तरूप से समाप्त कर दिया है, जो मुनिवरों के मन में वास करता है, शुद्ध में भी शुद्ध अर्थात् परिपूर्ण शुद्ध है, विषय सुख में आसक्त हुये जीवों को सदैव दुर्लभ है परम सुख का समुद्र है और जिसने निद्रा को समाप्त कर दिया है ऐसा शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा जयशील हो रहा है ।

मदमाणमायालोहविवर्जितभावो दुः भावशुद्धि रिति ।

परिकल्पितं भव्यानां, लोयालोयपदरितीहि ॥११२॥

मदमानमायालोभविवर्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति ।

परिकल्पितो भव्यानां लोकालोकप्रदर्शभिः ॥११२॥

मान मद छद्म ओ लोभ से गन रहे ।

भाव वो भव्य का भाव शुद्धी रहे ॥

लोक आलोक को जो प्रकट देखते ।

वे कहें निश्चयालोचना से इसे ॥११२॥

भावशुद्ध्यभिधानपरमालोचनास्वरूपप्रतिपादनद्वारेण शुद्धनिश्चयालोचनाधि-
उपसंहारोपन्यासोऽयम् । तीव्रचारित्रमोहोदयबलेन पुर्वेदाभिधाननोकषायविलासो

भावार्थ—शुद्धनिश्चयनय से शुद्धज्ञानमय आत्मा का ध्यान वीतरागी मुनि करते हैं । वास्तव में छोटे गुणस्थानवर्ती मुनि उसकी भावना करते हैं, किन्तु जो विषय सुखों में रत हैं ऐसे गृहस्थों के लिये इस शुद्धात्मा का ध्यान कठिन है । जो हृत् सहित तथा विषयामक्त होकर भी शुद्धात्मा के ध्यान की बात करते हैं वे अनर्गल आप करते हैं । उन्हें पहले पंचपरमेष्ठी के अवलम्बनरूप ध्यान का अभ्यास ही प्रारम्भ करना पड़ेगा और वही उनके लिये शक्य भी है । शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये सर्व विग्रह का त्याग परमावश्यक है ।

गाथा ११२

अन्वयार्थ—[मदमानमायालोभविवर्जितभावः तु] मद—मदन, मान, माया से लोभ से रहित ही [भावशुद्धिः] भावशुद्धि है [इति] ऐसा [लोकालोक प्रदर्शभिः] लोक और अलोक को देखने वाले जिनेन्द्र देव ने [भव्यानां] भव्यों को [परिकल्पितं] कहा है ।

टीका—भावशुद्धि नामक परमआलोचना के स्वरूप प्रतिपादन द्वारा शुद्ध निश्चयालोचना के अधिकार के उपसंहार का यह कथन है ।

मदः, अत्र मदशब्देन मदनः कामपरिणाम इत्यर्थः । चतुरसंदर्भगर्भोक्तवैदर्भकवित्त्वे
आदेयनामकर्मोदये सति सकलजनपूज्यतया, मातृपितृसम्बन्धकुलजातिविशुद्ध्या वा
शतसहस्रकोटिभटाभिधानप्रधानब्रह्मचर्यव्रतोपाजितनिरुपमबलेन च, दानादिशुभकर्मो
पाजितसंपद्बृद्धिविलासेन, अथवा बुद्धितपोवैकुण्ठौषधरसबलाक्षीर्णद्विभिः सप्तभिर्वा
कमनीयकामिनीलोचनानन्देन वपुर्लावण्यरसविसरेण वा आत्माहंकारो मानः । गुप्तपापतो
माया । युक्तस्थले धनव्ययाभावो लोभः; निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजन
निजपरमात्मतत्त्वपरिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभः । एभिश्चतुर्भिर्वा
भावैः परिमुक्तः शुद्धभाव एव भावशुद्धिरिति भव्यप्राणिनां लोकालोकप्रदर्शभिः परम
वीतरागसुखामृतपानपरितृप्तैर्भगवद्भिरर्हद्भिरभिहित इति ।

नीत्र चारित्रमोह के उदय के बल से पुरुषवेद नामक नो कषाय का विलास
मद कहलाता है । यहां पर 'मद' इस शब्द से मदन अर्थात् कामरूप परिणाम को
लिया है । चतुर वचनों की रचना से गर्भित वैदर्भ कवित्व से आदेयनामकर्म का उदय
होने पर सभी जनों से पूज्य होने पर अथवा माता और पिता संबंधी जानि एवं कुल
विशुद्धि से तथा (व्रतों में) प्रधान ब्रह्मचर्य व्रत से उपाजित लाखों कोटिभट समा
उपमा रहित बल के होने से दानादि शुभकर्म से उपाजित संपत्ति के वृद्धि के विलास
से अथवा बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण इन नामवाली सात
ऋद्धियों से अथवा कमनीय कामिनियों के नेत्रों को आनंदित करने वाले ऐसे शरीर के
लावण्य रस के विस्तार से अपने में अहंकार होना मान कहलाता है । गुप्तपाप से माया
होती है । योग्यस्थान में धन का व्यय न करना लोभ कहलाता है तथा निश्चयनय से
समस्त परिग्रह के त्यागस्वरूप निरंजन निजपरमात्मतत्त्व के परिग्रह से अतिरिक्त अन्य
परमाणु मात्र द्रव्य को स्वीकार करना लोभ है । इन चार प्रकार के भावों से रहित
शुद्धभाव ही भावशुद्धि है । इसप्रकार में लोक-अलोक को देखने वाले, परमवीतराग
सुखामृत के पान से परितृप्त भगवान् अर्हंतदेव ने भव्य जीवों के लिये कहा है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज निश्चय आलोचना के प्रति अपनी विशेष शक्ति
व्यक्त करते हुए नव श्लोकों द्वारा उसके महत्व को दिखलाते हैं ।]

(मालिनी)

अथ जिनपतिमार्गालोचनाभेदजालं
परिहृतपरभावो भव्यलोकः समन्तात् ।
तदखिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥१७१॥

(वसंततिलका)

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या
निर्मुक्तमार्गफलदा यमिनामजस्रम् ।
शुद्धात्मतत्त्वनियताचरणानुरूपा
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ॥१७२॥

(१७१) श्लोकार्थ—भव्य जीव जिनेन्द्र देव के शासन में कहे हुए आलोचना के भेदों को संपूर्णरूप से अवलोकित कर तथा अपने स्वरूप को जानकर सब ओर से परभावों को छोड़ देते हैं वे मुक्तिवल्लभा के प्रियवल्लभ हो जाते हैं ।

(१७२) श्लोकार्थ—जो आलोचना सतत शुद्धनयम्बरूप है, संयमीजनों को सदा ही मोक्षमार्ग के फल को देने वाली है, शुद्धात्मनस्त्व में निश्चित आचरणरूप है वह मुझ (पद्मप्रभ) संयत के लिये निश्चितरूप से कामधेनुरूप होवे ।

भावार्थ—यहां टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि यह निश्चय आलोचना मुझे कामधेनु के समान इच्छित फलदायी होवे । जैसे कामधेनु विद्यारूप एक गाय होती है वह जब चाहो तब इच्छानुसार मधुर दूध देती ही रहती है चाहे जितना भी आप ले सकते हैं उसीप्रकार से निश्चयनयरूप आलोचना जब इच्छित मोक्ष फल को भी जब चाहो तब दे देती है तो और किसी लौकिक फल की तो बात ही क्या है ? वे तो मिल ही जाते हैं । अथवा तद्भवमोक्षगामी के लिये यह आलोचना लौकिक फल के सर्वथा अभाव से ही उत्पन्न होती है और अलौकिक फल को ही देने वाली है ।

(गालिनी)

शुद्धं तत्त्वं बुद्धलोकत्रयं पदं
 बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः ।
 तत्सिद्धयर्थं शुद्धशीलं चारित्र्यं
 सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥१७३॥

(स्रग्धरा)

सानन्दं तत्त्वमज्जज्जितमुनिहृदयाम्भोजकिजलकमध्ये
 निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपम् ।
 शुद्धज्ञानप्रदीपप्रहतयमिमनोगेहघोरान्धकारं
 तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ लंघने यानपात्रम् ॥१७४॥

(हरिणी)

अभिनवमिदं पापं यायाः समग्रधियोर्जपि ये
 विदधति परं ब्रूमः किं ते तपस्थित एव हि ।

(१७३) श्लोकार्थ—मुमुक्षुजीव तीन लोक को जानने वाले निर्विकल्प हैं। शुद्धतत्त्व को पुनः पुनः जानकर उसकी सिद्धि के लिये शुद्धशील—चारित्र्य का आचरण करके सिद्धि कांता के स्वामी होते हुए सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं ।

(१७४) श्लोकार्थ—तत्त्व में निमग्न होते हुए ऐसे जिनमुनि के हृदय कमल की केसर में जो आनन्द सहित विद्यमान है, बाधारहित है, विशुद्ध है, कामदेव के वाण की गहन सेना को भस्मसात् करने के लिए दावानल अग्निरूप है और जिसने शुद्धज्ञान रूप दीपक के द्वारा संयमियों के मनोमंदिर के घोर अंधकार को समाप्त कर दिया तथा जो साधुओं से वंदनीय है, संसार सागर को पार करने के लिये जहाज के समान है ऐसे उस तत्त्व को मैं वंदन करता हूँ ।

भावार्थ—यह शुद्धात्मतत्त्व जो तत्त्वज्ञानी मुनिराज हैं उनके हृदय में विराजमान है और उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट हुआ भव्यजीवों को समार के दुर्जों को छुड़ा देता है ।

(१७५) श्लोकार्थ—हम पूछते हैं कि जो परिपूर्ण जानकार होते हुए 'इस नवीन पाप को करो' ऐसा अन्य को कहते हैं क्या वे तपस्वी हैं ? अहो ! आश्चर्य

हृदि विलसितं शुद्धं ज्ञानं च पिंडमनुत्तमं
पवन्निदमहो ज्ञात्वा ज्ञानोऽधिवाप्ति सरागतरम् ॥१७५॥

(हरिणी)

जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्यमनाकुलं
सततसुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समतालयम् ।
परमकल्या साधं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजेः
स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशम् ॥१७६॥

(हरिणी)

सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मलं
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम् ।

की बात है कि हृदय में शोभायमान, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, पिंडमय और सर्वोत्तम उच्च पद को जानकर पुनरपि सरागता को प्राप्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—निर्विकल्प तत्त्व की भावना से परिणत हुये साधु कर्माश्रित के लिये कारणभूत ऐसी क्रियाओं को करने का उपदेश नहीं देते हैं । यदि छोटे गुणस्थान में आकर देते हैं तो वे मरागी कहलाते हैं । यहां टीकाकार आश्चर्यपूर्ण शब्दों में या वेद पूर्ण शब्दों में कहते हैं कि एक बार वीतरागता को प्राप्त करने के बाद पुनरपि मराग अवस्था को क्यों प्राप्त होते हैं । वास्तव में अंतर्मुहूर्त से अधिक निर्विकल्प ध्यान की स्थिति होती नहीं है इसलिये जानते हुये भी मुनिजन छोटे गुणस्थान में आकर संव संरक्षण, पोषण आदि शुभोपयोग में प्रवृत्त होते हैं, किंतु महामुनियों के लिये यह उत्सर्गमार्ग नहीं है ।

(१७६) श्लोकार्थ—तत्त्वों में जो सहजनत्त्व है वह नित्य ही अनाकुल है, सतत सुलभ है, प्रकाशशील है, सम्यग्दृष्टियों के लिये समता का निकेतन है, परमकला से सहित है अपने प्रवृद्धमान गुणों के साथ-साथ वृद्धिगत है, प्रगटित सहज अवस्थारूप है और निरंतर अपनी महिमा में लीन है ऐसा यह तत्त्व जयशील हो रहा है ।

(१७७) श्लोकार्थ—जो सहज परमतत्त्व सात तत्त्वों में निर्मल है, सकल विमलज्ञान-केवलज्ञान का निवासगृह है, आवरण रहित है, शिव-कल्याणरूप है, अति-

विशदविशवं नित्यं बाह्यप्रपञ्चपराङ्मुखं
किमपि मनसा वाचां दूरं मुनेरपि तन्नुमः ॥१७७॥

(द्रुतविलंबित)

जयति शान्तरसामृतवारिधि-
प्रतिदिनोदयचारुहिमद्युतिः
अतुलबोधविवाकरदीधिति-
प्रहृतमोहतमस्समितिर्जिनः ॥१७८॥

(द्रुतविलंबित)

विजितजन्मजरामृतिसंचयः
प्रहृतदारुणरागकदम्बकः ।
अधस्मृतिमिरव्रजभानुमान्
जयति यः परमात्मपदस्थितः ॥१७९॥

स्पष्ट है, नित्य है, बाह्य प्रपञ्चों से पराङ्मुख है तथा कोई एक अद्भुत है, मुनि के मन और वचनों से दूर है ऐसे इस तत्त्व को हम नमस्कार करते हैं ।

भावार्थ—यहां पर इस तत्त्व को मुनि के भी मन तथा वचन से दूर दिया है, अभिप्राय यह है कि शुक्लध्यानरूप बीतराग निर्विकल्प समाधि की अवस्था बीतरागी मुनियों के अनुभव का ही विषय है । इस परमतत्त्व के प्राप्त होते ही केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है । यह अवस्था बारहवें गुणस्थान की है ऐसा समझना ।

(१७८) श्लोकार्थ—शान्त रस रूपी अमृत समुद्र को प्रतिदिन वृद्धिगत हुये ऐसे सुन्दर चन्द्रमारूप तथा अतुलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से मोहध्वांत के लक्षणों को प्रकृष्टरूप से नष्ट करने वाले ऐसे जिनभगवान् जयशील होते हैं ।

(१७९) श्लोकार्थ—जिन्होंने जन्म, जरा और मरण समूह को जीत लिया है, जिन्होंने दारुण राग के समुदाय को प्रकर्षरूप से नष्ट कर दिया है, जो पाप महातिमिर समूह को समाप्त करने के लिये सूर्य हैं जो ऐसे परमात्मपद में स्थित हैं सदा जयवंत हो रहे हैं ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवजितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमल-
परिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमालोचनाधिकारः सप्तमः
तत्त्वः ॥

विशेषार्थ—इस आलोचना के अधिकार में आचार्यदेव ने शुद्धनय के आश्रित
सी निश्चय आलोचना का ही विस्तार से वर्णन किया है। वास्तव में जो साधु
व्यवहार चर्या में पूर्ण निष्णात हैं वे निष्पन्न योगी ही इस निश्चय आलोचना को प्राप्त
कर सकते हैं, फिर भी सामान्य साधुओं को भी इसकी भावना सदैव करते रहना
चाहिए और व्यवहार आलोचना में पूर्णतया निर्दोषता लानी चाहिये। जो श्रावक या
प्रती सम्यग्दृष्टि हैं उनका कर्तव्य है कि इस आलोचना को प्राप्त कराने वाले ऐसे
व्यवहारचारित्र्य में रुचि रखते हुए उसको पूर्ण कराने में कारणभूत ऐसे साधुओं का
समागम करना चाहिये और अपने पद के योग्य क्रियाओं में पूर्ण सावधानी रखते हुए
अपने दोषों की भी आलोचना करते रहना चाहिये।

इसप्रकार से सुकविजनरूपी कमलों के लिये सूर्य के समान पंचेन्द्रिय के
विस्तार से वजित शरीर मात्र परिग्रहधारी ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारीदेव द्वारा विरचित
नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परमआलोचना अधिकाररूप सातवां
तत्त्व पूर्ण हुआ।



[८]

शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त अधिकार

अथाखिलद्रव्यभावनोकर्मसंन्यासहेतुभूतशुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारः कथ्यते ।

व्रतसमिदिसीलसंयमपरिणामो करणनिग्रहो भावो ।

सो हवदि प्रायश्चित्तं, अणवरयं चैव कायव्वो ॥११३॥

व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामः करणनिग्रहो भावः ।

स भवति प्रायश्चित्तम् अनवरतं चैव कर्तव्यः ॥११३॥

नरेन्द्रछंद

व्रत समिती श्री शील सुमंयम के परिणाम अमल जो ।

पांचों इन्द्रिय के निग्रह के भाव विराग विमल जो ॥

वो ही प्रायश्चित्त कहाते करें दोष का द्योघन ।

ऐसा प्रायश्चित्त नित करिये जो हो कर्म विमोचन ॥११३॥

अब अखिल द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के सम्यक्प्रकार से त्याग में कारणभूत ऐसे शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त के अधिकार को कहते हैं—

गाथा ११३

अन्वयार्थ—[व्रत समिति शील संयम परिणामः] व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम तथा [करण निग्रहः भावः] इन्द्रियों के निग्रह रूप भाव, [सः प्रायश्चित्तः भवति] वह प्रायश्चित्त होता है, [अनवरतं च एव कर्तव्यः] तथा उसे हमेशा ही करना चाहिये ।

निश्चयप्रायश्चित्तस्वरूपाख्यानमेतत् । पंचमहाव्रतपंचसमितिशीलसकलेन्द्रिय
मनाकायसंयमपरिणामः पंचेन्द्रियनिरोधश्च स खलु परिणतिविशेषः, प्रायः प्राचुर्येण
निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम्, अनवरतं चान्तर्मुखाकारपरमसमाधियुक्तेन परमजिन-
योगीश्वरेण पापाटवीपावकेन पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण सहजवैराग्यप्रासाद-
तिस्तरशिखामणिना परमागममकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभेण कर्तव्य इति ।

(मंदाक्रांता)

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिन्ता मुनीनां
मुक्तिं याति स्वमुखरतयस्तेन निर्वृतापाः ।

टीका—निश्चय प्रायश्चित्त के स्वरूप का यह कथन है ।

जो पंच महाव्रत, पंच समिति, शील और सम्पूर्ण इन्द्रिय तथा वचन, मन, काय के संयमनरूप संयम परिणाम है और जो पंचेन्द्रियों का निरोध है, निश्चितरूप से वह परिणति विशेष, प्रायश्चित्त है अर्थात् प्रायः—प्रचुरता से निर्विकाररूप चित्त प्रायश्चित्त कहलाता है । हमेशा अन्तर्मुख परिणतिरूप परम समाधि से युक्त, परम जिन योगीश्वर, पापरूपी वन के लिए अग्नि के सदृश, पंचेन्द्रियों के व्यापार से वर्जित, गात्रमात्र परिग्रहधारी, सहज वैराग्यरूप महल के शिखर की शिखामणि स्वरूप, परमागमरूप मकरन्द-पुष्परस जिनके मुख से झरता है ऐसे मुझ पद्मप्रभ मुनि के द्वारा वह प्रायश्चित्त करना चाहिए ।

भावार्थ—यह स्वयं टीकाकार ने अपने आपको प्रायश्चित्त क्रिया में प्रेरित किया है तथा बहुत ही सुन्दर विशेषणों से अपनी चर्या को ध्वनित कर दिया है, यह अहंकार नहीं है किन्तु उनका अपना गौरव है वे स्वयं एक निर्ग्रन्थ मुनिराज थे, उनकी प्रवृत्ति यदि ऐसी नहीं होती तो वे अपनी असत्य प्रशंसा नहीं लिखते । वास्तव में वे इन निश्चय क्रियाओं में कभी-कभी परिणत होते हुए अपनी शुभ प्रवृत्ति से प्रवर्तन करने वाले सच्चे साधु थे । उनमें गर्व की बात नहीं है प्रत्युत इन पंक्तियों से उनका गौरव ही व्यक्त होता है ।

[टीकाकार मुनिराज प्रायश्चित्त का लक्षण स्पष्ट करते हुए श्लोक कहते हैं—]

(१८०) श्लोकार्थ—मुनियों को जो सतत अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन होता है वही प्रायश्चित्त है, क्योंकि स्वमुख में रति करने वाले मुनिराज उसके द्वारा

अन्या चिन्ता यदि च यमिनां ते विमूढाः स्मरार्ताः
पापाः पापं विवधति मुहुः किं पुनश्चित्रमेतत् ॥१८०॥

पापों का क्षालन करके मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं और यदि मुनियों के अन्य चिन्ता होती है तो वे मूढ़ कामदेव से पीड़ित हुए पापी पुनः पाप को संचित करते हैं, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

भावार्थ—अन्यत्र भी आचार्यों ने कहा है कि—

“उत्तमा स्वात्मचिन्ता स्यात् मोहचिन्ता च मध्यमा ।
अधमा कामचिन्ता स्यात् परचिन्ता धमाधमा ॥”

अर्थ—स्वात्मचिन्ता उत्तम है, मोहचिन्ता मध्यम है और काम आदि इन्द्रिय विषयों की चिन्ता अधम है तथा परचिन्ता अधम से भी अधम है ।

यहां पर टीकाकार ने स्वात्मचिन्ता को ही प्रमुख कहा है क्योंकि वही उत्तम है और मोक्ष को प्राप्त कराने वाली है उसके अतिरिक्त अन्य चिन्तार्थें कदाचित् आत्म-तत्त्व की सिद्धि में साधक भी हैं कदाचित् बाधक भी हैं । पंच परमेष्ठी के गुणों का चितवन आज्ञाविचय आदि चार प्रकार के या दश प्रकार के धर्म ध्यानों का चितवन शुक्ल ध्यान के लिये सहायक सामग्री होने से मोक्ष का कारण माना गया है ।

“परे मोक्षहेतू ।” ऐसा सूत्रकार का कहना है, जबकि यह धर्म ध्यान पर के अवलम्बन रूप ही है । यहां पर जिस चिन्ता से योगी को पापी विमूढ़ आदि कहा है वे चिन्ताएं साधु पद के विरुद्ध विषय कषायरूप अथवा आर्त्तरीद्र ध्यानरूप हैं वे तो सर्वथा त्याज्य ही हैं ।

क्रोधादिसगन्भावक्षयपहुविभावणाए णिग्गहणं ।

पायच्छित्तं भणितं, णियगुणचित्ता य णिच्छयवो ॥११४॥

क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम् ।

प्रायश्चित्तं भणितं निजगुणचित्ता च निश्चयतः ॥११४॥

क्रोधादिक जो भाव स्वयं के वे विभाव कहलाते ।

उनके क्षय करने आदी में जो तत्पर हो जाते ॥

तथा निजात्म के अनंत गुण का चिंतन जो करते ।

उनके ही निश्चय प्रायश्चित्त कहा गया निश्चय से ॥११४॥

इह हि सकलकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तमुक्तम् । क्रोधादिनिखिलमोह-
विभावस्वभावक्षयकारणनिजकारणपरमात्मस्वभावभावनायां सत्यां निसर्गवृत्त्या
चित्तमभिहितम्, अथवा परमात्मगुणात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपसहजज्ञानादिसहज-
प्रवृत्तिः प्रायश्चित्तं भवतीति ।

गाथा ११४

अन्वयार्थ—[क्रोधादि स्वकीय भाव क्षय प्रभृति भावनायां] क्रोध आदि
स्वकीय भावों के क्षयादि की भावना में [निर्ग्रहणं] रहना, [निजगुण चिन्ता च]
और अपने गुणों का चिंतन करना, [निश्चयतः] निश्चय से [प्रायश्चित्तं भणितं]
प्रायश्चित्त कहा गया है ।

टीका—सम्पूर्ण कर्मों के निर्मूलन करने में समर्थ निश्चय प्रायश्चित्त का
यहाँ पर कथन है ।

क्रोधादि सम्पूर्ण मोह राग द्वेष रूप विभाव स्वभाव के क्षय करने में कारण-
तुल्य ऐसे निजकारण परमात्मा की भावना के होने पर नैसर्गिक वृत्ति से प्रायश्चित्त
हो गया है, अथवा परमात्मा के गुणरूप, शुद्ध चैतन्य तत्त्व स्वरूप के सहज ज्ञान दर्शन
आदि सहज गुणों का चिंतन करना प्रायश्चित्त होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज इसी बात को स्पष्ट करते हुये श्लोक कहते हैं—]

(शालिनी)

प्रायश्चित्तं ह्युक्तमुच्चैर्मुनीनां

कामक्रोधाद्यन्यभावाक्षये च ।

किं च स्वस्य ज्ञानसंभावना वा

सन्तो जानन्त्येतदात्मप्रवादे ॥१८१॥

कोहं क्षमया माणं, समद्वेणज्जवेण मायं च ।

संतोषेण य लोहं, जयदि' खु ए चहुविहकसाए ॥१९५॥

क्रोधं क्षमया मानं स्वमार्दवेन आर्जवेन मायां च ।

संतोषेण च लोभं जयति त्वलु चतुर्विधकषायान् ॥१९५॥

(१८१) श्लोकार्थ— मुनियों के काम क्रोधादि अन्य-परभावों के क्षय के होने में जो भाव है अथवा अपने ज्ञान की जो सम्यक् भावना है उसे अतिशय रूप से प्रायश्चित्त कहा गया है, सत्पुरुष आत्मप्रवाद पूर्व में ऐसा जानते हैं ।

भावार्थ—आत्मप्रवाद नामक सातवें पूर्व में प्रायश्चित्त का वर्णन पूर्णतया किया है । साधुजन उसी के आधार से प्रायश्चित्त का वर्णन करते हैं । व्रतादि में जो अतिचार या अनाचार आदि दोष होते हैं उससे आत्मा में मलीनता आती है, इसलिये उन किये हुये दोषों की शुद्धि के लिए उन दोषों को दूर करने के लिए गुरु से जो दण्ड ग्रहण किया जाता है जो कि आत्मा को पवित्र बनाने वाला है उसी का नाम प्रायश्चित्त है । यहां पर क्रोधादि विभाव परिणामों से आत्मा मलिन हो रही है उनके दूर करने में कारणभूत ऐसे निज गुणों का चितवन हो उत्तम प्रायश्चित्त माना है क्योंकि यही भाव आत्मा को पूर्णतया शुद्ध करने वाला है ।

गाथा १९५

अन्वयार्थ—[क्रोधं क्षमया] क्रोध को क्षमा से, [मानं स्वमार्दवेन] मान को निजमार्दव से, [मायां च आर्जवेन] माया को आर्जव से [च] और [लोभं]

क्षमा भाव से क्रोध जीतते, मन जीते मृदुता से ।
आर्जव से माया व लोभ को जीते संतोषहि से ।
निश्चय से चारों कषाय को जीत लिया जो मुनिवर ।
उनके ही निश्चय प्रायश्चित्त होता कर्म भरम हर ॥११५॥

चतुष्कषायविजयोपायस्वरूपाख्यानमेतत् । जघन्यमध्यमोत्तमभेदात्क्षमास्तिस्रो भवन्ति । अकारणादप्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां त्रासयितुमुद्योगो विद्यते, अयमपगतो मत्पुण्येनेति प्रथमा क्षमा । अकारणेन संत्रासकरस्य ताडनवधादिपरिणामोऽस्ति, अयं चापगतो मत्सुकृतेनेति द्वितीया क्षमा । वधे सत्यमूर्तस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापकार-हानिरिति [ममकाहानिरिति] परमसमरसीभावस्थितिरुत्तमा क्षमा । आभिः क्षमाभिः क्रोधकषायं जित्वा, मानकषायं मार्दवेन च, मायाकषायं चार्जवेण, परमतत्त्वलाभसन्तोषेण लोभकषायं चेति ।

तथा चोक्तं श्री गुणभद्रस्वामिभिः—

संतोषेण] लोभ को संतोष से, [चतुर्विधकषायात्] इनप्रकार चतुर्विध कषायों को, [खलु जयति] साधु निश्चितरूप से जीतते हैं ।

टीका—चार कषायों के विजय करने के उपाय के स्वरूप का यह कथन है ।

जघन्य, मध्यम और उत्तम के भेद से क्षमा तीन प्रकार की होती हैं । बिना कारण अप्रिय वचन बोलने वाले मिथ्यादृष्टि को अकारण ही मुझे त्रास देने का जो उद्योग है वह मेरे पुण्य से दूर हो गया ऐसा विचार करना पहली जघन्य क्षमा है । बिना कारण त्रास देने वाले का जो ताड़न करने, वध आदि करने का भाव है वह मेरे पुण्य से दूर हुआ ऐसा विचार करना दूसरी-मध्यम क्षमा है । वध होने पर अमूर्तिक परमब्रह्मस्वरूप ऐसे मेरी क्या हानि हुई ? अर्थात् कुछ भी नहीं इसप्रकार विचार कर परम समरसीभाव से स्थित रहना यह तीसरी उत्तम क्षमा है । इन क्षमारूप भावों से क्रोध कषाय को जीतकर, मार्दव से मान कषाय को जीतकर, आर्जव से माया कषाय को जीतकर तथा परमतत्त्व के लाभ के द्वारा संतोष भाव से लोभ कषाय को जीतकर साधु चारों कषायों पर विजय करते हैं ।

उसीप्रकार से श्री गुणभद्रस्वामी ने भी कहा है—

(वसन्ततिलका)

“चित्तस्थमप्यनवबुद्धय हरेण जाडघातं
 क्रुद्धा बहिः किमपि दग्धमनंगबुद्ध्या ।
 घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
 क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥”

(वसन्ततिलका)

“चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
 यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुच्येत् ।

“श्लोकार्थ—”महादेव ने अपने चित्त में स्थित भी कामदेव को नहीं जानकर क्रुद्धता से क्रुद्ध होकर बाहर में कामदेव की बुद्धि से किसी को जला दिया, किन्तु उस कामदेव से की गई घोर-दुरवस्था को वह प्राप्त हुआ था सो ठीक है—क्रोध के उदय से किसके कार्य की हानि नहीं होती है ?”

भावार्थ—जब महादेव तपस्या कर रहे थे तब पार्वती उन्हें प्रसन्न करने लिये कामदेव के साथ वहां पहुंची और नृत्यादि से उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न कर लगी, डरकर कामदेव ने भी वसन्न ऋतु का निर्माण कर उन पर पुष्प बाण छोड़ने प्रारम्भ किया । तब महादेव ने क्रुद्ध होकर तीसरे नेत्र से अग्नि को प्रगट करके कामदेव को जला दिया ऐसी कथा “प्रामिद्व है ।

इसी अभिप्राय से आचार्य ने कहा है कि सच्चा कामदेव तो उनके हृदय में स्थित था जिसे उन्होंने जाना ही नहीं । इसीलिये पार्वती के साथ उनका विवाह होने पर उनकी दुरवस्था हुई । यह सब अनर्थ एक क्रोध का कारण हुआ ।

“श्लोकार्थ—”अपने दाहिनी भुजा पर स्थित ऐसे चक्र को छोड़कर बाहुवलि ने दीक्षा ले ली, वे उस तप से उसी समय मुक्त हो जाते किन्तु वे बाहुवलि चिरकाल तक क्लेश को प्राप्त हुए सो ठीक है—किंचित् भी मान महान् हानि को करता है ।”

१. आत्मानुशासन श्लोक० २१६

२. कुमारसम्भवम् (कालिदास कवि कृत)

३. आत्मानु. श्लोक २१७ ।

बलेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हति महतीं करोति ॥”

भावार्थ—भरत चक्रवर्ती जब छहों खण्डों को जीतकर वापिस अयोध्या आये तब उनका चक्रवर्त्तन नगरी के बाहर द्वार पर ही रुक गया । कारण विदित करने पर मालूम हुआ कि आपके भाई आपके वश में नहीं हैं, तब अन्य भाई के दीक्षित होने के बाद बाहुबलि ने युद्ध का प्रसंग आया । मंत्रियों द्वारा निर्धारित जब युद्ध दृष्टि युद्ध और मल्ल युद्ध में भरत हार गये और बाहुबलि विजयी हुए तब भरत ने क्रुद्ध होकर चक्रवर्त्तन चला दिया, वह चक्रवर्त्तन बाहुबलि की प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ पर स्थित हो गया । इस घटना से बाहुबलि ने विरक्त हो दीक्षा लेकर एक वर्ष का योग ले लिया । इस प्रतिष्ठा योग के समाप्त होने पर भरत चक्रवर्ती ने आकर उनकी पूजा की और तब उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ।

“इसके” पूर्व उनके हृदय में थोड़ी सी ऐसी चिन्ता रही कि मेरे द्वारा भरत चक्रवर्ती को संश्लेषण हुआ है इसीलिये उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ और भरत चक्रवर्ती के द्वारा पूजित होने पर तत्काल उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया तथा भिनसेन स्वामी ने तो कहा है कि इन्हें ध्यानावस्था में मनःपर्ययज्ञान आदि अनेकों ऋद्धियां उत्पन्न हो गई थीं, जिससे बहुत से विद्याधर आदि अपना कष्ट निवारण किया करते थे । सो भावलिङ्गी छठे सातवें गुणस्थान हुए बिना ऋद्धियों का होना तथा मनःपर्ययज्ञान का होना असम्भव है ।

तथा पञ्चमचरित में ऐसा कहा है कि “मैं भरत की भूमि में स्थित हूँ ऐसी ही सी कषाय के विद्यमान रहने से उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई ।

१. संनिलष्टो भरताधीनः सोऽस्मत्त इति यत्किल ।

हृदयस्य हार्द तेनासीत् तत्पूजापेक्षि केवलम् ॥१८६॥

२. भादि पु. डि. भाग पर्व ३६, श्लोक १४४ से १५४ तक देखिये ।

३. पञ्चमचरित, ५, १३, १६ ।

(अनुष्टुभ्)

“भयं मायामहागतीन्मिथ्याघनतमोमयात् ।

यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥”

बाहुबलि का हृदय मान कषाय से कलुषित रहा, ऐसा उल्लेख भावप्राभृत में पाया जाता है—

“देहादिचित्तसंगो माणकसायेण कलुसिओ धीर ।

अनावरणेण जादो बाहुबलि किन्तियं कालं ॥४४॥

अर्थ—हे धीर ! देखो, श्री वृषभदेव के पुत्र बाहुबलि देहादि परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बन गये, तो भी मान कषाय में कलुषित चित्त हुए आतापन योग से कितने काल तक स्थित रहे तो भी सिद्धि नहीं पाई ।

“श्लोकार्थ—“मिथ्यात्वरूपी घनघोर अन्धकारमय इस मायारूपी महान गड्ढे से डरना चाहिए, कि जिसमें लीन हुए—रहते हुए क्रोध आदि विषम सर्प लक्षित नहीं होते हैं—दिखते नहीं हैं ।”

भावार्थ—जैसे विशाल गड्ढे में घोर अन्धकार रहता है और सर्प आदि जंतु निवास करते हैं तथा उसमें गिरने से मृत्यु ही ; सम्भव है वैसे ही यह माया कषाय विशाल गड्ढे के समान है इसमें मिथ्यात्वरूप अन्धकार व्याप्त है तथा इसमें क्रोध आदि सर्प बँटे हुए हैं अर्थात् मायाचारी से क्रोधादि कषायें भी होती हैं, मिथ्यात्व भी आ जाता है इसलिये मायाचार से दूर रहना चाहिये ।

१. भावप्राभृत पृ १५४ ।

२. आत्मानु. श्लो. २२१ ।

(हरिणी)

“वनचरभयाद्वावन् देवाल्लताकुलवाल्धिः
किल जडतया लोलो वालव्रजेऽविचलं स्थितः ।
वत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः ॥”

तथा हि—

(आर्या)

क्षमया क्रोधकषायं मानकषायं च मार्दवेनैव ।
मायामार्जवलाभाल्लोभकषायं च शौचतो जयतु ॥१८२॥

उक्कट्टो जो बोहो, णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।
जो धरइ मुणी णिच्चं, पायच्छित्तं हवे तस्स ॥१९६॥

“श्लोकार्थ—‘वनचर—भील या सिंह आदि जन्तु के भय से दौड़ती हुई चमरी गाय, जिसकी पूंछ बेल में उलझ गई है वह अपने बालों में लोळुप होती हुई मूढ़बुद्धि से वही अविचल स्थित हो गई । हाय ! खेद है कि वह चमरी गाय उस लोभ से प्राणों से मारी गई । ठीक ही है तृष्णा से परिणत हुए जीवों को प्रायः करके ऐसी ही विपत्तियां प्राप्न होती हैं ।”

उसीप्रकार से—[श्री मुनिराज कषाय विजय की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—]

(१८२) श्लोकार्थ—क्षमा से क्रोध को, मार्दव से ही मान को, मार्जव के लाभ से माया को और शौच से—संतोष से लोभ को जीतो ।

गाथा ११६

अन्वयार्थ—[तस्य एव आत्मनः] उसी आत्मा का, [यः उत्कृष्टः बोधः] जो उत्कृष्ट बोध है, [ज्ञानं] ज्ञान है, [चित्तं] चित्त है, उसको [यः मुनिः नित्यं]

उत्कृष्टो यो बोधो ज्ञानं तस्यैवात्मनश्चित्तम् ।
यो धरति मुनिर्नित्यं प्रायश्चित्तं भवेत्तस्य ॥११६॥

जो उत्कृष्ट बोध आत्मा का ज्ञान नाम में जग में ।
वो ही चित्त कहा है उस ही आत्मा का सचमुच में ॥
जो मुनि उसी ज्ञान को निज में निज धारण करते हैं ।
उनके ही प्रायश्चित्त होता सकल दोष हरते वे ॥ ११६ ॥

अत्र शुद्धज्ञानस्वीकारवतः प्रायश्चित्तमित्युक्तम् । उत्कृष्टो यो विशिष्टधर्मः
हि परमबोधः इत्यर्थः । बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम् । अत एव तस्यैव परमधर्मेण
जीवस्य प्रायः प्रकर्षेण चित्तं । यः परमसंयमी नित्यं तादृशं चित्तं धत्ते, तस्य
निश्चयप्रायश्चित्तं भवतीति ।

(शालिनी)

यः शुद्धात्मज्ञानसंभावनात्मा
प्रायश्चित्तं ह्यत्र चास्त्येव तस्य ।

धरति] जो मुनि नित्य ही धारण करते हैं, [तस्य] उनके, [प्रायश्चित्तं भवेत्]
प्रायश्चित्त होता है ।

टीका—शुद्धज्ञान को स्वीकार करने वाले के प्रायश्चित्त होता है, यहाँ ऐसा
कहा है ।

उत्कृष्ट जो विशिष्ट धर्म है वही परमबोध कहलाता है । बोध ज्ञान और
चित्त ये पर्यायवाची शब्द हैं । इसीलिये उस परमधर्मी जीव का ही प्रायः—प्रकर्षण
चित्त—ज्ञान प्रायश्चित्त कहलाता है । जो परमसंयमी मुनि नित्य ही उसप्रकार के
प्रकर्षण चित्त—ज्ञान को धारण करते हैं, उनके निश्चितरूप से निश्चय प्रायश्चित्त
होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज ऐसे परममुनि को नमस्कार करते हुए कहते हैं—

(१८३) श्लोकार्थ—जो इस लोक में शुद्ध आत्मज्ञान की सम्यक्भावना से
परिणत हैं उन्हीं के प्रायश्चित्त होता है । जिन्होंने पाप समूह को धो डाला है ऐसे सब

निर्द्धूताहःसंहतिं तं मुनीन्द्रं
वन्दे नित्यं तद्गुणप्राप्तयेऽहम् ॥१८३॥

किं बहुना भणिएण दु, वरतवचरणं महेसिणं सर्व्वं ।
प्रायश्चित्तं जानीह, अण्येकम्माण खयहेऊ ॥ ११७ ॥

किं बहुना भणितेन तु वरतपश्चरणं महर्षीणां सर्व्वम् ।
प्रायश्चित्तं जानीह्यनेककर्मणां क्षयहेतुः ॥ ११७ ॥

इस प्रकरण में बहुत अधिक कहने से क्या ? मुम ननकों ।
महर्षियों का श्रेष्ठ तपश्चरणादि सभी कुछ भा जाँ ॥
उत्तम प्रायश्चित्त वही है निश्चय में गन्धानों ।
क्योंकि सर्व्व कर्मों के क्षय में हेतु वही है मानो ॥११७॥

इह हि परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वराणां निश्चयप्रायश्चित्तम्, एवं
समाचरणानां परमाचरणमित्युक्तम् । बहुभिरसत्प्रलापैरलसत् । पुनः सर्व्व निश्चयव्यव-

शुद्धियों को नित्य ही उनके गुणों की प्राप्ति के लिये मैं वंदन करना हूँ ।

गाथा ११७

अन्वयार्थ—[बहुना भणितेन तु किं] बहुत कहने से क्या, [महर्षिणां सर्व्व
तपश्चरणं] महर्षियों के सभी श्रेष्ठ तपश्चरण को, [प्रायश्चित्तं जानीहि]
प्रायश्चित्त जानो, [अनेककर्मणां] जो कि अनेक कर्मों के, [क्षयहेतुः] क्षय का
हेतु है ।

टीका—परम तपश्चरण में लीन हुए जिन योगीश्वरों के निश्चय प्रायश्चित्त
है जो कि समस्त आचरणों में परम आचरण है, ऐसा यहां पर कहा है ।

बहुत से असत् प्रलापों से बस होंवें, बस होंवें । परम जिन योगियों के अनादि
गुणों से बंधे हुए द्रव्यकर्म और भावकर्मों का सम्पूर्ण विनाश करने में कारणभूत, सभी

हारात्मकपरमतपश्चरणात्मकं परमजिनयोगिनामासंसारप्रतिबद्धद्रव्यभावकर्मणा निरु-
शेषेण विनाशकारणं शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमिति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

(द्रुतविनम्बित)

अनशनादितपश्चरणात्मकं
सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम् ।
सहजबोधकलापरिगोचरं
सहजतत्त्वमघक्षयकारणम् ॥१८४॥

(शान्तिनी)

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात्
स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्म्यशुक्लम् ।
कर्मव्रातध्वान्तसद्बोधतेजो
लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि ॥१८५॥

निश्चय और व्यवहार लक्षण वाला परमतपश्चरण स्वरूप शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त ही
है ऐसा हे शिष्य ! तुम समझो ।

[अब टीकाकार मुनिराज प्रायश्चित्त की महिमा को कहते हुए पांच श्लोक
कहते हैं—]

(१८४) श्लोकार्थ—जो अनशन आदि बारह प्रकार के तपश्चरणरूप
सहज शुद्धचैतन्य स्वरूप को जानने वालों के लिये यह सहजज्ञान कला का विषय
ऐसा यह सहज तत्त्व पापों के क्षय करने में कारण है ।

(१८५) श्लोकार्थ—यह प्रायश्चित्त निश्चितरूप से उत्तम जीवों को ही
है जो कि इस स्वद्रव्य में धर्म ध्यान और शुक्लध्यान के चिन्तनरूप है, कर्म समूह
अंधकार को नष्ट करने के लिये सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है तथा अपनी निर्विकार महि-
में लीन है ।

(मंदाक्रांता)

आत्मज्ञानाद्भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण
ज्ञानज्योतिर्निहतकरणग्रामघोरान्धकारा ।
कर्मारण्योद्भववधशिखाजालकानामजस्रं
प्रध्वंसेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु धारां वमन्ती ॥१८६॥

(उपजाति)

अध्यात्मशास्त्रामृतवारिराशे-
संयोद्धृता संयमरत्नमाला
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे
सालंकृतिमुक्तिवधूधनानाम् ॥१८७॥

(१८६) श्लोकार्थ—जिम्ने ज्ञान ज्योति से इन्द्रियग्राम के घोर अन्धकार को नष्ट कर दिया है, जो कर्मरूपी वन में उत्पन्न हुई दावानल अग्नि की ज्वाला समूह को वृजाने में शीघ्र ही शमजलमयी धारा को बरसाती हुई ऐसी आत्मा की उपलब्धि क्रम से संयमियों के आत्म ज्ञान में उत्पन्न होती है ।

भावार्थ—आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति संयमी मुनियों को ही हो सकती है अन्य को नहीं और उन्हें भी आत्मज्ञान के बल से ही हो सकती है अन्यथा नहीं ।

(१८७) श्लोकार्थ—अध्यात्म शास्त्ररूपी अमृत समुद्र से मैंने संयमरूपी रत्नमाला निकाली है, जो कि मुक्तिवधु के स्वामी ऐसे तत्त्ववेत्ताओं के सुकंठ में अलंकाररूप होती है ।

भावार्थ—समुद्र के मंथन से रत्न निकलते हैं वैसे ही श्री पद्मप्रभमलधारीदेव मुनिराज ने अध्यात्म शास्त्ररूपी अमृतमयी समुद्र का मंथन करके संयमरूपी रत्न निकाले हैं जो कि मुक्ति के प्राप्त करने वाले आत्मज्ञानियों के कंठ का हार बन जाते हैं अर्थात् अध्यात्म शास्त्र के अवलम्बनपूर्वक धारण किया गया संयम मुक्ति को प्राप्त करा देता है ।

(उपेन्द्रवज्रा)

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्वं
 मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासम् ।
 विमुक्तिवर्तितरतसौख्यमूलं
 विनष्टसंसारद्रुमूलमेतत् ॥१८८॥

णंताणंतभवेण' समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो ।
 तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्तं तवं तम्हा ॥१९८॥

अनन्तानन्तभवेन समजितशुभाशुभकर्मसंदोहः ।
 तपश्चरणेन विनश्यति प्रायश्चित्तं तपस्तस्मात् ॥१९८॥

जो ही अनंतानंत भवों में मज्जित किया गया है ।
 शुभ वा अशुभ कर्म केन्द्रों में पवन रूप भया है ॥
 वो सब तपश्चरण करने से, मूल नष्ट हो जाता ।
 इसीलिये तप ही निश्चय से प्रायश्चित्त कहाना ॥१९८॥

(१८८) श्लोकार्थ—मैं नित्य ही परमात्मतत्त्व को नमस्कार करता हूँ जो कि मुनीन्द्रों के हृदय कमल की कर्णिका पर निवास करने वाला है, मक्तिरूपी कान्तों के रति सुख का मूल कारण है और संसाररूपी वृक्ष को जड़ को नष्ट करने वाला है ॥

भावार्थ—इस परमात्मतत्त्व का ध्यान मुनिजन ही कर सकते हैं, अन्यजन नहीं, इसलिये यह उनके मन के गोचर है तथा अनीन्द्रिय मुख का कारण है और संसार के दुःखों से मुक्त करने वाला है ।

गाथा १९८

अन्वयार्थ—[अनंतानंत भवेन] अनंतानंत भवों के द्वारा, [समजित शुभाशुभ कर्म संदोहः] उपजित किया गया शुभ और अशुभरूप कर्म समूह, [तपश्चरणेन विनश्यति] तपश्चरण से नष्ट हो जाता है, [तस्मात् तपः प्रायश्चित्तं] इसलिये तप प्रायश्चित्त है ।

१. भावेण (क) पाठान्तर

अत्र प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः प्रायश्चित्तं भवतीत्युक्तम् । आसंसारत एव समुपाजितशुभाशुभकर्मसंदोहो द्रव्यभावात्मकः पञ्चसंसार-संवर्द्धनसमर्थः परमतपश्चरणेन भावशुद्धिलक्षणेन विलयं याति, ततः स्वात्मानुष्ठाननिष्ठं परमतपश्चरणमेव शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमित्यभिहितम् ।

टीका—प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्म तत्त्व में सदा अन्तर्मुख होकर के जो प्रतपन—प्रताप शील—प्रकाशमान होना है वह तप प्रायश्चित्त होता है यहां पर ऐसा कहा गया है ।

अनादि संसार से ही उपाजित किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों का जो समूह है जो कि द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप है तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पांच प्रकार के संसार के संवर्द्धन में समर्थ है, वह भावशुद्धि लक्षण वाले परम तपश्चरण से विलय को प्राप्त हो जाता है, इसलिये अपनी आत्मा के अनुष्ठान में निष्ठ परम-तपश्चरण ही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त है ऐसा कहा है ।

विशेषार्थ—'आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना इसप्रकार से प्रायश्चित्त के नव भेद हैं, किन्तु यहां पर तप को मुख्यरूप से लिया है अतः उसी को प्रायश्चित्त कह दिया है क्योंकि तप के बारह भेदों में से ही यह प्रायश्चित्त सातवां भेद है तथा इन नव भेदों में भी एक तप भेद आ गया है । कारण यही है कि अन्तर्शन आदि के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है । इसलिए तप को ही अध्यात्म प्रायश्चित्त में घटित करते हुए कहते हैं कि आत्मा में प्रकर्षरूप से तपना, स्थिर रूप से निवास करना निश्चय तप है । वास्तव में शुद्ध आत्मा में निर्विकल्प समाधिरूप स्थिति ही निश्चय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त आदिरूप है ऐसा अर्थ है । ये प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त भेद निर्विकल्प ध्यान में नहीं हैं वहां केवल एक अभेद अवस्था है ये व्यवहारनय से व्यवहार की अपेक्षा से ही कहे जाते हैं ।

१. "आलोचना प्रतिक्रमण तदुभय विवेक व्युत्सर्ग तपश्छेद परिहारोपस्थापनाः"

[तत्त्वार्थ सूत्र सू. २२ नवम अ.]

(मंदाकांता)

प्रायश्चित्तं न पुनरपरं कर्म कर्मक्षयार्थं

प्राहुः सन्तस्तप इति चिदानन्दपीयूषपूर्णम् ।

आसंसारादुपचितमहात्कर्मकान्तारवन्धि-

ज्वालाजालं शमसुखमयं प्राभृतं मोक्षलक्ष्म्याः ॥१८६॥

अप्पसरूवालंबण, भावेण दु सव्वभावपरिहारं ।

सक्कदि कादुं जीवो, तम्हा ज्ञाणं हवे सव्वं ॥१९६॥

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभावपरिहारम् ।

शक्नोति कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम् ॥१९६॥

मुनी निजानम के स्वरूप का अवलंबन ले करके ।

सभी विभाव रूप भावों का त्याग स्वयं कर सकने ॥

इसीलिये यह ध्यान विश्व में, वस सर्वम्ब कहाना ।

निर्विकल्प मुनि ही होते हैं स्वात्मतत्त्व के ध्याना ॥१९६॥

[अब टीकाकार प्रायश्चित्त की विशेषता पर ही प्रकाश डालते कहते हैं—]

(१८६) श्लोकार्थ—अन्य कुछ क्रिया प्रायश्चित्त नहीं है किन्तु कर्मक्षय लिए जो चिदानन्दरूपी अमृत से परिपूर्ण तप है उसे ही साधुजन प्रायश्चित्त कहते वह तप अनादिकाल से संसार में संचित किये कर्मरूपी महावन को जलाने के लिए अग्निज्वाला का समूह है, शमसुखमय है तथा मोक्ष लक्ष्मी से मिलने के लिये स्वरूप है ।

गाथा १९६

अन्वयार्थ—[आत्मस्वरूपालम्बन भावेन तु] आत्मस्वरूप के अवलम्बन भाव से, [जीवः] जीव, [सर्वभावपरिहारं] सर्वभावों का परिहार, [शक्नोति] कर सकता है, [तस्मात्] इसलिए, [सर्व ध्यानं भवेत्] वह ध्यान होता है ।

अत्र सकलभावानामभावं कर्तुं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्यध्यानमेव समर्थमित्युक्तम् । अखिलपरद्रव्यपरित्यागलक्षणलक्षिताक्षुण्णनित्यनिरावरणसहजपरमपारिणामिकभावभावनाया भावान्तराणां चतुर्णामौदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकानां परिहारं कर्तुं मत्थासन्नभव्यजीवः समर्थो यस्मात्, तत एव पापाटवीपावक इत्युक्तम् । अतः पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रत्याख्यान प्रायश्चित्तालोचनादिकं सर्वं ध्यानमेवेति ।

(मंदाक्रांता)

यः शुद्धात्मन्यविचलमनाः शुद्धमात्मानमेकं
नित्यज्योतिःप्रतिहततमःपुञ्जमाद्यन्तशून्यम् ।
ध्यात्वाजस्रं परमकलया सार्धमानन्दमूर्ति
जीवन्मुक्तो भवति तरसा सोऽयमाचारराशिः ॥१६०॥

टीका — सकल भावों का अभाव करने के लिए स्वात्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान ही समर्थ है, यहां पर ऐसा कहा है ।

अखिल परद्रव्यों के परित्याग लक्षण से लक्षित, अक्षुण्ण—अविच्छिन्न नित्य निरावरण सहज परम पारिणामिक भाव की भावना से औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन अन्य भावरूप चारों भावों का परिहार करने के लिये अतिनिकट भव्य जीव जिस हेतु से समर्थ है, उसी हेतु से वह पापरूपी वन के लिये पावक है ऐसा कहा गया है । इसलिये पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त और आलोचना आदि सभी ध्यान ही हैं, ऐसा समझना ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज ध्यान के फल को कहते हैं—]

(१६०) श्लोकार्थ—जिसने नित्य ज्योति से अंधकार पुंज का नाश कर दिया है जो आदि और अन्त से शून्य है जो परमकला के साथ आनन्द की मूर्तिस्वरूप है ऐसी एक शुद्ध आत्मा का जो शुद्धात्मा में अविचल मन वाला होता हुआ निरन्तर ध्यान करता है सो यह आचार की राशिस्वरूप शीघ्र ही जीवन्मुक्त हो जाता है ।

सुहृत्सुहृद्वयणरयणा, रायादी'भाववारणं किञ्चा ।
अपारां जो क्षायदि, तस्स दु णियमं हवे णियमा ॥१२०॥

शुभाशुभवचनरचनानां रागादिभाववारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु नियमो भवेन्नियमात् ॥१२०॥

जो शुभ अशुभ वचन रचना को पूर्णतया नज करके ।
रागादिक अन्तर भावों को स्वयं दूर धनि करके ॥
नित आत्मा को ध्याने हैं नित निश्चल मन हो करके ।
परम समाधीरत उन मुनि के होना नियम नियम से ॥१२०॥

शुद्धनिश्चयनियमस्वरूपाख्यानमेतत् । यः परमतत्त्वज्ञानी महातपोधनो देत देतं
संचितसूक्ष्मकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तपरायणो नियमितमनोवाककायत्वाद्भवत्सौ-
मूलकंदात्मकशुभाशुभस्वरूपप्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनानां निवारणं करोति, न

गाथा १२०

अन्वयार्थ—[यः] जो, [शुभाशुभवचन रचनां] शुभ-अशुभ वचन रचना
को, [रागादि भाववारणं] रागादि भाव के निवारण को, [कृत्वा] करके, [आत्मानं
ध्यायति] आत्मा को ध्याता है, [तस्य तु] उसके, [नियमात् नियमो भवेत्] नियम
से नियम होता है ।

टीका—शुद्ध निश्चय नियम के स्वरूप का यह कथन है ।

जो परमतत्त्व ज्ञानी महातपोधन प्रतिदिन संचित हुए सूक्ष्म कर्मों के निर्मूलन
में समर्थ ऐसे निश्चय प्रायश्चित्त में परायण है, वे मन वचन और काय के नियमित-
नियन्त्रित होने से भवबल की मूलकंदरूप ऐसे शुभ-अशुभस्वरूप, प्रशस्त और अप्रशस्त
समस्त वचनों की रचना-बोलने का निवारण करते हैं, न केवल इन वचन रचनाओं

१. रायादि (क) पाठान्तर

२. रचनानां पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है ।

केवलमासां तिरस्कारं करोति किन्तु निखिलमोहरागद्वेषादिपरभावानां निवारणं च करोति । पुनरनवरतमखंडाद्वैतमुन्दरानन्दनिष्यन्दानुपमनिरंजननिजकारणपरमात्मतत्त्वं नित्यं शुद्धोपयोगबलेन संभावयति, तस्य नियमेन शुद्धनिश्चयनियमो भवतीत्यभिप्रायो भगवतां सूत्रकृतमिति ।

(हरिणी)

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां

सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम् ।

परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमादयं

भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यंगतासुखकारणम् ॥१६१॥

का निरस्कार ही करते हैं किन्तु समस्त मोह रागद्वेषादि परभावों का भी त्याग कर देते हैं । पुनः निरन्तर अखण्ड अद्वैत मुन्दर आनन्द के निर्जरूप अनुपम निरंजन निज कारण परमात्मतत्त्व को नित्य ही शुद्धोपयोग के बल में सम्यक् प्रकार से अनुभव करते हैं, उनके नियम से शुद्ध निश्चयनियम होना है ऐसा सूत्रकार भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव का अभिप्राय है ।

भावार्थ—पहले गाथा ३ में आचार्य देव ने रत्नत्रय को नियम शब्द में कहा था, वहाँ पर भी यही अभिप्राय है क्योंकि शुद्धनिश्चयनय में परिणत हुए साधु के ही शुद्ध प्रायश्चित्तरूप निश्चय नियम होता है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज अभेदरूप निधिकल्प ध्यान की प्रेरणा देते हुए चार श्लोक कहते हैं—]

(१६१) श्लोकार्थ—जो भव्य जीव शुभ-अशुभरूप वचन रचना को छोड़कर नित्य ही स्फुटरूप से सहजपरमात्मा का सम्यक् प्रकार से अनुभव करता है, उस ज्ञान स्वरूप परम संयमी के नियम से यह शुद्ध नियम होता है, जो कि मुक्तिसुन्दरी के सुख का कारण है ।

(मालिनी)

प्रनवरतमखंडाद्वैतचिह्नविकारे
निखिलनयविलासो न स्फुरत्येव किञ्चित् ।
अपगत इह यस्मिन् भेदवादस्समस्तः
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥१६२॥

(अनुष्टुप्)

इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत् ।
एभिर्विकल्पजालैर्यस्मिन्मुक्तं तन्नमाम्यहम् ॥१६३॥

(अनुष्टुप्)

भेदवादाः कदाचित्स्युर्यस्मिन् योगपरायणे ।
तस्य मुक्तिर्भवेन्नो वा को जानात्याहंते मते ॥१६४॥

(१६२) श्लोकार्थ—सततरुप से अखंड अद्वैत चैतन्यरुप निर्विकार तत्त्व अखिल नयों का विलास किञ्चित् स्फुरायमान ही नहीं होना है, यहाँ जिसमें समस्त भेदवाद समाप्त हो चुका है, उसको मैं नमस्कार करता हूँ उसका स्तवन करता हूँ उसी की सम्यक् प्रकार से भावना करता हूँ ।

(१६३) श्लोकार्थ—यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और वह फल है इन विकल्प जालों से जो निर्मुक्त है मैं उसे नमस्कार करता हूँ ।

(१६४) श्लोकार्थ—जिस योग परायण-ध्यान लीन अवस्था में कदाचित् भेदवाद होते हैं, अरहन्त देव के मत में उसकी मुक्ति होगी या नहीं, कौन जानता है ।

भावार्थ—बीतराग निर्विकल्प ध्यान में ही शुद्ध नियमरुप प्रायश्चित्त है । इस निर्विकल्प अवस्था के हुए बिना कर्मों का नाश होना संभव नहीं है । भी कहा है—

“मा'चिद्वह मा जंपह, मा चितह किंवि जेण होइ यिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे ज्ञाणं ॥५६॥”

कायाई परद्रव्ये, स्थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं ।
तस्स ह्वे तणुसगं, जो ज्ञायइ णिव्विअप्पेण ॥१२१॥

कायादिपरद्रव्ये स्थिरभावं परिहृत्यात्मानम् ।
तस्य भवेत्तत्सर्गो यो ध्यायति निर्विकल्पेन ॥१२१॥

जो कायादिक पर द्रव्यों में स्थिर भाव को तजके ।
निर्विकल्पभावों से, आत्मा को ध्याते हैं रुचि से ॥
कायोत्सर्ग उन्हीं के होता, वे ही महामुनी हैं ।
निश्चय प्रायश्चित्त उन्हीं के, उनको सदा नमूँ में ॥१२१॥

निश्चयकायोत्सर्गस्वरूपाख्यानमेतत् । सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावव्यंजन-
पर्यायात्मकः स्वभ्याकारः कायः । आदिशब्देन क्षेत्रवास्तुकनकरमणीप्रभृतयः । एतेषु
सर्वेषु स्थिरभावं सनातनभावं परिहृत्य नित्यरमणीयनिरंजननिजकारणपरमात्मानं व्यव-

अर्थ—हे गिण्य ! तुम शरीर की कुछ चेष्टा—क्रिया मत करो, कुछ मत बोलो,
मन में कुछ चिन्तन भी मत करो जैसे बने वैसे एकदम स्थिर हो जावो और आत्मा
में ही लीन हो जावो, यही परमध्यान होता है ।

गाथा १२१

अन्वयार्थ — [कायादिपरद्रव्ये] काय आदि पर द्रव्य में, [स्थिरभावं] स्थिर
भाव को, [परिहृत्य] छोड़ करके, [यः] जो, [निर्विकल्पेन] निर्विकल्परूप से,
[आत्मानं ध्यायति] आत्मा का ध्यान करता है, [तस्य] उस साधु के, [तत्सर्गः
भवेत्] कायोत्सर्ग होता है ।

टीका—निश्चयकायोत्सर्ग के स्वरूप का यह कथन है ।

सादि—सान्त मूर्तिक विजातीय विभाव व्यंजन पर्यायस्वरूप जो अपना आकार
है वह 'काय' कहलाती है । यहां आदि शब्द से क्षेत्र, मकान, स्वर्ण, स्त्री आदि को ग्रहण
करना चाहिये । इन सभी में स्थिर भाव—ये स्थायी हैं ऐसे भाव को तथा ये समीचीन
हैं ऐसे भाव को छोड़कर नित्य ही रमणीय निरंजन निज कारण परमात्मा का व्यवहार

हारक्रियाकांडाडम्बरविधिविकल्पकोलाहलविनिर्मुक्तसहजपरमयोगबलेन नित्यं ध्यायति
यः सहजतपश्चरणक्षीरवारांराशिनिशीथिनीहृदयाधीश्वरः तस्य खलु सहजवैराग्यप्रासाद-
शिखरशिखामणोनिश्चयकायोत्सर्गो भवतीति ।

(मंदाकांता)

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां
कायोद्भूतप्रबलतरतत्कर्ममुक्तेः सकाशात् ।
वाचां जल्पप्रकरविरतेर्मानसानां निवृत्तेः
स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम् ॥१६५॥

(मालिनी)

जयति सहजतेजःपुंजनिर्मग्नभास्वत्-
सहजपरमतत्त्वं मुक्तमोहान्धकारम् ।

त्रियाकांड के आडम्बर के अनेकों विकल्परूप कोलाहल से रहित सहज परमयोग-
निर्विकल्प ध्यान के बल में जो नित्य ही ध्यान करते हैं, जो कि सहज तपश्चरणक्षी
क्षीर सागर को वृद्धिगत करने के लिये पूर्ण चन्द्रमा हैं, सहज वैराग्यरूपी महल के
शिखर की शिखामणि स्वरूप उन मुनि के निश्चितरूप से निश्चय कायोत्सर्ग होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज निर्विकल्प ध्यान के लिये प्रेरणा देते हुए पांच
श्लोकरूप कलशों द्वारा इस प्रायश्चित्त प्रकरण का उपसंहार कर रहे हैं—]

(१६५) श्लोकार्थ—निश्चय से कायोत्सर्ग सतत संयमी जनों को होता है,
जो कि शरीर से उत्पन्न हुई प्रबलतर उन सम्बन्धी क्रियाओं के छूट जाने से वचनों
के जल्पसमूह से विरक्त होने से, मन संबंधी विकल्पों के अभाव से तथा अपनी आत्मा
के ध्यान से भी स्वात्मा में लीन हुए महासाधुओं के नियम से होता है ।

भावार्थ—मन, वचन और काय सम्बन्धी क्रियाओं के निरोध से निर्विकल्प
ध्यान में तत्पर हुए साधुओं को ही निश्चय कायोत्सर्ग होता है ।

(१६६) श्लोकार्थ—सहज तेज पुंज में डूबा हुआ ऐसा जो स्फुरायमान
सहज परम तत्त्व है वह जयशील हो रहा है जो कि मोहान्धकार से रहित है सहज

सहजपरमदृष्ट्या निष्ठितात्माघजातं
भवभवपरितापैः कल्पनाभिश्च मुक्तम् ॥१६६॥

(मालिनी)

भवभवसुखमर्षं कल्पनाभात्ररम्यं
तदखिलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या ।
सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रं
स्फुटितनिजविलासं सर्वदा चेतयेहम् ॥१६७॥

(पृथ्वी)

निजात्मगुणसंपदं मम हृदि स्फुरन्तीमिमां
समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा ।
जगत्त्रितयवैभवप्रलयहेतुदुःकर्मणां
प्रभुत्वगुणशक्तितःखलु हतोस्मि हा संसृता ॥१६८॥

परमदृष्टि से कृतकृत्यरूप है और भव-भव के परितापों से तथा कल्पना जालों से मुक्त है ।

(१६७) श्लोकार्थ—जो भव-भव का सुख है, वह अल्प-तुच्छ है, कल्पना-मात्र से ही मुन्दर लगता है, उस समस्त श्री सुख का मैं आत्मशक्ति से सम्यक्प्रकार से नित्य त्याग करता हूँ और जो चिच्चमत्कार मात्र है तथा प्रगटित निज विलासरूप है ऐसे सहज परम सौख्य का मैं सदा ही अनुभव करता हूँ ।

(१६८) श्लोकार्थ—मेरे हृदय में स्फुरायमान होती हुई समाधि की विषय-भूत-ध्यान के गोचर ऐसी इस अपनी आत्मा की गुणरूपी सम्पत्ति को पहले मैंने एक क्षण भी नहीं जाना । हाय ! बड़े दुःख की बात है कि तीनों जगत के वैभव का प्रलय करने में कारणभूत ऐसे दुष्ट कर्मों के प्रभुत्व गुण की शक्ति से मैं निश्चित ही संसार में मारा गया हूँ ।

भावार्थ—मेरी आत्मा में अनन्त गुणों का पुंज विद्यमान है किंतु उसको न जान करके ही मैं इस कर्म शत्रु के द्वारा इस संसार में मारा जा रहा हूँ, और अपनी संपत्ति से भी वंचित हो रहा हूँ ।

(आर्या)

भवसंभवविषमसहफलमखिलं दुःखकारणं बुद्ध्वा ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुजे ॥१६६॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवजितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिवेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तधिकारः अष्टमः श्रुतस्कन्धः ॥

(१६६) श्लोकार्थ—भव में उत्पन्न होने वाले विषवृक्ष के अखिल फल को दुःख का कारण जान करके मैं चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मा में उत्पन्न होने वाले विशुद्ध सौख्य का अनुभव करता हूँ ।

विशेषार्थ—इस शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त अधिकार में प्राग्भूत में तो आचार्य ने व्रत समिति आदि के परिणाम को ही प्रायश्चित्त कहा है । वास्तव में जिसके द्वारा पाप का शोधन हो उसको प्रायश्चित्त कहते हैं, पुनः इसमें तपश्चरण को प्रायश्चित्त बतलाने हुए अन्त में १२१ वीं गाथा में कायोत्सर्ग को भी ले लिया है । अधिकतर प्रायश्चित्त में तपश्चरण और कायोत्सर्ग ही प्रधान रहते हैं । स्थूल—स्थूल पर टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि जो व्यवहार क्रियाओं में पूर्ण निष्णात हैं उन्हीं साधु के ही निश्चय प्रायश्चित्त होता है । यदि वे व्यवहार में ही लगे रहते हैं तो उन्हें यह निश्चय धर्म नहीं भी होता है किन्तु जब भी निश्चय प्रायश्चित्त आदि साधु के होंगे तो वे सब व्यवहार क्रिया में पूर्ण निष्णात के ही होंगे न कि व्यवहार क्रिया से शून्य या शिथिल के । इसलिए पहली सीढ़ी में व्यवहार में पूर्ण सावधान रहने हुए आगे निश्चय धर्म की प्राप्ति करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये ।

इसप्रकार से सुकविजनरूपी कमलों के लिये सूर्यसमान, पंचेन्द्रियों के व्यापार से रहित गात्र-मात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारीदेव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक व्याख्या में शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त अधिकार नाम वाला अष्टमः श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ ।



[६]

परम-समाधि अधिकार

अथ अखिलमोहरागद्वेषादिपरभावविध्वंसहेतुभूतपरमसमाध्यधिकार उच्यते ।

वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीतरागभावेण ।

जो ज्ञायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥१२२॥

वचनोच्चारणक्रियां परित्यज्य वीतरागभावेन ।

यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य ॥१२२॥

गीताछंद

जो वचन उच्चारण क्रिया को सर्वथा ही त्यागते ।

वस वीतरागी भाव से निज आत्मा को ध्यावते ॥

उनहीं मुनी के कही परम समाधि-जो अब नहि सुनभ ।

उन शुक्ल ध्यानी साधु को कंबल्य की प्राप्ति सुलभ ॥१२२॥

अब समस्त मोह रागद्वेष आदि पर भावों के विध्वंस में कारणभूत ऐसे परम समाधि अधिकार को कहते हैं

गाथा १२२

अन्वयार्थ—[वचनोच्चारण क्रियां परित्यक्त्वा] वचन बोलने की क्रिया का परित्याग कर, [यः] जो, [वीतराग भावेन] वीतराग भाव से, [आत्मानं ध्यायति] आत्मा को ध्याता है, [तस्य] उसके, [परम समाधिः भवेत्] परम समाधि होती है ।

परमसमाधिस्वरूपारूपानमेतत् । क्वचिवशुभवचनार्थं वचनप्रपञ्चाचितपरमवीतरागसर्वजस्तवनाविकं कर्तव्यं परमजिनयोगीश्वरेणापि । परमार्थतः प्रशस्ताप्रशस्तस्तवस्तवाग्विषयव्यापारो न कर्तव्यः । अत एव वचनरचनां परित्यज्य सकलकर्मकर्मकर्मकविनिर्मुक्तप्रध्वस्तभावकर्मात्मकपरमवीतरागभावेन त्रिकालनिरावरणनित्यशुद्धकारणपरमात्मानं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानेन टंकोत्कीर्णजायकैकस्वरूपनिरतपरमशुक्लध्यानेन च यः परमवीतरागतपथरणनिरतः निरुपरागसंयतः ध्यायति, तस्य खलु द्रव्यभावकर्मरूपिणीलुंटाकस्य परमसमाधिर्भवतीति ।

टीका—यह परम समाधि के स्वरूप का कथन है ।

कभी अशुभ में वृत्तने के लिये वचनों के विचार से मनोहर परम वीतराग सर्वज देव का स्तवन आदि परम जिन योगीश्वर को भी करना चाहिये । परमार्थ से प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसे समस्त वचन विषयक व्यापार को नहीं करना चाहिए, इसी हेतु से वचन रचना का परित्याग करके सकल कर्म कलंकरूपी पंक में रहित तथा भाव कर्म के भी प्रध्वस्त हो जाने से होने वाले ऐसे परम वीतराग भाव के द्वारा तीनों कालों में आवरण रहित, नित्य, शुद्ध, कारण परमात्मा को जो परम वीतराग तपश्चरण में लीन हुआ वीतरागी संयमी साधु स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान से और टंकोत्कीर्ण जायक एक स्वरूप में निरत ऐसे शुक्लध्यान से ध्याता है, द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी सेना को जीतने वाले ऐसे उस साधु के वास्तव में परम समाधि होती है ।

भावार्थ—यहां पर निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर वीतरागी साधु का ही मुख्य रूप से ग्रहण है । यह निश्चय धर्मध्यान सातवें गुणस्थान के द्वितीय भेद रूप सानिध्य अप्रमत्त अवस्था में होता है, पुनः श्रेणी में आरोहण करने वाले के ही शुक्लध्यान होता है । मोहनीय कर्म के अभाव से पूर्ण वीतरागता होती है जो कि ग्यारहवें गुणस्थान में ही विवक्षित है । इन उभय ध्यान से पूर्व छठे और स्वस्थान अप्रमत्तरूप सातवें गुणस्थान में सविकल्प धर्मध्यान होता है । छठे गुणस्थानवर्ती महा-मुनियों को भी टीकाकार ने प्रथम पंक्ति में वचनों द्वारा जिनेन्द्र गुण स्तवन आदि व्यवहार क्रियाओं में उपादेय बतलाया है, क्योंकि जब तक निर्विकल्प अवस्थारूप ध्यान प्राप्त न हो तब तक आवश्यक क्रियाओं की हानि नहीं करना चाहिये ।

(उपजाति)

समाधिना केनचिदुत्तमात्मनां
हृदि स्फुरन्तीं समतानुयायिनीम् ।
यावन्न विद्यः सहजात्मसंपदं
न मादृशां या विषया विवामहि ॥२००॥

संजमणियमतवेण तु, धम्मज्झाणेण सुक्कसाणेण ।
जो ज्ञायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥१२३॥

संयमनियमतपसा तु धर्म्यध्यानेन शुक्लध्यानेन ।
यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य ॥१२३॥

संयम नियम श्री तपश्चर्या को मदा जो धारने ।
निजधर्मध्यान विशुद्ध से निज आत्मा को ध्यावते ॥
या शुक्ल ध्यान विशेष से शुद्धात्म में लम्बय हुए ।
उन साधु के ही कहो परमसमाधि वे निजमय हुये ॥१२३॥

[अब टीकाकार मुनिराज परमसमाधि की भावना को भाते हुए कहते हैं—]

(२००) श्लोकार्थ—किसी (एक अद्वितीय-परम) समाधि के द्वारा उत्तम आत्माओं (उत्तम अंतरात्माओं) के हृदय में स्फुरायमान होती हुई, सभता भाव की अनुयायिनी ऐसी सहज आत्मसंपत्ति का जब तक हम अनुभव नहीं करते हैं, तब तक हम जैसे साधुओं के किये विषयभूत जो कोई मुख है उसको नहीं समझ सकते हैं ।

गाथा १२३

अन्वयार्थ—[संयम नियम तपसा तु] संयम, नियम और तप से तथा, [धर्मध्यानेन-शुक्लध्यानेन] धर्मध्यान और शुक्लध्यान से, [यः आत्मानं ध्यायति] जो आत्मा को ध्याता है, [तस्य परम समाधिः भवेत्] उस साधु की परम समाधि होती है ।

इह हि समाधिलक्षणमुक्तम् । संयमः सकलेन्द्रियव्यापारपरित्यागः । निः
स्वात्मारोधनात्तत्परता । आत्मानमात्मन्यात्मना संघत इत्यध्यात्मं तपनम् । सकल
क्रियाकाण्डाडम्बरपरित्यागलक्षणान्तःक्रियाधिकरणमात्मानं निरवधिविकालनिरुपाधि
रूपं यो जानाति, तत्परिणतिविशेषः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानम् । ध्यानध्येयध्यातु
फलाविविधविकल्पनिर्मुक्तांतर्मुखाकारनिखिलकरणग्रामागोचरनिरंजननिजपरमतत्त्व
विचलस्थितिरूपं निश्चयशुक्लध्यानम् । एभिः सामग्रीविशेषैः सार्धमखंडाद्वैतपरमस्ति
मात्मानं यः परमसंयमी नित्यं ध्यायति, तस्य खलु परमसमाधिर्भवतीति ।

(अतुष्टुम्)

निर्विकल्पे समाधौ यो नित्यं तिष्ठति चिन्मये ।

द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानं तं नमाम्यहम् ॥२०१॥

टीका—यहां पर समाधि का लक्षण कहा है ।

समस्त इन्द्रियों के व्यापार का परित्याग संयम कहलाता है । नियम
शब्द से स्वात्मा के आराधन में तत्परता का होना है जो आत्मा को आत्मा के ही
आत्मा में सम्यक्प्रकार में धारण करता है—स्थिर करना है, वह अध्यात्मरूप तपन
तप है । सम्पूर्ण बाह्य क्रियाकांडरूप आडम्बर के परित्याग स्वरूप और अतरंग क्रि
के आधारभूत ऐसी आत्मा जो कि अवधि रहित विकाल में उपाधिरहित स्वरूप
उसको जो जानता है वह परिणति विशेष स्वात्माश्रित धर्मध्यान है । ध्यान, ध्येय
ध्याता और उनके फलादिरूप विविध विकल्पों से रहित, अन्तर्मुखाकार समस्त इन्द्रि
ग्रामों के अगोचर, निरंजन ऐसे निज परमतत्त्व में अविचलस्थितिरूप निश्चय शुक्लध्या
होता है । इन संयम, नियम, तप निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप सामग्री विशेष
से रहित जो परमसंयमी अखंड अद्वैत परम चिन्मय आत्मा का नित्य ही ध्यान करता
है उस संयमी के निश्चितरूप से परम समाधि होती है ।

[टीकाकार मुनिराज ऐसे संयमियों की वंदना में तत्पर हुए कहते हैं—]

(२०१) श्लोकार्थ—जो चैतन्यमय निर्विकल्प समाधि में नित्य ही स्थित
होते हैं उन द्वैत और अद्वैत से निर्मुक्त ऐसी आत्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ।

**किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झयणमौणपहुवो, समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥**

**किं करिष्यति वनवासः कायक्लेशो विचित्रोपवासः ।
अध्ययनमौनप्रभृतयः समतारहितस्य श्रमणस्य ॥१२४॥**

जिनके न समता भाव है वे श्रमण यदि वन में रहें ।
अति करे कायक्लेश तब उपवास भी बहुविध रहें ॥
बहु शास्त्र का अध्ययन मौनादिक बहुत भी निन करें ।
ये सब क्रियायें क्या करेंगी ? साम्य चित नहिं शिव करें ॥१२४॥

अत्र समतामन्तरेण द्रव्यलिङ्गधारिणः श्रमणाभासिनः किमपि परलोककारणं नास्तीत्युक्तम् । सकलकर्मकलंकपंकविनिर्मुक्तमहानन्दहेतुभूतपरमसमताभावेन विना कान्तारवासावासेन प्रावृषि वृक्षभूले स्थित्या च ग्रीष्मेऽतितीव्रकरकरसंतप्तपर्वताग्रप्राव-
निषण्णतया वा हेमन्ते च रात्रिमध्ये ह्याशांबररसाकलेन च, स्वगतिस्थजुल्लभार्वापक्षेयदा-

गाथा १२४

अन्वयार्थ—[वनवासः] वन में निवास, [कायक्लेशः] काय का क्लेश,
[विचित्रोपवासः] अनेक विविध उपवास तथा, [अध्ययन मौन प्रभृतयः] अध्ययन,
मौन आदि कार्य, [समता रहितस्य श्रमणस्य] समता से रहित श्रमण के लिए,
[किं करिष्यति] क्या करेंगे ?

टीका—समता के बिना द्रव्यलिङ्गधारी, श्रमणाभासी साधु के कुछ भी परलोक मुक्ति का कारण नहीं है, ऐसा यहां कहा है ।

समस्त कर्मकलंकरूपी कोचड़ से रहित, महान आनन्द के लिये कारणभूत ऐसे परम समता भाव के बिना वनवास में रहने से, वर्षाऋतु में वृक्ष के तलभाग में स्थित होने से, ग्रीष्म ऋतु में अतितीव्र किरण वाले सूर्य की किरणों से तप्तायमान हुए पर्वत के अग्रशिखर पर स्थिर बैठने से अथवा शीत ऋतु में रात्रि के मध्य में दिगम्बर दशा में रहने से अर्थात् खुले मैदान में ध्यान करने से अथवा चर्म, अस्थिभूत

यिना महोपवासेन वा, सदाध्ययनपटुतया च, वास्विषयव्यापारनिवृत्तिलक्षणेन संततमनस्येन वा किमप्युपादेयं फलमस्ति केवलद्रव्यलिङ्गधारिणः श्रमणाभासस्येति ।

तथा चोक्तम् अमृताशीतैः.....

(मालिनी)

“गिरिगहनगुहाधारण्यशून्यप्रदेश-
स्थितिकरणनिरोधध्यानतीर्थोपसेवा ।
प्रपठनजपहोमब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः
मृगय तदपरं त्वं भोः प्रकारं गुरुभ्यः ॥”

सर्वांग को क्लेशदायी ऐसे महोपवास से तथा सदा अध्ययन की कुशलता से अथवा वचनविषयक व्यापार के अभावरूप निरन्तर मौन व्रत में केवल द्रव्यलिङ्गधारी श्रमणाभास के लिये क्या कुछ भी उपादेयभूत फल है ? अर्थात् नहीं है ।

उसीप्रकार से 'अमृताशीति ग्रंथ में भी कहा है—

“श्लोकार्थ—पर्वत की गहन गुफा आदि में अथवा वन के शून्य प्रदेश में रहना, इन्द्रियों का निरोध करना, ध्यान करना, तीर्थों की उपासना करना, पठन करना, जप और होम करना इत्यादि कार्यों से ब्रह्म स्वरूप आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है, अतः भो भव्य ! तुम गुरुओं से उस अन्य ही प्रकार को पूछो ।

भावार्थ—इन ध्यान, अध्ययन आदि क्रिया कलापों से भी जिस आत्मतत्त्व की सिद्धि नहीं हो पाती है ऐसी जो कोई निर्विकल्प रूप वीतराग अवस्था है या शुद्ध निश्चयसम्यक्त्व है उसे गुरुओं के प्रसाद से ही प्राप्त किया जा सकता है ।

तथा हि—

(द्रुतविलंबित)

अनशनः पश्चरणाः फलं

समतया रहितस्य यतेन हि ।

तत इदं निजतत्त्वमनाकुलं

भज मुने समताकुलमंदिरम् ॥२०२॥

[अब टीकाकार मुनिराज समतादेवी की उपासना के लिये प्रेरणा देते हुए कहते हैं—]

(२०२) श्लोकार्थ—समता से रहित यति की अनशन आदि तपश्चरणों के द्वारा निश्चितरूप से फल नहीं है । इसलिये, हे मुने ! समता का कुल मंदिर ऐसे इस आकुलता रहित निज तत्त्व को तुम भजो ।

भावार्थ—यदि कोई साधु द्रव्यनिगी है, श्रमण के सदृश दिव्यता है किन्तु भाव श्रमण नहीं है तथा समताभाव से भी रहित है तो वीराघोर तपश्चरणों के द्वारा भी उसको आत्मसिद्धिरूप फल नहीं मिलेगा । हां ! मंदकपाय के द्वारा ब्राह्म्य चारित्र्य से उसे नवग्रैवेयक तक, अहमिन्द्र के सुख तो मिल भी सकते हैं, किन्तु जो वास्तविक निर्वाण फल है, वह नहीं मिल सकता है । इसलिये यहां पर स्वयं भगवान् कुंदकुंददेव ने यह कहा है कि समता—वीतराग भाव से रहित साधु के लिये काय क्लेशादि क्या कर सकते हैं ? इससे यह नहीं समझना कि ये काय क्लेशादि व्यर्थ हैं, किन्तु ऐसा समझना कि इतनी ऊंची जिन कल्पी चर्या के आचरण करने वालों को भी तथा अध्यात्म शास्त्र के अध्ययन करने वालों को भी द्रव्यनिगी अवस्था रह सकती है । तब यह सम्यक्त्व कितना सूक्ष्म है कि जिसे वे स्वयं ग्यारह अंग के पाठी होने पर भी नहीं जान पाते हैं, क्या वे आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन नहीं करते हैं ? अवश्य करते हैं फिर भी वे भाव मिथ्यात्वी ही रह जाते हैं । निष्कर्ष यह निकलता है कि अपने सम्यक्त्व रूप श्रद्धान परिणाम को दृढ़ करते रहना चाहिये और जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए रागद्वेष को हटाकर समतादेवी की आराधना करते रहना चाहिए ।

विरदो' सर्वसावज्जे, त्रिगुप्तो पिहितेन्द्रियो ।
तस्स सामाङ्गं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२५॥

विरतः सर्वसावद्ये त्रिगुप्तः पिहितेन्द्रियः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२५॥

जो मुनि सब सावद्य चर्या से विरत है नित्य ही ।
और तीन गुप्तों युक्त है और पांच इन्द्रिय के जयी ॥
उनही मुनी के सर्वथा स्थायि सामायिक रहे ।
अरिहंत शासन में कहा इसविध यही ऋषिगण कहें ॥१२५॥

इह हि सकलसावद्यव्यापाररहितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य सकलेन्द्रियव्यापारविमुक्तस्य तस्य च मुनेः सामायिकं व्रतं स्थायीत्युक्तम् । अथात्रैकेन्द्रियादिप्राणिनिकुरंबक्लेशहेतुभूतसमस्तसावद्यव्यासंगविनिर्मुक्तः, प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तकायवाङ्मनसां व्यापाराभावात् त्रिगुप्तः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियाणां मुखैस्तत्तद्योग्यविषयग्रहणाभा-

गाथा १२५

अन्वयार्थ—[सर्व सावद्ये विरतः] जो सम्पूर्ण सावद्य योग से विरत, [त्रिगुप्तः] तीन गुप्ति से सहित, और [पिहितेन्द्रियः] इन्द्रियों को संवृत्त करने वाले है, [तस्य] उनके [स्थायिसामायिकं] स्थायी सामायिक है, [इति केवलिशासने] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है ।

टीका—समस्त सावद्य व्यापार से रहित, तीन गुप्तियों से गुप्त और सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार से विमुक्त ऐसे उन मुनि के सामायिक व्रत स्थायी है ऐसा यहां पर कहा है ।

जो यहां पर एकेन्द्रिय आदि प्राणी समुदाय के लिये क्लेश के कारणभूत ऐसे समस्त पाप योग के व्यासंग से रहित हैं, प्रशस्त और अप्रशस्तरूप समस्त काय, वचन तथा मन सम्बन्धी व्यापार के अभाव से तीन गुप्ति से सहित हैं । स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन नामवाली पांच इन्द्रियों के मुख से अर्थात् उन-उन के योग्य विषयों

वात् पिहितेन्द्रियः, तस्य खलु महामुमुक्षोः परमवीतरागसंयमिनः सामायिकं व्रतं शाश्वत् स्थायि भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

इत्थं मुक्त्वा भवभयकरं सर्वसावधराशि
नीत्वा नाशं विकृतिमनिशं कायवाङ्मानसानाम् ।
अन्तःशुद्ध्या परमकलया साकमात्मानमेकं
बुद्ध्वा जन्तुः स्थिरशममयं शुद्धशीलं प्रयाति ॥२०३॥

जो समो सब्बभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाद्दगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥२०३॥

के ग्रहण का अभाव होने से गंकुचित इन्द्रिय वाले हैं—इन्द्रियों का निरोध करने वाले हैं, उन परमवीतराग संयमी, महामुमुक्षु साधु के निश्चितरूप से सामायिक व्रत शाश्वत-स्थायी होता है ।

[टीकाकार मुनिराज सामायिक चारित्र का महत्व बतलाते हुए कहते हैं—]

(२०३) श्लोकार्थ—इसप्रकार भवभयकारी संपूर्ण पापयोग के समूह को छोड़कर काय, वचन, मन की विकृति को हमेशा नष्ट करके अन्तरंग की शुद्धिरूप परमकला में सहित ऐसा एक आत्मा को जान करके जीव स्थिर शममय (कषायों की पूर्ण उपशमतारूप) ऐसे शुद्ध चारित्र को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—‘सर्वसावध्ययोगाद्विरतोऽस्मि’ मैं सम्पूर्ण पाप सहित योग से विरक्त हूँ इसे ही सामायिक चारित्र कहते हैं । दीक्षा के समय यह एक अभेदरूप चारित्र होता है पुनः अभेद से भेद में आने के बाद छेदोपस्थापना रूप—अट्ठाईस मूलगुणों के भेदरूप चारित्र होता है । यहाँ पर इस अभेद चारित्र का ही स्वरूप और महत्व बतलाया है ।

गाथा १२६

अन्वयार्थ—[यः स्थावरेषु वा जसेषु] जो स्थावर और जस जीवों के प्रति,

यः समः सर्वभूतेषु स्थावरेषु त्रसेषु वा ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२६॥

जो वस तथा स्थावरो में सर्वप्राणी मात्र में ।
समभाव को धारण करें मुनि सर्वतः सब काल में ॥
उन साधु के ही सर्वथा स्थायि सामायिक रहे ।
ग्रहंत शानन में कहा, यह कुन्दकुन्द गुरु कहें ॥१२६॥

परममाध्यस्थ्यभावाद्यारूढस्थितस्य परममुमुक्षोः स्वरूपमत्रोक्तम् । यः सहज-
वैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिः विकारकारणनिखिलमोहरागद्वेषाभावाद् भेदकल्पनापोढ-
परमसमरसीभावसनाथत्वात्त्रसस्थावरजीवनिकायेषु समः, तस्य च परमजिनयोगीश्वरस्य
सामायिकाभिधानव्रतं सनातनमिति वीतरागसर्वज्ञमार्गं सिद्धमिति ।

[समः] समस्वभावी है, [तस्य] उसके, [सामायिकं स्थायि] सामायिक स्थायी है,
[इति केवलिशासने] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है ।

टीका—परम माध्यस्थ भाव आदि में आरोहण करके स्थित हुए जो परम-
मुमुक्षु हैं उनका स्वरूप यहां कहा है ।

जो सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर की चूड़ामणि स्वरूप महामुनि विकार
के कारणभूत ऐसे सम्पूर्ण मोह रागद्वेष के अभाव से, भेद कल्पना से रहित और परम
समरसी भाव से सहित होने से वस—स्थावर जीव निकायों के प्रति समभावी हैं, उन
परम जिन योगीश्वर के सनातन सामायिक नामक व्रत होता है, यह वीतराग सर्वज्ञ
देव के मार्ग में सिद्ध है ।

भावार्थ—परम्परा से आगत समीचीन कथन सनातन कथन है यह सामायिक
व्रत भी परम्परागत समीचीन व्रत है ।

[टीकाकार मुनिराज अभेद चारित्र की स्तुति करते हुए पुनरपि आठ श्लोक
कहते हैं—]

(मालिनी)

असहतिपरिमुक्तं स्थावराणां वधैर्वा
परमजिनमुनीनां चित्तमुच्चैरजलम् ।
अपि चरमगतं यन्निर्मलं कर्ममुक्त्यै
तदहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥२०४॥

(अनुष्टुभ्)

केचिदद्वैतमार्गस्थाः केचिदद्वैतपथे स्थिताः ।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमार्गं वर्तामहे वयम् ॥२०५॥

(अनुष्टुभ्)

कांक्षन्त्यद्वैतमन्येपि द्वैतं कांक्षन्ति चापरे ।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानमभिनीम्यहम् ॥२०६॥

(२०४) श्लोकार्थ—परम जिन मुनियों का चित्त-अंतःकरण हमेशा ही अतिशयरूप से अस जीवों की हिंसा और स्थावर जीवों के वध से विमुक्त है और जो चरमसीमा को प्राप्त ऐसा निर्मल है, उस चैतन्य के परिणामरूप मन को मैं कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ, उसका स्तवन करता हूँ और उसकी सम्यक्प्रकार से भावना करता हूँ ।

भावार्थ—मुनियों का चैतन्य परिणामरूप जो भावमन है वह जीव हिंसा के परिणाम से रहित है तथा निर्मलता में पराकाष्ठा को प्राप्त है उस मन की स्तुति, वंदना, भावना आदि करने से हमारा भी मन पवित्र निर्मल होगा ।

(२०५) श्लोकार्थ—कोई अद्वैतमार्ग में स्थित हैं और कोई द्वैत मार्ग में स्थित हैं, किन्तु हम द्वैत और अद्वैत से विनिर्मुक्त ऐसे निर्विकल्प मार्ग में रहते हैं ।

(२०६) श्लोकार्थ—दूसरे कोई भी अद्वैत को चाहते हैं और अन्य कोई द्वैत को चाहते हैं तथा मैं द्वैत-अद्वैत से मुक्त ऐसी आत्मा को नमस्कार करता हूँ ।

(अनुष्टुप्)

अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम् ।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहुः ॥२०७॥

(शिखरिणी)

विकल्पोपन्यासंरलमलममीभिर्भवकरै
रखण्डानन्दात्मा निखिलनयराशेरविषयः ।
अयं द्वैताद्वैतो न भवति ततः कश्चिच्चिरात्
तमेकं वन्देऽहं भवभयविनाशाय सततम् ॥२०८॥

(शिखरिणी)

सुखं दुःखं योनौ सुकृतदुरितव्रानजनितं
शुभाभावो भूयोऽशुभपरिणतिर्वा न च न च ।
यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो बाढमिह नो
य एवं संन्यस्तो भवगुणगणैः स्तौमि तमहम् ॥२०९॥

(२०७) श्लोकार्थ—मैं सुख को आकांक्षा करने वाला आत्मा जन्म रहित और नाश रहित ऐसी अपनी आत्मा को, आत्मा के द्वारा ही आत्मा में स्थित होकर पुनः पुनः भाना हूँ ।

(२०८) श्लोकार्थ—भव को करने वाले इस विकल्प के कथनों से बस होवे, बस होवे । अखंड आनन्दस्वरूप आत्मा सकलनय समूह का अविषय है इसलिये यह कोई (एक अद्वितीय) आत्मा द्वैत और अद्वैत रूप नहीं है, मैं शीघ्र ही भवभय के नाश हेतु सतत उस एक स्वरूप आत्मा की वंदना करना हूँ ।

(२०९) श्लोकार्थ—योनि में—जन्मरूप संसार में सुख और दुःख सुकृत और दुष्कृत के समूह से उत्पन्न हुए हैं, पुनः आत्मा को शुभ का ही अभाव है अथवा अशुभ परिणति भी नहीं है नहीं है, क्योंकि इस संसार में इस एक आत्मा को भव का परिचय अत्यन्त रूप से बिलकुल नहीं है । इसप्रकार से जो भव के गुण समूह से संन्यस्त हो चुका—मुक्त हो चुका है, उसकी मैं स्तुति करता हूँ ।

(मालिनी)

इदमिदमघसेनावैजयन्तीं हरेतां
स्फुटितसहजतेजःपुंजद्वरोकृतांहः ।
प्रबलतरतमस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं
जयति जगति नित्यं चिच्चमत्कारमात्रम् ॥२१०॥

(पृथ्वी)

जयत्यनघमात्मतत्त्वमिदमस्तसंसारकं
महामुनिगणाधिनाथहृदयारविन्दस्थितम् ।
विमुक्तभवकारणं स्फुटितशुद्धमेकान्ततः
सदा निजमहिम्नि लीनमपि सद्दृशां गोचरम् ॥२११॥

भावार्थ—संसार में सभी सुख और दुःख पुण्य और पाप के ही फल हैं, किन्तु वास्तव में शुद्धनिश्चयनय से भरी आत्मा में पुण्य और पाप का लेश नहीं है वह तो पूर्ण शुद्ध है । इसीलिये इस शुद्धात्मा का संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है । ऐसी शुद्ध भावना से परिणत हुए शुद्धोपयोगी महामुनियों की यहां स्तुति की गई है ।

(२१०) श्लोकार्थ—जिसने प्रगट हुए सहज तेज पुंज से प्रबलतर अंधकार समूह को दूर कर दिया है, जो सदा शुद्ध-शुद्ध है, नित्य है और चैतन्य चमत्कार मात्र है । यह तेज जगत् में जयशील हो रहा है और यही सहज तेज पापरूपी सेना की ध्वजा को हरण करने वाला है ।

भावार्थ—चिच्चमत्कार मात्र सहजतेज पाप शत्रु की सेना को जीतकर विजयी बन जाता है ।

(२११) श्लोकार्थ—यह निर्दोष आत्म तत्त्व जयवंत हो रहा है जो कि संसार का अस्त कर चुका है, महामुनियों के गण के अधिनाथ ऐसे गणधर देव के हृदय कमल में विराजमान है, भव के कारणों से विमुक्त है, प्रकटरूप से शुद्ध है और एकान्त से सदा अपनी महिमा में लीन होते हुए भी सम्यग्दृष्टियों का गोचर है ।

जस्स सण्हिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाङ्गं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२७॥

यस्य सन्निहितः आत्मा संयमे नियमे तपसि ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥१२७॥

जिस साधु की आत्मा लगी संयम नियम तप में सदा ।
उस रूप परिणति हो रही निश्चय रतनत्रय युत सदा ॥
उस ही मुनी के संबंधा, स्थायि सामायिक रहे ।
श्री केवली अर्हत शासन में इसीविध से कहे ॥१२७॥

अत्राप्यात्मवोपादेय इत्युक्तः । यस्य खलु बाह्यप्रपंचपराङ्मुखस्य निजितान्त्रि-
लेन्द्रियव्यापारस्य भाविजिनस्य पापक्रियानिवृत्तिरूपे बाह्यसंयमे कायवाङ्मनोगुप्तिरूप-
सकलेन्द्रियव्यापारवर्जितेऽभ्यन्तरात्मनि परिमितकालाचरणमात्रे नियमे परमब्रह्मचिन्मय-

भावार्थ—इस शुद्ध आत्मतत्त्व को चार ज्ञानधारी और सप्त ऋद्धि से
समन्वित ऐसे गणधर देव भी अपने हृदय में विराजमान करके ध्यान करते हैं यह शुद्ध
निश्चयनय की अपेक्षा एकान्तरूप से अपनी महिमा में ही तत्पर है फिर भी सम्यग्दृष्टि
जन इसका अनुभव करते हैं ।

गाथा १२७

श्रन्वयार्थ—[यस्य आत्मा] जिसकी आत्मा, [संयमे] संयम में, [नियमे]
नियम में, और [तपसि] तप में, [सन्निहितः] निकट है, [तस्य] उसके, [सामायिक]
[स्थायि] सामायिक व्रत स्थायी है, [इति केवलिसासने] ऐसा केवली भगवान् के
शासन में कहा है ।

टोका—आत्मा ही उपादेय है ऐसा यहां पर भी कथन है ।

जो बाह्य प्रपंच से पराङ्मुख हैं, अखिल इंद्रियों के व्यापार को जिन्होंने
जीत लिया है ऐसे जो भावी जिन हैं उनके निश्चितरूप से पाप क्रिया से निवृत्ति
बाह्य संयम में, काय गुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्तिरूप सम्पूर्ण इंद्रियों के व्यापार

नियतनिश्चयान्तर्गताचारे स्वरूपेऽविचलस्थितिरूपे व्यवहारप्रपञ्चितपञ्चाचारे पञ्चमगतिहेतु-
भूते किञ्चनभावप्रपञ्चपरिहीणे सकलदुराचारनिवृत्तिकारणे परमतपश्चरणे च परमगुरुप्र-
सादासादितनिरंजननिजकारणपरमात्मा सदा सन्निहित इति केवलानां शासने तस्य पर-
द्रव्यपराङ्मुखस्य परमवीतरागसम्यग्दृष्टेर्वीतरागचारित्र्यभङ्गः सामायिकव्रतं स्थापि
भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे
तिष्ठत्युच्चैः परमयमिनः शुद्धदृष्टेर्मनश्चेत् ।

वर्जित ऐसे अभ्यन्तरूप संयम में मर्यादित काल के आचरण मात्र ऐसे नियम में अपने
स्वरूप में अविचल स्थितिरूप परमब्रह्म स्वरूप चिन्मय में नियत ऐसे निश्चय स्वरूप
अन्तर्गत आचार में पञ्चमगति के लिये कारणभूत ऐसे व्यवहार के विस्तार से सहित
पञ्चाचार में, किञ्चन भावरूप [यह किञ्चित् भी मेरा है] प्रपञ्च से रहित और सकल
अशुभ आचार के अभाव में कारणभूत ऐसे परम तपश्चरण में परमगुरु के प्रसाद से
प्राप्त हुआ ऐसा निरंजनरूप निजकारण परमात्मा सदा निकट में स्थित है । इसप्रकार
से केवलभगवान् के शासन में परद्रव्य से पराङ्मुख और वीतराग चारित्र्य को प्राप्त
हुए ऐसे परम वीतराग सम्यग्दृष्टि के सामायिक व्रत स्थायी होता है ।

भावार्थ—जो त्रिगुणित से सहित महासाधु हैं और भविष्य में जिनेन्द्र के पद
को प्राप्त करने वाले ऐसे भावी जिन हैं, उनकी निजकारण परमात्मा स्वरूप आत्मा
सदा ही ब्राह्म और अभ्यन्तरूप संयम, नियम, चारित्र्य तथा तपश्चरण में स्थित रहती
है, तब उन्हीं वीतराग चारित्र्य से युक्त निश्चय सम्यग्दृष्टि के परमसमता भावरूप
सामायिक व्रत स्थायीरूप रहता है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज उन्हीं मुनिराज का गुणगान करते हुए
कहते हैं—]

(२१२) श्लोकार्थ—शुद्ध सम्यग्दृष्टि ऐसे परमसंयमी की आत्मा नित्य ही
तप में, नियम में, संयम में और सम्यक्चारित्र्य में अतिशयरूप से स्थित है, यदि ऐसा

तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे ।

साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाभिरामे ॥२१२॥

जस्स रागो दु दोसो दु, विगडि एण जणेइ दु ।

तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२८॥

यस्य रागस्तु द्वेषस्तु विकृतिं न जनयति तु ।

तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२८॥

ये राग द्वेष विकार नहि उत्पन्न हो सकते जिन्हें ।

वे ही महामुनि वीतराग, समाधि में नित परिणामें ॥

उनके परम संन्यासमय स्थायि सामायिक रहे ।

अर्हत शासन में कहा यह कुन्दकुन्द गुरु कहें ॥१२८॥

इह हि रागद्वेषाभावादपरिस्पंदरूपत्वं भवतीत्युक्तम् । यस्य परमवीतरागसंय-
मितः पापाटधीपावकस्य रागो वा द्वेषो वा विकृतिं नावतरति, तस्य महानन्दाभिला-

अन्तःकरण है तो राग के समाप्त हो जाने से रमणीय भवभय को हरण करने वाले
ऐसे उन भावी तीर्थाधिनाथ में यह सहजसमता निश्चित ही साक्षात् होती है ।

भावार्थ—वीतरागी परम साधु के आत्मा सदा ही तपश्चरण आदि में स्थित
रहती है यही कारण है कि वे भावी तीर्थेश्वर हैं और उनके अन्दर परम साम्य भावना
परम वीतरागता प्रगट होती है ।

गाथा १२८

अन्वयार्थ—[यस्य] जिनके, [रागः तु द्वेषः तु] राग और द्वेष, [विकृतिं
तु न जनयति] विकृति को उत्पन्न नहीं करते हैं, [तस्य] उनके, [सामायिकं स्थायि]
सामायिक व्रत स्थायी है, [इति] ऐसा, [केवलि शासने] केवली भगवान के शासन
में कहा है ।

टीका—रागद्वेष के अभाव से परिस्पंद रहित अवस्था होती है, ऐसा यहाँ
पर कहा है ।

षिणः जीवस्य पंचेन्द्रियप्रसरयजितगात्रमात्रपरिग्रहस्य सामायिकनामव्रतं शाश्वतं भवतीति केवलिनः शासने प्रसिद्धं भवतीति ।

(मंदाकांता)

रागद्वेषौ विकृतिमिह तौ नैव कर्तुं समर्थौ

ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितानीकघोरान्धकारे ।

आरातीये सहजपरमानन्दपीयूषपूरे

तस्मिन्नित्ये समरसमये को विधिः को निषेधः ॥२१३॥

जो तु अहं च रुद्धं च, ज्ञाणं वज्जेदि रिणच्चसा ।

तस्स समाह्वं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१२६॥

पापक्षपी वन को भस्म करने के लिये अग्नि स्वरूप ऐसे जिन परम बीतरागी संयमी राग अथवा द्वेष विकृति को अवतरित नहीं करते हैं, उन पंचेन्द्रियों के व्यापार से रहित गात्र मात्र परिग्रहवागी ऐसे महान् आनन्द के अभिलाषी जीव के सामायिक नाम का व्रत शाश्वत होता है, ऐसा केवली भगवान के शासन में प्रसिद्ध है ।

[टीकाकार मुनिराज ऐसे निर्विकल्प योगी का वर्णन करते हुए कहते हैं—]

(२१३) श्लोकार्थ—जिन्होंने ज्ञान ज्योति से पाप के समूहरूप ऐसे घोर अंधकार को नष्ट कर दिया है जो सहज परमानन्द पीयूष के पूर स्वरूप हैं ऐसे आरातीय-आधुनिक इन मुनिराज में ये रागद्वेष विकृति को करने के लिये समर्थ नहीं हैं, ऐसे नित्य ही समरसमय उनके लिये क्या तो विधि है और क्या निषेध है ?

भावार्थ—जिनके हृदय में भेदविज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न हो चुका है और जो परमानन्दरूप अमृत से परमतृप्ति को प्राप्त हैं ऐसे मुनिराज में राग और द्वेष अपना प्रभाव नहीं डाल सकते हैं वे भी परम प्रणमभाव को प्राप्त हो जाते हैं, तब वे साधु निर्विकल्परूप परम उदासीन ऐसे बीतराग भाव में ठहर जाते हैं, उस समय उन्हें कुछ ग्रहण करने और छोड़ने का विकल्प नहीं रह जाता है ।

गाथा १२६

अन्वयार्थ—[यः तु आर्तं च रौद्रं ध्यानं] जो आर्त तथा रौद्र ध्यान को, [नित्यशः वर्जयति] नित्य ही छोड़ देते हैं, [तस्य] उनके, [सामायिकं स्थायि]

यस्त्वात्तं च रौद्रं च ध्यानं वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२६॥

जो आर्तध्यान व रौद्र ध्यानों, को सदा परिहारते ।
स्वात्माभिमुख होकर सतत, निजतत्त्व एक निहारते ॥
उन महामुनि के ध्यानमय, स्थायि सामायिक रहे ।
श्री केवली के विमल शासन में इसी विध से कहे ॥१२६॥

आर्तरौद्रध्यानपरित्यागात् सनातनसामायिकव्रतस्वरूपाध्यानमेतत् । यस्तु
नित्यनिरंजननिजकारणसमयसारस्वरूपनियतशुद्धनिश्चयपरमवीतरागसुखामृतपानपरायणो
जीवः तिर्यग्योनिप्रेतावासनारकादिगतिप्रायोग्यतानिमित्तम् आर्तरौद्रध्यानद्वयं नित्यशः
संत्यजति, तस्य खलु केवलदर्शनसिद्धं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवतीति ।

सामायिक स्थायी है, [इति] ऐसा, [केवलिशासने] केवली भगवान के शासन में
कहा है ।

टीका—आर्तरौद्र ध्यान के परित्याग से सनातन सामायिक व्रत के स्वरूप
का यह कथन है ।

नित्य निरंजन निज कारण समयसार स्वरूप में नियत (नियम से स्थित)
शुद्ध निश्चय परम वीतराग सुखरूपी अमृत के पीने में तत्पर ऐसे जो जीव तिर्यचयोनि
रूप प्रेतावास और नारक आदि गति की योग्यता के लिये कारणभूत ऐसे आर्तध्यान
और रौद्रध्यान को हमेशा छोड़ देते हैं, उनके निश्चितरूप से केवल दर्शन से शाश्वत
ऐसा सामायिक व्रत होता है ।

भावार्थ—आर्तध्यान तिर्यच गति का कारण है और रौद्रध्यान नरकगति का
कारण है । इन दोनों दुर्ध्यानों से रहित मुनिराज को सदा ही धर्म्यध्यान अथवा शुक्ल-
ध्यानरूप निश्चय सामायिक व्रत होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज इन दुर्ध्यानों के त्याग की प्रेरणा देते हुए
कहते हैं—]

(धार्या)

इति जिनशासनसिद्धं सामायिकव्रतमणुव्रतं भवति ।
तस्यैव जति मुनिनित्यं ध्यानमद्वयमसिरोद्गास्यम् ॥२१४॥

जो दु पुण्यं च पापं च, भावं वज्जेदि णित्तवसा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३०॥

यस्तु पुण्यं च पापं च भावं वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥१३०॥

संसार सुखप्रद पुण्य भावों, से सतत मुख मोड़ते ।
बहु दुःखदायी पाप भावों, को सदा जो छोड़ते ॥
शुद्धोपयोगी उन मुनी के स्थायि सामायिक रहे ।
श्रीकेवली के विमल शासन, में इसी विध से कहें ॥१३०॥

(२१४) श्लोकार्थ—जो मुनिराज आर्त और रौद्र नाम के दोनों ही ध्यानों को छोड़ देते हैं, उनके इसप्रकार से जिनशासन में प्रसिद्ध, अणुव्रतरूप सामायिक व्रत स्था है ।

भावार्थ—आर्तध्यान और रौद्रध्यान से रहित साधु का जो सामायिक व्रत है अणुव्रत है, क्योंकि पूर्णतया मोहनीय के अभाव से होने वाला समताभावरूप सामायिक ही स्थायी होता है । इस अपेक्षा से ही वीतरागता के पूर्व कदाचित् समता-व्रत है कदाचित् नहीं है अतएव वह महाव्रत न कहलाकर अणुव्रत ही कहलाता है या समझना ।

पाथा १३०

अन्वयार्थ—[यः तु] जो, [पुण्यं च पापं च भावं] पुण्यरूप और पापरूप को, [नित्यशः वर्जयति] नित्य ही छोड़ देता है, [तस्य सामायिकं स्थायि] के सामायिक स्थायी है, [इति केवलिसासने] ऐसा केवली भगवान के शासन में है ।

शुभाशुभपरिणामसमुपजनितसुकृतदुरितकर्मसंन्यासविधानाख्यानमेतत् । बाह्याभ्यन्तरपरित्यागलक्षणलक्षितानां परमजिनयोगीश्वराणां चरणनलिनक्षालनसंवाहनादिवैयावृत्यकरणजनितशुभपरिणतिविशेषसमुपार्जितं पुण्यकर्म, हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहपरिणामसंजातशुभकर्म, यः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिः संसृतिपुरंध्रिकाविलासविभ्रमजन्मभूमिस्थानं तत्कर्मद्वयमिति त्यजति, तस्य नित्यं केवलिमतसिद्धं सामायिकव्रतं भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा सर्वं सुकृतदुरितं संसृतेर्भूलभूतं
नित्यानंदं व्रजति सहजं शुद्धचैतन्यरूपम् ।
तस्मिन् सद्दृग् विहरति सदा शुद्धजीवास्तिकाये
पश्चादुच्चैः त्रिभुवनजनैरर्चितः सन् जिनः स्यात् ॥२१५॥

टीका—शुभ और अशुभ परिणाम से उत्पन्न होने वाले पुण्य और पापरूप कर्मों के त्याग के विधान का यह कथन है ।

बाह्य और अभ्यन्तर के परित्यागरूप लक्षण से लक्षित, परम जिन योगीश्वरों के चरण कमलों के प्रक्षालन, संवाहन (दबाने) आदि रूप वैयावृत्ति को करने से उत्पन्न हुई शुभ परिणति विशेष उपार्जित किया गया पुण्य कर्म है और हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील तथा परिग्रहरूप परिणामों से उत्पन्न हुआ अशुभ कर्म है । सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि जो—महामुनिराज संसाररूपी स्त्री के विलास विभ्रम को उत्पन्न करने के लिये जन्मभूमि के स्थान स्वरूप ऐसे इन दोनों (पुण्य-पापरूप) कर्मों को छोड़ देते हैं उनके नित्य ही केवली भगवान के मत में सिद्ध यह सामायिक व्रत (संयम) होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज पुण्यपाप से रहित, शुद्ध-स्वरूप ऐसी तृतीय भूमिका को प्राप्त करने की प्रेरणा देते हुए तीन श्लोक कहते हैं—]

(२१५) श्लोकार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव संसार के लिये मूल कारणभूत ऐसे सभी पुण्य और पाप को छोड़कर नित्य आनन्दरूप, सहज ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप को प्राप्त कर लेता है और सदा उस शुद्ध जीवास्तिकाय में विहार करता है । पश्चात्

(शिखरिणी)

स्वतःसिद्धं ज्ञानं दुरघसुकृतारण्यदहनं
महामोहध्वान्तप्रबलतरतेजोमयमिदम् ।
विनिर्मुक्तैर्मूलं निरुपधिमहानन्दसुखं
यजाभ्येतन्नित्यं भवपरिभवध्वंसनिपुणम् ॥२१६॥

(शिखरिणी)

अयं जीवो जीवत्यघकुलवशात् संसृतिवध-
धवत्वं संप्राप्य स्मरजनितसौख्याकुलमतिः ।
क्वचिद् भव्यत्वेन व्रजति तरसा निर्वृत्तिमुखं
तदेकं संत्यक्त्वा पुनरपि स सिद्धो न चलति ॥२१७॥

अतिशयरूप से तीन लोक के जनों में अर्चित होता हुआ जिनेन्द्र भगवान हो जाता है ।

भावार्थ—जो जीव पुण्य-पाप से रहित ऐसे शुद्धोपयोग में लीन होते हैं वे जगत्पूज्य जिनदेव हो जाते हैं ।

(२१६) श्लोकार्थ—यह स्वतः सिद्ध ज्ञान दुष्ट पाप और पुण्यरूप वन को जलाने के लिये अग्निरूप है, महा मोहरूपी अंधकार के नाश हेतु प्रबलतर तेजोमय है, निर्वाण का मूल है, उपाधि रहित महान आनन्द और सुख को देने वाला है तथा भव के तिरस्कार को ध्वंस करने में निपुण है ऐसे इस ज्ञान को मैं नित्य पूजता हूँ ।

(२१७) श्लोकार्थ—यह जीव पाप समूह (दोष समूह) के वश होने से संसाररूपी वधू का पति होकर काम से जनित सुख से आकुल बुद्धि वाला होता हुआ जी रहा है । कभी भव्यत्व भाव के द्वारा शीघ्र ही निर्वाण सुख को प्राप्त कर लेता है तब उस एक सुख को छोड़कर पुनः कभी भी वह सिद्ध चलायमान नहीं होता है ।

भावार्थ—भव्यत्व के विपाक से कर्मों के निमित्त से यह जीव संसार में दुःख उठाता है पुनः यही जीव जब मुक्ति को प्राप्त कर लेता है तो पुनः इस संसार में कभी भी अवतार नहीं लेता है ।

जो दु हस्सं रई सोगं, अरदिं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३१॥

जो दुगंछा भयं वेदं, सव्वं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३२॥

यस्तु हास्यं रतिं शोकं अरतिं वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥१३१॥

यः जुगुप्सां भयं वेदं सर्वं वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥१३२॥

जो हास्य रति और शोक अरति, का सतत वर्जन करें ।
समस्त सुधा का पान कर, निजरूप में वर्तन करें ॥
उन बुद्ध उपयोगी मुनी के स्थायि सामायिक रहे ।
श्री केवली के विमल शासन में इसी विध मान्य हैं ॥१३१॥
जो भय, जुगुप्सा पुरुष स्त्री, नपुंसक त्रय वेद को ।
नित छोड़ देते बुद्धि से, ध्याते सतत निजरूप को ॥
उन भेद विज्ञानी मुनी के स्थायि सामायिक रहे ।
श्री केवली के अमल शासन में इसीविध से कहें ॥१३२॥

गाथा १३१-१३२

अन्वयार्थ—[यः तु हास्यं रतिं शोकं अरतिं] जो हास्य, रति, शोक और अरति को, [नित्यशः वर्जयति] नित्य ही छोड़ देता है, [तस्य सामायिकं स्थायि] उसके सामायिक स्थायी होता है, [इति केवलिसासने] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है । [यः] जो, [जुगुप्सां, भयं सर्वं वेदं] जुगुप्सा, भय और सभी वेद को, [नित्यशः वर्जयति] नित्य ही छोड़ देता है, [तस्य] उसके, [सामायिकं स्थायि] सामायिक व्रत स्थायी है, [इति केवलिसासने] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है ।

नवनोकषायविजयेन समासादितसामायिकचारित्रस्वरूपाख्यानमेतत् । मोहनीय-
संस्तमुपजनितस्त्रीपुंनपुंसकवेदहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साभिधाननवनोकषायकलितक-
ल्पकात्मकसमस्तविकारजालकं परमसमाधिबलेन यस्तु निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमतपो-
नः संत्यजति, तस्य खलु केवलिभट्टारकशासनसिद्धपरमसामायिकाभिधानव्रतं शाश्वत-
सम्भवेन सूत्रद्वयेन कथितं भवतीति ।

(शिखरिणी)

त्यजाम्येतत्सर्वं ननु नवकषायात्मकमहं
मुदा संसारस्त्रीजनितसुखदुःखावलिकरम् ।
महामोहान्धानां सततमुलभं दुर्लभतरं
समाधौ निष्ठानामनवरतमानन्दमनसाम् ॥२१८॥

टीका—नव नोकषाय की विजय से प्राप्त होने वाले, ऐसे सामायिक-व्याधि-
स्वरूप का यह कथन है ।

मोहनीय कर्म से उत्पन्न होने वाले स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति,
रति, शोक, भय और जुगुप्सा इन नामवाली नव नोकषायों से होने वाले, कलंक पंक
समस्त विकार जालों को परम समाधि के बल से जो निश्चय रत्नत्रय स्वरूप परम
पोधन छोड़ देते हैं, उनके निश्चितरूप से केवली भट्टारक के शासन में सिद्ध ऐसा
परम सामायिक नामका व्रत शाश्वतरूप होता है । इस प्रकार से इन दो सूत्रों से यह
साधित गया है ।

[अब टीकाकार मुनिराज स्वयं अपनी आत्मा को इस निर्विकल्प सामायिक
व्रत में प्रेरित करते हुए कहते हैं—]

(२१८) श्लोकार्थ—संसाररूपी स्त्री से उत्पन्न होने वाले सुख और दुःखों
समूह को करने वाले नव नोकषायरूप इन सभी को मैं हर्षपूर्वक छोड़ता हूँ, जो कि
महामोह से अंधे हुए जीवों के लिये सतत मुलभ हैं और सदा ही आनन्दरूप मन से
सुख तथा समाधि में लीन हुये ऐसे महामुनियों के अतिशय दुर्लभ हैं ।

जो दु धर्मं च शुक्लं च, ज्ञाणं ज्ञाएदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १३३ ॥

यस्तु धर्म्यं च शुक्लं च ध्यानं ध्यायति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिसासने ॥ १३३ ॥

जो मुनी चारों धर्म ध्यानों शुक्ल ध्यानों को सदा ।
ध्याते स्वयं को स्वयं में स्वयमेव निज के वल सदा ॥
उन ही मुनी का ध्यान वो, स्थायी सामायिक रहे ।
श्री केवली के अमल शामन में इसीविध से कहे ॥ १३३ ॥

परमसत्त्वबुद्धिगारोपसंहारोपनासोऽयम् । यस्तु सकलविमलकेवलज्ञानदर्शन-
लोलुपः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानेन निखिलविकल्पजालनिर्मुक्त-
निश्चयशुक्लध्यानेन च अनवरतमखण्डाद्वैतसहजचिद्विलासलक्षणमक्षयानन्दाम्भोधिमज्जन्तं

भावार्थ—हास्य, रति, अरति आदि कषायरूप परिणाम शुद्धोपयोगी साधुओं के पास फटकते भी नहीं हैं और मोही जीवों के पारा हमेशा रहते हैं ऐसे इन किंचित् कषायरूप परिणामों को भी छोड़ने का उपदेश है ।

गाथा १३३

अन्वयार्थ—[यः तु] जो साधु, [धर्मं च शुक्लं च] धर्म और शुक्ल, [ध्यानं] ध्यान को, [नित्यशः ध्यायति] नित्य ही ध्याता है, [तस्य सामायिकं स्थायि] उसके सामायिक स्थायी होता है, [इति केवलि शासने] ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है ।

टीका—परम समाधि अधिकार के उपसंहार का यह कथन है ।

जो सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन के लोलुपी हैं ऐसे परम जिन योगीश्वर अपनी आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान से और निखिल विकल्प जालों से रहित निश्चय शुक्ल ध्यान से निरन्तर ही अखंड अद्वैत सहज चैतन्य के विलासरूप

सत्त्वाह्यक्रियापराङ्मुखं शश्वदंतःक्रियाधिकरणं स्वात्मनिष्ठनिर्विकल्पपरमसमाधिसंप-
कारणाभ्यां ताभ्यां धर्मशुक्लध्यानाभ्यां सदाशिवात्मकमात्मानं ध्यायति हि तस्य खलु
जिनेश्वरशासननिष्पन्नं नित्यं शुद्धं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणं शाश्वतं सामायिक-
भवतीति ।

(मंदाक्रांता)

शुक्लध्याने परिणतमतिः शुद्धरत्नत्रयात्मा
धर्मध्यानेध्यानघपरमानन्दतत्त्वाश्रितेऽस्मिन् ।
प्राप्नोत्युच्चैरपगतमहद्दुःखजालं विशालं
भेदाभावात् किमपि भविनां बाङ्मनोमार्गद्वरम् ॥२१६॥

य आनंदरूपी समुद्र में निमग्न, सकल बाह्य क्रिया से पराङ्मुख और हमेशा
अन्तर क्रिया के आधारभूत सदाशिव स्वरूप ऐसी आत्मा को ध्याते हैं अर्थात् अपनी
आत्मा में निष्ठ निर्विकल्प परमसमाधिरूप संपत्ति के लिये कारण ऐसे उन धर्म और
शुक्ल ध्यान से अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, उनके निश्चिनरूप से जिनेश्वर के
शासन में निष्पन्न हुआ, नित्य, शुद्ध, त्रिगुप्ति से गुप्त ऐसा परम समाधिरूप शाश्वत
सामायिक व्रत होता है ।

भावार्थ—निश्चय धर्म और शुक्लध्यान से जो अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान
करते हैं, उन निर्विकल्प योगी के निर्विकल्प समाधि होती है, उसीका नाम शाश्वत
सामायिक है ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस अधिकार की पूर्ति करते हुए परम समाधि के
लक्षण को बतलाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(२१६) श्लोकार्थ—निर्दोष परमानन्द तत्त्व के आश्रित ऐसे इस धर्मध्यान
अथवा शुक्लध्यान में जिसकी वृद्धि परिणमित हुई है, वह शुद्ध रत्नत्रयात्मक जीव
किसी एक अद्भुत विशाल और महान् दुःख समूहों से रहित तत्त्व को अतिशयरूप से
प्राप्त कर लेता है, जो कि भेद के अभाव से संसारी जीवों के वचनमार्ग और मनो-
मार्ग से दूर है ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसारवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ परमसमाध्यधिकारो नवमः श्रुतस्कन्धः ॥

भावार्थ—शुद्ध रत्नत्रय से परिणत हुए जीव किसी एक अद्भुत तत्त्व को प्राप्त कर लेने हैं । वास्तव में वह तत्त्व संसारो जीवों के वचनों से भी परे है और मन के भी अगोचर है केवल महासाधुओं को ही गम्य है ।

विशेषार्थ—इस परमसमाधि अधिकार में गाथा १२२ से लेकर १३३ पर्यन्त वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर आत्मा के ध्यान करने का उपदेश है । उस ध्यान की सिद्धि के लिये जीवित-मरण, सुख-दुःख आदि में समता भाव रखना परम आवश्यक है उसी समता का वर्णन करके आचार्य देव ने जिनेन्द्र देव के शासन में कथित सामायिक का वर्णन नौ गाथाओं द्वारा नव प्रकार से कहा है । जिसमें कि त्रिगुप्ति, सर्व जीवों में समभाव, संयम आदि में सन्निकटता, रागद्वेष का अभाव, आर्त रौद्र ध्यान का त्याग, पुण्य-पाप का वर्जन, हास्य-रति आदि नव नो कपायों का वर्जन ये सब सामायिक का लक्षण है । जो कि शुद्धात्म तत्त्व में स्थिर अवस्थारूप स्थायी सामायिक होती है । यहां पर त्रिकाल देव वंदनारूप सामायिक के अतिरिक्त सर्व सावद्योग से निवृत्तिरूप सामायिक चारित्र्य विवक्षित है, क्योंकि निश्चय धर्म्यध्यान भी बाह्य विकल्पों से रहित निर्विकल्परूप है और शुक्लध्यान भी शुद्धोपयोग परिणतिरूप है, ऐसा समझना ।

इसप्रकार सुकविजन कमलों के लिये सूर्य स्वरूप पंचेन्द्रिय के प्रसार से वर्जित गात्र-मात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारी देव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परम समाधि अधिकार नामक नवमां अधिकार समाप्त हुआ ।



[१०]

परम-भक्ति अधिकार

अथ संप्रति हि भक्त्यधिकार उच्यते ।

सम्मत्तणाणचरणे, जो भक्तिं कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥१३४॥

सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु यो भक्तिं करोति श्रावकः श्रमणः ।
तस्य तु निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति जिनेः प्रज्ञप्तम् ॥१३४॥

रोनाल्लंद

जो श्रावक या साधु, मन में अति रुचि घर के ।
समकित ज्ञान चरित्र में नित भक्ती करते ॥
उनके ही निर्वाण भक्ती होती सच में ।
भक्ती का यह रूप वरणा श्री जिनवर ने ॥१३४॥

अब परम भक्ति अधिकार कहा जाता है ।

गाथा १३४

अन्वयार्थ—[यः श्रावकः श्रमणः] जो श्रावक अथवा श्रमण [सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य में [भक्तिं करोति] भक्ति करता [तस्य तु] उसके [निर्वृत्ति भक्ति भवति] निर्वाण की भक्ति होती है । [इति जिनेः प्रज्ञप्तं] ऐसा जिनों ने कहा है ।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत् । चतुर्गतिसंसारपरिभ्रमणकारणतोषमिथ्यात्वकर्म-
प्रकृतिप्रतिपक्षनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु
भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः एकादशपदेषु श्रावकेषु जघन्याः षट्, मध्यमास्त्रयः, उत्तमौ
द्वौ च, एते सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति । अथ भवभयभीरवः परमनैष्कर्म्यवृत्तयः
परमतपोधनाश्च रत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति । तेषां परमश्रावकाणां परमतपोधनानां च
जिनोत्तमः प्रज्ञप्ता निर्वृतिभक्तिरपुनर्भवपुरंध्रिकासेवा भवतीति ।

(संदाक्रान्ता)

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे
भक्तिं कुर्यादनिशमनुलां यो भवच्छेददक्षाम् ।

कामक्रोधाद्यखिलदुर्घटानिर्मुक्तचेता

भक्तो भक्तो भवति सततं श्रावकः संयमी वा ॥२२०॥

टीका—यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है ।

चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण के लिये कारणभूत जो मिथ्यात्वकर्म प्रकृति
है, उससे विपरीत निज परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और उसीमें आचरण
रूप ऐसे शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप परिणामों का भजन भक्ति कहलाता है । उसीको
आराधना कहते हैं ।

ग्यारह पद—प्रतिमाधारी श्रावकों में छह प्रतिमा तक जघन्य हैं, आगे के तीन
तक मध्यम और आगे के दो ये उत्तम हैं, इन पद वाले सभी श्रावक शुद्ध रत्नत्रय की
भक्ति करते हैं, तथा भवभयभीरु, परम-नैष्कर्म्य वृत्ति वाले (निश्चय भक्ति वाले)
परमतपोधन (शुद्ध) रत्नत्रय की भक्ति करते हैं । उन परम श्रावकों को तथा परम
तपोधन साधुओं को जिनवरों के द्वारा कही गई अपुनर्भवरूपी रमणी की सेवा रूप,
निर्वाण भक्ति होती है ।

[अब टीकाकार मुनिराज भक्ति के माहात्म्य को बतलाते हुए कहते हैं—]

(२२०) श्लोकार्थ—जो जीव भवभय को हरने वाले ऐसे इस सम्यक्त्व में
शुद्ध ज्ञान में और चारित्र्य में हमेशा भव का छेद करने में दक्ष भक्ति को करता है, वह
काम क्रोधादि अखिल पाप समूह से रहित चित्त वाला होता हुआ श्रावक हो या संयमी
हो, भक्त है, भक्त है ॥२२०॥

मोक्षगुण्यपुरिसाणं, गुणभेदं जाणिऊण तेसि पि ।
जो कुरादि परमभक्ति, व्यवहारणयेण परिकहियं ॥१३५॥

मोक्षगतपुरुषाणां गुणभेदं ज्ञात्वा तेषामपि ।
यः करोति परमभक्तिं व्यवहारनयेन परिकथितम् ॥१३५॥

प्राप्त किया निर्वणि, जिन महान पुरुषों ने ।
उनके गुण के भेद, समझ कर जिनने ॥
मन वच तन से नित्य, किया परमभक्ती को ।
कही गई व्यवहार, नय से ही भक्ती को ॥१३५॥

व्यवहारनयप्रधानसिद्धभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । ये पुराणपुरुषाः समस्तकर्मक्षयोपाय-
हेतुभूतं कारणपरमात्मानमभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणत्या सम्यगाराध्य सिद्धा जातास्तेषां

विशेषार्थ—इस ग्रन्थ में मुनियोंके भेदाभेद रत्नत्रय का ही वर्णन है उसमें भी शुद्ध रत्नत्रय ही प्रधान है, अतः श्रावकों के सिवाय सर्वत्र आचार्यदेव ने संयत, संयमी, श्रमण मुनि और साधु इन शब्दों का ही प्रयोग किया है । किंतु यहां पर भक्तिका प्रकरण होने से श्रावकों को भी ले लिया है, क्योंकि श्रावक भी रत्नत्रय की आराधना उपासना करते हैं । तथा वे एकदेश रत्नत्रय से सहित ऐसे अण्वती भी होते हैं ।

गाथा १३५

अन्वयार्थ—[यः] जो [मोक्षगत पुरुषाणां] मोक्ष को प्राप्त हुये पुरुषों में [गुणभेदं ज्ञात्वा] गुणों के भेद को जानकर [तेषां अपि] उनकी भी [परम-भक्ति] परम भक्ति [करोति] करता है, (उसके) [व्यवहारनयेन परिकथितं] व्यवहार नय से भक्ति कही गई है ।

टीका—यह, व्यवहारनय प्रधान सिद्ध भक्ति के स्वरूप का कथन है ।

जो पुराण पुरुष समस्त कर्मों के क्षय के लिए उपाय में कारणभूत ऐसे कारण परमात्मा की अभेद, अनुपचार रत्नत्रय की परिणति से सम्यक् प्रकार से आरा-

केवलज्ञानाविशुद्धगुणभेदं ज्ञात्वा निर्वाणपरंपराहेतुभूतां परमभक्तिमासन्नभव्यः करोति,
तस्य मुमुक्षोर्ग्यवहारनयेन निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति ।

(अनुष्टुभ्)

उद्धूतकर्मसंदोहान् सिद्धान् सिद्धिवधूधवान् ।
संप्राप्ताष्टगुणैश्वर्यान् नित्यं वन्दे शिवालयान् ॥२२१॥

(आर्या)

व्यवहारनयस्योदयं निर्वृत्तिभक्तिजिनोत्तमैः प्रोक्ता ।
निश्चयनिर्वृत्तिभक्ती रत्नत्रयभक्तिरित्युक्ता ॥२२२॥

(आर्या)

निःशेषदोषदूरं केवलबोधादिशुद्धगुणनित्यम् ।
शुद्धोपयोगफलमिति सिद्धत्वं प्राहुराचार्याः ॥२२३॥

धित करके सिद्ध हुये हैं, उनके केवलज्ञान आदि शुद्ध गुणों के भेद को जानकर निर्वाण के लिये परंपरा से हेतुभूत ऐसी परमभक्ति को जो आसन्नभव्य करते हैं, उन मुमुक्षु के व्यवहार नय से निर्वाण भक्ति होती है ।

[अब टीकाकार मुनिराज पुनः व्यवहार से सिद्धों की भक्ति के महत्व को स्पष्ट करते हुये छह श्लोक कहते हैं—]

श्लोकार्थ—जिन्होंने कर्म समूह को धो डाला है, जो सिद्धिवधू के पति हैं, तथा जिन्होंने आठ गुणों के ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है । जो शिवालय-कल्याण के निवास-गृह हैं, ऐसे उन समस्त सिद्धों को मैं नित्य ही वंदन करता हूं ॥२२१॥

श्लोकार्थ—इसप्रकार से व्यवहार नय की यह निर्वाण भक्ति जिनवरों ने कही है, तथा रत्नत्रय की भक्ति ही निश्चय निर्वाण भक्ति है, ऐसा कहा है ॥२२२॥

श्लोकार्थ—निःशेष (संपूर्ण) दोषों से दूर, केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के स्थान ऐसे सिद्ध पद को आचार्यों ने शुद्धोपयोग का फल कहा है ॥२२३॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ये लोकाग्रनिवासिनो भवभवक्लेशार्णवान्तं गता
ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थसौख्याकराः ।
ये शुद्धात्मविभावनोद्भवमहाकैवल्यसंपद्गुणा
स्तान् सिद्धानभिनौम्यहं प्रतिदिनं पापाटवीपावकान् ॥२२४॥

(शार्दूलविक्रीडित)

त्रैलोक्याग्रनिकेतनान् गुणगुरुन् ज्ञेयाब्धिपारंगतान्
मुक्तिश्रीवनितामुल्लाम्बुजरयोन् स्वाधीनसौख्यार्णवान् ।
सिद्धान् सिद्धगुणाण्डरुण् भवहृत्तान् नष्टाण्डरुणोत्तरान्
नित्यान् तान् शरणं व्रजामि सततं पापाटवीपावकान् ॥२२५॥

(वसंततिलका)

ये मर्त्यदेवनिकुरम्बपरोक्षभक्ति-
योग्याः सदा शिवमयाः प्रवराः प्रसिद्धाः ।

श्लोकार्थ—जो लोक के अग्रभाग में निवास करते हैं जो भव-भव के क्लेश रूपी समुद्र के पार को प्राप्त हो चुके हैं । जो निर्वाण वधू के पुष्ट स्तन के आन्विजन से उत्पन्न हुये ऐसे सौख्य की खान हैं, जो शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुये कैवल्य सम्पदा रूपी महा गुणों से सहित हैं और पापरूपी वनी को दग्ध करने के लिये अग्नि स्वरूप हैं, ऐसे उन सिद्धों को मैं प्रतिदिन नमस्कार करता हूँ ॥२२४॥

श्लोकार्थ—तीन लोक का अग्रभाग ही जिनका निवासगृह है, जो गुणों से गुरु-भारी हैं, श्रेष्ठ-गम्भीर, जो ज्ञेयरूपी समुद्र के पारंगत हैं, जो मुक्ति लक्ष्मीरूपी सुंदरी के मुख कमल को विकसित करने के लिये सूर्य हैं, जो स्वाधीन सौख्य के समुद्र हैं, जिन्होंने आठ गुणों को सिद्ध कर लिया है, जो भव के हरने वाले हैं, जिन्होंने आठ कमों के समूहों को नष्ट कर दिया है, जो शाश्वत रूप हैं, ऐसे उन पापरूपी वन को भस्म करने के लिये अग्नि स्वरूप सिद्धों को मैं सदा ही शरण ग्रहण करता हूँ ॥२२५॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्यों के तथा देवों के समुदाय की परोक्ष भक्ति के योग्य हैं, सदा शिवमय-कल्याण स्वरूप हैं, श्रेष्ठ हैं, तथा प्रसिद्ध हैं वे सिद्ध भगवान् सुसिद्धि

सिद्धाः सुसिद्धिरमणीरमणीयवक्त्र-
पंकेरुहोरुमकरंदमध्रुवताः स्युः ॥२२६॥

मोक्षपथे अप्पाणं, ठविऊण य कुणदि शिव्वुदी भत्ती ।
तेण दु जीवो पावइ, असहायगुणं शियप्पाणं ॥१३६॥

मोक्षपथे आत्मानं संस्थाप्य च करोति निर्वृत्तेर्भक्तिम् ।
तेन तु जीवः प्राप्नोत्यसहायगुणं निजात्मानम् ॥१३६॥

जो आत्मा को मोक्ष, पथ में स्थापित करके ।
अपने में ही आप, निवृत्ति भक्ती करते ॥
इसमें ही वे जीव, निज आत्मा को पाते ।
पर सहाय से शून्य, गुणमय परिणाम जाते ॥१३६॥

रूपी रमणी के रमणीय मुख कमल की श्रेष्ठ मकरंद-पराग के लिये भ्रमर सदृश हैं ॥२२६॥

भावार्थ — सिद्धों के स्थान पर विद्याधर या ऋद्धिधारी मुनि अथवा देवता-गण आदि भी नहीं पहुँच सकते हैं । इसलिये ये सब उन सिद्धों की परोक्ष में ही भक्ति करते हैं । अन्यत्र अर्हतदेव के समवसरण में तथा अकृत्रिम जिनालय आदि में सर्वत्र देवतागण प्रत्यक्ष से भक्ति करते हैं और मनुष्य भी अर्हत्तों के समवसरण में तथा ढाई द्वीप के चैत्यालयों में प्रत्यक्ष भक्ति करते हैं । अन्यत्र चैत्यालयों की परोक्ष से भक्ति करते हैं ।

गाथा १३६

अन्वयार्थ — [मोक्ष पथे आत्मानं संस्थाप्य] मोक्षमार्ग में अपनी आत्मा को सम्यक् प्रकार से स्थापित करके [निर्वृत्तेः] निर्वर्ण की [भक्ति करोति] भक्ति करता है, [तेन तु जीवः] उससे यह जीव [असहायगुणं निजात्मानं] असहाय-स्वाभाविक गुण स्वरूप अपनी आत्मा को [प्राप्नोति] प्राप्त कर लेता है ।

निजपरमात्मभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । भेदकल्पनानिरपेक्षनिरुपचाररत्नत्रया-
त्मके निरुपरागमोक्षमार्गे निरंजननिजपरमात्मानन्दपीयूषपानाभिमुखो जीवः स्वात्मानं
संस्थाप्यापि च करोति निर्वृत्तेर्मुक्त्यंगतायाः चरणनलिने परमां भक्तिं, तेन कारणेन स
भव्यो भक्तिगुणेन निराधरणासहजज्ञानगुणत्वादसहायगुणात्मकं निजात्मानं प्राप्नोति ।

(स्रग्धरा)

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलितमहाशुद्धरत्नत्रयेऽस्मिन्
नित्ये निर्मुक्तिहेतो निरुपमसहजज्ञानश्शीलरूपे ।
संस्थाप्यानन्दभास्वनिरतिशयगृहं चिच्चमत्कारभवत्या
प्राप्नोत्युच्चैरयं यं विरलितविषदं सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥२२७॥

टीका—यह अपनी परमात्मा की भक्ति के स्वरूप का कथन है ।

निरंजन निज परमात्मा के आनन्द रूपी अमृत के पान करने में अभिमुख जो
जीव, भेद कल्पना से निरपेक्ष अनुपचार रत्नत्रय स्वरूप ऐसे वीतरागरूप मोक्षमार्ग में
अपनी आत्मा को सम्यक् प्रकार से स्थापित करके भी निर्वाणरूपी मुक्ति स्त्री के चरण
मलों में परम भक्ति करता है उस कारण से वह भव्य जीव भक्ति गुण के द्वारा
आधरणरहित सहज ज्ञान गुणरूप होने से असहाय गुणस्वरूप ऐसी अपनी आत्मा को
प्राप्त कर लेता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज निश्चय भक्ति को बतलाते हुए कहते हैं—]

श्लोकार्थ—इस अविचल महाशुद्ध रत्नत्रय स्वरूप, मुक्ति के लिए कारणभूत
अपराहित सहज ज्ञान, दर्शन और शीलरूप, ऐसी नित्य आत्मा में आत्मा को
स्थापित करके यह आत्मा चैतन्य चमत्कार की भक्ति द्वारा आनन्द से शोभायमान
निरतिशय स्थानरूप तथा विषदाओं से विरहित ऐसे पद को अतिशयरूप से प्राप्त कर
लेता है और वह सिद्धिरूपी भार्या का स्वामी हो जाता है ॥२२७॥

भावार्थ—आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा के लिए आत्मा में ही स्थिर
करके ध्यान करने वाला ध्याता इस निश्चय भक्तिरूप निर्विकल्प समाधि के अक्षय
स्वरूप सिद्ध स्थान को प्राप्त कर लेता है ।

रागादीपरिहारे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साह ।
सो जोगभक्तिजुत्तो, इदरस्स य कह हवे जोगो ॥१३७॥

रागादिपरिहारे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः ।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः ॥१३७॥

जो साधु रागादि, दोष दूर करने में ।

निज आत्मा को नित्य, लगा रहे उसही में ॥

उनका ही वह यत्न, योगभक्ति कहलावे ।

अन्य साधु के योग, क्या कैसे हो पावे ? ॥१३७॥

निश्चययोगभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत् । निरवशेषेणान्तर्मुखाकारपरमसमाधिना
निखिलमोहरागद्वेषादिपरभावानां परिहारे सति यस्तु साधुरासन्नभव्यजीवः निजेनाखंडा-
द्वैतपरमानन्दस्वरूपेण निजकारणपरमात्मानं युनक्ति, स परमतपोधन एव शुद्धनिश्चयोप-
योगभक्तियुक्तः । इतरस्य बाह्यप्रपंचमुखस्य कथं योगभक्तिर्भवति ।

गाथा १३७

अन्वयार्थ—[यः तु साधुः] जो साधु [रागादि परिहारे] रागादि के परित्याग
में [आत्मानंयुनक्ति] आत्मा को लगाना है [सः योगभक्तियुक्तः] वह योग भक्ति से
युक्त है । [इतरस्य च] अन्य साधु के [योगः कथं भवेत्] योग कैसे हो सकता है ?

टीका—यह निश्चय योग भक्ति के स्वरूप का कथन है ।

परिपूर्णरूप से जो अन्तर्मुखाकार परम समाधि है उसके द्वारा समस्त मोह,
राग द्वेषादि परभावों का परिहार हो जाने पर जो आसन्न जीव ऐसा साधु अखण्ड,
अद्वैत परमानन्द स्वरूप निज के साथ निजकारण परमात्मा को युक्त करता है वह
परमतपोधन ही शुद्ध निश्चय उपयोग की भक्ति से युक्त है । अन्य बाह्य प्रपंच में सुख
मानने वाले को योग भक्ति किसप्रकार से हो सकती है ?

भावार्थ—अपनी आत्मा में ही आत्मा को जोड़ने वाले साधु के निश्चय योग
भक्ति होती है अन्य बाह्य प्रपंचों में लगे हुए के नहीं हो सकती है ।

तथा चोक्तम्

(अनुष्टुभ्)

“आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥”

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम् ।
स योगभक्तियुक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वरः ॥२२८॥

सर्वविग्रपाभावे, अप्पाणं जो दु जुं जदे साहू ।
सो जोगभक्तिजुत्तो, इवरस्स य किह हवे जोगो ॥१३८॥

इसीप्रकार से अन्यत्र भी कहा है—

“श्लोकार्थ—आत्मा के प्रयत्न में सापेक्ष ऐसी जो विशेष मनोगति है उसका ब्रह्मस्वरूप आत्मा में संयोग ही ‘योग’ इस नाम से कहा जाता है ।”

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज योग भक्ति को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं—]

श्लोकार्थ—जो यह आत्मा आत्मा को निरन्तर आत्मा के साथ ही जोड़ता है, निश्चय से वह मुनीश्वर योग भक्ति से युक्त होता है ॥२२८॥

भावार्थ—ध्यान में तत्पर हुए तथा ग्रीष्मकाल में पर्वत की चोटी पर, वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे एवं शिशिर ऋतु में खुले स्थान में या नदी के किनारे ध्यान करने वाले त्रिकाल योग में तत्पर हुए साधु योगी कहलाते हैं उनके गुणों का स्तवन करते हुए मन से वचन से और काय से भक्ति करना ही व्यवहार से योग भक्ति है और आत्मा में ही अपनी आत्मा को स्थिर करना निश्चय योग भक्ति है ।

गाथा १३८

अन्वयार्थ—[यः साधुः तु] जो साधु [सर्वविकल्पाभावे] सर्व विकल्पों के भाव में [आत्मानं युनक्ति] आत्मा को लगाता है [सः योगभक्ति युक्तः] वह योग

सर्वविकल्पाभावे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः ।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथंभवेद्योगः ॥१३८॥

सर्व विकल्प अभाव, में जो साधु सतत ही ।
करते हैं संलीन, निज आत्मा को सच ही ॥
वे ही साधु योग भक्ती युक्त कहावें ।
अन्य साधु के योग कहो कहाँ बन पावे ? ॥१३८॥

अत्रापि पूर्वसूत्रवन्निश्चययोगभक्तिस्वरूपमुक्तम् । अत्यपूर्वनिरूपरागरत्नत्रयात्मक-
निजचिद्विलासलक्षणनिर्विकल्पपरमसमाधिना निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविकल्पाभावे
परमसमरसीभावेन निःशेषतोऽन्तर्मुखनिजकारणसमयसारस्वरूपमत्यासन्नभव्यजीवः सदा
युनक्त्येव, तस्य खलु निश्चययोगभक्तिर्नान्येषाम् इति ।

(अनुष्टुप्)

भेदाभावे सतीयं स्याद्योगभक्तिरनुत्तमा ।
तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम् ॥२२९॥

भक्ति में युक्त होता है, [इतरस्य च] तथा अन्य साधु के [योगः कथं भवेत्] योग
किस प्रकार से होगा ?

टीका—यहां पर भी पूर्व सूत्र के समान निश्चय योग भक्ति का स्वरूप कहा
है—अतिशय अपूर्व राग रहित रत्नत्रय स्वरूप निज चैतन्य विलास लक्षण ऐसी निर्वि-
कल्प परम समाधि के द्वारा समस्त मोह, राग, द्वेष आदि विविध विकल्पों का अभाव
हो जाने पर परम समरसी भाव के साथ सम्पूर्णतया अंतर्मुख निजकारण समयसार
स्वरूप आत्मा को जो अत्यासन्न भव्य जीव सदा ही युक्त करता है—जोड़ता है, उसके
निश्चितरूप से निश्चय योग भक्ति होती है, किन्तु अन्य साधुओं के नहीं होती है ।

[अब टीकाकार मुनिराज उसीको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—]

श्लोकार्थ—भेद का अभाव हो जाने पर यह सर्वोत्तम योग भक्ति होती है ।
उस भक्ति के द्वारा योगियों को वह आत्मा के स्वरूप की उपलब्धिरूप मुक्ति
होती है ॥ २२९ ॥

विपरीताभिनिवेशं, परिचत्ता जोण्ह^१ कहियतच्चेसु ।
जो जुंजवि अप्पाणं, णियभावो सो हवे जोगो ॥१३६॥

विपरीताभिनिवेशं परित्यज्य जैनकथिततत्त्वेषु ।
यो युनक्ति आत्मानं निजभावः स भवेद्योगः ॥१३६॥

जो विपरीत अभिप्राय, मन बच तन से तजते ।
जिन भाषित तत्त्वार्थ में निज को रत करने ॥
उनका वह निज भाव, निश्चय योग कहावे ।
जो मुनि धारें योग वे ही निज सुख पावें ॥१३६॥

इह हि निखिलगुणधरगणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वेषु विपरीताभि-
निवेशविर्वाजितात्मभाव एव निश्चयपरमयोग इत्युक्तः । अपरसमयतीर्थनाथाभिहिते विप-
रीते पदार्थे ह्यभिनिवेशो दुराग्रह एव विपरीताभिनिवेशः अमुं परित्यज्य जैनकथित-

गाथा १३६

अन्वयार्थ—[यः] जो [विपरीताभिनिवेशं] विपरीत अभिप्राय को
[परित्यक्त्वा] छोड़कर [जैन कथित तत्त्वेषु] जिनेन्द्र देव द्वारा कथित तत्त्वों में
[आत्मानं युनक्ति] आत्मा को लगाता है । [सः निजभावः] उसका वह निजभाव
स्वरूप [योगः भवेत्] योग होता है ।

टीका—अखिल गुणों के धारक गणधर देव आदि जिनमुनिनाथों के द्वारा कहे
गये तत्त्वों में विपरीत आग्रह से रहित आत्मभाव ही निश्चय परम योग है, ऐसा यहां
पर कहा है ।

अन्य संप्रदाय के तीर्थ कर्त्ताओं के द्वारा कहे गये विपरीत पदार्थ में जो
अभिनिवेशदुराग्रह है वही विपरीत अभिनिवेश है । इसको छोड़कर जिनेन्द्र देव द्वारा

तत्त्वानि निश्चयव्यवहारनयाभ्यां बोद्धव्यानि । सकलजिनस्थ भगवत्स्तीर्थाधिनाथस्य
पादपद्मोपजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः । तैरभिहितानि निखिल-
जीवादितत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति, तस्य च निजभाव एव
परमयोग इति ।

(वसन्ततिलका)

तत्त्वेषु जैनमुनिनाथमुखारविद-
व्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु ।
त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः
साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः ॥२३०॥

कथित तत्त्वों को निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा जानना चाहिये । सकल जिन-
कल-शरीर सहित ऐसे अर्हत भगवान् तीर्थाधिनाथ के पाद कमलों के जो उपजीवक-
उपासक या आश्रित हैं वे 'जैन' कहलाते हैं । परमार्थ से वे जैन गणधर देव आदि हैं
यहां ऐसा अर्थ है । उन गणधरदेवादिकों द्वारा सम्पूर्ण जीवादि तत्त्व कहे गये हैं उनमें
जो परम जिन योगीश्वर अपनी आत्मा को लगाते हैं, उनका जो निजभाव है वही
परमयोग है ऐसा समझना ।

[टीकाकार मुनिराज इसी बात को कलश द्वारा व्यक्त करते हैं—]

(२३०) श्लोकार्थ—इस दुराग्रह को छोड़कर, जैन मुनिनाथ ऐसे गणधर देवों
के मुख कमल में व्यक्त-प्रगट हुए और भव्य जनों के भवों का घात करने वाले ऐसे तत्त्वों
में जिनयोगीनाथ साक्षात् अपने भाव को लगाते हैं सो वह भाव ही योग है ।

भावार्थ—जिनेन्द्र के मुख कमल से निकली हुई और गणधर देवों द्वारा ग्रंथ
रूप कही गई जो वाणी है आज भी परम्परागत आचार्यों द्वारा उसी का अंश अपने को
उपलब्ध है । ऐसे श्रुत में प्रतिपादित तत्त्वों में जो महामुनि अपने भाव को स्थिर करते
हैं वह स्थिर भाव ही योग अर्थात् ध्यान के नाम से कहा जाता है ।

उसहाविजिनवरिंदा, एवं काऊण जोगवरभक्ति ।
णिब्वुदिसुहमावण्णा, तम्हा धरु जोगवरभक्ति ॥१४०॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिम् ।
निर्वृत्तिसुखमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिम् ॥१४०॥

श्री वृषभादि जिनेन्द्र तीर्थंकर आदिक मय ।
इस विध में ही योग वर भक्ती करके तिन ।
प्राप्त किया निर्वाण सुखमय अविचल पद को ।
अतः धरो हे साधु ! निश्चय योग भक्ति को ॥१४०॥

भवत्पाधिकारोपसंहारोपन्यासोयम् । अस्मिन् भारते वर्षे पुरा किल श्रीनाभे-
यादिश्रीवर्द्धमानचरमाः चतुर्विंशत्तीर्थंकरपरमदेवाः सर्वज्ञवीतरागाः त्रिभुवनवर्तिकी-
र्तयो महादेवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुक्तप्रकारस्वात्मसंबन्धिनीं शुद्धनिश्चययोगवर-
भक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधूटिकापीवरस्तनभरगाढोपगूढनिर्भरानन्दपरमसुधारसपूरपरि-

गाथा १४०

अन्वयार्थ—[वृषभादिजिनवरेन्द्राः] वृषभादि जिनवरेन्द्र [एवं] इसप्रकार से
[योगवरभक्ति] योग की उत्तम भक्ति [कृत्वा] करके [निर्वृत्ति सुखं] निर्वाण सुख
को [आपन्नाः] प्राप्त हुए हैं, [तस्मात्] इसलिए, [योगवरभक्तिधारय] तुम योग की
उत्तम भक्ति को धारण करो ।

टीका—भक्ति अधिकार के उपसंहार का यह कथन है ।

इस भारत वर्ष में पहले जो श्री नाभि पुत्र-वृषभदेव से लेकर अंतिम श्री
वर्द्धमान देव पर्यंत चौबीस तीर्थंकर परम देव सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोक में व्याप्त कीर्ति
से युक्त महादेवाधिदेव परमेश्वर हुए हैं, वे सभी इस उपर्युक्त प्रकार से अपनी आत्मा
से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी शुद्ध निश्चय योग की उत्तम भक्ति को करके अति पुष्ट
स्तन वाली परम निर्वाण वधू के गाढ़ आलिंगन से सर्व आत्मा के प्रदेशों में अतिशय
आनन्दरूप परमसुधारस के पूर से परितृप्त हो चुके हैं । इसलिए प्रगटित भव्यत्व गुण

तृप्तसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं महाजनाः स्फुटितभव्यत्वगुणास्तां स्वात्मार्थं
वीतरागसुखप्रदां योगभक्तिं कुरुतेति ।

(शार्दूलविक्रीडित)

नामेयाविजिनेश्वरान् गुणगुरुन् त्रैलोक्यपुण्योत्करान्
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसन्भाणिक्यमालाचिंतान् ।
पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधोशांगनासंहतेः
शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥२३१॥

मे सहित हे महापुरुषों ! तुम लोग अपनी आत्मा के लिए प्रयोजनभूत ऐसे
वीतराग सुख को प्रदान करने वाली ऐसी योग भक्ति को करो ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस अधिकार को संकुचित करते हुए सात श्लोकों
द्वारा योग भक्ति का माहात्म्य प्रकट करते हैं—]

(२३१) श्लोकार्थ—जो गुणों से गुरु हैं, त्रैलोक्य के पुण्य की राशि हैं,
देवेन्द्रों के मुकुटों के अग्रभाग में सुशोभित हुए माणिक्य रत्नों की मालाओं से अचिंत
शची आदि प्रसिद्ध इंद्राणियों के समूह से सहित ऐसे इंद्र के द्वारा हुए विमल भोग
हास से सहित अर्थात् नृत्य, गान आनन्द से युक्त हैं तथा श्री-अंतरंग एवं बहिरंग लक्षणों
और कीर्ति के स्वामी हैं ऐसे वृषभादि जिनेश्वरों की मैं स्तुति करता हूँ ।

भावार्थ—चौबीस तीर्थंकर अपने अनंत गुणों से अतिशय भारी होने
त्रिभुवन के गुरु कहलाते हैं, तीनों लोकों में जितना भी पुण्य है उस सभी
पुंज स्वरूप हैं, देवेन्द्रगण उनको अपने रत्न खचित मुकुटों को मुकाकर नमस्कार
करते हैं, सौधर्म इंद्र सभी इंद्र और इंद्राणियों के साथ भगवान् के जन्म कल्याण
आदि में महान् महोत्सव करते हैं । वे तीर्थंकर तीनों जगत् के भव्य जीवों
स्तुत्य हैं ।

(आर्या)

वृषभाविचीरपश्चिमजिनपतयोप्येवमुक्तमार्गेण ।
कृत्वा तु योगभक्तिं निर्वाणवधूटिकासुखं यान्ति ॥२३२॥

(आर्या)

अपुनर्भवसुखसिद्धयं कुर्वेऽहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।
संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥२३३॥

(शार्दूलविकीर्ण)

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वस्थितः ।
धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥२३४॥

(२३२) श्लोकार्थ—वृषभदेव से लेकर वीर पर्यंत जिनपति भी इस उपर्युक्त मार्ग से योग भक्ति को करके निर्वाण वधू के सुख को प्राप्त कर लेते हैं ।

(२३३) श्लोकार्थ—अपुनर्भव के सुख की सिद्धि के लिये मैं शुद्ध योग की उत्तम भक्ति को करता हूं, सभी संसारी प्राणी संसार के घोर दुःखों की भीति से नित्य ही उस भक्ति को करो ।

(२३४) श्लोकार्थ—गुरु के निकट मैं निर्मल सुखकारी धर्म को प्राप्त करके, ज्ञान के द्वारा समस्त मोह की महिमा को जिसने नष्ट कर दिया है, ऐसा मैं अब राग और द्वेष की परम्परा से परिणत हुये चित्त को छोड़कर शुद्ध ध्यान से एकग्रता को प्राप्त ऐसे मन से आनंद स्वरूप आत्म तत्त्व में स्थित होता हुआ परब्रह्मरूप परमात्मा में लीन होता हूं ।

(अनुष्ठुम्)

निर्वृतेन्द्रियलील्यानां तत्त्वलोलुपचेतसाम् ।
सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥२३५॥

(अनुष्ठुम्)

अत्यपूर्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्मणे ।
यत्नन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ॥२३६॥

(वसंतनिलका)

अद्वन्द्वनिष्ठमनघं परमात्मतत्त्वं
संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम् ।
किं तं मे फलमिहान्यपदार्थसार्थं
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥२३७॥

(२३५) श्लोकार्थ—जिन्होंने इन्द्रियों की लोलुपता को समाप्त कर दिया है, और जिनका चित्त तत्त्वों में लोली है ऐसे परमसाधु के सुन्दर आनन्द को झराने वाला उत्तम तत्त्व प्रगट होता है ।

(२३६) श्लोकार्थ—जो यतिगण अतिशय और अपूर्व अपनी आत्मा से उत्पन्न हुई भावना से होने वाले सुख के लिये यत्न करते हैं, वे ही जीवन्मुक्त हैं, किन्तु अन्य नहीं हैं ।

(२३७) श्लोकार्थ—अद्वन्द्व में लीन—रागद्वेषादि द्वन्द्व से रहित स्वरूप में स्थित, निर्दोष, केवल एक रूप में उस एक परमात्म तत्त्व की मैं पुनः पुनः सम्यक् प्रकार से भावना करता हूँ । मुक्ति की स्पृहा से सहित तथा भव सुख में निःस्पृह ऐसे मुझे इस लोक में उन अन्य पदार्थों के समुदाय से क्या फल है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ।

विशेषार्थ—इस परम भक्ति अधिकार में गाथा १३४ से लेकर १४० तक पंच परमेष्ठी की और उनके रत्नत्रय गुणों की भक्ति का उपदेश है । व्यवहार भक्ति, स्तुति, नमस्कार, गुणगान आदि रूप है और निश्चयभक्ति वीतराग निर्विकल्प ध्यान

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारख्याख्यां तात्पर्यवृत्तीं परमभक्त्यधिकारो दशमः श्रुतस्कन्धः ॥

रूप है । पहले इसमें व्यवहार भक्ति की मुख्यता रखी है जिसमें पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक उपासक भी रत्नत्रय की भक्ति करने वाले माने गये हैं । पनः निश्चय भक्ति की प्रधानता से निर्वाण भक्ति और योग भक्ति की विशेषता बताई है तथा उस भक्ति का फल परमानन्दमयी निर्वाण सौख्य माना है । इसलिये व्यवहार भक्ति के द्वारा निश्चयरूप अपने आत्म तत्त्व की भक्ति को सिद्ध करके अपनी आत्मा को ही पूज्य भगवान् बना लेना चाहिये ।

इस प्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिये सूर्य सदृश, पंचेन्द्रियों के प्रसार से वर्जित गात्र-मात्र परिग्रहधारी ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारि देव के द्वारा विरचित नियम-सार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में परम भक्ति अधिकार नामक दशवां श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ ।



निश्चय-परमावश्यक अधिकार

अथ सांप्रतं व्यवहारपडावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते ।

जो एा हवदि अणवसो, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो, शिव्वुदिमग्गो त्ति पज्जुत्तो' ॥१४१॥

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यकम् ।
कर्मविनाशनयोगो निर्वृत्तिमार्ग इति प्ररूपितः ॥१४१॥

वसंततिलका छंद

जो अन्य के वश नहीं वह नहिं पराश्रित ।
उसका ही कर्म बस आवश्यक कहाता ॥
या कर्म नाशकृत योग सुयोगियों का ।
निर्वाण मार्ग वह ही सच में कहाता ॥१४१॥

अब व्यवहार पट्ट आवश्यक से प्रतिपक्ष ऐसे शुद्धनिश्चय अधिकार को कहा जाता है—

गाथा १४१

अन्वयार्थ—[यः अन्यवशः न भवति] जो अन्य के वश नहीं है [तस्य तु कर्म आवश्यक] उसकी क्रिया को आवश्यक [भणंति] ऐसा कहते हैं (क्योंकि) [कर्म

१. पिज्जुत्तो (क) पाठा. ।

अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयवशस्य च यत्तदुक्तम् । यः खलु यथाविधिपरमजिनमार्गाचरणकुशलः सर्वदेवान्तर्मुखत्वादनन्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः तस्य किल व्यावहारिकक्रियाप्रपञ्चपराङ्मुखस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्यध्यानप्रधानपरमावश्यककर्मास्तीत्यनवरतं परमतपश्चरणातिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति । किं च यस्त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणपरमयोगः सकलकर्मविनाशहेतुः स एव साक्षान्मोक्षकारणत्वान्निर्वृतिमार्ग इति निरुक्तिव्युत्पत्तिरिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

विनाशनयोगः] कर्म का विनाश करने वाला योग [निर्वृतिमार्गः] मोक्ष का मार्ग है [इति प्ररूपितः] ऐसा कहा गया है ।

टीका—सदैव अपने वश हुये—अग्ने में स्थित हुए ऐसे मुनि के निश्चय आवश्यक क्रिया होनी है ऐसा यहां कहा गया है ।

जो निश्चितरूप से विधि के अनुसार परम जिनमार्ग के आचरण में कुशल हैं सदैव अंतर्मुख परिणत होने से अन्य के वश में नहीं होते हैं किन्तु साक्षात् अपने वश में ही रहते हैं अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं यहां यह अभिप्राय है । उन व्यवहारिक क्रियाओं के प्रपञ्च से पराङ्मुख हुए साधु के निज आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान जिसमें प्रधान है ऐसी परमावश्यक क्रिया होती है ऐसा निरन्तर परम तपश्चरण में लीन हुए परम जिन योगीश्वर कहते हैं क्योंकि जो त्रिगुप्ति से गुप्त परम समाधि लक्षण वाला परमयोग है वह सकल कर्म के विनाश में कारण होने से निर्वृति—मुक्ति में कारण है और वही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निर्वृति—मुक्ति का मार्ग है । इसप्रकार से यहां आवश्यक शब्द की निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति की गई है ।

भावार्थ—यह निश्चय आवश्यक क्रिया वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन हुए ऐसे महामुनि के ही होती है वे ही परवस्तु की आधीनता को छोड़कर अपने स्वरूप के आधीन रहते हैं अन्य नहीं ।

उसीप्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है—

(मंदाक्रांता)

“आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय ।
प्राप्त्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिःसहजविलसव्रतनदीपस्य लक्ष्मीम् ॥”

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्त्तिं
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यकर्मात्मकोऽयम् ।
सोऽयं कर्मक्षयकरपटुनिर्वृतेरेकमार्गः
तेनैवाहं किमपि तन्मा यमि तं निर्विकल्पम् ॥२३८॥

श्लोकार्थ—‘आत्मा शुद्धोपयोग को प्राप्त करके स्वयं धर्मरूप होता हुआ नित्य आनन्द के विस्तार से सरस ऐसे ज्ञानतन्त्र में लीन होकर अतिशयरूप अविचल-पने से स्फुरायमान ज्योति से सहज शोभायमान ऐसे रत्नदीपक की निष्प्रकम्प प्रकाशरूप शोभा को प्राप्त कर लेगा ।

उसीप्रकार से [श्री पद्मप्रभमलधारी देव निश्चय आवश्यक क्रिया में अपने आपको प्रेरित करते हुए कहते हैं—]

(२३८) श्लोकार्थ—स्ववश में होने से उत्पन्न हुआ आवश्यक क्रिया स्वरूप यह धर्म साक्षात् नियम से सच्चिदानन्द मूर्तिस्वरूप आत्मा में अतिशयरूप से होता है । सो यह धर्म कर्मों का क्षय करने में कुशल है और निर्वणि का एक मार्ग है । इस मार्ग से ही मैं शीघ्र ही कोई एक अद्भुत ऐसे निर्विकल्प सुख को प्राप्त होता हूँ ।

भावार्थ—अन्य पदार्थ के अवलम्बन से रहित हांकर अपने आप जो अपनी आत्मा का अवलम्बन ले लेते हैं वास्तव में वे शीघ्र ही आत्मा से उत्पन्न हुए सांसारिक सुख की तुलना से रहित ऐसा कोई एक विलक्षण सुख प्राप्त कर लेते हैं ।

एव वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा ।
जुत्ति ति उवाअं ति य निरवयवो होदि निज्जुत्ती ॥१४२॥

न वशो अवशः अवशस्य कर्म वाऽवश्यकमिति बोद्धव्यम् ।
युक्तिरिति उपाय इति च निरवयवो भवति निरुक्तिः ॥१४२॥

या जो न वश वह अवश वह स्वात्म आश्रित ।
उसकी क्रिया ही वश आवश्यक समझ लो ।
वो ही है युक्ति वह मुक्ति उपाय भी है ।
उसने विदेह मुनि ही यह है निरुक्ती ॥१४२॥

अवशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य परमावश्यककर्मविशयं भवतीत्यत्रोक्तम् । यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न गतः, अत एव अवश इत्युक्तः, अवशस्य तस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयधर्मध्यानात्मकपरमावश्यककर्मविशयं भवतीति बोद्धव्यम् । निरवयवस्योपायो युक्तिः । अवयवः कायः, अस्याभावात् अवयवाभावः । अवशः

गाथा १४२

अन्वयार्थ—[नवशः अवशः] जो (अन्य) के वश में नहीं है वह 'अवश' है [अवशस्य कर्म वा आवश्यकं] और जो अवश का कर्म है वह आवश्यक है [इति बोद्धव्यं] ऐसा जानना चाहिए [युक्तिः इति उपायः इति च] बन्नी (शरीर रहित होने की) युक्ति है और वही उपाय है [निरवयवः भवति] उससे जीव निरवयव-शरीर से रहित हो जाता है [निरुक्तिः] ऐसी निरुक्ति है ।

टीका—अवश हुए, परम जिनयोगीश्वर को परम आवश्यक क्रिया अवश्य होती है ऐसा यहां पर कहा है ।

जो योगी हैं वे स्वात्मा के परिग्रह से अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश में नहीं होते हैं इसीलिये वे 'अवश' इसप्रकार कहे जाते हैं, उन अवश हुये परम जिनयोगीश्वर के निश्चय धर्मध्यानरूप परम आवश्यक क्रिया अवश्य होती है ऐसा जानना चाहिये । अवयव रहित होने का उपाय युक्ति है, यहां अवयव का अर्थ काय है उस काय के

परद्रव्याणां निरवयवो भवतीति निरुक्तिः व्युत्पत्तिश्चेति ।

(मंदाकांता)

योगी कश्चित्स्वहितनिरतः शुद्धजीवास्तिकायाद्
अन्येषां यो न वश इति या संस्थितिः सा निरुक्तिः ।
तस्मादस्य प्रहृतदुरितध्वान्तपुंजस्य नित्यं
स्फूर्जज्ज्योतिःस्फुटितसहजावस्थयामूर्तता स्यात् ॥२३६॥

वट्टदि जो सो समणो, अण्णवसो होदि असुहभावेण ।
तम्हा तस्स दु कम्मं, प्रावस्सयलक्खणं एा हवे ॥१४३॥

अभाव से अवयव का अभाव हो जाता है । जो परद्रव्यों के वश नहीं है वे अवश-
साधु निरवयव-अशरीरी हो जाते हैं, इसप्रकार से यहां पर निरुक्ति-व्युत्पत्ति की
गई है ।

[अब टीकाकार मुनिराज अवश योगी के माहात्म्य को बतलाते हुये
कहते हैं—]

(२३६) श्लोकार्थ—कोई स्वहित में तत्पर हुये योगी जो कि शुद्ध जीवास्ति-
काय से अतिरिक्त अन्य पदार्थों के वश नहीं है और इसप्रकार से उनकी जो सम्यक्
स्थिति है सो निरुक्ति है इस हेतु से जिसने पापरूपी अंधकार के पुंज को नष्ट कर
दिया है वे योगी नित्य ही स्फुरायमान ज्योतिरूप प्रगट हुई सहज अवस्था में अमूर्तिक
हो जाते हैं ।

भावार्थ—अपने स्वाभाविक आत्मस्वरूप में स्थित हुये योगी अन्य के आश्रय
से रहित होकर देहमयी मूर्ति रहित ऐसे अमूर्तिक अशरीरी सिद्ध हो जाते हैं ।

गाथा १४३

अन्वयार्थ—[यः] जो [अशुभभावेन] अशुभभाव से [वर्तते] प्रवृत्ति
करता है [सः श्रमणः] वह साधु [अन्यवशः भवति] अन्य के वश होता है [तस्मात्]

वर्तते यः स श्रमणोऽन्यवशो भवत्यशुभभावेन ।

तस्मात्तस्य तु कर्माविशयकलक्षणं न भवेत् ॥१४३॥

जो भी श्रमण अशुभ भावस्वरूप वर्तें ।

वो अन्य के वश हुआ निश्चित समझिये ॥

इस हेतु से उस समय उस साधु के तो ।

होता स्वरूप नहीं आवश्यक क्रिया का ॥१४३॥

इह हि भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्यावशत्वं न समस्तीत्युक्तम् । अप्रशस्त-
रागाद्यशुभभावेन यः श्रमणाभासो द्रव्यलिङ्गो वर्तते स्वस्वरूपादन्येषां परद्रव्याणां वशो
भूत्वा, ततस्तस्य जघन्यरत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्यध्यानलक्षणपरमा-
वश्यककर्म न भवेदिति अशनार्थं द्रव्यलिङ्गं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुखः सन् परमतपश्च-
रणादिकमप्युदास्य जिनेन्द्रमंदिरं वा तत्क्षेत्रवास्तुधनधान्यादिकं वा सर्वमस्मदीयमिति
मनश्चकारेति ।

इसलिये [तस्य तु आवश्यकलक्षणं कर्म] उस साधु के आवश्यक लक्षण वाला कर्म
[न भवेत्] नहीं होता है ।

टीका—भेदोपचार रत्नत्रय से परिणत हुए जीव के अवगणना नहीं होता है
ऐसा यहाँ कथन है ।

जो श्रमणाभास द्रव्यलिङ्गी साधु है वह अपने स्वरूप से अनिरिक्त अन्य परद्रव्यों
के वश होकर अप्रशस्त राग आदि अशुभभाव से वर्तन करता है इसलिये जघन्य रत्नत्रय
से परिणत हुए उस जीव के अपनी आत्मा के आश्रित निश्चय धर्मध्यान लक्षण ऐसा
परम आवश्यक कर्म नहीं होता है क्योंकि वह भोजन के लिये द्रव्यलिङ्ग को ग्रहण करके
स्वात्म कार्य से विमुख होता हुआ परम तपश्चरणादि से भी उदासीन होकर जिनेन्द्र
देव के मंदिर अथवा उस संबंधी क्षेत्र, मकान, धन, धान्यादि ये सभी हमारे हैं ऐसा
मन में समझ लेता है ।

भावार्थ—जो द्रव्यलिङ्गी साधु हैं वे जिनमंदिर, वसतिका आदि पर वस्तुओं
को अपनी मानकर व्यवहार आवश्यक क्रियाओं में भी प्रमादी हो जाते हैं पुनः निश्चय

(मालिनी)

अभिनवमिदमुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां
 त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वतिपुंजायमानम् ।
 तृणगृहमपि भुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्
 वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ॥२४०॥

(शाद्वलविकीर्तित)

कोपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं
 मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः ।
 सोऽयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्वैश्व संपूज्यते
 मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः ॥२४१॥

आवश्यक क्रियायें तो उनसे बहुत ही दूर हैं । तथा ये निश्चय आवश्यक क्रियायें भी व्यवहार रत्नत्रय में सङ्गित मुनि के ही होती हैं न कि व्यवहार रत्नत्रय के बिना भी । ऐसा समझकर व्यवहार रत्नत्रयरूप साधन से निश्चय को साध्य करना चाहिए ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस काल के मुनियों की प्रशंसा करते हुए तथा व्यवहार निश्चयरूप उभय धर्म में प्रेरित करते हुए पांच श्लोक कहते हैं—]

(२४०) श्लोकार्थ—त्रिभुवनरूपी भवन के अन्तर्गत हुए तिमिरपुंज के समान मुनियों का यह (कोई एक) नवीन तीव्रमोह कर्म है कि जिससे (पूर्व में) वे तीव्र वैराग्यभाव से तृण के घर को भी छोड़कर पुनः 'हमारी यह अनुपम वसति है' ऐसा स्मरण करते हैं ।

भावार्थ—जिन्होंने वैराग्य की उज्ज्वलता से पहले फूस की झोंपड़ी तक को छोड़ दिया पुनः यदि वे अपने या अन्य किसी वसतिका आदि में ममत्व रखते हैं तो आचार्य कहते हैं कि यह कोई अद्भुत ही उनका मोहनीय कर्म का विपाक दिख रहा है ।

(२४१) श्लोकार्थ—कलिकाल में भी कहीं कोई पुण्यशाली जीव मिथ्यात्व आदि कलंकपंक से रहित तथा सच्चे धर्म की रक्षा के लिये मणिस्वरूप ऐसे मुनि होते

(शिखरिणी)

तपस्या लोकेस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता
नमस्था सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम् ।
परिप्राप्यतां यः स्मरतिभिरसंसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्ब्रत कलिहतोऽसौ जडमतिः ॥२४२॥

हैं । अनेक परिग्रह समूह को जिन्होंने त्याग कर दिया है और जो पापकपी वन के लिये अग्नि के समान हैं ऐसे वे मुनिराज इस समय पृथ्वी तल पर तथा स्वर्ग में देवों से पूजे जाते हैं ।

भावार्थ—आज इस दुःप्रमकाल में भी निर्दोष मुनि विचरण करते हैं जो कि सच्चे धर्म की रक्षा करने वाले एक मणि विशेष के सदृश हैं । जैसे कोई उत्तम जानि का हीरा गरुत्मणि आदि जीवों को भूतपिशाचों से या अन्य आपत्तियों से रक्षित करता है उसीप्रकार पंचमकाल के अंत तक जिनकासन की परम्परा को अविच्छिन्न चलाने वाले ये साधु आज भी विद्यमान हैं जो कि मनुष्यों से तो क्या देवों में भी पूजित माने गये हैं ।

(२४२) श्लोकार्थ—इस लोक में तपस्या समस्त बुद्धिमानों को प्राणों में भी प्यारी है वह सौ इंद्रों से भी सतत नमस्कार करने योग्य है । जो कोई इस तपस्या को प्राप्त करके कामाधिकार से सहित ऐसे सांसारिक सुख में रमते हैं, बड़े खेद की बात है कि वे जडमति कलिकाल में मारे गये हैं ।

भावार्थ—यह जैनेन्द्र मार्ग की तपश्चर्या तीनों लोकों में सभी इंद्र नरेन्द्रों से भी पूज्य है, सर्वोत्तम है जो इसको प्राप्त करके—जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करके पुनः विषय सुख के लोलुपी होते हैं वे बेचारे इस कलिकाल के प्रभाव से ही नष्ट हो रहे हैं ऐसा समझना क्योंकि यदि कोई अद्भुत चित्तमणि रत्न को प्राप्त करके भी उसे कीवे को बहाने में फेंक दे पुनः सुख की आशा करे तो वह जड़ बुद्धि ही कहलावेगा ।

(आर्या)

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःखभाडनित्यम् ।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किञ्चिन्न्यूनो जिनेश्वरादेशः ॥२४३॥

(आर्या)

अत एव भाति नित्यं स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे ।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवल्लभवत् ॥२४४॥

(२४३) श्लोकार्थ—अन्य के वश में हुये संसारी जीव मुनि वेष धारी होते हुए भी नित्य ही दुःख को भोगने वाले होते हैं और स्ववश हुए जीवन्मुक्त हैं वे जिनेश्वर से किञ्चित् ही न्यून हैं ।

भावार्थ—वास्तव में यहाँ पर १०वें गुणस्थानवर्ती वीतरागी ओणमोह हुए ऐसे मुनि की अवस्था विशेष का कथन है क्योंकि वे ही अंतर्मुहूर्त तक इस गुणस्थान में रहकर अंत में तीनों घातिया कर्मों को समाप्त कर जिनेश्वर होने वाले हैं वे मोह कर्म के अभाव से पूर्णतया स्ववश हो चुके हैं ।

(२४४) श्लोकार्थ—इसीलिये जिननाथ के शासन में रहने वाले मुनियों के समुदाय में वे स्ववश हुये मुनिराज नित्य ही शोभायमान होते हैं और इसप्रकार से अन्य के वश हुए मुनि नौकर के समूह में राजप्रिय नौकर के समान शोभा को नहीं पाते हैं ।

भावार्थ—अन्य परद्रव्यों के आश्रित हुये मुनि नौकर के समान पराधीन हैं, किंतु परद्रव्यों के संपर्क से सर्वथा पृथक् हुए ऐसे महामुनि वीतराग निर्विकल्प समाधि में लीन होते हुए स्वाधीन रहते हैं वे ही जिनशासन की शोभा को बढ़ाने वाले हैं क्योंकि वे कुछ ही काल में अर्हत अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं ।

जो चरति संजदो खलु, सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवासयलक्खणं एण हवे ॥१४४॥

यश्चरति संयतः खलु शुभभावे स भवेदन्यवशः ।
तस्मात्तस्य तु कर्माविश्यकलक्षणं न भवेत् ॥१४४॥

जो साधु नित्य शुभ ध्यान में प्रवर्त्ते
वो अन्यवश नियम में श्रुत में कहाने ॥
इस हेतु से उन मुनी की जो किया वो ।
निश्चय स्वरूप नहीं आवश्यक कहावे ॥१४४॥

अत्राप्यन्यवशस्याशुद्धान्तरात्मजीवस्य लक्षणमभिहितम् । यः खलु जिनेन्द्रवद-
रविन्दविनिर्गतपरमाचारशास्त्रक्रमेण सदा संयतः सन् शुभोपयोगे चरति, व्यावहारिक-
ध्यानपरिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः, स्वाध्यायकालमवलोकयन् स्वाध्याय-
क्रियां करोति, दैनं दैनं भुक्त्वा भुक्त्वा चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च करोति, तिसृषु

गाथा १४४

अन्वयार्थ—[यः संयतः खलु शुभभावे चरति] जो संयमी मुनि निश्चितरूप
शुभभाव में चर्या करता है [सः अन्यवशः भवेत्] वह अन्यवश होता है [तस्मात्
तस्य तु] इसलिये उसके [आवश्यक लक्षणं कर्म] आवश्यक लक्षण क्रिया [न भवेत्]
होती है ।

टीका—यहां पर भी अन्य के वश हुए ऐसे अशुद्ध अंतरात्मा का लक्षण
है ।

जो निश्चितरूप से जिनेन्द्र भगवान् के मुखकमल से विनिर्गत ऐसे परम
आचारशास्त्र के क्रम से सदा संयत होते हुए शुभोपयोग में आचरण—चर्या करते हैं वे
व्यावहारिक धर्मध्यान से (ही) परिणत हैं इसी हेतु से उनके चरण और करण प्रधान
स्वाध्यायकाल का अवलोकन करते हुए स्वाध्याय क्रिया को करते हैं, प्रतिदिन
तीनों संध्याओं में भगवान् के चरण करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करते हैं । तीनों संध्याओं में भगवान्

संध्यासु भगवदहर्त्परमेश्वरस्तुतिशतसहस्रमुखरमुखारविन्दो भवति, त्रिकालेषु च नियम-
परायणः इत्यहोरात्रेऽप्येकावशक्रियातत्परः, पाक्षिकमासिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकप्रतिक्र-
मणाकर्णनसमुपजनितपरितोषरोमांचकंचुक्तिधर्मशरीरः, अनशनावमौदर्यरसपरित्यागवृ-
त्तिपरिसंख्यानविविक्तशयनासनकायक्लेशाभिधानेषु षट्सु बाह्यतपस्सु च संततोत्साहपरा-
यणः, स्वाध्यायध्यानशुभाचरणप्रच्युतप्रत्यक्षस्थापनात्मकप्रायश्चित्तविनयवैयाघृत्यव्युत्सर्ग-
नामधेयेषु चाभ्यन्तरतपोनुष्ठानेषु च कुशलबुद्धिः, किन्तु स निरपेक्षतपोधनः साक्षान्मो-
क्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्वविश्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यानं
शुक्लध्यानं च न जानीते, अतः परद्रव्यगतत्वादन्यवश इत्युक्तः । अस्य हि तपश्चरण-

अर्हत परमेश्वर की लाखों स्तुतियों से जिनका मुखकमल मुन्निरित रहता है अर्थात् तीनों संध्याओं में वे भगवान् अर्हत की अनेक प्रकार से स्तुति वंदना करते हैं । और तीनों कालों में नियम से परायण होते हैं इसप्रकार से अहोरात्र में भी होने वाली ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहते हैं । पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण के मुनने से उत्पन्न हुए सन्तोष से जिनका धर्मरूपी शरीर रोमांच से रोमांचित हो जाता है ।

अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश इन नाम वाले छह प्रकार के बाह्य तपों में सदैव उत्साहशील होते हैं । स्वाध्याय, ध्यान तथा शुभाचरण से च्युत होने पर उनमें पुनः स्थापनस्वरूप प्रायश्चित्त, विनय, वैयाघृत्य और व्युत्सर्ग इन नाम वाले छह प्रकार के अभ्यन्तर तपों के अनुष्ठान में कुशल बुद्धि वाले हैं किन्तु वे निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्ष के लिये कारणभूत ऐसे अपनी आत्मा के आश्रित जो आवश्यक क्रिया है, जो कि निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप धर्मध्यान और शुक्लध्यान है उसको नहीं जानते हैं अतः परद्रव्य के आधीन होने से वे अन्यवश ऐसे कहे गये हैं जिनका चित्त तपश्चरण में निरत है ऐसे ये ही अन्यवश हुए तपोधन स्वर्गलोक आदि के क्लेश की परम्परा से शुभोपयोग के फलस्वरूप ऐसे प्रशस्तरागरूपी अंगारों से सिकते हुए (कदाचित्) आसन्नभव्यता नामक गुण का उदय होने पर परमगुरुदेव के प्रसाद से प्राप्त हुए परम तत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्धनिश्चयरत्नत्रय की परिणति द्वारा निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं ।

निरतचित्तस्यान्यवशस्य नाकलोकादिक्लेशपरंपरया शुभोपयोगफलात्मभिः प्रशस्तरागा-
गारैः पच्यमानः सन्नासन्नभव्यतागुणोदये सति परमगुरुप्रसादासादितपरमतस्त्वश्रद्धानपरि-
ज्ञानानुष्ठानात्मकशुद्धनिश्चयरत्नत्रयपरिणत्या निर्वाणमुपयातीति ।

विशेषार्थ—टीकाकार कहते हैं कि यहां पर अशुद्ध अंतरात्मा का कथन है । वास्तव में अंतरात्मा के जघन्य, मध्यम और उत्तम के भेद से तीन भेद हैं । "अविरत सम्यादृष्टि जघन्य अंतरात्मा हैं, देशवर्ती से लेकर उपशांतकषाय नामक ग्यारहवें गुण-स्थान तक मध्यम अंतरात्मा हैं एवं क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्तम अंतरात्मा हैं ।" यहां मोहकर्म से सर्वथा रहित ये उत्तम अंतरात्मा ही शुद्ध अंतरात्मा हैं शेष अशुद्ध अन्तरात्मा हैं । ये साधु पूर्व में चरण करण में प्रधान रहते हैं अर्थात् पंचमहाव्रत, पंचसमिति और तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार के चारित्र्य चरण हैं । पंच-परमेष्ठी की स्तुति, छह आवश्यक क्रिया, असही और निसही ये तेरह क्रियाएं करण कहलाती हैं ।

यहां पर संयमी की अहोरात्र संबंधी ग्यारह क्रियाओं को कहा है । उसका स्पष्टीकरण ऐसा है कि साधु के अहोरात्र में दैवसिक और रात्रिक ऐसे दो प्रतिक्रमण, दोनों संख्या कालों में तीन बार देववंदना, पौर्वाण्हिक, अपराण्हिक, पूर्वरात्रिक, अपर-रात्रिक ऐसे चार स्वाध्याय तथा रात्रियोग प्रतिष्ठापन और निष्ठापन ये ११ क्रियाएं आ जाती हैं जो कि अवश्यकरणीय हैं । इन ग्यारह क्रिया सम्बन्धी अट्ठाईस कायोत्सर्ग आ जाते हैं । यथा—दो प्रतिक्रमण के आठ, तीन देववंदना के छह, चार स्वाध्याय के बारह, तथा रात्रियोग प्रतिष्ठापन—निष्ठापन संबंधी दो ऐसे $८ + ६ + १२ + २ = २८$ होते हैं । यहां टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि जो साधु आचारांग के आधार से आचार्यों द्वारा कथित क्रियाओं में परिपूर्णतया निष्णात होते हैं वे निश्चय आवश्यक क्रिया करने में समर्थ हो सकते हैं अन्य नहीं । तथा जब तक वे निश्चयधर्मध्यान या शुक्ल-ज्ञान तक नहीं पहुंचे हैं तब तक वे अन्य वश ही हैं जब उस आवश्यक को प्राप्त हुये

१. मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिया अंतरप्प जहण्णा ।

सत्तोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिण सिद्धा ॥१२६॥ कुन्दकुन्ददेव ।

(हरिणी)

स्यजतु सुरलोकमिवलेशे रतिं कुण्डुंमयी
 भजतु परमानन्दं निर्वाणकारणकारणम् ।
 सकलविमलज्ञानावासं निरावरणात्मकं
 सहजपरमात्मानं दूरं नयानयसंहतेः ॥२४५॥

द्रव्यगुणपञ्जयाणं, चित्तं जो कुण्ड सो वि अण्णवसो ।
 मोहान्धकारववगयसमणा कहयंति एरिसयं ॥१४५॥

द्रव्यगुणपर्यायाणां चित्तं यः करोति सोऽन्यवशः ।
 मोहान्धकारव्यपगतश्रमणाः कथयन्तीदृशम् ॥१४५॥

जो द्रव्य और गुण पर्यय भेद को भी ।
 चित्त में धरे वह मूनी भी अन्यवश है ॥
 मोहान्धकार विरहित ऋषि भाषते यों ।
 क्योंकी विकल्प विरहित नहीं ध्यान उसके ॥१४५॥

स्ववश हो जाते हैं अर्थात् बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं तब उन्हें केवलज्ञान और निर्वाण प्राप्त करने में देरी नहीं लगती है ।

(२४५) श्लोकार्थ—मुनि पुद्गल-श्रेष्ठ मुनिजन सुरलोक आदि के क्लेश में रति को छोड़ो और परमानन्दमय निर्वाण के कारण का कारण, सकल विमल केवल ज्ञान का निवास गृह, आवरण रहित, सुनय और कुनय समूह से दूर ऐसे सहज परमात्मा को भजो-आश्रय लेवो ।

गाथा १४५

अन्वयार्थ—[द्रव्यगुणपर्यायाणां] द्रव्य गुण और पर्यायों में [यः] जो [चित्तं करोति] चित्त को लगाता है [सः अपि अन्यवशः] वह भी अन्यवश है [मोहान्धकार व्यपगत श्रमणाः] मोहान्धकार से रहित श्रमण [ईदृशं कथयन्ति] ऐसा कहते हैं ।

अत्राप्यन्यवशस्य स्वरूपमुक्तम् । यः कश्चिद् द्रव्यलिङ्गधारी भगवर्हन्मुखार-
विन्दविनिर्गतमूलोत्तरपदार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थः क्वचित् घर्णां द्रव्याणां मध्ये चित्तं
धत्ते, क्वचित्तेषां मूर्तामूर्तचेतनाचेतनगुणानां मध्ये मनश्चकार, पुनस्तेषामर्थव्यंजनपर्या-
याणां मध्ये बुद्धिं करोति, अपि तु त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दलक्षणनिजकारणसमयसा-
रस्वरूपनिरतसहजज्ञानादिशुद्धगुणपर्यायाणामाधारभूतनिजात्मतत्त्वे चित्तं कदाचिदपि न
योजयति, अत एव स तपोधनोऽप्यन्यवश इत्युक्तः ।

प्रध्वस्तदर्शनचारित्रमोहनीयकर्मध्वांतसंघाताः परमात्मतत्त्वभावनोत्पन्नवीतरा-
गमुखामृतपानोन्मुखाः श्रवणा हि महाश्रवणाः परमश्रुतकेवलिनः, ते खलु कथयन्तीदृशम्
अन्यवशस्य स्वरूपमिति ।

टीका—यहां पर भी अन्यवश मुनि का स्वरूप कहा है ।

जो कोई द्रव्यलिङ्गधारी मुनि भगवान् अर्हत के मुखकमल से निकले हुये मूल
और उत्तर पदार्थ को अर्थ सहित प्रतिपादन करने में समर्थ हैं वे कभी छह द्रव्यों के
मध्य में से किसी में मन लगाते हैं, कभी अनेक मूर्तिक-अमूर्तिक, चेतन और अचेतन
गुणों में से किसी में मन लगाते हैं । पुनः उनकी अर्थ और व्यंजन पर्यायों में से किसी
में बुद्धि को करते हैं, किन्तु त्रिकाल, निरावरण, नित्यानन्दमय निजकारण समयसार के
स्वरूप में लीन हुए सहज जानादि शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायों के आधारभूत ऐसे निज
आत्मतत्त्व में चित्त को कदाचित् भी नहीं लगाते हैं इसी हेतु से वे तपोधन भी 'अन्य-
वश' इसप्रकार से कहे गये हैं ।

जिन्होंने दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय कर्मरूप अंधकार समूह को ध्वस्त
कर दिया है ऐसे परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न हुये वीतराग मुखामृत के पीने में
तत्पर श्रमण ही वास्तव में महाश्रमण श्रुतकेवली कहलाते हैं वे निश्चितरूप से अन्यवश
के ऐसे स्वरूप को कहते हैं ।

भावार्थ—पूर्व गाथा में भावलिङ्गी ऐसे व्यवहार चारित्र में कुशल लठे गुण
स्थानवर्ती को अन्यवश कह दिया है यहां पर द्रव्यलिङ्गी मुनि को भी अन्यवश कह दिया
है । मिथ्यादृष्टि से लेकर पंचम गुणस्थान तक के जीव भी द्रव्यलिङ्गी कहलाते हैं ।

तथा चोक्तम्—

(अनुष्टुभ्)

“आत्मकार्यं परित्यज्य दृष्टादृष्टाद्विरुद्धता ।

यतीनां ब्रह्मनिष्ठानां किं तथा परिचिन्तया ॥”

तथा हि—

(अनुष्टुभ्)

यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भुवति संसृतिः ।

यथैधनसनाथस्य स्वाहानाथस्य वृद्धनम् ॥२४६॥

परिचिन्ता परभावं, अप्पाणं ज्ञादि शिम्मलसहावं ।

अप्पवसो सो होदि हु, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥१४६॥

भव्य जीव द्रव्यलिङ्गधारी होते हुए उसी भव में या आगे के भव में संस्कार की विशेषता चारित्र को धारण कर भी बन सकते हैं किन्तु जो अभव्य जीव मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती ही रहते हैं फिर भी वे इस द्रव्यचारित्र के प्रसाद से नवग्रैवेयक तक भी चले जाते हैं ।

उसीप्रकार से कहा भी है—

श्लोकार्थ—“आत्मकार्य को छोड़कर प्रत्यक्ष और परोक्ष से विरुद्ध ऐसी उस चिन्ता से आत्मा के स्वरूप में लीन हुये यतियों को क्या प्रयोजन है ?”

(२४६) श्लोकार्थ—जीवों को जब तक चिन्ता है तभी तक संसार है जैसे ईधन सहित, स्वाहानाथ—अग्नि की वृद्धि ही होती है ।

भावार्थ—अग्नि में ईधन के डालते रहने से वह बढ़ती ही है उसीप्रकार से चिन्ता से संसार की वृद्धि ही होती है ।

परित्यज्य परभावं आत्मानं ध्यायति निर्मलस्वभावम् ।

आत्मवशः स भवति खलु तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यम् ॥१४६॥

जो साधु सर्व पर भाव सुत्याग करके ।

निर्मल स्वभाव निज आत्म तत्त्व ध्याते ॥

वे आत्मवश नियम से जग में कहते ।

उनका ही कर्म आवश्यक नाम पाना ॥१४६॥

अत्र हि साक्षात् स्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वरूपमुक्तम् यस्तु निरुपरा-
गनिरंजनस्वभावत्वादौदयिकादिपरभावानां समुदयं परित्यज्य कायकरणवाचामगोचरं
सदा निरावरणत्वान्निर्मलस्वभावं निखिलदुरधवीरवैरिवाहिनीपताकालुण्ठाकं निजकारण-
परमात्मानं ध्यायति स एवात्मवश इत्युक्तः । तस्याभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्य निखिल-
बाह्यक्रियाकाण्डाडंबरविविधविकल्पमहाकोलाहलप्रतिपक्षमहानंदानंदप्रदनिश्चयधर्मशुक्ल-
ध्यानात्मकपरमावश्यककर्म भवतीति ।

गाथा १४६

अन्वयार्थ—[परभावं परित्यक्त्वा] परभाव को छोड़कर [निर्मलस्वभावं
आत्मानं] निर्मल स्वभावी आत्मा का [ध्यायति] जो ध्यान करता है [सः खलु
आत्मवशः भवति] वह निश्चितरूप से आत्मवश होता है, [तस्य तु कर्म आवश्यम्]
उसकी क्रिया को आवश्यक [भणति] कहते हैं ।

टीका—यहां पर साक्षात् स्ववश हुये ऐसे परम जिनयोगीश्वर का स्वरूप
कहा है ।

जो रागरहित निरंजन स्वभाव होने से औदयिक आदि पर भावों के समुदाय
का त्याग करके शरीर, इंद्रिय और वचनों के अगोचर सदा निरावरणरूप होने से
निर्मल स्वभाव, समस्त दुष्ट पापरूपी वीर वैरी की सेना की पताका को हरण करने
वाले ऐसे निजकारण परमात्मा का ध्यान करता है वही साधु 'आत्मवश' ऐसा कहा
गया है । उस अभेद अनुपचार रत्नत्रयस्वरूप साधु के निखिल बाह्य क्रियाकाण्ड के

(पृथ्वी)

जयत्ययमुदारधीः स्ववशयोगिवन्दारकः
 प्रनष्टभवकारणः प्रहृतपूर्वकर्मविलिः ।
 स्फुटितशुद्धबोधात्मिकां
 सदाशिवमयीं मुक्ता व्रजति सर्वथा निर्वृतिम् ॥२४७॥

(अनुष्टुभ्)

प्रध्वस्तपंचवाणस्य पंचाचाराचिताकृतेः ।
 अवंचकगुरोर्वक्यं कारणं मुक्तिसंपदः ॥२४८॥

आडम्बर के विविध विकल्परूप जो महाकोलाहल है उसके प्रतिपक्षरूप महान् आनन्द-
 नन्द को प्रदान करने वाली ऐसी निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान स्वरूप परमआवश्यक
 क्रिया होती है ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज स्ववश मुनियों की प्रशंसा करते हुए आठ
 श्लोक कहने हैं—]

(२४७) श्लोकार्थ—जिन्होंने संसार के कारण को नष्ट कर दिया है तथा
 जो पूर्व में संचित ऐसे कर्मसमूह को नष्ट करने वाले हैं ऐसे ये उदार बुद्धि वाले स्ववश
 हुये योगिपुंगव जयशील हो रहे हैं । वे स्पष्टरूप उत्कट विवेक से प्रगटित शुद्धज्ञान
 स्वरूप, सदा शिवमय ऐसी मुक्ति को हर्षपूर्वक सर्वथा प्राप्त कर लेते हैं ।

भावार्थ—यहां पर स्ववश हुये मुनि की जो अवस्था बतलाई है उसके प्रसाद
 से वे शीघ्र ही धानिया कर्मों से रहित होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं ।

(२४८) श्लोकार्थ—जिन्होंने पांच वाणों से सहित ऐसे कामदेव को ध्वस्त
 कर दिया है जो पांच आचारों से सहित पूज्य आकृति वाले हैं ऐसे अवंचक गुरु के
 वचन मुक्ति संपदा के कारणभूत हैं ।

भावार्थ—दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पांच आचार रूप ही है आकार
 जिनका ऐसे वे पंचाचार परिणत साधुजन किसी की वंचना नहीं करते हैं इसलिये
 इनके पूर्ण विश्वस्त गुरुदेव के वचन निर्वाण के कारण माने गये हैं ।

(अनुष्टुप्)

इत्थं बुद्ध्या जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम् ।

निर्वाणसंपदं याति यस्तं वंदे पुनः पुनः ॥२४६॥

(द्रुतविलंबित)

स्ववशयोगिनिकायविशेषक

प्रहृतचारुबधूकनकस्पृह ।

त्वमसि नरशरणां भववानने

स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम् ॥२४७॥

(द्रुतविलंबित)

अनशनादितपश्चरणैः फलं

तनुविशोषणमेव न चापरम् ।

तव पदांबुरुहद्वयचितया

स्ववश जन्म सदा सफलं मम ॥२४८॥

(२४६) श्लोकार्थ—जिनेन्द्रदेव का मार्ग निर्वाण का कारण है, ऐसा जानकर जो मुनि निर्वाण संपत्ति को प्राप्त कर लेते हैं उनको मैं पुनः पुनः वंदना करता हूँ ।

(२४७) श्लोकार्थ—जिसने सुन्दर कामिनी और कनक से स्पृहा को नष्ट कर दिया है ऐसे स्ववश योगी समूह में तिलक स्वरूप है योगिराज ! कामदेवरूपी मील के बाणों से क्षत चित्त वाले ऐसे हम लोगों को इस भव वन में आप ही शरण हैं ।

(२४८) श्लोकार्थ—अनशन आदि तपश्चरणों के द्वारा होने वाला फल शरीर शोषण मात्र ही है अन्य कुछ नहीं है । हे स्ववश मुनिराज ! आपके चरण कमल युगल की चित्ता से ही सदा मेरा जन्म सफल है ।

भाषार्थ—अनशन अवमौदर्य आदि तपश्चरणों के फल की यहाँ अवहेलना की है, ऐसा प्रतीत होता है किंतु ऐसी बात नहीं है क्योंकि अन्यत्र ग्रंथों में इन तपश्चरणों के अत्यधिक कर्मों की निर्जरा मानी है तपश्चरण के बिना भी पूर्णतया कर्मों की निर्जरा होता असम्भव है । श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है कि—

(मानिनी)

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः
 स्वरसविसरपूरक्षालितांहाः समंतात् ।
 सहजसमरसेनापूर्णपुण्यः पुराणः
 स्ववशमनसि नित्यं संस्थितः शुद्धसिद्धः ॥२५२॥

(अनुष्टुभ्)

सर्वजघोतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः ।
 न कामपि भिदां क्वापि तां विद्यो हा जडा वयम् ॥२५३॥

“हे भगवन् ! आपने आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिये परम दुश्चर ऐसे बाह्य तपश्चरण को किया था” । इसलिये यहां एकांत नहीं समझना, तत्त्वज्ञान शून्य तपश्चरण ही मात्र ऐसा है जो मुक्ति को प्राप्त कराने में असमर्थ है । फिर भी यह निर्दोष तपश्चरण मात्र द्रव्यलिगी मुनि को नवग्रंथेयक तक भी पहुंचा देता है । तथा इससे लौकिक अभ्युदय फल भी मिलते हैं । अतः यहां सर्वथा तपश्चरण का निषेध नहीं है प्रत्युत गुरु भक्ति से गुरुओं के चरणों की उपासना का ही महत्त्व स्पष्ट है ।

(२५२) श्लोकार्थ—सहज तेज की राशि में डूबा हुआ लोकजीव जयशील हो रहा है, जो कि सब ओर से निजरस के विस्तार के पूर से पाप को धो चुका है, सहज समरस के द्वारा परिपूर्ण भरे हुये होने से पुण्य—पवित्र है, पुराण—सनातन है, स्ववश हुए योगी के मन में नित्य ही विराजमान है और शुद्ध सिद्ध है ।

(२५३) श्लोकार्थ—सर्वजघोतराग में और स्वात्माधीन इन योगियों में कभी कुछ भी भेद नहीं है, किंतु अहो ! वेद की बात है कि हम जड़ बुद्धि उनमें भेद मानते हैं ।

भावार्थ—शुद्धनिश्चयनय से प्रत्येक संसारी आत्मा और परमात्मा सिद्धों में कोई अंतर नहीं है, यह अंतर मात्र व्यवहारनय से ही है । किंतु यहां पर तो स्ववश

१ “बाह्य तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम् ।”

(अनुष्टुप्)

एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन्महामुनिः ।

स्ववशः सर्वकर्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः ॥२५४॥

प्रायासं जइ इच्छसि, अप्सहावेसु कुर्यादि स्थिरभावं ।

तेण दु सामण्यगुणं, संपुण्णं होवि जीवस्स ॥१४७॥

आवश्यकं यदीच्छसि आत्मस्वभावेषु करोषि स्थिरभावम् ।

तेन तु सामायिकगुणं सम्पूर्णं भवति जीवस्य ॥१४७॥

भो साधु ! आप आवश्यक चाहते यदि ।

आत्म स्वभाव उसमें स्थिर भाव धारो ॥

उससे हि जीव गुण तो, परिपूर्ण होता ।

सावद्य हीन सामायिक नाम का जो ॥१४७॥

योगी बारहवें गुणस्थान में स्थित हैं अन्तर्मुहूर्त में ही शेष तीन धातिया को भी समाप्त करके सर्वज्ञ वीतराग होने वाले हैं । उसके पहले वीतरागी तो हो ही चुके हैं निर्ग्रन्थ संज्ञा भी वहीं पर सार्थक है इसलिये सर्वज्ञ में और इनमें भेद मानना अज्ञान ही है ।

(२५४) श्लोकार्थ—इस जन्म-संसार में स्ववश महामुनि ही एक सदा धन्य हैं जो कि अन्य में उपयोग से रहित ऐसे अनन्यबुद्धि वाले होते हुए सभी कर्मों से बाहर स्थित हैं ।

भावार्थ—वास्तव में वे ही इस संसार में धन्यवाद के पात्र हैं कि जो वीतराग निर्विकल्प ध्यान में अपने उपयोग को स्थिर कर चुके हैं । उनसे सभी कर्म अपने आप पृथक् हो जाते हैं । उनका उपयोग अन्य तरफ न होने से वे अनन्यधी कहलाते हैं ।

गाथा १४७

अन्वयार्थ—[यदि आवश्यकं इच्छसि] यदि तुम आवश्यक को चाहते हो तो [आत्मस्वभावेषु स्थिरभावं करोषि] आत्मा के स्वभावों में स्थिर भाव करो [तेन तु] उसीसे [जीवस्य] जीव का [सामायिकगुणं संपूर्णं भवति] सामायिक गुण संपूर्ण होता है ।

शुद्धनिश्चयावश्यकप्राप्त्युपायस्वरूपाख्यानमेतत् । इह हि बाह्यषडावश्यक-
प्रपञ्चकल्लोलिनीकलकलध्वानश्रवणपराङ्मुख हे शिष्य शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकस्वा-
त्माश्रयावश्यकं संसारव्रततिमूललवित्रं यदीच्छसि, समस्तविकल्पजालविनिर्मुक्तनिरञ्जन-
निजपरमात्मभावेषु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखप्रमुखेषु सततनिश्चलस्थिर-
भावं करोषि, तेन हेतुना निश्चयसामायिकगुणे जाते मुमुक्षुर्जीवस्य बाह्यषडावश्यकक्रि-
याभिः किं जातम् अप्यनुपादेयं फलमित्यर्थः । अतः परमावश्यकेन निष्क्रियेण अपुनर्भव-
पुरन्ध्रकासंभोगहासप्रवीणेन जीवस्य सामायिकचारित्रं सम्पूर्णं भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः—

(मालिनी)

“यदि चलति कश्चिन्मानसं स्वस्वरूपाद्
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः ।

टीका—शुद्धनिश्चय आवश्यक की प्राप्ति के उपाय का यह कथन है ।

बाह्य षट् आवश्यक प्रपञ्चरूपी नदी की कल-कल ध्वनि के सुनने से पराङ्-
मुख हे शिष्य ! यदि तुम संसाररूपी वेग के मूल को काटने में कुठार सदृश, ऐसी
शुद्धनिश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप स्वात्माश्रित आवश्यक क्रिया को चाहते हो,
तो सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजसुख ये चतुष्टय प्रमुख हैं जिसमें ऐसे
समस्त विकल्प जालों से रहित निरञ्जन स्वरूप अपने परमात्म भावों में सतत निश्चल
स्थिर भाव करो इस हेतु से निश्चय सामायिक गुण के हो जाने पर मुमुक्षु जीव को
[मात्र] बाह्य षट् आवश्यक क्रियाओं से क्या होगा ? अर्थात् अनुपादेय फल ही होगा
उपादेयभूत परमात्म तत्त्व नहीं प्राप्ति होगा वह अर्थ हुआ । इसलिए मुक्तिरूपी सुन्दरी
के संभोग और हास्य को प्राप्ति कराने में कुशल ऐसे निष्क्रिय-निश्चय परम आवश्यक
के द्वारा जीव का सामायिक चारित्र गंपूर्ण होता है ।

इसीप्रकार से श्री योगीन्द्रदेव ने भी कहा है—

“श्लोकार्थ—”यदि किसी प्रकार से तुम्हारा मन अपने स्वरूप से चलित होता
है और बाहर घूमता है तो तुम्हें सभी दोषों का प्रसंग होगा । इसलिए तुम हमेशा

तदनवरतमंतर्मग्नसंविग्नचित्तो

भव भवति भवान्तस्थायिधामाधिपस्त्वम् ॥”

तथा हि—

(शार्दूलविक्रीडित)

यद्येवं चरणं निजात्मनियतं संसारदुःखापहं

मुक्तिश्चीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम् ।

बुद्धयेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा

सोयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवीपायकः ॥२५५॥

आवासएण होणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।

पुब्बुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥

आवश्यकेन हीनः प्रभ्रष्टो भवति चरणतः श्रमणः ।

पूर्वोक्तक्रमेण पुनः तस्मादावश्यकं कुर्यात् ॥१४८॥

अंतर्मग्न ऐसे संवेग पूर्ण चित्त सहित हो जावेगा, कि जिससे तुम भवके अन्तरूपी ऐसे स्थायी धाम के अधिपति हो जावोगे ।”

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज निश्चयचारित्र के महत्त्व को कहते हैं—]

(२५५) श्लोकार्थ—यदि इसप्रकार संसार के दुःखों को दूर करने वाला और आत्मा में ही नियम से निश्चित ऐसा चारित्र हो तो यह मुक्ति लक्ष्मीरूपी रमणी से उत्पन्न होने वाले सुख का अतिशयरूप से कारण है । ऐसा समझकर जो मुनिनाथ समय—आत्मा के निर्दोष सार को सदा जानते हैं, सो वे बाह्य क्रियाओं से रहित हुए आपरूपी वनी को भस्मसात् करने के लिए अग्निस्वरूप होते हैं ।

गाथा १४८

अन्वयार्थ—[आवश्यक से हीन] आवश्यक से हीन [श्रमणः] श्रमण [चरणतः प्रभ्रष्टः भवति] चारित्र से भ्रष्ट होते हैं, [तस्मात् पुनः] पुनः इसलिए

जो साधु हीन आवश्यक की क्रिया से ।

चारित्र्य से वह मुनी सच भ्रष्ट ही है ॥

पूर्वोक्त क्रम समझ के इस ही लिये को ।

व्यवहार निश्चय क्रिया षट् नित्य पालो ॥१४८॥

अत्र शुद्धोपयोगाभिमुखस्य शिक्षणमुक्तम् । अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुति-
बंदनाप्रत्याख्यानदिषडावश्यकपरिहीणः श्रमणचारित्र्यपरिभ्रष्ट इति यावत्, शुद्धनिश्चयेन
परमाध्यात्मभाषयोक्तनिर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणश्रमणो निश्चय-
चारित्र्यभ्रष्ट इत्यर्थः । पूर्वोक्तस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयावश्यकक्रमेण
स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपेण सदावश्यकं करोतु परममुनिरिति ।

[पूर्वोक्तक्रमेण] पूर्वकथित क्रम से [आवश्यकं कुर्यात्] आवश्यक क्रिया करना चाहिए ।

टीका—यहां पर शुद्धोपयोग के अभिमुख हुए मुनि को शिक्षा कही है ।

यहां पर यह बताया है कि व्यवहारनय से भी समता स्तुति, बंदना, प्रत्या-
ख्यान आदि षट् आवश्यक क्रियाओं से हीन हुआ श्रमण चारित्र्य से परिभ्रष्ट है । और
शुद्धनिश्चयनय से परम अध्यात्म भाषा से कथित ऐसी निर्विकल्प समाधिस्वरूप परमा-
वश्यक क्रिया से हीन हुआ श्रमण निश्चयचारित्र्य से भ्रष्ट है ऐसा अर्थ है । अतः
पूर्वोक्तस्ववश हुए परमजिनयोगीश्वर का जो निश्चय आवश्यक का क्रम है जो कि
स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यानस्वरूप है उसी क्रम से परममुनि सदा
आवश्यक क्रिया को करो ।

भावार्थ—यहां पर टीकाकार ने स्पष्ट कह दिया है कि जो साधु व्यवहार
क्रियाओं से शून्य है, वे चारित्र्य से ही भ्रष्ट हैं । पुनः उनके निश्चय क्रिया तो बहुत
ही दूर है किंतु जो निश्चय को साध्य समझते हुए व्यवहार क्रियाओं में प्रवृत्ति करते हैं
जब तक निश्चय को प्राप्त नहीं कर लेते हैं तभी तक उसे उपादेयभूत समझते हैं वे ही
साधु व्यवहार में निष्पन्न होते हुए एक दिन निश्चय को अवश्य ही प्राप्त कर लेते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज निश्चय क्रियाओं के महत्त्व को दो श्लोकों से
कहते हैं—]

(मंदाक्रांता)

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकं
कुर्यादुच्चैरघकुलदूरं निर्द्वन्द्वं तत्तत्तत् ।
सोऽयं नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
वाचां दूरं किमपि सहजं शाश्वतं शं प्रयाति ॥२५६॥

(अनुष्टुभ्)

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम् ।
इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मणः ॥२५७॥

आवासएण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगणा ।
आवासयपरिहीणो, समणो सो होदि बहिरणा ॥१४६॥

आवश्यककेन युक्तः श्रमणः स भवत्यंतरंगात्मा ।
आवश्यकपरिहीणः श्रमणः स भवति बहिरात्मा ॥१४६॥

(२५६) श्लोकार्थ—आत्मा अवश्य ही पापकुल की नायक और निर्वाण के मूलभूत ऐसी केवल एक सहज परमावश्यक क्रिया को ही अतिशयरूप से करे । यही स्वरस—अपने अनुभव के विस्तार से परिपूर्ण भरित पुण्यस्वरूप और पुराण सो वह आत्मा वचनों के अगोचर कोई एक अद्भुत सहज और शाश्वत सुख को कर लेगा ।

(२५७) श्लोकार्थ—स्ववश मुनीन्द्र का वह उत्तम स्वात्म चिन्तन ही अवश्यक कर्म है जो कि मुक्तिमुख का मूल है ।

भावार्थ—शुद्धोपयोगी मुनि के जो अपनी आत्मा के स्वरूप का ध्यान होता है आवश्यक क्रिया है तथा मुक्ति का मूल कारण कहा गया है ।

गाथा १४६

अन्वयार्थ—[आवश्यककेन युक्तः] आवश्यक से सहित [श्रमणः] श्रमण है वह [अंतरंगात्मा] अंतर आत्मा है और जो [आवश्यकपरिहीणः] आवश्यक

जो साधु नित्य आवश्यक युक्त होता ।
 वोही अवश्य मुनि अन्तर आत्मा है ॥
 जो शून्य है श्रमण आवश्यक क्रिया से ।
 उसको कहें यतिपती बहिरात्मा ही ॥१४६॥

अत्रावश्यककर्माभावे तपोधनो बहिरात्मा भवतीत्युक्तः । अभेदानुपचाररत्नत्र-
 यात्मकस्वात्मानुष्ठाननियतपरमावश्यककर्मणानवरतसंयुक्तः स्ववशाभिधानपरमश्रमणः
 सर्वोत्कृष्टोऽन्तरात्मा, षोडशकषायाणामभावादयं क्षीणमोहपदवीं परिप्राप्य स्थितो
 महात्मा । असंयतसम्यग्दृष्टिर्जघन्यान्तरात्मा । अनयोर्मध्यमाः सर्वे मध्यमान्तरात्मानः ।
 निश्चयव्यवहारनयद्वयप्रणीतपरमावश्यकक्रियाविहीनो बहिरात्मेति ।

उक्तं च मार्गप्रकाशे -

(अनुष्टुभ्)

“बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा ।

बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युतितात्मधीः ॥”

से रहित [श्रमणः] श्रमण है [सः] वह [बहिरात्मा भवति] बहिरात्मा होता है ।

टीका—आवश्यक क्रिया के अभाव में तपोधन बहिरात्मा होता है, ऐसा यहां पर कहा है ।

अभेद अनुपचार रत्नत्रय स्वरूप अपनी आत्मा के अनुष्ठान में निश्चितरूप परमावश्यक क्रिया से हमेशा संयुक्त ‘स्ववश’ इस नाम वाले परमश्रमण सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं, क्योंकि सोलह कषायों के अभाव से ये क्षीण मोह पदवी को प्राप्त बारहवें गुणस्थान में स्थित हुए महात्मा हैं । असंयतसम्यग्दृष्टि जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं और इन दोनों के मध्य में रहने वाले सभी मध्यम अन्तरात्मा हैं । तथा निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों से प्रणीत परम आवश्यक क्रियाओं से रहित जीव बहिरात्मा हैं ।

इसीप्रकार से मार्गप्रकाश में भी कहा है—

“श्लोकार्थ—अन्य समय-परसमय के बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसे दो प्रकार होते हैं । इन दोनों में से जो देह इंद्रिय, आदि में उत्पन्न हुई आत्म बुद्धि वाला है वह बहिरात्मा है ।”

(अनुष्टुभ्)

“जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुदृक् ।

प्रथमः क्षीणमोहोऽन्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः ॥”

तथा हि—

(मंदाकांता)

योगी नित्यं सहजपरमावश्यककर्मप्रयुक्तः

संसारोत्थप्रबलसुखदुःखादवीदूरवर्ती ।

तस्मात्सोऽयं भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः ।

स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः ॥२५८॥

“श्लोकार्थ—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से अंतरात्मा के तीन भेद हैं। उसमें से अविरत सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम—जघन्य अन्तरात्मा हैं, क्षीणमोह जीव जघन्य-उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं और इन दोनों के मध्य में रहने वाले मध्यम अन्तरात्मा हैं ॥”

विशेषार्थ—श्री कुंदकुंद देव अन्यत्र ग्रंथ में कहते हैं कि बहिरात्मा और अन्तरात्मा परसमय हैं और परमात्मा को स्वसमय कहा है। इनके भेदों का तुम गुण-स्थान में समझो। मिथ्य गुणस्थान पर्यंत बहिरात्मा हैं, चतुर्थ गुणवर्ती जघन्य अंतरात्मा हैं। पंचमगुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक तरतमता से मध्यम अंतरात्मा हैं, क्षीणकषाय वाले बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्तम अंतरात्मा हैं और तेरहवें चौदहवें गुण-स्थानवर्ती जिन तथा सिद्ध भगवान् परमात्मा हैं। यहाँ मार्ग प्रकाश में जो अन्य समय है उसका अर्थ परसमय है तथा स्वसमय से परमात्मा को ग्रहण किया है ऐसा समझना।

उसीप्रकार से—[टीकाकार मुनिराज अध्यात्म भाषा से बहिरात्मा और अन्तरात्मा के लक्षण को कहते हैं—]

(२५८) श्लोकार्थ—जो योगी नित्य ही सहज परमावश्यक क्रिया का योग करता हुआ, संसार में उत्पन्न हुये प्रबल सुख-दुःखरूपी वनी के दूरवर्ती होता

अन्तरबाहिरजल्पे, जो बट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जल्पेसु जो एा बट्टइ, सो उच्चइ अन्तरंगप्पा ॥१५०॥

अन्तरबाह्यजल्पे यो वर्तते स भवति बहिरात्मा ।
जल्पेषु यो न वर्तते स उच्यतेऽन्तरंगात्मा ॥१५०॥

जो बाह्य जल्प अरु अन्तरजल्प में भी ।
वर्तन करे वह मुनी बहिरात्मा है ॥
जो जल्प में रहित सर्व विकल्प शुन्य ।
वे ही श्रमण मतत अन्तर आत्मा हैं ॥१५०॥

बाह्याभ्यन्तरजल्पनिरासोऽयम् । यस्तु जिनलिङ्गधारी तपोधनाभासः पुण्यकर्म-
कांक्षया स्वाध्यायप्रत्याख्यानस्तवनादिबहिर्जल्पं करोति, अशनशयनगमनस्थानादिषु

है : इसलिये यह प्रतिपादन से आत्मा में स्थित होता हुआ अन्तरात्मा होता है
और जो स्वात्मा से भ्रष्ट है तथा बाह्यतत्त्वों में निष्ठ है वह बहिरात्मा होता है ।

भावार्थ—यहां पर मात्र उत्तम अन्तरात्मा ही विवक्षित है । गौणरूप से
मध्यम और अधन्य अन्तरात्मा भी आ जाते हैं क्योंकि वे भी आत्मतत्त्व की भावना में
तथा उसके साधनभूत ऐसे जिनेन्द्रदेव कथित व्यवहार मार्ग में स्थित हैं । किन्तु जो
आत्मतत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र से रहित हैं वे बहिरात्मा हैं ।

गाथा १५०

अन्वयार्थ—[यः] जो [अन्तरबाह्यजल्पे] अन्तरङ्ग और बहिरंग जल्प में
[वर्तते] वर्तता है, [सः बहिरात्मा] वह बहिरात्मा [भवति] होता है, और [यः
जल्पेषु] जो जल्पसमूह में [न वर्तते] नहीं रहता है, [सः अन्तरंगात्मा] वह अंतरात्मा
[उच्यते] कहा जाता है ।

टीका—यह बाह्य और अंतर जल्प का निराकरण है । जो जिनलिङ्गधारी
तपोधनाभास मुनि पुण्य कर्म की आकांक्षा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि रूप
बाह्य जल्प को करते हैं, और अशन, शयन, गमन, स्थान आदि क्रियाओं में सत्कार

सत्कारादिलाभलोभस्सन्नतर्जल्पे मनश्चकारेति स बहिरात्मा जीव इति । स्वात्मध्यान-
परायणत्सन् निरवशेषेणान्तर्मुखः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तविकल्पजालकेषु कदा चिदपि न
वर्तते अत एव परमतपोधनः साक्षादंतरात्मेति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(वरांतनिलका)

“स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥”

आदि लाभ के लोभी होते हुए अंतर्जल्प में मन को लगाते हैं वे बहिरात्मा जीव हैं ।
इनसे अतिरिक्त जो मुनि स्वात्मध्यान में परायण होते हुये, परिपूर्णरूप से अंतर्मुख हुये,
प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त विकल्प जालों में कदाचित् भी नहीं वर्तते हैं । इन हेतु में
वे परम तपोधन साक्षात् अन्तरात्मा होते हैं ।

भावार्थ—यहां पर भी अन्तरात्मा से सातिशय अप्रमत्त सप्तम गुणस्थानवर्ती
मुनियों से लेकर ग्यारहवें तक मध्यम अन्तरात्मा गौणतया और बारहवें गुणस्थानवर्ती
उत्तम अन्तरात्मा मुख्यतया विवक्षित हैं, क्योंकि टीकाकार ने ‘साक्षात्’ यह पद
रखा है ।

उसीप्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

“श्लोकार्थ—”जिसमें स्वेच्छा से बहुत से विकल्प जाल उठ रहे हैं ऐसी इस
विशाल नयपक्ष की कक्षा-नयों के समूह की भूमिका को उलंघन करके अन्तरङ्ग और
बहिरङ्ग में समरसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने
भाव को यह तत्त्ववेदी प्राप्त कर लेता है ।”

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च
स्मृत्या नित्यं समरसमयं चिच्चमत्कारमेकम् ।
ज्ञानज्योतिःप्रकटितनिजाभ्यन्तरंगान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥२५६॥

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणवो सोवि अन्तरंगप्पा ।
झाणविहीणो समणो, बहिरप्पा इदि विजानीहि ॥२५७॥

यो धर्म्यशुक्लध्यानयोः परिणतः सोऽप्यन्तरंगात्मा ।
ध्यानविहीनः श्रमणो बहिरात्मेति विजानीहि ॥२५८॥

जो धर्म शुक्ल धर ध्यानमयी हुए हैं ।
वे साधु ही नियम से उस अन्तरात्मा ॥
जो ध्यान हीन मुनि वे बहिरात्मा हैं ।
क्योंकि न सुद्ध नहीं भी शुभध्यान उनके ॥२५९॥

अब [टीकाकार मुनिराज अन्तस्तत्त्व को प्राप्त करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—]

(२५६) श्लोकार्थ—भवभयकारी ऐसे बाह्य और आभ्यन्तर जल्प को छोड़ कर समरसमयी एक चैतन्य चमत्कार का ही नित्य स्मरण करके, जिसने ज्ञान ज्योति से अपने अभ्यन्तर स्वरूप को प्रगट किया है ऐसा अन्तरात्मा मोह के क्षीण-समाप्त हो जाने पर कोई एक अद्भुत परमतत्त्व को अन्तरङ्ग में देख लेता है ।

गाथा १५१

अन्वयार्थ—[यः] जो [धर्मशुक्लध्यानयोः] धर्मध्यान और शुक्लध्यान से [परिणतः] परिणत है [सः अपि] वह भी [अन्तरंगात्मा] अन्तरात्मा है, और [ध्यानविहीनः श्रमणः] ध्यान से रहित श्रमण [बहिरात्मा] बहिरात्मा है [इति विजानीहि] ऐसा तुम समझो ।

अत्र स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वितयमेवोपादेयमित्युक्तम् । इह हि साक्षा-
दन्तरात्मा भगवान् क्षीणकषायः, तस्य क्लृप्त भगवतः क्षीणकषायस्य षोडशकषायाणाम्
भावात् दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मराजन्ये विलयं गते अत एव सहजचिद्विलासलक्षणमत्य-
पूर्वमात्मानं शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वयेन नित्यं ध्यायति । आभ्यां ध्यानाभ्यां विहीनो
द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमणो बहिरात्मेति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

टीका—यहां पर स्वात्माश्रित निश्चय धर्म और शुक्लध्यान ये दो ही उपादेय
हैं, ऐसा कहा है ।

यहां पर साक्षात् अंतरात्मा भगवान् क्षीणकषायी हैं, क्योंकि निश्चितरूप से
उन भगवान् के सोलह कषायों के अभाव से दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म-
रूपी राजयोद्धा विलय को प्राप्त हो चुके हैं इसी हेतु से ये स्वाभाविक चैतन्यविलासरूप
अति अपूर्व आत्मा का शुद्धनिश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान इन दोनों के द्वारा नित्य
ही ध्यान करते हैं । किन्तु इन दोनों ध्यान में रहित हुये द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमण
बहिरात्मा हैं ऐसा हे शिष्य ! तुम जानो ।

विशेषार्थ—यहां पर टीकाकार ने स्पष्ट कहा है कि जिनके दर्शनमोहनीय
और चारित्रमोहनीय का सर्वथा अभाव हो गया है ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनि
के ही निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान होता है । इस निश्चय धर्मध्यान को
बारहवें गुणस्थान में मानने की बात 'ध्यानशतक' ग्रंथ में भी कही है । वे क्षीणकषायी
ही उत्कृष्ट अंतरात्मा हैं वे ही यहां विवक्षित हैं । उन दोनों ध्यानों से जो रहित हैं वे
बहिरात्मा कहे गये हैं । इस कथन से उत्कृष्ट अंतरात्मा से अतिरिक्त सभी बहिरात्मा
माने गये हैं । यहां बहिरात्मा शब्द से मिथ्यादृष्टि को नहीं लेना चाहिये ।
अथवा निश्चय और व्यवहार दोनों धर्मध्यानों में रहित को बहिरात्मा मानने
में मिथ्यादृष्टि ही आते हैं क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान में भी आज्ञा विचय आदि धर्मध्यान
माने ही हैं । इस दृष्टि से जघन्य और मध्यम अंतरात्मा भी गौणरूप से आ सकते हैं
सा समझना । अथवा जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान से रहित हैं वे अर्थापत्ति से आर्तध्यान
और रोद्रध्यान से सहित हो सकते हैं । वे धर्मध्यान शून्य द्रव्यलिंगी मुनि वास्तव में

(वसंततिलका)

कश्चिन्मुनिः सततनिर्मलधर्म्यशुक्ल-
 ध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ ।
 ताभ्यां गिहीनमुत्तमो बहिरात्मकोऽथ
 पूर्वोक्तयोगिनमहं शरणं प्रपद्ये ॥२६०॥

किं च केवलं शुद्धनिश्चयनयस्वरूपमुच्यते—

(अनुष्टुभ्)

बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम् ।
 सुधियां न समस्त्येष संसाररमणीप्रियः ॥२६१॥

बहिरात्मा हैं । छठे गुणस्थानवर्ती साधु निश्चय धर्मध्यान की भावना से सहित हैं तथा चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती व्यवहार धर्मध्यान से परिणत हैं अतएव वे बहिरात्मा नहीं हैं, वे यहां गौण हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज इसी बात को दो कलज काव्य द्वारा कहते हैं—]

(२६०) श्लोकार्थ—कोई मुनि सतत निर्मल धर्म और शुक्लध्यानामृतरूपी समरस में वर्तते हैं वे सचमुच में अंतरात्मा हैं । तथा इन दो ध्यानों से रहित मुनि बहिरात्मा हैं । मैं पूर्व कथित (अन्तरात्मा) योगी की शरण को प्राप्त होता हूं ।

अब केवल शुद्धनिश्चयनय का स्वरूप कहा जाता है—

(२६१) श्लोकार्थ—बहिरात्मा और अन्तरात्मा ऐसा यह विकल्प कुबुद्धियों को होता है किंतु संसाररूपी रमणी के लिये प्रिय ऐसा यह विकल्प सुबुद्धियों को नहीं होता है ।

भावार्थ—यहां केवल मात्र शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से ही यह कथन है क्योंकि “सच्चे सुद्धा हु सुद्धण्या” शुद्धनिश्चयनय से सभी जीव सर्वथा शुद्ध ही हैं । संसार और मोक्ष की वहां बात ही नहीं है । क्योंकि जब सभी संसारी जीव भी सिद्ध सदृश पूर्णतया शुद्ध ही हैं तब संसार क्या होगा ? किंतु जब व्यवहारनय से भेद करके

पडिकमणपहुदिकिरियं, कुर्वन्तो निश्चयस्य चारित्तं ।
तेण तु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिवो होदि ॥१५२॥

प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां कुर्वन् निश्चयस्य चारित्रम् ।
तेन तु विरागचरिते श्रमणोभ्युत्थितो भवति ॥१५२॥

जो साधु ये प्रतिव्रतादि सभी क्रियाओं ।
करते उन्हें सतत ही निश्चय चरित्र ॥
वे वीतरागमय चारित्र में उभरे थे ।
आरुढ़ भी नियम से फिर हो सकेंगे ॥१५२॥

परमवीतरागचारित्रस्थितस्य परमतपोधनस्य स्वरूपमत्रोक्तम् । यो हि विमुक्तहिकव्यापारः साक्षादपुनर्भवकांक्षी महामुमुक्षुः परित्यक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वान्निश्चयप्रतिक्रमणादिसत्क्रियां कुर्वन्नास्ते, तेन कारणेन स्वस्वरूपविश्रान्तिलक्षणे परमवीतरागचारित्रे स परमतपोधनस्तिष्ठति इति ।

संसारि आत्मा को शुद्ध करने का पुरुषार्थ किया जाता है उस समय पूर्व में यह विकल्प होता ही है अनन्तर निविकल्प अवस्थारूप ध्यान में विकल्प छूट जाता है । इस अपेक्षा से कबुद्धि कहा है ।

गाथा १५२

अन्वयार्थ—[निश्चयस्य चारित्रं प्रतिक्रमण प्रभृति क्रियां] निश्चयनय के चारित्ररूप प्रतिक्रमण आदि क्रिया को [कुर्वन्] करना हुआ [श्रमणः] श्रमण [तेन तु] उसी से [विराग चरिते] वीतराग चारित्र में [अभ्युत्थितः भवति] आरुढ़ हो जाता है ।

टीका—परमवीतराग चारित्र में स्थित हुये परमतपोधन के स्वरूप को यहाँ पर कहा है ।

जो ऐहिक व्यापार से रहित हुये साक्षान् अपुनर्भव के इच्छुक महामुमुक्षु सकल इंद्रियों के व्यापार को छोड़ देने से निश्चय प्रतिक्रमण आदि सत्क्रिया को करते रहते हैं, उस कारण से वे तपोधन अपने स्वरूप में विश्रान्ति लक्षण ऐसे परमवीतराग चारित्र में स्थित होते हैं ।

(मंदाक्रांता)

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदक्षीणमोहो
 यः संसारोद्भवसुखकरं कर्म भुक्त्वा विमुक्तेः ।
 भूते शीघ्रे महाविरहिणे सोऽधमाचारराशिः
 तं वन्देऽहं समरससुधासिन्धुराकाशशांकम् ॥२६२॥

वयणमयं पडिकमणं, वयणमयं पञ्चखाण नियमं च ।
 आलोयण वयणमयं, तं सर्वं जाण 'सज्जायं' ॥१५३॥

वचनमयं प्रतिक्रमणं वचनमयं प्रत्याख्यानं नियमश्च ।
 आलोचनं वचनमयं तत्सर्वं जानीहि स्वाध्यायम् ॥१५३॥

वाचामयी प्रतिक्रमण वचनमय नियम जो ।
 वाणी स्वरूप ग्रन्थ प्रत्याख्यान भी हैं ॥
 आलोचना वचनरूप इसी तरह जो ।
 स्वाध्यायरूप तुम उन, सबको समझ लो ॥१५३॥

[अब टीकाकार मुनिराज कलश काव्य कहते हैं—]

(२६२) श्लोकार्थ—जिसके दर्शन मोह और चारित्र्य मोह नष्ट हो चुके हैं, ऐसा जो अतुलमहिमाशाली आत्मा संसार में उत्पन्न होने वाले सुख के कारणभूत कर्म को छोड़कर मुक्ति के लिये मूल ऐसे मल से रहित चारित्र्य में स्थित होता है, सो यह आत्मा आचार की राशि स्वरूप—चारित्र्य का समूह ही है । समरसरूपी सुधा के सागर को वृद्धिगत करने के लिये पूर्णिमा के चन्द्रमास्वरूप ऐसे उस आत्मा को मैं वन्दन करता हूँ ।

गाथा १५३

अन्वयार्थ—[वचनमयं प्रतिक्रमणं] वचनमय प्रतिक्रमण, [वचनमयं प्रत्याख्यानं] वचनमय प्रत्याख्यान, [नियमः च] वचनमय नियम तथा [वचनमयं आलोचनं] वचनमय आलोचना [तत्सर्वं] उन सबको [स्वाध्यायं जानीहि] तू स्वाध्याय जान ।

सकलवाग्विषयव्यापारनिरासोऽयम् । पाक्षिकादिप्रतिक्रमणक्रियाकारणं निर्यापकाचार्यमुखोद्गतं समस्तपापक्षयहेतुभूतं द्रव्यश्रुतमखिलं वाग्वर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यात्मकत्वात् ग्राह्यं भवति, प्रत्याख्याननियमालोचनाश्च । पौद्गलिकवचनमयत्वात्तत्सर्वं स्वाध्यायमिति रे शिष्य त्वं जानीहि इति ।

(मंदाक्रान्ता)

मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां सर्वदातः समस्तां
निर्वाणस्त्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहादृष्टः ।
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमाधारणेः स्वरूपे
स्थित्वा सर्वं तृणमिव जगज्जालमेको ददर्श ॥२६३॥

टीका—यह समस्त वचन विषयक व्यापार का निराकरण है ।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्रिया का कारण ऐसा जो निर्यापकाचार्य के मुख-कमल से निकला हुआ और समस्त पापों के क्षय में हेतुभूत जो अखिल द्रव्यश्रुत है वह वचन वर्गणा के योग्य पुद्गल द्रव्यरूप होने से ग्राह्य नहीं है । तथा प्रत्याख्यान नियम और आलोचना भी (पुद्गल द्रव्यात्मक होने से) ग्राह्य नहीं है । पौद्गलिक वचनमय होने से ये सब स्वाध्याय हैं ऐसा है शिष्य ! तू जान ।

भावार्थ—निश्चयनय की अपेक्षा से वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में स्थित हुये साधु के सभी वचनरूप क्रियायें अग्राह्य हैं अर्थात् उस अवस्था में वे स्वयं ही नहीं हैं और जब तक ये क्रियायें हैं तब तक सब स्वाध्यायरूप ही हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज निजात्मध्यानी साधु का स्वरूप कहते हैं—]

(२६३) श्लोकार्थ—निर्वाण स्त्री के पुष्ट स्तन युगल के आलिगन जन्य सौख्य की स्पृहा से सहित भव्य जीव इसी हेतु से समस्त वचन रचना को छोड़कर और नित्यानन्द आदि अतुलमहिमा के धारक ऐसे अपने स्वरूप में स्थित होकर वह एकाकी समस्त जगत् जाल को तृण के समान देखता है ।

तथा चोक्तम्—

“परिपट्टणं च वायणं पुच्छणं अणुपेक्खणा यं धम्मकहा ।
युद्धिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होदि सज्झाउ ॥”

जदि सबकदि काहुं जे, पडिकमरणादिं करेज्ज आणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ, सद्वहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

यदि शक्यते कुतुम् अहो प्रतिक्रमणादिकं करोषि ध्यानमयम् ।
शक्तिविहीनो यावद्यदि श्रद्धानं चैव कर्तव्यम् ॥१५४॥

जो शक्य हं यदि तुम्हें सब ध्यान रूप ।

आवश्यक प्रतिक्रमादि किया करोजे ॥

शक्तीविहीन जब तक यदि आप तब तक ।

श्रद्धान ही इन क्रियाओं में रखीजे ॥१५४॥

इसीप्रकार अन्यत्र भी कहा है—

गाथार्थ—‘परिवर्तन—पढ़े हुये का दुहराना, वाचना—शास्त्र व्याख्यान, पृच्छना—पूछना अनुप्रेक्षा—बार-बार चिंतवन करना और धर्मकथा—त्रेसठशालाका पुरुषों के चरित्र को पढ़ना या उपदेश करना, स्तुति और मंगल सहित यह पांच प्रकार का स्वाध्याय होता है ।

गाथा १५४

अन्वयार्थ—[यदि कुतुं शक्यते] यदि करना शक्य हो सके तो [अहो] अहो साधु ! [ध्यानमयं] ध्यानमय [प्रतिक्रमणादिकं] प्रतिक्रमण आदि [‘करोषि] करो [यदि शक्तिविहीनः] यदि शक्ति हीन हो तो [यावत् श्रद्धानं च एव] तब तक श्रद्धान को ही [कर्तव्यं] करना चाहिए ।

१. मूलाचार के पंचाचार अधिकार में गाथा २१६ ।

२. ‘कुर्यात्’ पाठ संभावित है ।

निश्चय-परमावश्यक अधिकार

[४१६]

अत्र शुद्धनिश्चयधर्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणादिकमेव कर्तव्यमित्युक्तम् । मुक्तिसुन्दरीप्रथमदर्शनप्राभृतात्मकनिश्चयप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तप्रत्याख्यानप्रमुखशुद्धनिश्चयक्रियाश्चैव कर्तव्याः संहननशक्तिप्रादुर्भावे सति हंहो मुनिशार्दूल परमागममकरंदनिष्यन्विमुखपद्मप्रभ सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणे परद्रव्यपराङ्मुखस्वद्रव्यनिष्णातबुद्धे पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रह । शक्तिहीनो यदि दग्धकालेऽकाले केवलं त्वया निजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानमेव कर्तव्यमिति ।

(शिखरिणी)

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिमार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति ।

टीका—शुद्धनिश्चय धर्मध्यानरूप प्रतिक्रमण आदि ही करना चाहिए, ऐसा यहाँ पर कहा है ।

सहज वैराग्यरूपी प्रासाद के शिखर के शिखामणि स्वरूप परद्रव्य से पराङ्मुख हुये तथा स्वद्रव्य में निष्णात बुद्धिमन् ! पञ्चेन्द्रिय के प्रसार से वर्जित गात्रमात्र परिग्रह धारक, परमागमरूपी मकरंद के झरते हुए मुखकमल से शोभायमान ऐसे हे पद्मप्रभ मुनिपुंगव ! संहनन शक्ति के प्रादुर्भाव होने पर तो मुक्ति सुन्दरी के प्रथम दर्शन में भेंट स्वरूप ऐसे निश्चय प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त और प्रत्याख्यान प्रमुख शुद्धनिश्चय क्रिया ही करना चाहिये और यदि इस दग्धकालरूप अकाल (पंचमकालरूप कलिकाल में) तू शक्तिहीन है तो तुझे केवल निजपरमात्मतत्त्व का श्रद्धान ही करना चाहिये ।

[टीकाकार मुनिराज उसी श्रद्धान की प्रेरणा देते हुए कलश काव्य कहते हैं—]

(२६४) श्लोकार्थ—पाप से भरपूर और कलिकाल के विलास से सहित इस असार संसार में निर्दोष जिननाथ को इस मार्ग में मुक्ति नहीं होती है इसलिये इस काल में अध्यात्म ध्यान कैसे हो सकता है ? निर्मल बुद्धि वालों ने भवभय हारी ऐसे इस निजात्मा के श्रद्धान को ही स्वीकृत किया है ।

अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ॥२६४॥

जिनकहियपरमसूत्रे, पडिकमणादिय परीवखऊण फुडं ।
मोणव्वएण जोई, णियकज्जं साहये णिच्चं ॥१५५॥

जिनकथितपरमसूत्रे प्रतिक्रमणादिकं परीक्षयित्वा स्फुटम् ।
मौनव्रतेन योगी निजकार्यं साधयेन्नित्यम् ॥ १५५ ॥

भावार्थ—यहां टीकाकार का स्पष्टरूप से कहना है कि इस निष्कण्ट काल में हीन संतनन होने से अध्यात्म ध्यान नहीं हो सकता है अतः आत्म तत्त्व का श्रद्धान ही करना उचित है । इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि पुनः इन अध्यात्म ग्रंथों की रचना क्यों की गई है ? किन्तु ऐसी बात नहीं है । जिनायम के द्वारा ऊंची से ऊंची अवस्थाओं की सभी बातों का वर्णन ग्रंथों में तो रहेगा ही और अपनी योग्यता के अनुसार ही ग्रंथों का स्वाध्याय करना चाहिये । पहले श्रावकों को श्रावकाचार आदि ग्रंथों से अपनी जीवन चर्या अवश्य निर्दोष बनाना चाहिए अनन्तर इन ग्रंथों के स्वाध्याय से सम्यग्ज्ञान को वृद्धि करना चाहिए ।

भगवती आराधना ग्रंथ में एक इसीप्रकार से प्रश्न हुआ है । यथा—“यदि ते वर्तयितुं इदानींतनानामसामर्थ्यं किं तदुपदेशेनेति चेत् तत्स्वरूप परिज्ञानात्सम्यग्ज्ञानं । तच्च मुमुक्षूणामुपयोग्येवेति ।” अर्थात् यदि भक्त प्रत्याख्यान मरण ही आजकल हो सकता है तथा उत्तम संतनन के अभाव में प्रायोपगमन और इंगिनी इन दो मरणों को करने के लिए आजकल के साधुओं में सामर्थ्य नहीं है तो यहां पर इनका उपदेश क्यों करते हैं ? ऐसी बात नहीं है क्योंकि उनका स्वरूप जानने से सम्यग्ज्ञान होता है जो कि मुमुक्षुओं के लिए उपयोगी ही है ।

गाथा १५५

अन्वयार्थ—[जिनकथितपरमसूत्रे] जिनकथित परम सूत्र में [प्रतिक्रमणादिकं] प्रतिक्रमण आदि की [स्फुटं परीक्षयित्वा] प्रगटरूप से परीक्षा करके [योगी

१. भगवती आ. श्री अपराजित सूरिकृत टीका में पृ. ६६० ।

सर्वज्ञ प्रोक्त परमागम सूत्र में जो ।
वर्ण प्रतिक्रमण आदि उन्हें समझकर ॥
ओ साधु ! मौनयुत नित्य उन्हें करोजे ।
उससे स्वयं हि निज कारण साध लीजे ॥१५५॥

इह हि साक्षादन्तर्मुखस्य परमजिनयोगिनः शिक्षणमिदमुक्तम् । श्री मवर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तपदार्थगर्भीकृतचतुरसन्दर्भे द्रव्यश्रुते शुद्धनिश्चयनयात्मकपरमात्म-
ध्यानात्मकप्रतिक्रमणप्रभृतिसत्क्रियां बुद्ध्वा केवलं स्वकार्यपरः परमजिनयोगीश्वरः
प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनां परित्यज्य निखिलसंगव्यासंगं मुक्त्वा चेकाकीभूय मौन-
व्रतेन सार्धं समस्तपशुजनैः निन्दमानोऽप्यभिन्नः सन् निजकार्यं निर्वर्णवामलोचनासंभोग-
सौख्यमूलमनवरतं साधयेदिति ।

मौनव्रतेन] योगी मौनव्रतपूर्वक [निजकार्यं नित्यं] निजकार्य को नित्य ही [साधयेत्]
साध करे ।

टीका—साक्षान् अन्तर्मुख हुए परिणमित योगी को यहां पर यह शिक्षा
कही है ।

श्रीमान् अर्हत देव के मुखकमल से निकले हुए समस्त पदार्थ जिसमें गर्भित
हैं ऐसे चतुरवचनों से संदर्भित द्रव्यश्रुत में (कही गई) शुद्धनिश्चयनयात्मक परमात्म-
ध्यानस्वरूप प्रतिक्रमण आदि सत्क्रिया को जानकर केवल स्वकार्य में तत्पर ऐसे परम-
जिनयोगीश्वर प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसी समस्त वचन रचना को छोड़कर और सर्वसंग
के व्यासंग को भी छोड़कर, एकाकी होकर मौनव्रत से सहित समस्त पशु-अज्ञानीजनों
के द्वारा निन्दा किये जाने पर भी 'अभिन्न' (अक्षोभित) होता हुआ निर्वाण मुन्दरी के
संभोग सौख्य का मूल ऐसे निजकार्य को सदैव ही साधित करे ।

[अब टीकाकार मुनिराज आत्मतत्त्व को साधना के उपाय को बतलाते हुए
दो श्लोक कहते हैं—]

१. छिन्न-भिन्न-अपने स्वरूप से च्युत नहीं होना ।

(मंदाक्रांता)

हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी
 शस्ताशस्तां वचनरचनां घोरसंसारकर्त्रीम् ।
 मुक्त्वा मोहं कनकरमर्षागोचरं चात्मनात्मा
 स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः ॥२६५॥

(वसंतनिलका)

भीतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं
 मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम् ।
 आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी
 प्राप्नोति नित्यसुखदं निजतत्त्वमेकम् ॥२६६॥

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लब्धी ।
 तम्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५६॥

(२६५) श्लोकार्थ—आत्मजानी मुमुक्षु आत्मा अज्ञानी जनों द्वारा की गई लौकिक भीति को तथा घोर संसार की करने वाली, प्रशस्त और अप्रशस्तरूप वचन रचना को छोड़कर और कनक-कामिनी सम्बन्धी मोह को तजकर मुक्ति प्राप्ति के लिए अपनी आत्मा में ही आत्मा के द्वारा अविचल स्थिति को प्राप्त होता है ।

(२६६) श्लोकार्थ—आत्मप्रवाद नामक पूर्व में कुशल, परमात्म जानी पशु सदृश-अज्ञानी मनुष्यों के द्वारा किये गए भय को छोड़कर तथा लौकिक जन से संबंधित उस सकल जल्प जाल को भी त्यागकर नित्य सुखदायी ऐसे एक निजतत्त्व को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—जो साधु परकृत निदा से क्षुब्ध नहीं होते हैं और संसारी जनों से संबंधित लौकिक प्रपंचों से सर्वथा दूर रहते हैं वे ही निर्विकल्प ध्यान के अधिकारी हो सकते हैं तथा वे ही आत्म तत्त्व की सिद्धि कर सकते हैं अन्य नहीं ।

नानाजीवा नानाकर्म नानाविधा भवेत्लब्धिः ।

तस्माद्वचनविवादः स्वपरसमयैर्वर्जनीयः ॥१५६॥

नाना प्रकार जन नाना विध करम हैं ।

नाना प्रकार लब्धी दिखती जगत में ॥

इस हेतु से स्वमत परमत के जनों से ।

जो भी विवाद वच का सब छोड़ दीजे ॥१५६॥

वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिहेतूपन्यासोऽयम् । जीवा हि नानाविधाः मुक्ता अमुक्ताः भव्या अभव्याश्च, संसारिणः त्रसाः स्थावराः । द्वीन्द्रियत्रौन्द्रियचतुरिन्द्रियसंख्यसंज्ञिभेदात् पंच त्रसाः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः । भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मसहजज्ञानादिगुणैः भवनयोग्या भव्याः, एतेषां विपरीता ह्यभव्याः । कर्म नानाविधं द्रव्यभावनाकर्मभेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रकृतिभेदाच्च, अथ तीव्रतरतीव्रमंदमंदतरोदयभे-

गाथा १५६

अन्वयार्थ—[नानाजीवाः] नाना प्रकार के जीव हैं [नानाकर्मः] नाना प्रकार के कर्म हैं, [नानाविधा लब्धिः] और नाना प्रकार की लब्धियां हैं [तस्मात्] इसलिए [स्वपर समयैः] स्व और पर समय सम्बन्धी [वचनविवादः] वचन विवाद [वर्जनीयः] वर्जित करना चाहिए ।

टीका—यह वचन विषयक व्यापार के अभाव के हेतु का कथन है ।

जीव अनेक प्रकार के हैं, मुक्त और संसारी, भव्य और अभव्य तथा संसारी के त्रस और स्थावर इत्यादि भेद हैं । इनमें भी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, तथा पंचेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी इन भेदों से त्रस जीव के पांच भेद हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ऐसे स्थावर के भेद हैं ।

भावी काल में स्वाभाविक अनन्तचतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादिक गुणों से होने योग्य भव्य होते हैं, इनसे विपरीत अभव्य हैं । द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्म के भेद से कर्म अनेक प्रकार के हैं अथवा मूल प्रकृति और उत्तरप्रकृति के भेदों से अथवा

दाह्या । जीवानां सुखादिप्राप्तेर्लब्धिः कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यताभेदात्, पञ्चधा ।
ततः परमार्थवेदिभिः स्वपरसमयेषु वादो न कर्तव्य इति ।

(शिखरिणी)

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकरः
तथा कमनिकविधमपि सदा जन्मजनकम् ।
असौ लब्धिर्नाता विमलजितमार्गे हि विदिता
ततः कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वादवचनम् ॥२६७॥

लद्धूरां एहि एवको, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणस्से ।
तह णाणी एाणएहिं, भुंजेइ चइत्तु परतत्ति ॥१५७॥

तीव्रतर, तीव्र, मंद और मंदतररूप उदय के भेदों से भी अनेक प्रकार के हैं । जीवों के सुखादि की प्राप्ति हेतु लब्धि काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्य इन भेदों से पांच प्रकार की है । इसलिये परमार्थ जानाओं को स्व और पर के समय-सम्प्रदायों में विवाद नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—तत्त्वजानी जन जब जीवों के अनेक भेद प्रभेद कर्मों के अनेक प्रकार तथा काललब्धि, उपशमलब्धि, उपदेशलब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि ऐसी लब्धियों के स्वरूप को समझ लेते हैं तब वे स्वसम्प्रदाय और परसंप्रदाय के विषयों में विसंवाद न करके परमवार्तरागी बन जाते हैं क्योंकि सभी जीव कर्माश्रित हैं पुनः उनके विषय में विसंवाद करना ठीक नहीं है ।

[टीकाकार मुनिराज वचन विकल्पों से हटाते हुए श्लोक कहते हैं—]

(२६७) श्लोकार्थ—जीवों के संसार को करने वाले ऐसे बहुत प्रकार के भेद हैं तथा सदा जन्म के उत्पन्न करने वाले ऐसे कर्म भी अनेक प्रकार के हैं, यह लब्धि भी विमल जिनदेव के शासन में अनेक प्रकार की प्रसिद्ध है इसलिए स्वसमय और परसमयों के साथ वचन विवाद नहीं करना चाहिए ।

लब्ध्वा निधिमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन ।
तथा ज्ञानी ज्ञाननिधि भुंक्ते त्यक्त्वा परततिम् ॥१५७॥

कोई मनुष्य जिसविध निधि प्राप्त करके ।

हो गुप्त फल अनुभवे उसका स्वप्न में ॥

वैसे ही ज्ञाननिधि ज्ञानी भोगता है ।

संपूर्ण अन्य जन सर्गति छोड़ करके ॥१५७॥

अत्र दृष्टान्तमुखेन सहजतत्त्वाराधनाविधिरुक्तः । कश्चिदेको दरिद्रः क्वचित् कदाचित् सुकृतीदयेन निधिं लब्ध्वा तस्य निधेः फलं हि सौजन्यं जन्मभूमिरिति रहस्ये स्थाने स्थित्वा अतिगूढवृत्त्यानुभवति इति । दृष्टान्तपक्षः । दाष्टान्तपक्षेऽपि सहजपरमतत्त्वज्ञानी जीवः क्वचिदासन्नभक्ष्यस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तिं सत्यां परमगुरुचरणनलिनयुगलनिरतिशयभक्त्या मुक्तिसुन्दरीमुखमकरन्दायमानं सहजज्ञाननिधिं परिप्राप्य परेषां जनानां स्वरूपविकलानां तति समूहं ध्यानप्रत्यूहकारणमिति त्यजति ।

गाथा १५७

अन्वयार्थ—[एकः निधिं लब्ध्वा] जैसे कोई निर्धन निधि को पाकर [सुजनत्वेन] सुजनरूप से—गुप्तरूप में [तस्य] उसके [फलं अनुभवति] फल का अनुभव करता है [तथा] वैसे ही [ज्ञानी] ज्ञानीजन [परतति] परजनों के समुदाय को [त्यक्त्वा] छोड़कर [ज्ञाननिधिं भुंक्ते] ज्ञाननिधि का अनुभव करता है ।

टीका—यहां पर दृष्टान्त की प्रमुखता में सहजनत्व की आराधना का विधान कहा है ।

कोई एक दरिद्र प्राणी कहीं पर कदाचित् पुण्य के उदय से निधि को प्राप्त कर उस निधि के फलस्वरूप सौजन्य—जन्मभूमि है ऐसे उस गुप्तस्थान में रहकर अत्यन्त गुप्त रीति से उसका अनुभव करता है यह दृष्टान्त हुआ । अब दाष्टान्त पक्ष में भी सहज परमतत्त्व ज्ञानी जीव कभी आसन्न भक्ष्यता गुण के उदय में सहज वैराग्यरूपी सम्पत्ति के होने पर परम गुरु के चरण कमल युगल की निरतिशय—उत्कृष्ट भक्ति से मुक्ति

(शालिनी)

अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः
 लब्ध्वा पुण्यात्कांचनानां समूहम् ।
 गुढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसंगो
 ज्ञानी सद्दत् ज्ञानरक्षां करोति ॥२६८॥

(मंदाक्रांता)

त्यक्त्वा संगं जननमरणात्कहेतुं समस्तं
 कृत्वा बुद्ध्या हृदयकमले पूर्णवैराग्यभाषम् ।
 स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानंदनिर्व्यग्ररूपे
 क्षीणे मोहे तृणमिव सदा लोकमालोकयामः ॥२६९॥

सब्बे पुराणपुरिमा, एवं आवास्यं य काङ्क्षण ।
 अपमत्तपहुदिठारां, पडिवज्ज य केवली जादा ॥२७०॥

गुन्दरी के मुख की मकरन्द सदृश स्वाभाविक ज्ञानरूपी निधि को प्राप्त करके स्वरूप में शून्य ऐसे अन्यजनों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण ऐसा समझकर छोड़ देता है ।

(२६८) श्लोकार्थ—इस लोक में कोई एक लौकिकजन पुण्य से कंचन-धन के समूह प्राप्त कर तथा गुप्त होकर रहता है वैसे ही परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ ऐसा ज्ञानी साधु ज्ञान की रक्षा करता है ।

(२६९) श्लोकार्थ—जन्म-मरण रूपी आतंक-व्याधि के कारण ऐसे समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने हृदय कमल में बुद्धि में पूर्ण वैराग्य भाव को करके तथा स्वाभाविक परमानंदमय निराकुलरूप ऐसे अपने स्वरूप में शक्तिपूर्वक स्थित होकर मोह के क्षीण हो जाने पर हम इस लोक को नित्य ही तृण सदृश देखते हैं ।

सर्वे पुराणपुरुषा एवमावश्यकं च कृत्वा ।

अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं प्रतिपद्य च केवलिनो जाताः ॥१५८॥

तीर्थंकरादि सब पुरुषों ने इसी विधि ।

व्यवहार निश्चय पडावश्यक किया कर ॥

हो अप्रमत्त फिर श्रेणी में पहुँच के ।

श्री केवली जिन हुए उनको नमूँ में ॥१५८॥

परमावश्यक अधिकारोपसंहारोपन्नालोपात् । स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यान-
स्वरूपं बाह्यावश्यकदिक्रियाप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयपरमावश्यकं साक्षादपुनर्भववारंगनानङ्ग-
मुखकारणं कृत्वा सर्वे पुराणपुरुषास्तीर्थंकरपरमदेवादयः स्वयंबुद्धाः केचिद् बोधितबुद्धाश्चा-
प्रमत्तादिसयोगिभट्टारकगुणस्थानपंक्तिमध्यारूढाः सन्तः केवलिनः सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः
परमावश्यकतामाराधनाप्रसादात् जाताश्चेति ।

गाथा १५८

अन्वयार्थ—[सर्वे पुराण पुरुषाः] सभी पुराण पुरुष [एवं] इसप्रकार से
[आवश्यकं चकृत्वा] आवश्यक को करके [अप्रमत्त प्रभृति स्थानं] अप्रमत्त आदि गुण-
स्थानों को [प्रतिपद्य] प्राप्त करके [केवलिनः जाताः] केवली भगवान् होगये हैं ।

टीका—परमावश्यक अधिकार के उपसंहार का यह कथन है ।

स्वात्माश्रित निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान स्वरूप बाह्य आवश्यक आदि
क्रिया से प्रतिपक्ष शुद्धनिश्चय परमावश्यक रूप ऐसे साक्षात् अपुनर्भवरूपी रमणी के
अनङ्ग-अशरीरी-मुख के कारण को करके सभी पुराण पुरुष जिनमें से तीर्थंकर परमदेव
आदि स्वयंबुद्ध हुये हैं और कोई बोधित बुद्ध हुये हैं ये सभी ही अप्रमत्त गुणस्थान से
लेकर सयोग केवली भट्टारक पर्यंत गुणस्थानों की पंक्तियों के मध्य आरूढ़ होते हुए
सकल प्रत्यक्ष (केवलज्ञान) धारी केवली भगवान् हुये हैं वे परमावश्यक स्वरूप आत्मा
की आराधना के प्रसाद से ही हुये हैं ऐसा समझना ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस अधिकार के उपसंहार में आत्मा की आराधना
के लिये प्रेरित करते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वात्मारोधनया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः
 प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः ।
 तान्नित्यं प्रणमत्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहः
 स स्यात् सर्वजनाचितांघ्रिकमलः पापाटवीपावकः ॥२७०॥

(मंदाक्रांता)

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपं
 नित्यानन्दं निरुपमगुणालंकृतं दिव्यबोधम् ।
 चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्यग्ररूपं
 लब्ध्वा धर्म परमगुरुतः शर्मणे निर्मलाय ॥२७१॥

(२७०) श्लोकार्थ—पहले जो सभी पुराण पुरुष योगी अपनी आत्मा की आराधना से अखिल कर्मरानी राक्षस गणों को ध्वस्त करके विष्णु-जान में तीन लोक में व्यापक और जिष्णु-जयशील हुए हैं । उनको जो मुक्ति की स्पृहा वाला भी निःस्पृह जीव एकाग्रमन में नित्य ही प्रणाम करता है वह पापरूपी अटवी को दग्ध करने में अग्निस्वरूप और सर्वजनों से अर्चित चरण कमल वाला हो जाता है ।

भावार्थ—जो भव्य जीव स्वात्मा की आराधना से स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं उनको एकाग्रचित्त से नमस्कार करने वाला भक्त भी स्वयं सर्वजन पूज्य भगवान् बन जाता है ।

(२७१) श्लोकार्थ—हे मन ! तू निर्मल मुख के लिये परम गुरु से धर्म को प्राप्त करके कनक और कामिनी सम्बन्धी हेयरूप मोह को छोड़कर, नित्यानंदरूप निरुपम गुणों से अलंकृत, दिव्य जान वाले, अव्यग्ररूप-व्यग्रता (आकुलता रहित) ऐसे परमात्मा में शीघ्र ही प्रवेश कर ।

भावार्थ—यहाँ टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारीदेव महामुनि अपने मन को प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि हे मन ! यदि तू परमात्मा में तन्मय होगा तो परमात्मा बन जावेगा अन्यथा बाह्य वस्तुओं में उलझा रहने से दुःख ही दुःख उठावेगा ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारख्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयपरमावश्याधिकार एकावशमः श्रुतस्कन्धः ।

इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिये सूर्य सदृश, पंचेन्द्रिय के प्रसार से रहित गात्रमात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारी देव के द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चय परमावश्यक अधिकार नामका ग्यारहवां श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ ।



शुद्धोपयोग अधिकार

अथ सकलकर्मप्रलयहेतुभूतशुद्धोपयोगाधिकार उच्यते ।

जाणादि पस्सदि सव्वं, व्यवहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणवि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५६॥

जानाति पश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान् ।
केवलज्ञानी ज्ञानाति पश्यति नियमेन आत्मानम् ॥१५६॥

(चायच्छंद हे दोनबंधु)

थी केवली भगवान तो व्यवहार नय से ही ।
संपूर्ण वस्तु जानते व देखते सभी ॥
यस शुद्ध निश्चयनय से, वे केवली जिनजी ।
निज आत्मा को जानते वा देखते नित ही ॥१५६॥

अब समस्त कर्मों के प्रलय में हेतुभूत ऐसा शुद्धोपयोग अधिकार कहा जाता है ।

गाथा १५६

अन्वयार्थ—[व्यवहारनयेन] व्यवहारनय से [केवली भगवान्] केवली भगवान [सर्वं जानाति पश्यति] सब कुछ जानते और देखते हैं [नियमेन] निश्चयनय से [केवलज्ञानी] केवलज्ञानी [आत्मानं जानाति पश्यति] आत्मा को जानते और देखते हैं ।

अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तम् । आत्मगुणघातकघातिकर्म-
ध्वंसनेनासादितसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभ्यां व्यवहारन्त्येन जगत्त्रयकालत्रय-
वर्तिसचराचरद्रव्यगुणपर्यायान् एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च स भगवान् परमेश्वरः
परमभट्टारकः 'पराश्रितो व्यवहारः' इति वचनात् । शुद्धनिश्चयतः परमेश्वरस्य महादेवा-
धिदेवस्य सर्वज्ञबीतरागस्य परद्रव्यग्राहकत्वदर्शकत्वज्ञायकत्वादिविविधविकल्पवाहिनी-
समुद्भूतमूलध्यानापादः* (१) स भगवान् त्रिकालनिरुपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञान-
सहजदर्शनाभ्यां निजकारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च । किं
कृत्वा ? ज्ञानकार्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत् । घटादिप्रमितेः प्रकाशो
दीपस्तावद्भिन्नोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्वं परं च प्रकाशयति; आत्मापि
व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परं ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयंप्रकाशात्मकमात्मानं च
प्रकाशयति ।

टीका—जानी कथंचित् स्वपर प्रकाशक है, ऐसा यहां पर कहा है ।

परम भट्टारक भगवान् परमेश्वर आत्म गुणों के घातक घातिकर्म के ध्वंस
हो जाने से प्राप्त हुए सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा व्यवहारन्त्य
से तीनलोकवर्ती और तीनकालवर्ती ऐसे चराचर सहित द्रव्य गुण पर्यायों को एक
समय में जानते हैं और देखते हैं । क्योंकि "पराश्रितो व्यवहारः" व्यवहार पराश्रित है ।
ऐसा वचन है ।

शुद्धनिश्चयनय से परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञ बीतराग के परद्रव्य के
ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि विविध विकल्परूपी सेना की उत्पत्ति के लिये मूल
ऐसे ध्यान का अभाव हो जाने से वे भगवान् तीनों काल में उपाधि रहित, अवधि
रहित, नित्य, शुद्ध, सहज ज्ञान और सहज दर्शन के द्वारा निज कारण परमात्मा को
स्वयं कार्य परमात्मा होते हुए भी जानते और देखते हैं । क्या करके जानते देखते हैं ?
ज्ञान का धर्म ही तो स्वपर प्रकाशकपणा है प्रदीप के समान । घटादि के जानने रूप
क्रिया से प्रकाशरूप दीपक भिन्न होते हुए भी स्वयं प्रकाशरूप होने से अपने को और

* यहां संस्कृत टीका में प्रशुद्धि मालूम होती है, इसलिये संस्कृत टीका में तथा उसके अनुवाद
में शंका को सूचित करने के लिये प्रश्नवाचक चिह्न दिया है ।

उक्तं च षण्णवतिपाषाण्डिविजयोपार्जितविशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितवेवंः—

(अनुष्टुभ)

“यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।

तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमितेः पृथक् ॥”

अब निश्चयपक्षेति स्वपरप्रकाशकस्त्वजस्त्वेति सततनिरुपरागनिरंजनस्वभाव-
निरतत्वात् स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात् । सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् संज्ञा-
लक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधानलक्षणलक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति, अतःका-
रणात् एतदात्मगतदर्शनसुखचारित्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूप-
मपि जानातीति ।

परको प्रकाशित कर देता है । उसी प्रकार से आत्मा भी ज्योतिःस्वरूप होने से
व्यवहारनय से त्रिलोक और त्रिकालरूप परको तथा स्वयं प्रकाशरूप आत्मा को
प्रकाशित करता है ।

छान्दोग्य पाषाण्डि मतों पर विजय प्राप्त करने से उपार्जित की है विशालकीर्ति
जिन्होंने ऐसे महामेन पंडित देव ने भी ऐसे ही कहा है—

श्लोकार्थ—“यथार्थरूप से वस्तु का निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है, वह प्रदीप के
समान स्व और अर्थ का निश्चय कराने वाला है, तथा प्रमिति—जाननेरूप क्रिया से
कथंचित् भिन्न है ।”

अब निश्चयनय के पक्ष में भी (ज्ञान के) स्वपर प्रकाशकपना है ही है,
क्योंकि वह उपराग रहित निरंजन स्वभाव में निरत है । तथा—“स्वाश्रितो निश्चयः”
निश्चय स्वाश्रित है ऐसा वचन है । उसीको कहते हैं—सहजज्ञान, संज्ञा, लक्षण और
प्रयोजन की अपेक्षा से आत्मा से भिन्न है क्योंकि भिन्न नाम और भिन्न लक्षण आदि से
लक्षित हो रहा है तथापि वह सहजज्ञान भिन्न लक्षण आदि से लक्षित होते हुए भी
परमार्थ से भिन्न नहीं है । इसलिये यह (सहज ज्ञान) आत्मा में होने वाले दर्शन, सुख
चारित्र आदि को जानता है और कारण परमात्मास्वरूप ऐसी अपनी आत्मा को भी
जानता है । ऐसा अर्थ हुआ ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(मंदाक्रांता)

“बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोत्पन्नं नीरधी-
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥”

तथा हि—

(सगंधरा)

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः
मुक्तिश्रीकामिनीकोमलमुखकमले कामपीडां तनोति ।

उसीप्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

“श्लोकार्थ—‘अपनी अचल महिमा में लीन हुआ पूर्ण ज्ञान जाज्वल्यमान हो रहा है, जो कि कर्म बंध के विच्छेद से अतुल और अक्षय ऐसे मोक्ष का अनुभव करता हुआ नित्य उद्योतरूप सहजावस्था को प्रकटित करता हुआ एकांत से—सर्वथा शुद्ध है, और एकाकाररूप स्वरस के भार से अत्यन्त गम्भीर तथा धीर है ।”

भावार्थ—जब कर्म बंध का अभाव हो जाता है तब ज्ञान उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट होता हुआ पूर्णरूप प्रकट हो जाता है और अपने स्वभाव में ही लीन रहता है ।

उसीप्रकार से [टीकाकार श्री मुनिराज इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—]

(२७२) श्लोकार्थ—यह केवलज्ञान की मूर्तिस्वरूप आत्मा व्यवहारनय से ही विश्व को जानता है, और मुक्तिलक्ष्मीरूपी कामिनी के कोमल मुखकमल पर

शोभां सौभाग्यचिह्नां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनेशः
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहृतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति ॥२७२॥

जुगवं बट्टइ णारुं, केवलणाणिस्स दंसरुं च तथा ।
दिणयरपयासतापं, जह बट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥

युगपद् वर्तते ज्ञानं केवलज्ञानिनो दर्शनं च तथा ।
दिनकरप्रकाशतापौ यथा वर्तते तथा ज्ञातव्यम् ॥१६०॥

ग्रहण केवली के, ये ज्ञान व दर्शन ।
दीनों सदा करें ही इकसाथ में वर्तन ॥
रवि का प्रकाश श्री प्रताप साथ ही जैसे ।
होते सदा प्रभु के ज्ञान दर्श भी वैसे ॥१६०॥

इह हि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपद्वर्तनं दृष्टान्तमुखेनोक्तम् । अत्र दृष्टान्त-

काम पीड़ा को तथा सौभाग्यचिह्न युक्त शोभा को विस्तृत करता है । निश्चयनय से वह देव जिनेश्वर मल और क्लेश को नष्ट करने वाला होता हुआ अतिशयरूप से अपने स्वरूप को ही जानता है ।

भावार्थ—केवलज्ञानी आत्मा व्यवहारनय से समस्त विश्व को जानता है और निश्चयनय से अपने स्वरूप को ही जानता है ।

गाथा १६०

अन्वयार्थ—[केवलज्ञानिनः] केवलज्ञानी के [ज्ञानं तथा च दर्शनं] ज्ञान और दर्शन [युगपद्] युगपत् [वर्तते] होते हैं, [यथा] जैसे [दिनकर प्रकाश-तापौ] सूर्य के प्रकाश और ताप [वर्तते] युगपत् रहते हैं [तथा ज्ञातव्यं] वैसे ही जानना चाहिये ।

टीका—यहां पर केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपत् रहना यह कथन दृष्टान्तमुख से किया है ।

समे वदचित्काले बलाहकप्रक्षोभाभावे विद्यमाने नभस्स्थलस्य मध्यगतस्य
आलोकिकिरणस्य प्रकाशतापौ यथा युगपद् वर्तते तथैव च भगवतः परमेश्वरस्य
तीर्थाधिनाथस्य जगत्त्रयकालत्रयवर्तिषु स्थावरजंगमद्रव्यगुणपर्यायात्मकेषु ज्ञेयेषु
सकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शने च युगपद् वर्तते । किं च संसारिणां दर्शनपूर्वमेव ज्ञानं
भवति इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

“पाणं अस्थंतगयं लोयालोएसु विस्थडा दिट्ठी ।

णट्टमणिट्टं सव्वं इट्टं पुण जं तु तं लहं ॥”

अन्यच्च—

यहां पर दृष्टान्त के पक्ष में किसी काल में मेघ के प्रक्षोभ का अभाव
होने पर—बादलों के न होने पर आकाश स्थल के मध्य में स्थित हृदय
आस्कर के प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं । उसी प्रकार से तीर्थाधिनाथ
भगवान् परमेश्वर के तीनों जगत् और तीनों कालवर्ती स्थावर और जंगम
रूप द्रव्य गुण पर्यायात्मक जगत् पदार्थों में सकल विमल केवलज्ञान और केवल दर्शन
एक साथ होते हैं, और विशेष यह है कि संसारी जीवों के दर्शन पूर्वक ही ज्ञान
होता है, ऐसा समझना ।

इसी प्रकार से प्रवचनसार में भी कहा है—

“गाथार्थ—ज्ञान” पदार्थों के अंत को प्राप्त हो चुका है और दर्शन लोकालोक
में विस्तृत है, सर्व अनिष्ट नष्ट हो गया है पुनः जो इष्ट है वह सब उपलब्ध हो
गया है ।”

और अन्य भी है—

“दंसणपुध्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवप्पोग्गा ।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोघि ॥”

तथा हि—

(सङ्घरा)

वर्तते ज्ञानदृष्टी भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे
सर्वज्ञेऽस्मिन् समंतात् युगपदसदृशे विश्वलोकैकनाथे ।
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्
तेजोराशौ दिनेशे हतनिखिलतमस्तोमके ते तथैवम् ॥२७३॥

(वसन्ततिनका)

सद्बोधपोतमधिरुह्य भवान्बुराशि-
मुल्लंघ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता ।

“गाथार्थ—छद्मस्थ जीवों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है, क्योंकि उनके युगपत् दो उपयोग नहीं होते हैं । और केवली भगवान के वे दोनों उपयोग युगपत् ही होते हैं ।”

उसी प्रकार से [श्री टीकाकार मुनिराज केवलज्ञानी भगवान की चरण शरण को ग्रहण करते हुये चार श्लोक कहते हैं—]

(२७३) श्लोकार्थ—धर्मतीर्थ के अधिपति, विश्वलोक के एक नाथ असदृश-
लोकोत्तर ऐसे इन सर्वज्ञ भगवान् में सतत् सब तरफ से ज्ञान और दर्शन युगपत् रहते
हैं । जैसे अखिल तिमिर समूह को नष्ट करने वाले, तेज के पुंज स्वरूप, इस सूर्य में
ये उष्णत्व और प्रकाश एक साथ इस लोक में जगत के जीवों के नेत्र गोचर होते हैं ।
उसी प्रकार से वे ज्ञान और दर्शन भी केवली के युगपत् प्रगट होते हैं ।

(२७४) श्लोकार्थ—हे देव ! आप सद्बोधरूपी जहाज में बैठकर संसाररूपी
समुद्र को उलंघ कर सहसा शाश्वतपुरी में पहुंच गये हैं । अब मैं भी उस जितनाथ के

तामेव तेन जिननाथपथाधुनाहं
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानाम् ॥२७४॥

(मंदाक्रांता)

एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः
कामं कान्तिं वदनकमले संतनोत्येव काचित् ।
मुक्तेस्तस्याः समरसमयानंगसौख्यप्रदायाः
को नालं शं दिशतुमनिशं प्रेमभूमेः प्रियायाः ॥२७५॥

(अनुपदुम्)

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपथे जगाम सः ।
अलिलोलां पुनः काममनङ्गसुखमदयम् ॥२७६॥

मार्ग से उसी शाश्वतनगरी को प्राप्त करना हूँ । क्योंकि इस लोक में उत्तम पुरुषों के लिये क्या अन्य कुछ (उस मार्ग से अतिरिक्त) शरण है ?

भावार्थ—जिनराज ने जिस ज्ञान के आश्रय से संसार से निकलकर मुक्ति को प्राप्त किया है उस मार्ग के अतिरिक्त मार्ग में कोई भी जीव मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते हैं, इसलिये उसी जिनदेव के मार्ग की शरण लेना चाहिये ।

(२७५) श्लोकार्थ—केवलज्ञान भानु ऐसे वे एक देव जिनदेव जयशील हो रहे हैं । वे समरसमयी अनंग सौख्य को प्रदान करने वाली ऐसी उस मुक्ति सुन्दरी के मुखकमल पर इच्छानुसार किसी एक अद्भुत कान्ति को विस्तृत करते हैं, क्योंकि कौन अपनी स्नेहमयी प्रिया को निरन्तर सुख देने में समर्थ नहीं होगा ?

(२७६) श्लोकार्थ—उन जिनेन्द्रदेव ने मुक्ति कामिनी के मुखकमल के प्रति भ्रमर की लीला को धारण किया, पुनः यथेष्ट अद्वितीय अनंग-आत्मिक सुख को प्राप्त किया ।

ज्ञानं परप्रकाशं, दिष्टी अप्रप्रकाशया चैव ।
अप्पा सपरपयासो, होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि ॥१६१॥

ज्ञानं परप्रकाशं दृष्टिरात्मप्रकाशिका चैव ।
आत्मा स्वपरप्रकाशो भवतीति हि मन्यसे यदि खलु ॥१६१॥

एकांत से यदि ज्ञान ये परको हि प्रकाशे ।
दर्शन भी यदि आत्मा को मात्र प्रकाशे ॥
आत्मा स्वपर प्रकाशी है मान्यता यही ।
तब तो सुनो जो दोष इसमें आवते सही ॥१६१॥

आत्मनः स्वपर प्रकाशकत्वविरोधोपन्यासोऽयम् । इह हि तावदात्मनः स्वपर-
प्रकाशकत्वं कथमिति चेत् । ज्ञानदर्शनादिविशेषगुणसमृद्धो ह्यात्मा, तस्य ज्ञानं शुद्धात्म-
प्रकाशकासमर्थत्वात् परप्रकाशकमेव, यद्येवं दृष्टिर्निरंकुशा केवलमभ्यंतरे ह्यात्मानं प्रकाश-
यति चेत् अनेन विधिना स्वपरप्रकाशको ह्यात्मेति हंहो जडमते प्राथमिकशिष्य, दर्शन-
शुद्धेरभावात् एवं मन्यसे, न खलु जडस्त्वत्तत्सकाशादपरः कश्चिज्जनः । अथ ह्यविबुद्धा

गाथा १६१

अन्वयार्थ—[ज्ञानं पर प्रकाशं च] ज्ञान परप्रकाशी है और [दृष्टिः
आत्मप्रकाशिका एव] दर्शन आत्म प्रकाशी ही है तथा [आत्मा स्वपरप्रकाशः भवति]
आत्मा स्व और पर का प्रकाशक होता है, [यदि इति हि खलु मन्यसे] यदि तुम ऐसा
ही निश्चित मानते हो, तो ठीक नहीं है ।

यह आत्मा के स्वपर प्रकाशकपने के विरोध का कथन है । प्रथम ही यहां
आत्मा को स्वपर प्रकाशकपना किस प्रकार है ? आत्मा ज्ञान दर्शनादि विशेष गुणों से
समृद्ध है, उसका ज्ञान शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होने से परप्रकाशक
ही है, यदि ऐसी बात है तो दर्शन निरंकुश हुआ केवल अभ्यंतर में ही आत्मा को
प्रकाशित करता है और इस विधि से आत्मा ही स्वपर प्रकाशक है, इसप्रकार मानने
पर तो हे जडमति प्राथमिक शिष्य ! यदि तू दर्शन शुद्धि के अभाव से ऐसा मानता हो
तो वास्तव में तुझसे भिन्न अन्य कोई पुरुष जड़ नहीं है, अर्थात् तू ही मूर्ख है ।

स्याद्वादविद्यादेवता समभ्यर्चनीया सद्भिरनवरतम् तत्रैकान्ततो ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं न समस्ति; न केवलं स्थान्मते दर्शनमपि शुद्धात्मानं पश्यति । दर्शनज्ञानप्रभृत्यनेकधर्माणां आधारो ह्यात्मा । व्यवहारपक्षेऽपि केवलं परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य न चात्मसंबन्धः सदा बहिरवस्थितत्वात्, आत्मप्रतिपत्तेरभावात् न सर्वगतत्वं; अतः कारणादिदं ज्ञानं न भवति, मृगतृष्णाजलवत् प्रतिभासमात्रमेव । दर्शनपक्षेऽपि तथा न केवलमभ्यन्तरप्रतिपत्तिकारणं दर्शनं भवति । सर्वैव सर्वं पश्यति हि चक्षुः स्वस्याभ्यन्तरस्थितां कनीनिकां न पश्यत्येव । अतः स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानदर्शनयोरविरुद्धमेव । ततः स्वपरप्रकाशको ह्यात्मा ज्ञानदर्शनलक्षण इति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

इसलिये सत् पुरुषों को अविरुद्ध स्याद्वाद विद्या देवता की सम्यक् प्रकार से अर्चना—आराधना करनी चाहिये, उस स्याद्वाद में एकांत से ज्ञान को पर प्रकाशकता नहीं है, स्याद्वादमत में दर्शन भी केवल शुद्धात्मा को ही नहीं देखता है । क्योंकि आत्मा दर्शन, ज्ञान आदि अनेक धर्मों का आधार है ।

व्यवहार पक्ष में भी केवल परप्रकाशीज्ञान का आत्मा के साथ संबंध नहीं रहेगा, क्योंकि सदा वह बाहर ही स्थित रहेगा, तथा आत्मा के ज्ञान का अभाव होने से वह सर्वगत भी नहीं रहेगा और इस कारण से यह ज्ञान ही नहीं होगा प्रत्युत मृगतृष्णा के जल सदृश प्रतिभास मात्र ही रहेगा । दर्शन के पक्ष में भी कहते हैं कि उसी प्रकार से दर्शन भी केवल अभ्यन्तर के ज्ञान का कारण नहीं है क्योंकि चक्षु सदा ही सब देखतो है, किन्तु अपने भीतर में स्थित हुई कनीनिका—पुतली को नहीं देखती है । इसलिये ज्ञान और दर्शन इन दोनों में स्वपर प्रकाशपना अविरुद्ध ही है । इस हेतु से ज्ञान दर्शन लक्षण वाला आत्मा ही स्वपर प्रकाशक है, ऐसा समझना ।

उसी प्रकार से श्रीमान् अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

(स्रग्धरा)

“जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भूविभूतं समस्तं
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा ।
तेनास्मिं मुरा एष प्रसन्नविकसितशक्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥”

तथा हि—

(मंदाक्रान्ता)

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा
लोकालोको प्रकटयति वा तद्वत् ज्ञेयजालम् ।
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा
ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ॥२७७॥

णाणं परम्पयासं, तद्वया णाणेण वंसणं भिण्णं ।
एण हवदि परदव्वगयं, वंसणमिदि वण्णि वं तम्हा ॥१६२॥

“श्लोकार्थ—जिसने कर्मों को छिन्न कर दिया है, ऐसा वह आत्मा, भूत, भविष्यत् और वर्तमान समस्त विश्व को युगपत् जानता हुआ भी मोह के अभाव से पररूप परिणत नहीं होता है । इसलिये जिसने अत्यन्त विकसित हुई शक्ति के विस्तार से समस्त ज्ञेयाकारों को पी लिया है । ऐसे तीन लोक संबंधी पदार्थों को पृथक् और अपृथक् उद्योतित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है ।”

उसी प्रकार से [अब टीकाकार मुनिराज इसी को स्पष्ट करते हुये कहते हैं—]

(२७७) श्लोकार्थ—ज्ञान एक सहज परमात्मा को जानकर लोकालोक को अथवा उसके समस्त ज्ञेय जाल को प्रकटित करता है । और नित्य शुद्ध, क्षायिक दर्शन भी साक्षात् स्वपर को विषय करता है । उन दोनों के द्वारा यह देव (आत्मा) स्वपर विषयक ज्ञेय समूह को जानता है ।

ज्ञानं परप्रकाशं तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम् ।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६२॥

यदि मात्र परप्रकाशक ये ज्ञान है तब तो ।
इस ज्ञान से वो दर्शन होवेगा भिन्न तो ॥
क्योंकि तुम्हारे मत से दर्शन स्वगत-रहे ।
नहि परप्रकाश करता परद्रव्यगत न है ॥१६२॥

पूर्वसूत्रोपात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियम् । केवलं परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेतानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव । परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य चात्मप्रकाशकस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सह्याविध्ययोरिव अथवा भागीरथीश्रीपर्वतवत् । आत्मनिष्ठं यत् तद् दर्शनमस्त्येव, निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्य शून्यतापत्तिरेव, अथवा अत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापद्यते, अतस्त्रिभुवने न कश्चिदचेतनः

गाथा १६२

अन्वयार्थ—[ज्ञानं पर प्रकाशं] ज्ञान परप्रकाशी है [तदा] तब तो [ज्ञानेन दर्शनं भिन्नं] ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध हुआ, [दर्शनं परद्रव्यगतं न भवति] क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत—परद्रव्यों का प्रकाशक नहीं होता है [इति वर्णितं तस्मात्] ऐसा पूर्व में वर्णन किया है ।

टीका—पूर्व सूत्र में कथित पूर्वपक्ष का यह सिद्धान्त संबंधी कथन है ।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशी होवे तो परप्रकाशन में प्रधान ऐसे इस ज्ञान से दर्शन भिन्न ही रहेगा । और यदि ऐसा है तो परप्रकाशी ज्ञान और स्वप्रकाशी दर्शन का संबंध कैसे होगा ? जैसे कि सह्य और विध्य पर्वत का अथवा भागीरथी और श्रीपर्वत का संबंध नहीं है ।

जो आत्मा में स्थित है वह दर्शन ही है, तब तो निराधार होने से उस ज्ञान को शून्यता की ही आपत्ति होती है । अथवा जहां, जहां ज्ञान जावेगा, वे वे सभी द्रव्य चेतनरूप हो जावेंगे, अतः त्रिभुवन में कोई अचेतन पदार्थ नहीं सिद्ध होगा, ऐसा इस

पदार्थः इति महतो दूषणस्यावतारः । तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकम् इत्युच्यसे हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमात्मगतमित्यभिहितम् । ततः खल्विदमेव समाधानं सिद्धान्तहृदयं ज्ञानदर्शनयोः कथंचित् स्वपरप्रकाशत्वमस्त्येवेति ।

तथा चोक्तं श्रीमहासेनपंडितदेवैः—

“ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥”

तथा हि—

(मंदाकांता)

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्
ताभ्यां युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम् ।
संज्ञाभेदादधकुलहरे चात्मनि ज्ञानदृष्टयोः
भेदो जातो न खलु परमार्थेन ब्रह्मचुष्णवत्सः ॥२७८॥

महान् दूषण का प्रसंग हो जावेगा । इस दोष के भय से यदि तुम ऐसा कहो कि ज्ञान केवल परप्रकाशी नहीं है तब तो हे शिष्य ! दर्शन भी केवल आत्मगत नहीं है, ऐसा ही कहना होगा । इसलिये निश्चितरूप से यही समाधान सिद्धान्त के रहस्यरूप है कि ज्ञान और दर्शन कथंचित् स्वपरप्रकाशी हैं ही हैं ।

उसीप्रकार से श्री महासेन पंडित देव ने भी कहा है—

“श्लोकार्थ—ज्ञान से आत्मा न भिन्न है और न अभिन्न है किंतु कथंचित् भिन्नाभिन्न है, क्योंकि पूर्व और अपर—दोनों अवस्थाओं में व्याप्त हुआ जो ज्ञान है, सो यह आत्मा है ऐसा कहा गया है ।”

उसीप्रकार से [अब टीकाकार मुनिराज इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—]

(२७८) श्लोकार्थ—आत्मा (एकांत से) ज्ञान नहीं है, उसीप्रकार दर्शन भी नहीं है, किंतु उन दोनों से युक्त हुआ वह स्वपर विषय को जानता और देखता अवश्य है,

अप्पा परप्पयासो, तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं ।
एण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वणिणदं तम्हा ॥१६३॥

आत्मा परप्रकाशस्तदात्मना दर्शनं भिन्नम् ।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६३॥

आत्मा है पर प्रकाशक यदि आपका ये मत ।
तो आत्मा से दर्शन होगा स्वयं गृथक् ॥
क्योंकि तुम्हारा दर्शन नहीं पर प्रकाशता ।
ऐसी तुम्हीं ने पहले रखी थी मान्यता ॥१६३॥

एकान्तेनात्मनः परप्रकाशकत्वनिरासोऽयम् । यथैकान्तेन ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं पुरा निराकृतम्, इदानीमात्मा केवलं परप्रकाशश्चेत् तत्तथैव प्रत्यादिष्टं *भावभाववतो-रेकास्तित्वनिवृत्तत्वात् । पुरा किल ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वे सति तद्दर्शनस्य भिन्नत्वं ज्ञातम् । अत्रात्मनः परप्रकाशकत्वे सति तेनैव दर्शनं भिन्नमित्यवसेयम् । अपि चात्मा

गाग समूह के हरण करने वाले ऐसे आत्मा में संज्ञा के भेद से ज्ञान और दर्शन में भेद हो गया है, किंतु परमार्थ से अग्नि और उष्ण के समान वह भेद नहीं है ।

गाथा १६३

अन्वयार्थ—[आत्मा परप्रकाशः] यदि आत्मा परप्रकाशी है [तदा] तब तो [आत्मना दर्शनं भिन्नं] आत्मा से दर्शन भिन्न हो जावेगा [दर्शनं परद्रव्य-गतं न भवति] क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है । [इति वर्णितं तस्मात्] ऐसा पूर्व सूत्र में वर्णन किया गया है ।

टीका—एकान्त से आत्मा के परप्रकाशकत्व का यह निरसन है । जिसप्रकार पहले एकान्त से ज्ञान के परप्रकाशकत्व का निराकरण किया है, वैसे ही अब यदि “आत्मा केवल परप्रकाशी है” तो उसका उसीप्रकार खण्डन हो जाता है, क्योंकि भाव और भाववान् एक अस्तित्व से बने हैं । पहले ज्ञान को परप्रकाशक मानने पर उससे दर्शन को भिन्न कहा है और यहाँ पर आत्मा को परप्रकाशक कहने पर उससे ही दर्शन

* यहाँ कुछ अशुद्धि हो ऐसा लगता है ।

न परद्रव्यगत इति चेत् तद्दर्शनमप्यभिन्नमित्यवसेयम् । ततः खल्वात्मा स्वपरप्रकाशक इति यावत् । यथा कथंचित्स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य साधितम् अस्यापि तथा, धर्मधर्मिणोरेकस्वरूपत्वात् पावकोष्णवदिति ।

(मंदाक्रान्ता)

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानद्वग्धर्मयुक्तः
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यम् ।
सम्यग्दृष्टिनिखिलकरणग्रामनोहारभास्वान्
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया संस्थितां ताम् ॥२७६॥

राशिं परप्पयासं, ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो, ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

भिन्न हो जावेगा, ऐसा समझना चाहिये । और यदि “आत्मा परद्रव्यगत नहीं है” ऐसा कहोगे तो दर्शन भी अभिन्न ही रहेगा ऐसा समझना चाहिये । अर्थात् आत्मा को स्वपरप्रकाशी कहने से दर्शन को भी आत्मा से अभिन्न ही कहना चाहिये । इसलिये आत्मा निश्चितरूप से स्वपरप्रकाशक है, ऐसा समझना । जैसे कथंचित् ज्ञान को स्वपरप्रकाशी सिद्ध किया है वैसे ही आत्मा को समझना, क्योंकि धर्म और धर्मी एक स्वरूप हैं, अग्नि और उष्णता के समान । अर्थात्—आत्मा धर्मी है, क्योंकि वह अतिशयरूप से ज्ञान और दर्शन से युक्त है ।

[अब टीकाकार मुनिराज पुनरपि धर्म और धर्मी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—]

(२७६) श्लोकार्थ—आत्मा धर्मी है, क्योंकि वह अतिशयरूप से ज्ञान और दर्शन से युक्त है उसमें ही नित्य उस अविचल स्थिति को प्राप्त करके, अखिल इन्द्रिय समूहरूपी हिम के लिये सूर्य स्वरूप सम्यग्दृष्टि ‘जीव’ प्रगट हुयी सहज अवस्था से सुस्थित ऐसे उस मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

ज्ञानं परप्रकाशं व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ।

आत्मा परप्रकाशो व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ॥१६४॥

अतएव अब समझ लो व्यवहार नय से यह ।

है ज्ञान परप्रकाशी दर्शन उसी तरह ॥

व्यवहार नय से आत्मा पर को प्रकाशना ।

दर्शन भी तो वैसे ही पर को प्रकाशता ॥१६४॥

व्यवहारनयस्य सफलत्वप्रद्योतनकथनमाह । इह सकलकर्मक्षयप्रादुर्भावासादित-
सकलविमलकेवलज्ञानस्य पुद्गलादिमूर्तामूर्तचेतनाचेतनपरद्रव्यगुणपर्यायप्रकारप्रकाशकत्वं
कथमिति चेत् पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात् व्यवहारनयबलेनेति । ततो दर्शनमपि
तादृशमेव । त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूततीर्थंकरपरमदेवस्य शतमखशतप्रत्यक्षबंदनायोग्यस्य
कार्यपरमात्मनश्च तद्वदेव परप्रकाशकत्वम् । तेन व्यवहारनयबलेन च तस्य खलु भगवतः
केवलदर्शनमपि तादृशमेवेति ।

श्लोका १६४

अन्वयार्थ—[व्यवहारनयेन] व्यवहार नय से [ज्ञानं परप्रकाशं] ज्ञान
परप्रकाशी है [दर्शनं तस्मात्] इसलिये दर्शन भी परप्रकाशी है, [व्यवहारनयेन]
व्यवहार नय से [आत्मा परप्रकाशः] आत्मा परप्रकाशी है [दर्शनं तस्मात्]
अतः दर्शन भी परप्रकाशी है ।

टीका—व्यवहारनय की सफलता को प्रकाशित करते हुए कहते हैं ।

प्रश्न—यहाँ जो सकल कर्मों के क्षय से प्रकट होने वाला सकल विमल
केवल ज्ञान है वह पुद्गलादि मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतनरूप परद्रव्य और उनकी गुण-
पर्यायों के समूह का प्रकाशक कैसे है ?

उत्तर—“पराश्रितो व्यवहारः” (असद्भूत) व्यवहार पराश्रित है, इस
वचन से व्यवहारनय की अपेक्षा से ऐसा है, इसलिये दर्शन भी वैसा ही है और उसी-
प्रकार से सौ इंद्रों से प्रत्यक्ष में बंदना योग्य, ऐसे त्रैलोक्य में प्रक्षोभ के लिये कारण-

तथा चोक्तं श्रुतविन्दी—

(मालिनी)

“जयति विजितदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि-
प्रखिलसदुष्मालाभ्यर्चितांघ्रिजिनेन्द्रः ।
त्रिजगदजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते
सममिव विषयेष्वन्योन्यवृत्तिं निषेद्धुम् ॥”

तथा हि—

भूत तीर्थकरपरमदेव जो कि कार्य परमात्मा हैं वे भी परप्रकाशक हैं । उसी व्यवहार नय के बल से वास्तव में उन भगवान का केवलदर्शन भी वैसा ही है ।

इसीप्रकार में ‘श्रुतविन्दी’ में भी कहा है—

“श्लोकार्थ—जिन्होंने दोषों को जीत लिया है, देवेन्द्र और नरेन्द्रों के मुकुटों में लगे हुये प्रकाशशील अनर्घ्य मालाओं में अर्चित हैं चरणयुगल जिनके ऐसे जिनेन्द्र भगवान जयवंत हो रहे हैं । विषयों में परस्पर में प्रवेश न करते हुये ऐसे तीनों लोक और अलोक जिनमें युगपत् ही व्याप्त हो रहे हैं ।”

भावार्थ—जिनके ज्ञानस्वरूप आत्मा में समस्त लोक और अलोक एवं उनके चेतन-अचेतन पदार्थ परस्पर में एक दूसरे में प्रवेश न करके अथवा ज्ञान ज्ञेय में और ज्ञेय ज्ञान में प्रवेश न करके एक साथ अलक रहे हैं ऐसे महिमाशाली शतेन्द्र पूजित, निर्दोष जिनेन्द्र भगवान सदा जयशील हैं ।”

उसीप्रकार [श्री टीकाकार मुनिराज ज्ञानस्वरूप आत्मा की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—]

(मालिनी)

व्यवहारनयेन ज्ञानपुञ्जोऽयमात्मा
प्रकटतरमुदष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी ।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥२८०॥

एषां अप्यपयासं, एषिच्छयणयण दंसणं तम्हा ।
अप्पा अप्यपयासो, एषिच्छयणयण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

ज्ञानमात्मप्रकाशं निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ।
आत्मा आत्मप्रकाशो निश्चयनयेन दर्शनं तस्मात् ॥१६५॥

ये ज्ञान निश्चयनय से आत्मा को जानता ।
वैसे ही ये दर्शन भी आत्मा प्रकाशता ॥
आत्मा भी निश्चयनय से आत्म प्रकाशता ।
दर्शन भी तो वैसे ही आत्मा प्रकाशता ॥१६५॥

(२८०) श्लोकार्थ—ज्ञानपुञ्ज स्वरूप यह आत्मा अत्यन्त प्रगट दर्शन वाला होता हुआ व्यवहारनय से सर्वलोक को देखने वाला है तथा समस्त मूर्तिक अमूर्तिक ऐसे तत्त्वार्थ समूह को जानता हुआ वह परम लक्ष्मी रूपी कामिनी का प्रिय बल्लभ हो जाता है ।

भावार्थ—आत्मा के दर्शन और ज्ञान ये भेद सद्भूत व्यवहारनय से ही हैं निश्चयनय से तो यह अग्वण्ड एक ही है ।

गाथा १६५

अन्वयार्थ—[निश्चयनयेन] निश्चयनय से [ज्ञानं] ज्ञान [आत्मप्रकाशं] आत्म प्रकाशी है, [दर्शनं तस्मात्] दर्शन भी उसीप्रकार आत्म प्रकाशी है । [निश्चयनयेन] निश्चयनय से [आत्मा] आत्मा [आत्मप्रकाशः] आत्मप्रकाशी है, [दर्शनं तस्मात्] दर्शन भी वैसे ही है ।

निश्चयनयेन स्वरूपाख्यानमेतत् । निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणं शुद्धज्ञान-
मिहाभिहितं तथा सकलावरणप्रमुक्तशुद्धदर्शनमपि स्वप्रकाशकपरमेव । आत्मा हि विमुक्त-
सकलेन्द्रियव्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षणलक्षित इति यावत् । दर्शनमपि विमुक्त-
बहिर्विषयत्वात् स्वप्रकाशकत्वप्रधानमेव । इत्थं स्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षिताक्षुण्णसहजशुद्ध-
ज्ञानदर्शनमयत्वात् निश्चयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिस्थावरजंगमात्मकसमस्तद्रव्यगुणपर्याय-
विषयेषु *आकाशाप्रकाशकादि[प्रकाशाप्रकाशकादि]विकल्पविदूरस्तन् स्वरूपे
*संज्ञालक्षणप्रकाशतया निरवशेषेणान्तर्मुखत्वादनवरतम् अखण्डाद्वैतचिच्चमत्कार-
मूर्तिरात्मा तिष्ठतीति ।

(मंदाकांता)

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या
दृष्टिः साक्षात् ग्रहतबहिरालंबना सापि चेषः ।

टीका—यह निश्चयनय की अंक्षा स्वरूप का कथन है ।

यहां निश्चयनय से शुद्धज्ञान को स्वप्रकाशक लक्षण वाला कहा है, उसीप्रकार
से सकल आवरण से रहित शुद्ध दर्शन भी स्वप्रकाशकरूप ही है । निश्चयरूप से आत्मा
सकल इंद्रियों के व्यापार से मुक्त होने से स्वप्रकाशक लक्षण से लक्षित ही है और
दर्शन भी बाह्य विषयों से रहित होने से स्वप्रकाशकत्व प्रधान ही है । इसप्रकार
स्वरूप को प्रत्यक्ष करने से लक्षण से लक्षित अक्षुण्ण—अखंड सहज शुद्ध ज्ञान दर्शनमय
होने से निश्चय से जगत्त्रय, कालत्रयवर्ती स्थावर जंगमरूप समस्त द्रव्य गुण और
पर्यायरूप विषयों में आकार प्रकाशक आदि विकल्पों से अति दूर रहता हुआ अपने
स्वरूप में सम्यक् अनुभव लक्षण प्रकाश के द्वारा निरवशेषरूप से अंतर्मुख होने से सतत
अखण्ड, अद्वैत चिच्चमत्कार मूर्ति स्वरूप आत्मा रहता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज ज्ञानदर्शनमयी आत्मा की महिमा बतलाते हुए
कहते हैं—]

(२८१) श्लोकार्थ—आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान निश्चय से स्व-
प्रकाशात्मक है । जो दर्शन है वह भी साक्षात् बाह्य आलंबन को नष्ट कर चुका है,
यह आत्मा इस दर्शनरूप भी है । ऐसा यह आत्मा एकाकाररूप निजरस के विस्तार से

* यहां कुछ अशुद्धि हो ऐसा लगता है ।

एकाकारस्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः

स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिनिर्विकल्पे महिम्नि ॥२८१॥

अप्पसरुवं पेच्छदि, लोयालोयं एा केवली भगवं ।

जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसरां होइ ॥१६६॥

आत्मस्वरूपं पश्यति लोकालोको न केवली भगवान् ।

यदि कोपि भणत्येवं तस्य च किं दूषणं भवति ॥१६६॥

भगवान् केवली यदि आत्म स्वरूप को ।

वस देखते हैं किन्तु नहि लोक अलोक को ॥

यदि आप ऐसा कहते तो सत्य ये नहीं ।

इसमें अनेक दूषण क्या है सुनो वही ॥१६६॥

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम् । व्यवहारेण पुद्गलादित्रिकाल-
विषयद्रव्यगुणपर्यायिकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलावबोधमयत्वादि विविध-

परिपूर्ण भरित पवित्र है और पुराण—सनातन है । यह नित्य ही निर्विकल्प महिमारूप अपने आपमें निश्चितरूप से वास करता है ।

गाथा १६६

अन्वयार्थ—[केवली भगवान्] केवली भगवान् [आत्मस्वरूपं पश्यति] आत्मा के स्वरूप को देखते हैं [न लोकालोको] किन्तु लोकालोक को नहीं, [एवं यदि कः अपि भणति] ऐसा यदि कोई भी कहता है तो [तस्य च किं दूषणं भवति] उसके लिये क्या दूषण है ?

टीका—शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से परके अन्य पदार्थों के देखने का यह निराकरण है ।

व्यवहारनय से तीनों काल सम्बन्धी पुद्गल आदि द्रव्यों को और उनकी गुण पर्यायों को एक समय में जानने में समर्थ सकल विमल केवलज्ञानमयत्व आदि विविध

महिमाधारोऽपि स भगवान् केवलदर्शनतृतीयलोचनोऽपि परमनिरपेक्षतया निःशेषतोऽन्तर्मुखत्वात् केवलस्वरूपप्रत्यक्षमात्रव्यापारनिरतनिरंजननिजसहजदर्शनेन सच्चिदानंदमयमात्मानं निश्चयतः पश्यतीति शुद्धनिश्चय नयविवक्षया यः कोपि शुद्धान्तस्तत्त्ववेदी परमजिनयोगीश्वरो यत्किं तस्य च न खलु दूषणं भवतीति ।

(मंदाक्रांतः)

पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं
स्वान्तःशुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरम् ।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तनिभानं
तस्मिन्नैव प्रकृतिमहति व्यावहारप्रपञ्च परस्परम् ॥

महिमाओं के धारी होते हुए भी तथा वे भगवान् केवलदर्शनरूप तृतीय लोचन वाले होते हुए भी परम निरपेक्षता के कारण निश्चयनय से परिपूर्ण तथा अंतर्मुख होने से केवल स्वरूप के प्रति प्रत्यक्ष मात्र के व्यापार में लीन हुए निरंजन निज सहज दर्शन के द्वारा सच्चिदानंदमय आत्मा को देखते हैं । इसप्रकार शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से जो कोई भी शुद्ध चैतन्यतत्त्व के ज्ञाता परम जिन योगीश्वर कहते हैं उस कथन में वास्तव में दूषण नहीं है ।

भावार्थ—नय की विवक्षा से इस कथन में कोई दोष नहीं है । अथवा क्या दूषण आता है सो आगे दो गाथाओं से दिखाते हैं ।

[अत्र टीकाकार मुनिराज इस बात को स्पष्ट करते हुए कलज काव्य कहते हैं —]

(२८२) श्लोकार्थ—यह आत्मा अपने अन्तरङ्ग शुद्धि का आवास होने से महिमा के आधारभूत अत्यन्त धीर और स्वात्मा में अतिशयतया अविचलरूप से सर्वदा आभ्यन्तर में निमग्न ऐसे एक विशुद्ध सहज परमात्मा को देखता है । क्योंकि स्वभाव से महान ऐसे उस आत्मा में व्यावहारिक प्रपञ्च है ही नहीं ।

भावार्थ—यहां ज्ञान, दर्शन या आत्मा में जो स्वस्वरूप के प्रत्यक्ष की अपेक्षा है वह निश्चयनय से है और जो परवस्तु के प्रत्यक्ष की अपेक्षा है वह व्यवहारनय से

मुत्तममुत्तं द्रव्यं, चैयणमियरं सर्गं च सर्वं च ।
पेच्छंतस्स दु एणाणं, पच्चक्खमणिदियं होइ ॥१६७॥

मूर्तममूर्तं द्रव्यं चेतनमितरत् स्वकं च सर्वं च ।
पश्यतस्तु ज्ञानं प्रत्यक्षमतीन्द्रियं भवति ॥१६७॥

मूर्तिक अमूर्त चेतन और जड़ हैं द्रव्य जो ।
मिजपर स्वरूप जो भी संपूर्ण वस्तु को ॥
जो देख रहें नित ही उनका ही ज्ञान को ।
प्रत्यक्ष व अतीन्द्रिय माना गया है वो ॥१६७॥

केवलबोधस्वरूपाख्यानमेतत् । षण्णां द्रव्याणां मध्ये मूर्तत्वं पुद्गलस्य पञ्चानाम्
अमूर्तत्वम्, चेतनत्वं जीवस्यैव पञ्चानामचेतनत्वम् । मूर्तमूर्तचेतनाचेतनस्वद्रव्यादिकमशेषं
त्रिकालविषयम् अनवरतं पश्यतो भगवतः श्रीमदहंत्परमेश्वरस्य क्रमकरणव्यवधानापोढं
चातीन्द्रियं च सकलविमलकेवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं भवतीति ।

है । अतः स्व की अपेक्षावाला—स्वाश्रित निश्चय है और पर की अपेक्षावाला
पराश्रित व्यवहार है । ऐसी विवक्षा शैली से ही ऐसा कथन है ।

गाथा १६७

अन्वयार्थ—[मूर्त अमूर्त] मूर्तिक अमूर्तिक, [चेतन इतरत्] चेतन और
अचेतन [द्रव्य] द्रव्यों को [स्वकं च सर्वं] अपने को तथा समस्त को [पश्यतः तु]
देखने वाले का [ज्ञानं] ज्ञान [अतीन्द्रियं प्रत्यक्षं भवति] अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है ।

टीका—यह केवलज्ञान के स्वरूप का कथन है ।

छहों द्रव्यों में से पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है शेष पांचों द्रव्य अमूर्तिक हैं और जीव
ही चेतन है शेष पांचों द्रव्य अचेतन हैं । इन तीन काल सम्बन्धी मूर्तिक, अमूर्तिक,
चेतन, अचेतन, स्वद्रव्य आदि अशेष को सतत देखते हुए श्रीमान् अर्हत परमेश्वर
भगवान् के क्रम और इन्द्रियों के व्यवधान से रहित अतीन्द्रिय ऐसा सकल विमल
केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

“जं पेच्छदो अमूर्तं मुक्तं सु अदिदियं च पच्छण्णं ।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं ह्वदि पचक्खं ॥”

तथा हि—

(मंदाकांता)

सम्यग्बर्तो त्रिभुवनगुरुः शाश्वतानन्तधामा
लोकालोकौ स्वयत्कखिलं जेतनाचेतनं च ।
तातीयं यन्नयनमपरं केवलज्ञानसंज्ञं
तेनैवायं विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः ॥२८३॥

इसीप्रकार से प्रवचनसार में भी कहा है—

“गाथार्थ—‘देखते वाले का जो ज्ञान अमूर्त को, मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय को और प्रच्छन्न को इन सबको, स्व को तथा पर को भी देखता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ।”

भावार्थ—जो सर्वदर्शी भगवान् अमूर्तिक पदार्थों को, मूर्तिक पुद्गल में भी अविभागी परमाणु जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों को तथा प्रच्छन्न—काल और देश से अत्यन्त परोक्ष ऐसे राम रावण आदि और हिमवान् सुमेरु आदि पदार्थों को, अपनी आत्मा को और संपूर्ण लोकालोक को स्पष्ट देखते हैं, इसलिये उनका ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ।

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज भी अतीन्द्रिय ज्ञानी की स्तुति करने हुए कहते हैं—]

(२८३) श्लोकार्थ—केवलज्ञान नामका जो तीसरा एक अन्य नेत्र है, उसी नेत्र के द्वारा ये प्रसिद्ध महिमाशाली, त्रिभुवन गुरु, शाश्वत अनन्तधाम में निवास करने

पुर्वोक्तसकलद्रव्यं, नाणागुणपञ्जएण संजुतं ।
जो ए य पेच्छइ सम्मं, परोक्षदृष्टि हवे तस्स ॥१६८॥

पूर्वोक्तसकलद्रव्यं नानागुणपर्यायेण संयुक्तम् ।
यो न च पश्यति सम्यक् परोक्षदृष्टिर्भवेत्तस्य ॥१६८॥

जो पूर्व में कहें हैं संपूर्ण द्रव्य भी ।
नाना गुणों व नाना पर्याय युक्त भी ॥
स्पष्ट रूप में जो नहि देखते उन्हें ।
उसका परोक्ष दर्शन प्रत्यक्ष नहि बने ॥१६८॥

अत्र केवलदृष्टेरभावात् सकलज्ञत्वं न समस्तीत्युक्तम् । पूर्वसूत्रोपात्तमूर्तादि-
द्रव्यं समस्तगुणपर्यायात्मकं, मूर्तस्य मूर्तगुणाः, अचेतनस्य अचेतनगुणाः, अमूर्तस्य अमूर्त-
गुणाः, चेतनस्य चेतनगुणाः षड्ढानिबृद्धिरूपाः सूक्ष्माः परमाणमप्रामाण्यादभ्युपगम्याः

वाले तीर्थनाथ जिनेन्द्र भगवान् लोकालोक को, स्व परको तथा चेतन और अचेतन में
अखिल पदार्थ को सम्यक् प्रकार से जानते हैं ।

गाथा १६८

अन्वयार्थ—[नाना गुणपर्यायेण] नाना गुण पर्यायों से [संयुक्तं पूर्वोक्त-
सकलद्रव्यं] संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को [यः च] जो [सम्यक् न पश्यति]
सम्यक् प्रकार से नहीं देखता है, [तस्य] उसके [परोक्षदृष्टिः भवेत्] परोक्ष
दर्शन होता है ।

टीका—केवलदर्शन के अभाव से सर्वज्ञता नहीं है, ऐसा यहां पर
कहा है ।

पूर्व सूत्र में कथित मूर्तादि द्रव्य समस्त गुण और पर्यायों से सहित हैं । मूर्त-
द्रव्य के मूर्तगुण हैं, अचेतन के अचेतन गुण हैं, अमूर्त के अमूर्त गुण हैं, चेतन के चेतन
गुण हैं । छह प्रकार की हानि और वृद्धिरूप सूक्ष्म परमाणुरूप प्रमाण से स्वीकार

अर्थपर्यायाः षण्णां द्रव्याणां साधारणाः, नरनारकाविव्यंजनपर्याया जीवानां पंचसंसार-
प्रपञ्चानां, पुद्गलानां स्थूलस्थूलादिस्कन्धपर्यायाः, चतुर्णां धर्मादीनां शुद्ध-
पर्यायाश्चेति, एभिः संयुक्तं तद्द्रव्यजालं यः खलु न पश्यति, तस्य संसारिणामिव
परोक्षदृष्टिरिति ।

(वसंततिलका)

यो नैव पश्यति जगत्त्रयमेकदैव
कालत्रयं च तरसा सकलज्ञमानी ।
प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं
सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः कदाच ॥१६६॥

लोयालोयं जाणइ, अण्पाणं णैव केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६६॥

करने योग्य अर्थ पर्यायें हैं जो कि छहों द्रव्यों में साधारण हैं, नर नारकादि व्यंजन पर्यायें हैं, जो कि पांच प्रकार के संसार प्रपंच-परिवर्तन से सहित ऐसे जीवों के होती हैं । पुद्गलों के स्थूल-स्थूल आदि स्कन्ध पर्यायें हैं और धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन चार द्रव्यों में शुद्ध पर्यायें ही होती हैं, इन गुण पर्यायों से संयुक्त उन द्रव्य समूहों को जो वास्तव में नहीं देखते हैं, उनके, संसारी जीवों के समान परोक्षरूप दर्शन होता है । अर्थात् जो ब्राह्म पदार्थों को नहीं देखते हैं उनका दर्शन परोक्ष ही है अतः वे सर्वज्ञ भी नहीं हो सकते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज पूर्ण दर्शन के बिना सर्वज्ञता भी नहीं है ऐसा कहते हैं—]

(२८४) श्लोकार्थ—“जो मैं सर्वज्ञ हूँ” ऐसे अभिमान वाले हुए जीव एक ही समय में तीनों जगत् को और तीनों कालों को शीघ्रता से युगपत् नहीं देखते हैं, उन्हें हमेशा अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है, पुनः यहां उन जडात्मा को सर्वज्ञता कैसे होगी ?

लोकालोकौ जानात्यात्मानं नैव केवली भगवान् ।
यदि कोऽपि भणति एवं तस्य च किं दूषणं भवति ॥१६६॥

भगवान् केवली यदि इन लोक अलोक को ।
यस जानते हैं निज को नहि जानते हैं वो ॥
यदि आप ऐसा कहते तो जान लीजिये ।
क्या होंगे इसमें दूषण वे ध्यान दीजिये ॥१६६॥

व्यवहारनयप्रादुर्भाविकथनमिदम् । सकलविमलकेवलज्ञानत्रितयलोचनो भगवान्
अपुनर्भवकमनीयकामिनीजीवितेशः षड्द्रव्यसंकीर्णलोकत्रयं शुद्धाकाशमात्रालोकं च
जानाति, पराश्रितो व्यवहार इति मानात् व्यवहारेण व्यवहारप्रधानत्वात् निरुपराग-
शुद्धात्मस्वरूपं नैव जानाति, यदि व्यवहारनयविवक्षया कोपि जिननाथतत्त्वविचारलब्धः
(दक्षः) कदाचिदेवं वक्ति चेत्, तस्य न खलु दूषणमिति ।

गाथा १६६

अन्वयार्थ — [केवली भगवान्] केवली भगवान् [लोकालोकौ] लोकालोक
को [जानाति] जानते हैं, [आत्मानं नैव] किन्तु आत्मा को नहीं, [यदि एवं कः
अपि भणति] यदि ऐसा कोई भी कहता है तो [तस्य च किं दूषणं भवति] उसको
क्या दूषण होता है ?

टोका—व्यवहारनय के प्रादुर्भाव का यह कथन है ।

अपुनर्भवकामी कमनीय कामिनी के प्राणनाथ, ऐसे सकल विमल केवलज्ञान
कामी तृतीय नेत्रधारी भगवान् छहों द्रव्यों से व्याप्त तीनों लोकों को और शुद्ध आकाश
मात्र अलोक को जानते हैं तो व्यवहार की प्रधानता होने से वे व्यवहारनय से जानते
हैं क्योंकि “व्यवहार पराश्रित है” ऐसा माना गया है, किन्तु वे राग रहित शुद्धात्मा के
स्वरूप को नहीं जानते हैं । यदि व्यवहारनय की विवक्षा में कोई भी जिननाथ के तत्त्व
विचार में निपुण जीव कदाचित् ऐसा कहते हैं तो उन्हें वास्तव में दूषण नहीं है ।

भावार्थ—अथवा केवली भगवान् परप्रकाशी हैं स्वप्रकाशी नहीं, ऐसी मान्यता
में क्या दूषण है सो आगे दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

(अपरवक्त्र)

“स्थितिजनननिरोधलक्षणं
चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलजलांछनं
वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥”

तथा हि—

(वसंततिलका)

जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथः
स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम् ।
नो वेत्ति सोऽयमिति तं व्यवहारमार्गाद्
वक्तीति कोऽपि मुनिषो न च तस्य दोषः ॥२८५॥

इसीप्रकार से श्री समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है—

“श्लोकार्थ—हे ‘जिनदेव ! आप वक्ताओं में थ्येण्ट हैं यह चर जंगम और अचर स्थावररूप जगत् प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षणवाला है, ऐसा यह आपका वचन सर्वज्ञता का चिह्न है ।”

उसीप्रकार [टीकाकार मुनिराज व्यवहार कथन की अपेक्षा से कलश काव्य कहते हैं—]

(२८५) श्लोकार्थ—तीर्थनाथ भगवान् वास्तव में अखिल लोक को जानते हैं किंतु वे निज सौख्य में निष्ठ एक निर्दोष अपनी आत्मा को नहीं जानते हैं । इस प्रकार से कोई भी मुनिपति व्यवहार मार्ग से उन समदर्शी को ऐसा कहते हैं तो उन्हें कोई दोष नहीं है ।

ज्ञानं जीवस्वरूपं, तस्मात् जाणेइ अप्पमं अप्पा ।
अप्पाणं ए वि जाणदि, अप्पादो होदि विदिरित्तं ॥१७०॥

ज्ञानं जीवस्वरूपं तस्माज्जानात्यात्मकं आत्मा ।
आत्मानं नापि जानात्यात्मनो भवति व्यतिरिक्तम् ॥१७०॥

यह ज्ञान तो आत्मा का लक्षण है सासना ।
अतएव आत्मा को आत्मा ही जानता ॥
यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जानता सही ।
तब तो ये ज्ञान आत्मा से भिन्न होगा ही ॥१७०॥

अत्र ज्ञानस्वरूपो जीव इति वितर्केणोक्तः । इह हि ज्ञानं तावज्जीवस्वरूपं भवति, ततो हेतोरखण्डाद्वैतस्वभावनिरतं निरतिशयपरमभावनासनाथं मुक्तिसुन्दरीनाथं, बहिर्ध्यावृत्तकौतूहलं निजपरमात्मानं जानाति कश्चिदात्मा भव्यजीव इति अयं खलु

भावार्थ—यदि कोई मुनिराज व्यवहारनय को प्रधानता से ऐसा कहने दें कि जिनदेव लोक को तो जानते हैं, किंतु आत्मा को नहीं जानते हैं तो इस कथन में कोई दोष नहीं है क्योंकि स्याद्वाद में सभी कथन नयों की अपेक्षा से ही होता है ।

गाथा १७०

अन्वयार्थ—[ज्ञानं जीवस्वरूपं] ज्ञान जीव का स्वरूप है [तस्मात्] इसलिये [आत्मा आत्मकं जानाति] आत्मा आत्मा को जानता है, [न अपि आत्मानं जानाति] यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है तो [आत्मनः व्यतिरिक्तः भवति] वह आत्मा से भिन्न हो जावेगा ।

टीका—‘जीव ज्ञानस्वरूप है’ ऐसा यहां वितर्क पूर्वक कहा है । प्रथमतः ज्ञान तो वास्तव में जीव का स्वरूप है, इसी हेतु से कोई आत्मा जो कि भव्य जीव है, वह खण्ड, अद्वैत स्वभाव में लीन, निरतिशय अद्वितीय परम भावना से सनाथ मुक्ति सुन्दरी के नाथ, और बाह्य कौतूहल से रहित ऐसी निज परमात्मा को जानता है ऐसा जो कथन है सो यह वास्तव में स्वभाववाद है । इससे विपरीत जो वितर्क—ऊहापोह या विचार है वह वास्तव में विभाववाद है, जो कि प्राथमिक शिष्यों का अभाव है ।

स्वभाववादः । अस्य विपरीतो वितर्कः स खलु विभाववादः प्राथमिकशिष्याभिप्रायः । कथमिति चेत्, पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं खलु न जानात्यात्मा, स्वरूपावस्थितः संतिष्ठति । यथोष्णस्वरूपस्याग्नेः स्वरूपमग्निः किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेयविकल्पाभावात् सोऽयमात्मात्मनि तिष्ठति । हंहो प्राथमिकशिष्य अग्निवदयमात्मा किमचेतनः । किं बहुता । तमात्मानं ज्ञानं न जानाति चेद् देवदत्तरहितपरशुवत् इदं हि नार्थक्रियाकारि, अत एव आत्मनः सकाशाद् व्यतिरिक्तं भवति । तन्न खलु सम्मतं स्वभाववादिनामिति ।

प्रश्न—यह वितर्क ऐसा कैसे है ? क्योंकि वास्तव में आत्मा पूर्वोक्त स्वरूप आत्मा को नहीं जानता है, किन्तु स्वरूप में अवस्थित रहता है । जिसप्रकार उष्ण स्वरूप वाली अग्नि के स्वरूप को क्या अग्नि जानती है ? अर्थात् नहीं जानती है उसी प्रकार से ज्ञान और ज्ञेयरूप विकल्पा के अभाव से जो यह आत्मा आत्मा में स्थित रहता है अर्थात् आत्मा को नहीं जानता है क्योंकि वह उसीमें स्थित है अथवा उसीरूप है ।

उत्तर—हे प्राथमिक शिष्य ! क्या अग्नि के समान यह आत्मा अचेतन है ? बहुत कहने से क्या, यदि ज्ञान उस आत्मा को नहीं जानता है तो देवदत्त से रहित उस कुल्हाड़ी के समान यह ज्ञान अर्थक्रियाकारी नहीं रहेगा, इस हेतु से वह आत्मा में भिन्न सिद्ध होगा । किन्तु यह बात वास्तव में स्वभाववादियों को सम्मत नहीं है ।

विशेषार्थ—गाथा १३९ में जो कहा है कि केवली भगवान लोकालोक को तो जानते हैं किन्तु आत्मा को नहीं, यदि ऐसा कोई कहे तो क्या दूषण है ? वास्तव में मिद्धांत की अपेक्षा ज्ञान को पर-प्रकाशी कहा है उसी दृष्टि से यहां प्रश्न है । टीकाकार ने इसे व्यवहारनय की अपेक्षा से सिद्ध कर दिया है और कहा कि ऐसा कहने वालों को कोई दूषण नहीं है । पुनः आचार्य ने १७० वीं गाथा में कहा है कि ज्ञान तो जीव का स्वभाव है यदि वह स्वयं अपनी आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से भिन्न हो जावेगा । टीकाकार ने ज्ञान को परप्रकाशी कहने में विभाववाद कहकर उसका निराकरण कर दिया है क्योंकि निश्चयनय से आत्मा और ज्ञान तथा दर्शन स्वपर-प्रकाशी हैं । इस बात को गाथा १६५ में कह चुके हैं तथा आगे १७१ में भी कहेंगे । कारण यह है कि यदि ज्ञान अपने को नहीं जानेगा तो जानने रूप अर्थ क्रिया से शून्य

तथा चोक्तम्—

“णाणं अविदिदिरित् जीवादो तेण अप्पगं मुणइ ।
जदि अप्पगं ण जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो ॥”

अप्पाणं विणु णाणं, एणाणं विणु अप्पगो एण संदेहो ।
तम्हा सपरपयासं, एणाणं तह दंसणं होदि ॥१७१॥

आत्मानं विद्धि ज्ञानं ज्ञानं विद्ध्यात्मको न संदेहः ।
तस्मात्स्वपरप्रकाशं ज्ञानं तथा दर्शनं भवति ॥१७१॥

आत्मा को ज्ञान जानो ओ ज्ञान आत्मा ।
ऐसा हि ज्ञान निश्चित संदेह नाशना ॥
अतएव ज्ञान हीसा निजपर-प्रकाशकर ।
दर्शन उसी तरह से निजपर-प्रकाशकर ॥१७१॥

भावार्थ—ज्ञान तो शुद्ध आत्मा का स्वभाव है यदि वह साधक अवस्था में अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करता है तो वह आत्मा का स्वभाव नहीं रहेगा । किन्तु ऐसा है नहीं अतः ज्ञान स्वसंवेदनरूप से प्रारम्भ अवस्था में भी आत्मा का अनुभव कराना है ।

इसीप्रकार से और भी कहा है—

“गाथार्थ—ज्ञान जीव से अभिन्न है, इसलिये यह आत्मा को जानता है, यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह जीव से भिन्न ही भिन्न होगा ।”

गाथा १७१

अन्वयार्थ—[आत्मानं ज्ञानं विद्धि] तुम आत्मा को ज्ञान समझो और [ज्ञानं आत्मकः विद्धि] ज्ञानको आत्मा समझो, [न संदेहः] इसमें संदेह नहीं है । [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं तथा दर्शनं] ज्ञान तथा दर्शन [स्वपरप्रकाशं] स्वपरप्रकाशी [भवति] होते हैं ।

गुणगुणिनोः भेदाभावस्वरूपाख्यानमेतत् । सकलपरद्रव्यपराङ्मुखमात्मानं
स्वस्वरूपपरिच्छित्समर्थसहजज्ञानस्वरूपमिति हे शिष्य त्वं विद्धि जानीहि तथा विज्ञान-
मात्मेति जानीहि । तत्त्वं स्वपरप्रकाशं ज्ञानदर्शनद्वितयमित्यत्र संदेहो नास्ति ।

(अनुष्टुभ्)

आत्मानं ज्ञानद्वारूपं विद्धि दृग्ज्ञानमात्मकं ।

स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥२८७॥

टीका—गुण और गुणी में भेद के अभावका स्वरूप का यह कथन है ।

हे शिष्य ! समस्त परद्रव्य से पराङ्मुख ऐसी आत्मा को स्वस्वरूप के जानने में समर्थ सहजज्ञानस्वरूप तुम समझो, तथा विज्ञान को ही आत्मा ऐसा जानो, इसलिये नात्विक बात यह है कि ज्ञान और दर्शन ये दोनों ही स्वपरप्रकाशी हैं । इसमें संदेह नहीं है ।

[अब टीकाकार मृनिराज बाब्य कलण द्वारा उर्मा शान को पुष्ट करते हैं—]

(२८७) श्लोकार्थ—आत्मा को ज्ञान दर्शनरूप और ज्ञान दर्शन को तुम आत्मारूप जानो । क्योंकि जो स्व और पर रूप तत्त्व हैं उस सबको यह आत्मा स्पष्ट रूप से प्रकाशित करता है ।

विशेषार्थ—गाथा १५९ से लेकर १७१ तक ऐसे १३ गाथाओं में आचार्य श्री कुंदकुंद देव ने आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण की विशेष विवेचना की है । जिसमें मात्र गाथाओं के अर्थ को क्रम से पढ़ लेने पर भाव स्पष्ट हो जाते हैं, यथा—केवली भगवान् व्यवहार से सर्व को जानते और देखते हैं, निश्चयनय से वे आत्मा को जानते और देखते हैं । केवलज्ञानी के ज्ञान और दर्शन युगपत् रहते हैं जैसे कि सूर्य के प्रकाश और ताप साथ-साथ रहते हैं । “ज्ञान परप्रकाशी है, दर्शन आत्मप्रकाशी है, तथा आत्मा स्वपरप्रकाशी है, यदि तुम ऐसा मानो तो क्या दूषण आता है सो दिखाते हैं ?”

यदि ज्ञान परप्रकाशी है तो आत्मा से दर्शन भिन्न रहेगा, क्योंकि दर्शन परद्रव्य का जानने वाला नहीं है ऐसा तुमने कहा है ।

यदि आत्मा परप्रकाशी है तो आत्मा से दर्शन भिन्न रहेगा, क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है, ऐसा तुमने कहा है । अर्थात् ज्ञानको परप्रकाशी और दर्शन को स्वप्रकाशी कहने से उपर्युक्त दो गाथा कथित दूषण आ जाते हैं ।

[पुनः आचार्य देव स्वयं नयों की अपेक्षा से वास्तविकता को स्पष्ट करते हैं—]

व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशी है, दर्शन भी वैसा है, व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशी है और दर्शन भी वैसा है । निश्चयनय से ज्ञान आत्मप्रकाशी है दर्शन भी वैसा है, निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशी है और दर्शन भी वैसा है । यहाँ पर निश्चयनय स्वाश्रित है और व्यवहार पराश्रित है, इसलिये ऐसा कहा गया है । पुनः कहते हैं—

केवली भगवान् आत्मस्वरूप को देखते हैं, लोकालोक को नहीं यदि कोई ऐसा कहता है तो उसके क्या दूषण होता है ? अर्थात् नयों की अपेक्षा से कोई दूषण नहीं है, अथवा आगे दो गाथाओं से दूषण दिखाने हैं—

मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन द्रव्य को तथा स्वको और समस्त को देखने वाले सर्वदर्शी का ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है । नाना पर्यायों से सहित पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को जो सम्यक् युगपत् अथवा स्पष्ट नहीं देखते हैं, उनके परोक्ष दर्शन होता है । अर्थात् जिनका दर्शन आत्मा को ही जानता है, परपदार्थों को नहीं, उनका दर्शन परोक्ष ही रहता है न कि प्रत्यक्ष । पुनः कहते हैं कि—

“केवली भगवान् लोकालोक को जानते हैं किन्तु आत्मा को नहीं जानते हैं, यदि ऐसा कोई कहता है तो उसके क्या दूषण होता है ?” अर्थात् नयों की अपेक्षा से कुछ भी दूषण नहीं है, अथवा आगे कही गई दो गाथाओं से दूषण दिखाते हैं ।

“ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसलिये आत्मा-आत्मा को जानता है यदि वह आत्मा को नहीं जाने तो वह ज्ञान आत्मा से भिन्न हो जावेगा ।” इसलिये तुम आत्मा

को ज्ञान समझो और ज्ञान को ही आत्मा समझो इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । इस हेतु से ज्ञान स्वपरप्रकाशी है और दर्शन भी स्वपरप्रकाशी है । ऐसा समझना चाहिए ।

यहां तक आचार्य श्री कुंदकुंद देव ने व्यवहारनय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा को परप्रकाशी और निश्चयनय से ज्ञान, दर्शन और आत्मा इन तीनों को स्वप्रकाशी कहकर पुनः इन तीनों को ही कथंचित् एक दूसरे से अभिन्न मित्र करने हुए स्वपर-प्रकाशी सिद्ध किया है

अब इस ज्ञान-दर्शन के विषय में अन्य ग्रंथों की चर्चा देखिये—

“अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान माना है ।” बात यह है कि सामान्य को छोड़कर केवल विशेष अथवा विशेष को छोड़कर सामान्य अर्थक्रिया करने में अनमर्थ है अतः यह अवस्तु है, इस कारण केवल विशेष को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकेगा और केवल सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन भी प्रमाण नहीं हो सकेगा ।

“जं सामण्यं ग्रहणं नावाण णेव कट्टुमायारं” यहाँ पर भी ‘सामान्य’ शब्द का अर्थ आत्मा है क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण ब्रह्म पदार्थों में साधारणरूप से पाया जाता है ।”

श्रीमान् भट्टाकलंक देवकृत तृतीयस्त्रय की टीका में भी स्पष्टतया कहा है कि—“यहाँ पर सामान्य के ग्रहण को दर्शन कहा है किंतु सिद्धांत में” स्वरूप के ग्रहण को दर्शन कहा है अतः उपर्युक्त कथन में सिद्धांत के साथ विरोध क्यों नहीं होगा ?”

१. “अंतर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाषोः” [ध० पु० १ पृ० १४६]

२. “जं सामण्यं ग्रहणं” तथात्मनः सकल ब्राह्मार्थसाधारणत्वतः सामान्यव्यपदेश भाजो ग्रहणात् ।” [ध० पु० १ पृ० १४८]

३. ननु स्वरूप ग्रहणमेव दर्शनमितिराद्धातेन कथं न विरोधः इति चेन्न, अभिप्राय भेदान् तत्त्वतस्तु स्वरूपग्रहणमेव दर्शनं केवलानां तयोर्गुणवत्प्रवृत्तेः । अन्यथा ज्ञानस्य सामान्य विशेषात्मकवस्तु विषयत्वाभावप्रसंगात् । [तृतीयस्त्रयं प्र० १४]

ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अभिप्राय से भेद है । पर के विसंवाद को दूर करने के लिये न्याय शास्त्र होते हैं इसलिए उनमें स्वीकृत निर्विकल्पदर्शन (बौद्ध ने ज्ञानको निर्विकल्पदर्शन कहा है) की प्रमाणता का खण्डन करने के लिए स्याद्वादियों ने दर्शन को सामान्य ग्रहण करने वाला माना है.....किंतु वास्तव में स्वरूप का ग्रहण करना ही दर्शन है क्योंकि केवलियों में ज्ञान और दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति होती है ।

इसी बात को द्रव्यसंग्रह की टीका में भी कहा है—

तर्क—'न्याय के अभिप्राय से सत्तावलोकन को दर्शन कहा है इसके बाद सिद्धांत के अभिप्राय से कहते हैं—आगे होने वाले ज्ञानकी उत्पत्ति के लिये प्रयत्नरूप जो निज आत्मा का परिच्छेदन अर्थात् अवलोकन वह दर्शन कहलाता है और उसके पीछे जो बाह्य विषय में विकल्परूप से पदार्थ का ग्रहण है वह ज्ञान है, यह वार्तिक है ।.....शिष्य कहता है कि यदि आत्मा का ग्राहक दर्शन है और परका ग्राहक ज्ञान है तो नैयायिक के मत में जैसे ज्ञान अपने को नहीं जानता है वैसे जैनमत में भी ज्ञान आत्मा को नहीं जानेगा ?

इसका उत्तर यह है कि—नैयायिक मत में ज्ञान और दर्शन ये दो गुण पृथक्-पृथक् नहीं हैं । किंतु जैनमत में आत्मा ज्ञान गुण से परद्रव्य को जानता है और दर्शन गुण से आत्मा को जानता है ।.....क्योंकि यदि सामान्य ग्राहक दर्शन और विशेष ग्राहक ज्ञान होंगे तब ज्ञान की प्रमाणता नहीं होगी । क्योंकि वस्तु का ग्राहक प्रमाण है और वस्तु सामान्य विशेषात्मक है, पुनः ज्ञान ने वस्तु के एकदेशरूप ऐसे विशेष को ही ग्रहण किया है वह विशेष वस्तु नहीं है । अतः सिद्धांत से निश्चय से गुण गुणी में अभेद होने से संशय, विमोह, विभ्रम से रहित जो वस्तु का ज्ञान है उस ज्ञान स्वरूप आत्मा ही प्रमाण है ।”

निष्कर्ष यह निकला कि न्याय अर्थ और सिद्धांत-अर्थ को जानकर दुराग्रह का त्याग करके नय विभाग से जब कोई मध्यस्थ वृत्ति से व्याख्यान करता है तब दोनों

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह पृ० १८२ ।

२. यदि कोऽपि तर्कार्थं सिद्धांतार्थं च जात्वेकांत दुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थवृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटत इति ।

जाणंतो पस्संतो, ईहापुब्बं एण होइ केवलिनो ।
केवलिणारणी तस्मा, तेण दु सोऽबन्धगो भणितो ॥१७२॥

जानन् पश्यन्नीहापूर्वं न भवति केवलिनः ।
केवलज्ञानी तस्मात् तेन तु सोऽबन्धको भणितः ॥१७२॥

भगवान् केवली का जानन व देखना ।
होना न इच्छापूर्वक अन्धव बंध ना ॥
इसमें हि केवली अित बंजोका नुन कहें ।
इच्छा बिना न उनके रगों का बंध है ॥१७२॥

सर्वज्ञवीतरागस्य बांछाभाषत्वमत्रोक्तम् । भगवानर्हतपरमेष्ठी साद्यनिधनामूर्त्ति-
तीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् विश्वम-

ब्रातें घट जाती हैं । क्योंकि 'तर्क' ग्रंथ में मुख्यतः परसमय-अन्य सम्प्रदाय का व्याख्यान है और पुनः सिद्धांत में मुख्य वृत्ति में स्वसमय का व्याख्यान है ।

यहां पर इस नियमसार में भी आचार्यदेव ने सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए प्रश्न उठाये हैं, पुनः अध्यात्म ग्रंथ में नयविधक्षा से ज्ञान, दर्शन, तथा आत्मा इन तीनों को भी कथंचित् स्वपरप्रकाशी सिद्ध कर दिया है, ऐसा समझना ।

गाथा १७२

अन्वयार्थ—[केवलिनः] केवली भगवान् का [जानन् पश्यन् ईहापूर्वं न भवति] जानना और देखना ईहा पूर्वक नहीं होता है, [तस्मात्] इसलिये [केवल-ज्ञानी] जो केवलज्ञानी है [सः] वह [तेन तु] उस हेतु से [अबन्धकः भणतिः] अबन्धक कहा गया है ।

टीका—यहां पर सर्वज्ञ वीतराग के बांछा का अभाव कहा है । भगवान् अर्हत परमेष्ठी सादिसांत अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभावभूत शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय की

१. तर्क मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं.....सिद्धांते पुनः स्वसमय व्याख्यानं मुख्यवृत्त्या ।

श्रान्तं जानन्नपि पश्यन्नपि वा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः परमभट्टारकस्य, तस्मात् स भगवान् केवलज्ञानीति प्रसिद्धः, पुनस्तेन कारणेन स भगवान् अवन्धक इति ।

तथा चोक्तं श्रीप्रवचनसारे—

“ण वि परिणमवि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणणवि ते आदा अबंधगो तेण पणत्तो ॥”

तथा हि—

(मंदाक्रान्ता)

जानन् सर्वं भुवनभुवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः ।

अपेक्षा से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों के आधारभूत होने से विश्व का निरन्तर जानते हुए भी और देखते हुए भी मन की प्रवृत्ति का अभाव होने से उन केवली परम भट्टारक के ईहापूर्वक वर्तन नहीं होता है । इसलिये वे भगवान् केवलज्ञानी हैं यह बात प्रसिद्ध है, पुनः उसी कारण से वे भगवान् अवन्धक हैं ।

उसीप्रकार से श्री प्रवचनासर में कहा है—

“गाथार्थ—आत्मा पदार्थों को जानता हुआ भी उनरूप परिणमन नहीं करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उन पदार्थों में उत्पन्न ही होता है, इसलिये वह अवन्धक कहा गया है ।”

भावार्थ—केवलज्ञानी भगवान् सभी पदार्थों को जानते हुए भी न उनरूप परिणत ही होते हैं न उनको ग्रहण ही करते हैं और न उनरूप से उत्पन्न होते हैं और इसीलिये उन्हें पूर्ण वीतरागता रहने से कर्मों का बंध नहीं होता है ।

उसीप्रकार से [टीकाकार मुनिराज काव्य कलश द्वारा कहते हैं—]

(२८८) श्लोकार्थ—सहज महिमाशाली देवदेव जिनेश्वर भुवनरूपी भवन के भीतर में स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हुए तथा वैसे ही देखते हुए भी मोह का

मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ॥२८८॥

परिणामपूर्ववचनं, जीवस्स य बंधकारणं होई ।
परिणामरहितवचनं, तस्मात्ताणस्स ण हि बंधो ॥१७३॥
ईहापूर्वं वचनं, जीवस्स य बंधकारणं होई ।
ईहारहितं वचनं, तस्मात्ताणस्स एण हि बंधो ॥१७४॥

परिणामपूर्ववचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति ।
परिणामरहितवचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः ॥१७३॥
ईहापूर्वं वचनं जीवस्स च बंधकारणं भवति ।
ईहारहितं वचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बंधः ॥१७४॥

जीवों के जो वचन हों परिणाम पूर्वक ।
वे बंध के ही कारण क्योंकि मनःपूर्वक ॥
परिणाम रहित वाणी ज्ञानी प्रभु की है ।
अतएव बंध उनके कंमे भी नहीं है ॥१७३॥

अभाव हो जाने से अश्विल अन्य पदार्थों को नित्य ही (कदापि) ग्रहण नहीं करते हैं किंतु ज्ञान ज्योति से मल के क्लेश को नाष्ट कर देने वाले वे समस्त लोक के एक साक्षी होते हैं ।

भावार्थ—केवली भगवान् सम्पूर्ण जगत् को जानते देखते हैं फिर भी मोहनीय कर्म के सर्वथा अभाव हो जाने से वे किसी में रागद्वेष नहीं करते हैं, अतएव वे केवल साता दृष्टा ही रहते हैं ।

गाथा १७३-१७४

अन्वयार्थ—[परिणामपूर्ववचनं] परिणाम पूर्वक वचन [जीवस्य च] जीव के लिये [बंधकारणं भवति] बंध का कारण है, [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [परिणामरहितवचनं] परिणामरहित वचन हैं [तस्मात् बंध न हि] इसलिये उनके बंध नहीं होता है ।

जीवों के वचन जो भी अभिनाय रहित हों ।
 वे बंध के हैं कारण इच्छा बिना न हों ।
 श्री केवली प्रभू के इच्छा रहित वचन ।
 इस हेतु बंध उनके होता न ये नियम ॥१७४॥

इह हि ज्ञानिनो बंधाभावस्वरूपमुक्तम् । सम्यग्ज्ञानी जीवः क्वचित् कदाचिदपि स्वबुद्धिपूर्वकं वचनं न वक्ति स्वमनःपरिणामपूर्वकमिति यावत् । कुतः ? 'अमनस्काः केवलिनः' इति वचनात् । अतः कारणाज्जीवस्य मनःपरिणतिपूर्वकं वचनं बंधकारणमित्यर्थः, मनःपरिणामपूर्वकं वचनं केवलिनो न भवति; ईहापूर्वं वचनमेव साभिलाषात्मकजीवस्य बंधकारणं भवति, केवलिमुखारविर्विनिर्गतो दिव्यध्वनिरनीहात्मकः समस्तजनहृदयाह्लादकारणः; ततः सम्यग्ज्ञानिनो बंधाभाव इति ।

[ईहापूर्वं वचनं] ईहापूर्वक वचन [जीवस्य च] जीव के [बंधकारणं भवति] बंध के लिये कारण होते हैं [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [ईहारहितं वचनं] ईहा रहित वचन है [तस्मात्] इसलिये उनके [बंधः न हि] बंध नहीं है ।

टीका—यहां पर ज्ञानी के बंधाभाव स्वरूप को कहा है ।

सम्यक्ज्ञानी क्वचित् कदाचित् भी अपनी बुद्धिपूर्वक वचन नहीं बोलने हैं, अर्थात् अपने मन के उपयोग पूर्वक वचन नहीं बोलने हैं ।

प्रश्न—मनःपूर्वक क्यों नहीं बोलने हैं ?

उत्तर—क्योंकि "अमनस्काः केवलिनः" केवली भगवान् मनरहित होते हैं ऐसा वचन है । इसकारण से मनकी परिणति पूर्वक हुये जीव के वचन बंध के कारण होते हैं ऐसा अर्थ हुआ और मन को परिणति पूर्वक वचन केवली के नहीं होते हैं ।

ईहापूर्वक वचन ही अभिलाषासहित के लिये बंध के कारण होते हैं, किंतु केवली भगवान् के मुखकमल से निकली हुई दिव्यध्वनि ईहा-इच्छापूर्वक नहीं है तथा समस्त जीवों के हृदय को आह्लाद का कारण है, इसलिये सम्यग्ज्ञानी के बंध का अभाव है ।

(मंदाकांता)

ईहापूर्वं वचनरचनारूपमत्रास्ति तैव
तस्मादेष प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता ।
अस्मिन् बन्धः कथमिव भवेद्द्रव्यभावात्मकोऽयं
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागरोषादिजालम् ॥२८९॥

(मंदाकांता)

एको देवस्त्रिभुवनगुरुर्नष्टकर्माष्टकार्धः
सद्बोधस्थं भुवनमखिलं तद्गतं वस्तुजालम् ।
आरातीये भगवति जिने तैव बन्धो न मोक्षः
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मुच्छन्ता चेतना च ॥२९०॥

[अथ टीकाकार मुनिराज केवली भगवान् की दिव्यध्वनि की प्रशंसा करते हुए आगे कलशरूप तीन काव्य कहते हैं—]

(२८९) श्लोकार्थ—इन केवली भगवान् में उच्छापूर्वक वचन रचना का स्वरूप नहीं है, इसलिये ये भगवान् प्रकटरूप से महिमाशाली हैं और विश्वलोक के एक—अद्वितीय स्वामी हैं । इनमें द्रव्य और भावरूप यह बन्ध कैसे हो सकता है ? क्योंकि मोह का अभाव हो जाने में उनके समस्त रागद्वेषादि समूह निश्चितरूप से नहीं रहता है ।

(२९०) श्लोकार्थ—जिन्होंने अष्टकर्म के आधे अर्थात् चार घातिया कर्मों को नाश कर दिया है ऐसे एक अर्हतदेव ही त्रिभुवन के गुरु हैं क्योंकि यह समस्त लोक और उसमें स्थित समस्त वस्तु समूह उनके सज्ज्ञान में स्थित है । ऐसे साक्षात् स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् में न बन्ध ही है और न मोक्ष ही है, तथा न उनमें कोई मूर्च्छा—अज्ञानदशा ही है और न चेतना-ज्ञानदशा ही है ।

भावार्थ—अर्हतदेव ही सर्वज्ञ हैं अतः उनमें बन्ध—मोक्ष या ज्ञान तथा अज्ञान-रूप अवस्थायें नहीं हैं क्योंकि वे पूर्णज्ञानी हैं, ज्ञान स्वरूप ही परिणत हो चुके हैं ।

(मंदाक्रान्तः)

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने धर्मकर्मप्रपञ्चो
 रागाभावादतुलमहिमा राजते वीतरागः ।
 एष श्रीमान् स्वसुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो
 ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनाभोगभागः समन्तात् ॥२६१॥

ठाणरिणसेज्जविहारा, ईहापुव्वं एण होइ केवलिणो ।
 तम्हा ण होइ बंधो, सावखट्ठं मोहणीयस्स ॥१७५॥

स्थाननिषण्णविहारा ईहापूर्वं न भवन्ति केवलिनः ।
 तस्माच्च भवति बंधः साक्षार्थं मोहनीयस्य ॥१७५॥

श्री केवली प्रभू जो बैठे व खड़े हों ।
 विहरें न इच्छा पूर्वक स्वयमेव किया हों ॥
 अतएव बंध उनके कैसे भी नहीं है ।
 इंद्रिय विषय ग्रहण से मोहों के बंध है ॥१७५॥

(२६१) श्लोकार्थ—इन जिनेन्द्र भगवान् में धर्म और कर्म का प्रपञ्च नहीं है क्योंकि राग का अभाव हो जाने से अतुल महिमाशाली वीतराग देव शोभायमान होते हैं । ये श्रीमान् भगवान् अपने सुख में लीन हैं, सिद्धिरूपी रमणी के स्वामी हैं, तथा सब ओर से जिन्होंने ज्ञानज्योति के द्वारा समस्त भुवन के अभ्यन्तर भाग को व्याप्त कर लिया है ।

भावार्थ—अहंन भगवान् के मोहनीय कर्म का पूर्णतया अभाव हो जाने से वे वीतरागी हैं तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय के अभाव से वे केवलज्ञानी हैं, सर्वदर्शी हैं तथा अनन्तशक्तिशाली हैं । इसलिये उनका ज्ञान तीनों लोकों में और अलोक में भी सर्वत्र व्याप्त हो रहा है ।

गाथा १७५

अन्वयार्थ—[केवलिनः] केवली भगवान् के [स्थाननिषण्णविहाराः] खड़े होना, बैठना और विहार करना [ईहापूर्वं न भवन्ति] इच्छापूर्वक नहीं होते हैं,

केवलिभट्टारकस्यामनस्कत्वप्रद्योतनमेतत् । भगवतः परमार्हस्यलक्ष्मीविराजमानस्य केवलिनः परमवीतरागसर्वज्ञस्य ईहापूर्वकं न किमपि वर्त्तनम्, अतः स भगवान् न चेहते मनःप्रवृत्तेरभावात् अमनस्काः केवलिनः इति वचनाद्वा न तिष्ठति नोपविशति न चेहापूर्वं श्रोविहारादिकं करोति । ततस्तस्य तीर्थंकरपरमदेवस्य द्रव्यभावात्मकचतुर्विधबंधो न भवति । स च बंधः पुनः किमर्थं जातः कस्य संबंधश्च । मोहनीयकर्मविलासविजृम्भितः, अक्षार्थमिन्द्रियार्थं तेन सह यः वर्त्तत इति साक्षार्थं मोहनीयस्य वशगतानां साक्षार्थप्रयोजनानां संसारिणामेव बंध इति ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

[तस्मात् बंधः न भवति] इसलिये उनके बंध नहीं होता, तथा [मोहनीयस्य] मोह में सहित जीव के [साक्षार्थ] इंद्रिय के विषयसहितरूप से बन्ध होता है ।

टीका—केवली भट्टारक के अमनस्कता का यह प्रकाशन है । परम आर्हस्य-लक्ष्मी से विराजमान परमवीतराग सर्वज्ञ केवली भगवान् के इच्छापूर्वक कुछ भी प्रवृत्ति नहीं है, इसलिए वे भगवान् इच्छा नहीं करते हैं क्योंकि उनके मन की प्रवृत्ति का अभाव है अथवा “अमनस्काः केवलिनः” केवली भगवान् मनरहित हैं, ऐसा कथन होने से वे भगवान् न इच्छापूर्वक ठहरते हैं, न इच्छापूर्वक बैठते हैं और न इच्छापूर्वक श्रोविहार आदि ही करते हैं । इसलिए उन तीर्थंकर परमदेव के द्रव्य और भावरूप से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चारों प्रकार का बन्ध नहीं होता है ।

प्रश्न—पुनः यह बन्ध किसकारण से होता है ? और किसके होता है ?

उत्तर—वह कर्मबन्ध मोहनीयकर्म के विलास से उत्पन्न होता है, साक्षार्थ—इन्द्रियों के विषय से जो सहित हैं वे साक्षार्थ हैं, ऐसे मोहनीयकर्म के वशीभूत हुए इन्द्रियविषयों में प्रवृत्ति करनेवाले संसारी जीवों के ही वह बन्ध होता है । ऐसा अर्थ हुआ ।

उसीप्रकार से प्रवचनसार में कहा है—

“ठाणणिसेज्जविहारा धम्मववेसो य णियदया तेसि ।
अरहंताणं काले मायाचारो व्य इत्थोणं ॥”

(शाङ्खलविकीडित)

देवेन्द्रासनकंपकारणमहाकंवलयबोधोदये
मुक्तिश्रीललनामुखाम्बुजरवेः सद्वर्मरक्षामणेः ।
सर्ववर्तनमस्ति चेन्न च मनः सर्वपुराणस्य तत्
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पाषाटवीपावकः ॥२६२॥

गाथार्थ—अर्हतदेवों के उस काल में खड़े होना, बैठना, विहार करना और धर्मोपदेश देना यह क्रियायें स्वभाव से हांती हैं जैसे कि स्त्रियों में मायाचार स्वभाव से होता है ।

[अब टीकाकार मुनिराज अर्हतदेव की महिमा को बनलाते हुए कलश-काव्य कहते हैं—]

(२६२) श्लोकार्थ—देवेन्द्रों के आसन कंपायमान होने से कारणभूत ऐसे महान् कंवलयबोध के उदय हो जाने पर मुक्तिश्रीरूपी स्त्री के मुखकमल को विकसित करने में सूर्यस्वरूप और सद्धर्म की रक्षा के लिए मणिसदृश ऐसे पुराण-सनातनरूप जिनेन्द्रदेव की यदि संपूर्ण प्रवृत्तियां होती हैं तो भी उनके मन नहीं है । अर्थात् वे क्रियायें अभिप्रायपूर्वक नहीं हैं । सो ये भगवान् अपरिमेय-अगम्य महिमा-शाली हैं और पापरूपी वन के लिए पावकस्वरूप हैं ।

भावार्थ—अर्हत भगवान् के केवलज्ञान प्रगट होते ही देवों के आसन कंपित हो जाते हैं । ऐसे महिमाशाली जिनेन्द्र की सारी प्रवृत्तियां अभिप्राय रहित होती हैं क्योंकि उनके भाव इन्द्रिय और भाव मन नहीं हैं ।

आउस्स खयेण पुणो, णिण्णासो होइ सेसपयडीणं ।
पच्छा पावइ सिग्घं, लोयगं समयमेत्तेण ॥१७६॥

आयुषः क्षयेण पुनः निर्नाशो भवति शेषप्रकृतीनाम् ।
पश्चात्प्राप्नोति शीघ्रं लोकाग्रं समयमात्रेण ॥१७६॥

आयु का नाश होता उन केवली के जब ।
शेष प्रकृतियों का जड़ से विनाश सब ॥
तब शीघ्र एक समय में वे लोक शिखर पे ।
जानकर के निष्ठाने हैं मुक्तपंगना वर के ॥१७६॥

शुद्धजीवस्य स्वभावगतिप्राप्त्युपायोपन्यासोऽयम् । स्वभावगतिक्रियापरिणतस्य
षट्कापक्रमविहीनस्य भगवतः सिद्धक्षेत्राभिमुखस्य ध्यानध्येयध्यातृतत्फलप्राप्तिप्रयोजन-
विकल्पशून्येन स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपेण परमशुक्लध्यानेन आयुःकर्मक्षये
जाते वेदनीयतामगोत्राभिधानशेषप्रकृतीनां निर्नाशो भवति । शुद्धनिश्चयनयेन
स्वस्वरूपे सहजमहिम्नि लीनोऽपि व्यवहारेण स भगवान् क्षणार्धेन लोकाग्रं प्राप्नोतीति ।

गाथा १७६

अन्वयार्थ—[पुनः] फिर—उन केवली के [आयुषः क्षयेण] आयु के क्षय से
[शेष प्रकृतीनां] शेष प्रकृतियों का [निर्नाशः भवति] संपूर्णतया विनाश हो जाता है
[पश्चात्] पुनः वे [शीघ्रं समयमात्रेण] शीघ्र ही एक समय मात्र में [लोकाग्रं
प्राप्नोति] लोक के अग्रभाग को प्राप्त कर लेते हैं ।

टीका—शुद्ध जीव के स्वाभाविक गति की प्राप्ति के उपाय का यह कथन है ।

स्वाभाविक गति क्रिया से परिणत, छह अपक्रम से रहित, सिद्ध-क्षेत्र के
सन्मुख हुए जो भगवान हैं, उनके ध्यान, ध्येय, ध्याता और उसके फल की प्राप्ति और
प्रयोजन के विकल्पों से शून्य, अपने स्वरूप में अविचलस्थितिरूप ऐसे परम शुक्लध्यान
के द्वारा आयु कर्म का क्षय हो जाने पर वेदनीय, नाम और गोत्र नामकी शेष प्रकृतियों
का समूल नाश हो जाता है । शुद्ध निश्चयनय से सहज महिमाशाली ऐसे अपने स्वरूप

(अनुष्टुभ्)

षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक् ।
सिद्धानां लक्षणं यस्माद्धूर्वगास्ते सदा शिवाः ॥२६३॥

(मंदाकांता)

बन्धच्छेदादतुलमहिमा देवविद्याधराणां
प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः ।
लोकस्याग्रे व्यवहारणतः संस्थितो देवदेवः
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते ॥२६४॥

में लीन होते हुये भी वे भगवान् व्यवहारण से उर्ध्वक्षेत्र में लोक के अग्रभाग को प्राप्त कर लेते हैं ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज सिद्धों के गुणों का गान करते हुये तीन श्लोक कहते हैं—]

(२६३) श्लोकार्थ—जो छह अपक्रम में सहित हैं ऐसे संसारी जीवों के लक्षण से सिद्धों का लक्षण भिन्न है, इसलिये वे सिद्ध ऊर्ध्वगामी हैं और सदाशिव-कल्याण स्वरूप हैं ।

भावार्थ—संसारी जीव परभव में जाने समय चार विदिशाओं को छोड़कर चार दिशाओं में और ऊर्ध्व-अधो ऐसी छह दिशाओं में गमन करते हैं । इसे ही षट्-अपक्रम कहते हैं ।

(२६४) श्लोकार्थ—बन्ध का उच्छेद हो जाने से अतुल महिमाधारी ऐसे सिद्ध भगवान् अब देवों और विद्याधरों के प्रत्यक्ष स्तवन के विषय नहीं हैं ऐसी बात प्रसिद्ध है । वे देवदेव व्यवहारण से लोक के अग्रभाग में सुरक्षित हैं और निश्चयनय से अपनी आत्मा में अतिशयतया अविचलरूप से ही रहते हैं ।

(अनुष्टुभ्)

पंचसंसारनिमुक्तान् पंचसंसारमुक्तये ।

पंचसिद्धान्तं वंदे पंचमोक्षफलप्रदान् ॥२६५॥

जाइजरमरणरहियं, परमं कम्मदुवज्जियं शुद्धं ।

एणाणइचउसहाणं, अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७७॥

जातिजरामरणरहितं परमं कर्माष्टवजितं शुद्धम्

ज्ञानादिचतुःस्वभावं अक्षयमविनाशमच्छेद्यम् ॥१७७॥

निर्वाण धाम आठों, कर्मों ने शुन्य है ।

गनजन्मजरामृत्यु श्री परम शुद्ध है ॥

बर ज्ञान दर्ग वीरज मुख चार स्वभावी ।

अक्षय विनाश विरहित अच्छेद्य स्वभावी ॥१७७॥

(२६५) श्लोकार्थ—पांच प्रकार के संसार से रहित, पांच प्रकार के मोक्ष को प्रदान करनेवाले ऐसे पांच प्रकार के सिद्धों को मैं पांच प्रकार के संसार से मुक्त होने के लिए वंदन करता हूँ ।

भावार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पांच प्रकार का संसार है, इन पांच प्रकार के संसार से मुक्त-रहित जो फल है उनको सिद्ध करनेवाले पांच प्रकार के सिद्ध हो जाते हैं, पांच प्रकार के संसार से छूटने के लिए उनको यहाँ वंदन किया गया है ।

गाथा १७७

अन्वयार्थ—ये सिद्ध भगवान् [जातिजरामरणरहितं] जन्म, जरा और मरण से रहित [परमम्] परम, [कर्माष्टवजितं] आठ कर्मों से रहित, [शुद्धं] शुद्ध [ज्ञानादि चतुः स्वभावं] ज्ञानादि चार स्वभाववाले [अक्षयं] अक्षय [अविनाशं] अविनाशी और [अच्छेद्यं] अच्छेद्य हैं ।

कारणपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । निसर्गतः संसृतेरभावाज्जातिजरामरणरहितम्, परमपारिणामिकभावेन परमस्वभावत्वात्परमम्, त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वात् कर्मादिक-
वर्जितम्, द्रव्यभावकर्मरहितत्वाच्छुद्धम्, सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजचिच्छक्तिम-
यत्वाज्ज्ञानादिचतुःस्वभावम्, सादिसान्निधनभूतैर्न्द्रियात्मकांबिजातीयाधिभावव्यंजनपर्यायवी-
तत्वादक्षयम्, प्रशस्ताप्रशस्तगतिहेतुभूतपुण्यपापकर्मद्वन्द्वाभावादविनाशम्, वधबन्धच्छेद-
योग्यमूर्तिमुक्तत्वादच्छेद्यमिति ।

(मालिनी)

अविचलितमखंडज्ञानमद्वन्द्वनिष्ठं
निखिलदुरितदुर्गन्धातदावाग्निरूपम् ।

टीका—कारण परमतत्त्व के स्वरूप का यह कथन है ।

स्वभाव से संसार का अभाव होने से जो जन्म, जरा और मरण से रहित है, परम पारिणामिक भाव के द्वारा परमस्वभाव होने से परम है, त्रिकालिक उपाधि रहित स्वरूपवाले होने से आठों कर्मों से रहित है, द्रव्यकर्म और भावकर्म से रहित होने से शुद्ध है, सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजचैतन्य शक्तिमय होने से ज्ञानादि चार स्वभाववाले हैं, अर्थात् अनंतचतुष्टय सहित है, सादि और सांत, मूर्तिक इंद्रिरूप, विजातीय ऐसी विभावव्यंजन पर्याय से रहित होने से अक्षय है, प्रशस्त तथा अप्रशस्तगति के लिए हेतु भूत ऐसे पुण्य-पाप कर्मरूप द्वन्द्व के अभाव से अविनाशी है, और बन्ध तथा वन्ध के द्वारा छेदन के योग्य ऐसी मूर्ति से युक्त होने से अच्छेद्य—नहीं छिदने योग्य है ।

भावार्थ—यह सिद्धों का स्वरूप बतलाया गया है, शुद्ध निश्चयन की अपेक्षा से संसारी जीवों की आत्मा भी ऐसी ही सिद्धस्वरूप है उसे कारणपरमतरव कहते हैं ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज सिद्धभक्ति की प्रेरणा देने हुए कहते हैं—]

(२६६) श्लोकार्थ—जो अविचल है, अखण्ड ज्ञानरूप है, राग द्वेषादि द्वन्द्व में स्थित नहीं है, समस्त दुरित के दुस्तर समूह को भस्मसात् करने में अग्निरूप है

भज भजसि निजोत्थं दिव्यशर्मामृतं त्वं
सकलविमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात् ॥२६६॥

अव्याबाहमणिदियमणोवमं पुण्यपापनिर्मुक्तं ।
पुनरागमणविरहियं, निचचं अचलं अनालंबं ॥१७८॥

अव्याबाधमतीन्द्रियमनुपमं पुण्यपापनिर्मुक्तम् ।
पुनरागमनविरहितं नित्यमचलमनालंबम् ॥१७८॥

बाधा रहित अतीन्द्रिय अनुपम कहा गया ।
सब पुण्य पाप विरहित परिशुद्ध हो गया ।
पुनरागमन विवर्जित और नित्य रूप है ।
यह जो है निरालम्बों अचल व पूर्ण है ॥१७८॥

अत्रापि निरुपाधिस्वरूपलक्षणपरमात्मतत्त्वमुक्तम् । अखिलदुरघवीरवंरीवरूधि-
नीसंभ्रमागोचरसहजज्ञानदुर्गनिलयत्वादव्याबाधम्, सर्वात्मप्रदेशभरितचिदानन्दमयत्वाद-

ऐसे निज में उत्पन्न हुए दिव्यमुखरूपी अमृत को तुम भजो, यदि उसे भजोगे तो तुम्हें
सकल विमलज्ञान प्रकट होगा ।

भावार्थ—शुद्ध आत्मतत्त्व की उपासना से ही पूर्ण केवलज्ञान प्रकट होता है,
इसलिए उसीका आश्रय लेना श्रेयस्कर है ।

गाथा १७८

अन्वयार्थ—ये सिद्ध भगवान् [अव्याबाधं] अव्याबाध, [अतीन्द्रियं]
अतीन्द्रिय, [अनुपमं] अनुपम [पुण्यपापनिर्मुक्तं] पुण्य-पाप से रहित, [पुनरागमनवि-
रहितं] पुनरागमन से रहित, [नित्यं] नित्य, [अचलं] अचल और [निरालंबं]
निरालंब हैं ।

टीका—यहां पर भी निरुपाधिस्वरूप लक्षणवाले ऐसे परमात्मतत्त्व का
कथन है ।

तीन्द्रियम्, त्रिषु तत्त्वेषु विशिष्टत्वादनौपम्यम् संसृतिपुरञ्चिकासंभोगसंभवसुखदुःखाभावा-
त्पुण्यपापनिर्मुक्तम्, पुनरागमनहेतुभूतप्रशस्ताप्रशस्तमोहरागद्वेषाभावात्पुनरागमनविर-
हितम्, नित्यमरणतद्भवमरणकारणकलेवरसंबन्धाभावान्नित्यम्, निजगुणपर्यायिप्रच्यवना-
भावादचलम्, परद्रव्यावलम्बनाभावादनालम्बमिति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

(संवाक्यम्)

“आसंसारोत्पत्तिपदसमी रागिणी नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ।
एतैतेतः पवमिदमिदं यत्र चेतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥”

समस्त दुष्ट पापरूपी श्री व्रैरी की सेना के उपद्रव के अगोचर ऐसे सहज
ज्ञानरूपी गढ़ में निवास होने से जो अव्यावाध है, संपूर्ण आत्मप्रदशों में भरे हुए
चिदानन्दमय होने से अतीन्द्रिय हैं, तीनों तत्त्वों में—ब्रह्मात्मतत्त्व, अन्तरात्मतत्त्व और
परमात्मतत्त्व इन तीनों में विशेष होने से जो अनुपम हैं, संसाररूपी स्त्री के सम्भोग
से उत्पन्न होनेवाले सुख दुःखों का अभाव होने से जो पुण्य और पाप से निर्मुक्त हैं,
पुनरागमन के कारणभूत ऐसे प्रशस्त और अप्रशस्त मोह, राग, द्वेष का अभाव हो
जाने से जो पुनरागमन से रहित हैं, नित्यमरण और तद्भवमरण के कारणभूत शरीर
के सम्बन्ध का अभाव होने से जो नित्य हैं, अपनी गुण और पर्यायों से च्युत नहीं होने
से अचल हैं और परद्रव्य के आलम्बन का अभाव होने से जो निरालम्ब हैं । इन
उपर्युक्त गुणों में विशिष्ट सिद्धपरमात्मा होने हैं ।

इसीप्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है—

श्लोकार्थ—“हे ‘अंधप्राणियों ! अनादि संसार से पद-पद पर ये रागी जीव
नित्य ही मत्त हो रहे हैं, और जिस पद में सो रहे हैं, वह पद अपद है, अपद है ऐसा

तथा हि—

(शार्दूलविक्रीडित)

भावाः पञ्च भवन्ति येषु सततं भावः परः पञ्चमः
स्थायी संसृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः ।
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुद्ध्वा पुनर्बुद्धिमान्
एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥२६७॥

तुम समझो । इधर आवो, आवो तुम्हारा पद यह है, यह है जहां पर शुद्ध-शुद्ध चैनन्य धातु अपन रस के अतिशय भार से स्थायी भाव को प्राप्त हो रहा है ।

भावार्थ—आचार्यप्रवर मध्यजीवों को अत्यन्त करुणाभाव से समझा रहे हैं कि अरे भव्य ! राग से अंधे हुये ये संसारो प्राणी अनादिकाल से अपने स्थान से च्युत होते हुए अन्य दार्शनिक निन्दास्थान में भटक रहे हैं वास्तव में यह तुम्हारा स्थान नहीं है, यहां दो-दो बार कहने से आचार्य श्री की अतिशय करुणा झलक रही है । वास्तव में आचार्य बड़े ही प्रेम से बुला रहे हैं कि हे भाई ! इधर आवो आवो जो कि मोक्षपद है और जहां कि चैनन्यमयी धातु में छटित तुम्हारा दिव्य शरीर है जो कि अविनाशी है ।

उसीप्रकार में [टीकाकार मुनिराज इस कलिकाल में भी महामुनि की प्रशंसा करते हुए कलशकाव्य कहते हैं—]

(२६७) श्लोकार्थ—भाव पांच होते हैं जिनमें यह परम पंचमभाव सतत स्थायी है, संसार के नाश का कारण है और सम्यग्दृष्टियों के गोचर है । पापरूपी अटवी को जलाने के लिये अग्नि सदृश ऐसे बुद्धिमान् एक मुनिराज ही उस पंचमभाव को जानकर पुनः समस्त रागद्वेष के समूह को छोड़कर इस कलियुग में शोभायमान होते हैं ।

भावार्थ—टीकाकार का स्पष्ट कहना है कि आज इस कलिकालरूप निकृष्ट काल में भी वीतरागी महामुनि पंचमभाव का आश्रय लेने वाले निःस्पृह ऐसे विचरण करते हैं ।

एव दुःखं णवि सुखं, णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा ।
णवि मरणं णवि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७६॥

नापि दुःखं नापि सौख्यं नापि पीडा नैव विद्यते बाधा ।
नापि मरणं नापि जननं तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥१७६॥

जहाँ पे न दुःख किन्ति नहि इन्द्रियों का सुख ।
पीडा नहीं है कुछ भी, बाधा भी नहीं कुछ ॥
नहि मृत्यु भी अहाँ पर नहि जन्म भी रहे ।
हाँवा वहीं पे निश्चित निर्वाण जान ये ॥१७६॥

इह हि सांसारिकविकारनिकायाभावाक्षिर्वाणं भवतीत्युक्तम् । निरुपरागरत्नत्र-
यात्मकपरमात्मनः सततान्तर्मुखाकारपरमाध्यात्मस्वरूपनिरतस्य तस्य चाऽशुभपरिणतेर-
भावाच्च चाशुभकर्म अशुभकर्माभावान्न दुःखम्, शुभपरिणतेरभावान्न शुभकर्म
शुभकर्माभावान्न खलु संसारसुखम्, पीडायोग्ययातनाशरीराभावान्न पीडा, असातावेदनी-

गाथा १७६

अन्वयार्थ—[दुःखं न अपि] जहाँ दुःख भी नहीं है, [सौख्यं न अपि]
सुख भी नहीं है, [पीडा अपि न] पीडा भी नहीं है [बाधा न एव विद्यते] बाधा
भी नहीं है [मरणं न अपि] मरण भी नहीं है तथा [जननं अपि न] जन्म भी नहीं
है [तत्र एव च निर्वाणं भवति] वहीं पर निर्वाण है ।

टीका—सांसारिक विकारसमूह के अभाव से ही निर्वाण होता है ऐसा यहाँ
पर कहा है ।

निरन्तर अंतर्मुखाकार से परिणत ऐसे परम अध्यात्मस्वरूप में लीन हुये
ऐसे उन निरुपराग रत्नत्रयात्मक परमात्मा में अशुभपरिणति का अभाव होने से
अशुभकर्म नहीं हैं और अशुभकर्म के अभाव से उनके दुःख भी नहीं है तथा शुभ
परिणति के अभाव से उनके शुभकर्म नहीं है और शुभकर्म के न होने से वास्तव में
उन्हें संसार के सुख भी नहीं हैं, पीडा के योग्य यातनारूप शरीर के अभाव से उन्हें

यकर्मभावान्नैव विद्यते बाधा, पंचविधनोकर्मभावान्न मरणम्, पंचविधनोकर्महेतुभूतकर्म-
पुद्गलस्वीकाराभावान्न जननम् । एवंलक्षणलक्षिताक्षुण्णविक्षेपविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्य
सदा निर्वाणं भवतीति ।

(मालिनी)

भवभवसुखदुःखं विद्यते नैव बाधा
जननमरणपीडा नास्ति यस्येह नित्यम् ।
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि
स्मरमुखविमुखस्सन् मुक्तिसौख्याय नित्यम् ॥२६८॥

पीड़ा नहीं है, असातावेदनीयकर्म के अभाव से उन्हें बाधा भी नहीं है, पांच प्रकार के
नोकर्म के अभाव से उनके मरण भी नहीं है तथा पांच प्रकार के नोकर्म के लिये
कारणभूत ऐसे कर्मपुद्गलों को स्वीकार न करने से उन्हें जन्म भी नहीं है ।
इन लक्षणों में लक्षित, अश्वण्ड और विक्षेपरहित ऐसे परमतत्त्व को सदा निर्वाण
होता है ।

भावार्थ—संसार में कर्म के निमित्त से होनेवाले विभावों के अभाव से
परमतत्त्व स्वरूप परमात्मा ही निर्वाण के अधिकारी हैं । यहां पंचविध नोकर्म से
औदारिक आदि पांच शरीरों का ग्रहण सम्भक्तता चाहिए ।

[अब टीकाकार श्री मुनिराज उसी परमतत्त्व स्वरूप आत्मा की आराधना
के लिये प्रेरणा देते हुए दो श्लोक कहते हैं—]

(२६८) श्लोकार्थ—इस लोक में जिसके हमेशा भव-भव के दुःख और
सुख नहीं है, बाधा नहीं है तथा जन्म, मरण और पीड़ा भी नहीं है । मैं कामसुख से
विमुख होता हुआ मुक्तिमुख की प्राप्ति के लिये नित्य ही उस परमात्मतत्त्व को
नमस्कार करता हूं, उसकी स्तुति करता हूं और उसी की सम्यक् प्रकार से भावना
करता हूं ।

(अनुष्टुप्)

आत्मारामनया होतः सापराध इति स्मृतः ।

अहमात्मानमानन्दमन्दिरं नौमि नित्यशः ॥२६६॥

णवि इंदिय उवसग्गा, णवि मोहो विस्मियो ए निद्रा य ।

ए य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य होइ निव्वाणं ॥२६७॥

नापि इन्द्रियाः उपसर्गाः नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च ।

न च तृष्णा नैव क्षुधा तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥२६८॥

नहि इन्द्रियां जहां पर उपासर्ग भी नहीं ।

नहि मोह और विस्मय निद्रा भी तो नहीं ॥

वाध्रा नहीं क्षुधा की तृष्णा भी नहीं है ।

होती वही तो निश्चिन्त निर्वाण मही है ॥२६८॥

परमनिर्वाणयोग्यपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत् । अखण्डैकप्रदेशज्ञानस्वरूपत्वात्
स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपञ्चेन्द्रियव्यापाराः देवमानवतिर्यगचेतनोपसर्गाश्च न

(२६६) श्लोकार्थ—आत्मा की आराधना से होत जोव अपराध महित है
ऐसा माना गया है, इसलिये मैं नित्य ही आनन्द के मन्दिर—स्थान स्वरूप अपनी आत्मा
को नमस्कार करता हूँ ।

गाथा १८०

अन्वयार्थ—[इन्द्रियाः उपसर्गाः अपि] जहां पर इन्द्रियां नहीं हैं और उपसर्ग
भी नहीं है [मोहः विस्मयः अपि न] मोह और विस्मय भी नहीं है, [निद्रा च न]
और निद्रा भी नहीं है, [तृष्णा च न] तृष्णा भी नहीं है तथा [क्षुधा न एव] क्षुधा
भी नहीं है [तत्र एव च निर्वाणं भवति] वहीं पर निर्वाण है ।

टीका—यह परमनिर्वाण के योग्य ऐसे परमतत्त्व के स्वरूप का कथन है ।

अखण्ड एकप्रदेशी ज्ञानस्वरूप होने से स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और
कर्ण नामवाली इन पांच इन्द्रियों के व्यापार (उस परमतत्त्व) में नहीं हैं, तथा देव,

भवन्ति, क्षायिकज्ञानयथाख्यातचारित्र्यमयत्वाच्च दर्शनचारित्र्यभेदविभिन्नमोहनीयद्वितय-
मपि, बाह्यप्रपञ्चविमुखत्वाच्च विस्मयः, नित्योन्मीलितशुद्धज्ञानस्वरूपत्वाच्च निद्रा, आसता-
वेदनीयकर्मनिर्मूलनान्न क्षुधा तृषा च । तत्र परमब्रह्मणि नित्यं ब्रह्म भवतीति ।

तथा चोक्तममृताशीतौ—

(मानिनी)

“ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्या ।
तदतिविशदचित्तं लभ्यतेऽङ्गेऽपि तत्त्वं
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात् ॥”

मनुष्य, तिर्यञ्च और अचेतन कृत उपसर्ग भी नहीं हैं, क्षायिकज्ञान और यथाख्यात-
चारित्र्यमय होने से दर्शनमोह और चारित्र्यमोह के भेद से भिन्न ऐसे दोनों मोहनीय कर्म
भी नहीं हैं, बाह्यप्रपञ्चों से विमुख होने से जहां पर विस्मय-आश्चर्य नहीं है, नित्य
उन्मीलित-प्रगट्स्वरूप शुद्धज्ञान स्वरूप होने से जहां पर निद्रा भी नहीं है तथा आसता-
वेदनीयकर्म का समूलनाश हो जाने से क्षुधा और तृषा भी नहीं हैं उसी परमब्रह्म
स्वरूप में सदा ब्रह्म निर्वाण है ।

भावार्थ—जिस परमतत्त्व के अनुभव में ये इन्द्रियव्यापार, उपसर्ग आदि
नहीं हैं उसी परमतत्त्व में आत्मा की तन्मयता हो जाना ही परमनिर्वाण है ।

इसीप्रकार से अमृताशीति ग्रंथ में भी कहा है—

“श्लोकार्थ—‘जहां पर ज्वर, जन्म और जरा की वेदना भी नहीं है, मृत्यु
भी तिरस्कार नहीं कर सकती है, तथा जहां पर गति और अगति भी नहीं है । उस परम-
तत्त्व को अतिनिर्मल चित्तवाले पुरुष शरीर में स्थित होते हुए भी गुणों में गुरु ऐसे
गुरुदेव के पादकमल की सेवा के प्रसाद से प्राप्त कर लेते हैं ।”

तथा हि—

(मंदाक्रांता)

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालंकृते निर्विकल्पे-
ऽक्षरामुच्चैर्विविधविषमं वर्तनं नैव किञ्चित् ।
नैवान्ये वा भविगुणगणाः संसृतेर्मूलभूताः
तस्मिन्नित्यं निजसुखमयं भाति निर्वाणमेकम् ॥३००॥

एव कम्मं एोकम्मं, एवि चिंता णेव श्रट्ठरुद्दाणि ।
एवि धम्मसुक्कज्ञाणे, तत्थेव य होइ शिक्खाणं ॥१८१॥

भावार्थ—इस परमतत्त्व में जन्म, मरण आदि के दुःख, पराभव, गमन—
आगमन आदि कुछ भी विकार नहीं हैं । उस तत्त्व को प्राप्त करने के लिये गुरुओं के
चरणकमलों की उपामना ही सबसे प्रमुख उपाय है ।

उसीप्रधान में श्रीकाकार मुनिराज भी निर्वाण के स्वरूप को कहते हुए
एवां क कहते हैं—

(३००) श्लोकार्थ—अनुपम गुणों से अलंकृत और निर्विकल्प ऐसे जिस
ब्रह्म में—आत्मतत्त्व में इंद्रियों का विविध और विषमरूप किञ्चित् भी वर्तन
अत्यन्तरूप से नहीं है, तथा संसार के लिये मूलभूत, अन्य संसारी गुण समुदाय भी
नहीं हैं । उस ब्रह्मस्वरूप में नित्य ही निजसुखमय एक—अद्वितीय निर्वाण
प्रतिभासित होता है ।

भावार्थ—अनंत गुणपुंज स्वरूप और समस्त विकल्पों से रहित पूर्ण
निर्विकल्प ऐसे शुद्धात्मा में शुद्ध निश्चयनय से संसार संबंधी रागद्वेष आदि विकार
भाव नहीं हैं । वस ऐसी बीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर ही निर्वाण सुख
प्रगट हो जाता है ।

नापि कर्म नोकर्म नापि चिन्ता नैवार्तरौद्रे ।

नापि धर्म्यशुक्लध्याने तत्रैव च भवति निर्वाणम् ॥१८१॥

जहाँ कर्म हैं नहीं कुछ नोकर्म भी नहीं ।

चिन्ता व आर्तरौद्री दुध्यान भी नहीं ॥

नहि धर्म शुक्ल दोनों भि ध्यान जहाँ पर ।

निर्वाण नाम से तो होता वही सुन्दर ॥१८१॥

सकलकर्मविनिर्मुक्तशुभाशुभशुद्धध्यानध्येयविकल्पविनिर्मुक्तपरमत्वस्वरूपा-
स्थानमेतत् । सदा निरंजनत्वान्न द्रव्यकर्माण्डकं, त्रिकालनिरुपाधित्वरूपत्वान्न नोकर्मपञ्चकं
च, अमनस्कत्वान्नचिन्ता, औदयिकादिविभावभावानामभावादात्तरौद्रध्याने न स्तः, धर्म्य-
शुक्लध्यानयोग्यचरमशरीराभावात्तद्विषयमपि न भवति । तत्रैव च महानन्द इति ।

गाथा १८१

अन्वयार्थ—[कर्म नोकर्म अपि न] जहाँ पर कर्म और नोकर्म भी नहीं हैं,
[चिन्ता अपि न] चिन्ता भी नहीं है, [आर्तरौद्रे एव न] अर्त-रौद्रध्यान भी नहीं है
तथा [धर्म्यशुक्लध्याने अपि न] धर्मध्यान और शुक्लध्यान भी नहीं हैं [तत्र एव च
निर्वाणं भवति] वहीं पर निर्वाण है ।

टीका—सकलकर्म से निर्मुक्त, शुभ-अशुभ और शुद्धकल्प ध्यान-ध्येय से
वर्जित ऐसे परमनत्व के स्वरूप का यह कथन है ।

सदा निरंजनरूप होने से जिनके आठों कर्म नहीं हैं, तीनों कालों में उपाधि
रहित स्वरूपवाले होने से जो पांच प्रकार से नोकर्म से रहित हैं, मनरहित होने से
जिन्हें चिन्ता नहीं है, औदयिक आदि विभावभावों के अभाव से जिनके आर्तध्यान
और रौद्रध्यान नहीं है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योग्य ऐसे चरमशरीर के
अभाव से ये दोनों ध्यान भी नहीं हैं । वहीं पर महान आनन्द है ऐसा समझना ।

१. औदारिक आदि पांच प्रकार के शरीर पांच प्रकार के नोकर्म हैं ।

(मंदाक्रांता)

निर्वाणस्थे प्रहृतदुरितध्वान्तसंघे विशुद्धे
 कर्मशिषं न च न च पुनर्ध्यानकं तच्चतुष्कम् ।
 तस्मिन्सिद्धे भगवति परंब्रह्मणि ज्ञानपुंजे
 काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ॥३०१॥

विज्जदि केवलणाणां, केवलसोवखं च केवलं विरियं ।
 केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पवेसत्तं ॥१८२॥

विद्यते केवलज्ञानं केवलसौख्यं च केवलं वीर्यम् ।
 केवलदृष्टिर्भूतस्त्वमस्तित्त्वं सप्रदेशत्वम् ॥१८२॥

भावार्थ—जिस अवस्था में कर्म नाकर्म आदि क्षिप्त होचुके हैं उसी अवस्था में महान आनन्द प्रगट होजाता है जो कि परमानन्द कहलाता है वही अनंत-मुखरूप है उसी का नाम परमनिर्वाण है ।

[अब टीकाकार मृनिराज भी पूर्णशुद्ध अवस्था की महिमा को कहते हुए एक कलश काव्य कहते हैं—]

(३०१) श्लोकार्थ—निर्वाण में स्थित, दुरितरूपी तिमिर समुदाय को नष्ट करनेवाले ऐसे विशुद्ध परमब्रह्म में अशेषकर्म नहीं हैं तथा वे चारों ध्यान भी नहीं हैं उन ज्ञानपुंजस्वरूप परमब्रह्म ऐसे सिद्धभगवान् के ऐसी कोई मुक्ति होजाती है जो कि वचन और मन से दूर है ।

भावार्थ—धर्मध्यान और शुक्लध्यान भी सिद्धि के लिये साधन हैं अतएव ये ध्यान भी सिद्धि की प्राप्ति होजाने पर नहीं रहते हैं । यही कारण है कि सिद्धों की सिद्धावस्था सामान्यजनों के वचन और मन के अगोचर है ।

गाथा १८२

ग्रन्थयार्थ—उन सिद्धभगवान् के [केवलज्ञानं] केवलज्ञान, [केवलदृष्टिः] केवलदर्शन, [केवलसौख्यं च] केवलसौख्य, [केवलं वीर्यं] केवलवीर्य, [अमूर्तत्वं]

निर्वाण वाम पर जो श्री सिद्ध प्रभु रहें ।
केवल्य ज्ञान केवल दर्शन उन्हीं के हैं ॥
केवल्यवीर्य केवल सुख भी उन्हीं के हैं ।
अस्तित्व सप्रदेशी अनमूर्त गुण भी हैं ॥१८२॥

भगवतः सिद्धस्य स्वभावगुणस्वरूपाख्यानमेतत् । निरवशेषेणान्तर्मुखाकार-
स्वात्माश्रयनिश्चयपरमशुक्लध्यानबलेन ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मविलये जाते ततो भगवतः
सिद्धपरमेष्ठिनः केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलवीर्यकेवलसौख्यामूर्तत्वास्तित्वसप्रदेशत्वादि-
स्वभावगुणा भवन्ति इति ।

(मंदाकांक्षा)

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत् ।

अमूर्तत्व, [अस्तित्व] अस्तित्व और [सप्रदेशत्वं] सप्रदेशत्व [विद्यते] होते हैं ।

टीका—भगवान् सिद्ध के स्वाभाविक गुणों के स्वरूप का यह कथन है ।

संपूर्णतया अंतर्मुखाकार ऐसे स्वात्माश्रित निश्चय परमशुक्लध्यान के बल से
ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों का विलय होजाने पर भगवान् सिद्धपरमेष्ठी
के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य, केवलसौख्य, अमूर्तत्व, अस्तित्व और सप्रदेशत्व
आदि ऐसे स्वाभाविक गुण होते हैं ।

भावार्थ—सिद्धों के अनंतदर्शन आदि अनंतचतुष्टय और नामकर्म आदि के
अभाव से अमूर्तत्व आदि गुण प्रगट हो जाते हैं जो कि स्वभावगुण कहलाते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज इन्हीं स्वभावगुणों को कहते हुए एक कलश-
काव्य कहते हैं—]

(३०२) श्लोकार्थ—बंध का विच्छेद होजाने से नित्यशुद्ध तथा प्रसिद्ध
ऐसे उन सिद्धभगवान् में अतिशयरूप यह केवलज्ञान होता है, साक्षात् समस्त पदार्थों

दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यंतिकं च
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणः शुद्धशुद्धश्च नित्यम् ॥३०२॥

सिद्धिवाणमेव सिद्धा, सिद्धा निव्वणमिदि समुद्दिष्टा ।
कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥१८३॥

निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणमिति समुद्दिष्टाः ।
कर्मविमुक्त आत्मा गच्छति लोकाप्रपर्यन्तम् ॥१८३॥

निर्वाण ही तो जग में बस सिद्ध कहाने ।
जो सिद्ध हैं वे ही तो निर्वाण कहाने ॥
जब आत्मा ये कर्मों से मुक्त हो जाता ।
उस ही समय लोकाग्र के पर्यंत में जाता ॥१८३॥

सिद्धिसिद्धयोरेकत्वप्रतिपादनपरायणमेतत् । निर्वाणशब्दोऽत्र द्विष्टो भवति ।

को विषय करनेवाला ऐसा दर्शन—केवलदर्शन होता है तथा आन्त्यन्तिक सौख्य प्रगट हो जाता है एवं अत्यन्त शुद्ध ऐसे अनन्तवीर्य आदि अन्य गुणमणियों के समूह भी नित्य हो रहते हैं ।

भावार्थ—कर्मबंध का अभाव होजाने से सिद्धभगवान् के केवलज्ञानादि अनन्तगुणसमूह प्रगट होजाते हैं ।

गाथा १८३

अन्वयार्थ—[निर्वाणं एव सिद्धाः] निर्वाण ही सिद्ध हैं और [सिद्धाः निर्वाणं] सिद्ध ही निर्वाण हैं [इति समुद्दिष्टाः] ऐसा कहा गया है, क्योंकि [कर्म विमुक्तः आत्मा] कर्म से विमुक्त आत्मा ही [लोकाप्रपर्यंतं] लोक के अग्रभाग पर्यंत [गच्छति] जाता है ।

टीका—सिद्धि और सिद्धभगवान् में एकत्व का प्रतिपादन करनेवाला यह कथन है ।

‘निर्वाण’ शब्द यहां पर दो में स्थित है ।

कथमिति चेत् । 'निर्वाणमेव सिद्धा' इति वचनात् । सिद्धाः सिद्धक्षेत्रे तिष्ठन्तीति व्यवहारः, निश्चयतो भगवन्तः स्वस्वरूपे तिष्ठन्ति । ततो हेतोर्निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणम् इत्यनेन क्रमेण निर्वाणशब्दसिद्धशब्दयोरेकत्वं सफलं जातम् । अपि च यः कश्चिदासन्नभव्यजीवः परमगुरुप्रसादात्सादितपरमभावभावनया सकलकर्मकलंकपंकविमुक्तः स परमात्मा भूत्वा लोकाग्रपर्यन्तं गच्छतीति ।

(मायिनी)

अथ जिनमतमुक्तेर्मुक्तजीवस्य भेदं
ववचिदपि न च विद्मो युक्तितश्चागमाच्च ।
यदि पुनरिह भव्यः कर्म निर्मूल्य सर्वं
स भवति परमश्रीकामिनोकामरूपः ॥३०३॥

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—'निर्वाणमेव सिद्धाः' निर्वाण ही सिद्ध हैं, ऐसा वचन पाया जाता है । सिद्ध भगवान् सिद्ध क्षेत्र में रहते हैं, ऐसा व्यवहार है, निश्चय से भगवान् अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं और इस हेतु से "निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण हैं," इस प्रकार के क्रम से निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्द इन दोनों में एकत्व सफल हो गया है ।

तथा, जो कोई आसन्नभव्य जीव परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त हुए परमभाव की भावना से सकल कर्म कलंक रूपी कीचड़ से विमुक्त हो जाते हैं, वे परमात्मा होकर लोक के अग्रभाग तक चले जाते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज पुनरपि निर्वाण और निर्वाण प्राप्त जीवों में अभेद दिखलाते हुए कलण काव्य कहते हैं—]

(३०३) श्लोकार्थ—जिनेंद्र देव के मत की मुक्ति में और मुक्त जीव में हम कहीं पर भी युक्ति से और आगम से भेद नहीं समझते हैं । यदि पुनः इस लोक से कोई भव्य जीव सम्पूर्ण कर्म को निर्मूल कर देता है, तो वह परमश्री-मुक्तिलक्ष्मी रूपी कामिनी का प्रिय वल्लभ हो जाता है ।

जीवाणं पुद्गलाणं, गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे, ततो परतो ण गच्छंति ॥१८४॥

जीवानां पुद्गलानां गमनं जानीहि यावद्धर्मास्तिकः ।
धर्मास्तिकायाभावे तस्मात्परतो न गच्छंति ॥१८४॥

जीवों का पुद्गलों का जाना हो वहीं तक ।
धर्मास्तिकाय रहता सहकारि जहां तक ॥
धर्मास्तिकाय का कहां अभाव है आगे ।
उससे हि सिद्ध लोक से जाते नहीं आगे ॥१८४॥

अत्र सिद्धक्षेत्रादुपरि जीवपुद्गलानां गमनं निषिद्धम् । जीवानां स्वभावक्रिया सिद्धिगमनं विभावक्रिया षट्कायक्रमयुक्तत्वं, पुद्गलानां स्वभावक्रिया परमाणुगतिः विभावक्रिया द्व्यणुकादिस्कन्धगतिः । अतोऽमीषां त्रिलोकशिखरादुपरि गतिक्रिया

भावार्थ—कर्मों से छूटना ही मुक्ति है और जो कर्मों से छूट चुके हैं वे ही मुक्त हैं । पुनः मुक्ति और मुक्त जीवों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि मुक्ति के बिना मुक्त जीव अथवा मुक्त जीवों के बिना मुक्ति नामकी कोई चीज नहीं है ।

गाथा १८४

अन्वयार्थ—[जीवानां पुद्गलानां गमनं] जीवों का और पुद्गलों का गमन [जानीहि] वहां तक ही जानो कि [यावत् धर्मास्तिकः] जहां तक धर्मास्तिकाय है, [धर्मास्तिकाया भावे] क्योंकि धर्मास्तिकाय के अभाव में [तस्मात् परतः] उससे आगे [न गच्छंति] नहीं जाते हैं ।

टीका—यहां सिद्धक्षेत्र के ऊपर जीव और पुद्गलों के गमन का निषेध किया है ।

जीवों की स्वभाव क्रिया सिद्धि के लिये गमन है और विभाव क्रिया छह अपक्रम से युक्त गमन है अर्थात् अन्य भव में जाते समय छह दिशाओं में जो गमन होता है उसे अपक्रम कहते हैं । पुद्गलों की स्वभाव क्रिया परमाणु की गति है और विभाव क्रिया द्व्यणुक आदि स्कन्धों की गतिरूप है । इसलिये इनकी त्रिलोक शिखर के

नास्ति, परतो गतिहेतोर्धर्मास्ति कायाभावात्; यथा जलाभावे मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति । अत एव यावद्धर्मास्तिकायस्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगतिक्रिया-परिणतानां जीवपुद्गलानां गतिरिति ।

(अनुष्टुभ्)

त्रिलोकशिखरादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।

नैवास्ति गमनं नित्यं गतिहेतोरभावतः ॥३०४॥

णियमं नियमस्य फलं, निर्विद्वं प्रवचनस्य भक्त्या ।

पूर्वावरविरोधो यदि अवर्णीय पूरयंतु समयज्ञा ॥१८५॥

नियमो नियमस्य फलं निर्विद्वं प्रवचनस्य भक्त्या ।

पूर्वावरविरोधो गणपनीय पूरयंतु समयज्ञाः ॥१८५॥

इस विषय से जो नियम है और उस नियम का फल ।

प्रवचन की भक्ति से ही, मैंने कहा सकल ॥

यदि इसमें कुछ भी पूर्वावर से विरोध हो ।

गोचरन करें उसका जो, जनी विशेष हों ॥१८५॥

ऊपर गतिक्रिया नहीं है, क्योंकि उसके आगे गति के हेतुभूत ऐसे धर्मास्तिकाय का अभाव है, जैसे जल के अभाव में मछलियों की गति क्रिया नहीं होती है । इसलिये जहां तक धर्मास्तिकाय रहता है उतने क्षेत्र पर्यंत ही स्वभाव और विभावरूप गति क्रिया में परिणत हुये जीव और पुद्गलों का गमन होता है ।

[टीकाकार मुनिराज इसी बात को कलश काव्य से कहते हैं—]

(३०४) श्लोकार्थ—त्रिलोक शिखर से ऊपर में जीव और पुद्गल इन दोनों का गमन नहीं होता है । क्योंकि वहां नित्य ही गति हेतुक (धर्मास्तिकाय) का अभाव है ।

गाथा १८५

अन्वयार्थ—[नियमः नियमस्य फलं] नियम और नियम का फल [प्रवचनस्य भक्त्या] प्रवचन की भक्ति से [निर्विद्वं] कहा गया है । [यदि पूर्वावरविरोधः] यदि

शास्त्रादौ गृहीतस्य नियमशब्दस्य तत्फलस्य चोपसंहारोऽयम् । नियमस्ताव-
च्छुद्धरत्नत्रयव्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः । तत्फलं परमनिर्वाणमिति प्रतिपादितम् ।
न कवित्वदर्पात् प्रवचनभक्त्या प्रतिपादितमेतत् सर्वमिति यावत् । यद्यपि पूर्वापरदोषो
विद्यते चेत्तद्दोषात्मकं लुप्त्वा परमकवीश्वरास्समयविदश्चोत्तमं पदं कुर्वन्तिवति ।

(मार्गः)

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां
हृदयगरसिजाते निर्वृतेः कारणत्वात् ।
प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः
स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ॥३०५॥

इसमें पूर्वापर विरोध हो तो [समयज्ञाः] आगम के ज्ञाना [अपनीय] उसे दूर करके
[पूरयंतु] पूर्ण करें ।

शास्त्र के आरम्भ में कथित नियम शब्द का और उसके फल का यह
उपसंहार है ।

नियम तो शुद्धरत्नत्रय के व्याख्यान स्वरूप में प्रतिपादित किया गया है और
उसका फल परम निर्वाण है ऐसा प्रतिपादित किया है कवित्व के गर्व से मैंने यह कथन
नहीं किया है । किंतु प्रवचन की भक्ति से यह सब प्रतिपादित किया गया है । यदि
इसमें पूर्वापर दोष होवे तो आगम वेत्ता परमकवीश्वर उन दोषात्मक पदों का लोप
करके दूर करके उत्तम पद को कर लेवें, ऐसा अभिप्राय है ।

[अब टीकाकार मुनिराज नियम और उसके फल के महत्त्व को कहते हुए
एक कलण काव्य कहते हैं—]

(३०५) श्लोकार्थ—यह नियमसार और उसका फल उत्तम पुरुषों के हृदय
कमल में जयशील हो रहा है, क्योंकि वह निर्वाण का कारण है । प्रवचन की भक्ति
से सूत्रकार श्री कुंदकुंददेव ने जो कहा है वह निश्चितरूप से अखिल भव्य समूह के
लिये निर्वाण का मार्ग है ।

ईसाभावेण पुणो, केई णिदंति सुन्दरं मग्गं ।
तेसिं वयणं सोच्चाऽभत्ति मा कुराह जिणमग्गे ॥१८६॥

ईर्षाभावेन पुनः केचिन्निन्दन्ति सुन्दरं मार्गम् ।
तेषां वचनं श्रुत्वा अभक्तिं मा कुरुष्व जिनमार्गे ॥१८६॥

कुछ लोग ईर्ष्या से सुन्दर गुप्तार्ग की ।
निंदा किया करते हैं मिथ्यात्व के वश ही ॥
उनके वचन को सुनकर जिनमार्ग के प्रति ।
तुम मुक्ति को न छोड़ो गित प्रति करो रति ॥१८६॥

इह हि भव्यस्य शिक्षणमुक्तम् । केचन मंदबुद्धयः त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दैक-
लक्षणनिर्विकल्पकनिजकारणपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपशुद्धरत्नत्रय -
प्रतिपक्षमिथ्यात्वकर्मोदयसामर्थ्येन मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरायणाः ईर्ष्याभावेन समत्सर-
परिणामेन सुन्दरं मार्गं सर्वज्ञवीतरागस्थ मार्गं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं भेदोपचाररत्नत्रया-

गाथा १८६

अन्वयार्थ—[पुनः ईर्षाभावेन] पुनः ईर्षाभाव से [केचित्] कोई लोग
[सुन्दरं मार्गं निदन्ति] सुन्दर मार्ग की निंदा करते हैं, [तेषां वचनं] उनके वचन
[श्रुत्वा] सुनकर [जिनमार्गे] जिनंद्र देव के मार्ग में [अभक्तिं मा कुरुष्व] तुम लोग
अभक्ति मत करो ।

टीका—यहां पर भव्यजीव के निये जिज्ञा सी है ।

कोई मंद बुद्धि वाले त्रिकाल निवारण नित्यानंदरूप एक लक्षण वाले निर्वि-
कल्प ऐसे निजकारण परमात्म तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान उसीका ज्ञान और उसीमें
अनुष्ठान रूप जो शुद्ध रत्नत्रय है उसके प्रतिपक्षी ऐसे मिथ्यात्व कर्म के उदय की
सामर्थ्य से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र में परायण हुये जीव ईर्ष्याभाव
से मत्सरसहित परिणाम से सुन्दर मार्ग को जो कि पाप क्रिया से निवृत्ति त्यागरूप है,
भेदोपचार रत्नत्रयात्मक है और अभेदोपचार रत्नत्रयात्मक है ऐसे वीतराग सर्वज्ञ देव

सकमभेदोपचाररत्नत्रयात्मकं केचिन्निन्दन्ति, तेषां स्वरूपविकलानां कुहेतुदृष्टान्तसमन्वितं कुतर्कवचनं श्रुत्वा ह्यभक्तिं जिनेश्वरप्रणीतशुद्धरत्नत्रयमार्गं हे भव्य मा कुरुष्व, पुनर्भक्तिः कर्तव्येति ।

(शार्दूलविकीर्णित)

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलीशबापदे
विशधाशातिकरालकालदहने शुष्यन्मनौषावने*
नानादुर्णयमार्गदुर्गमतमे दृढमोहिनां देहिनां
जैन दर्शनमेकमेव शरणं जन्मादवीसंकटे ॥३०६॥

तथा हि—

के मार्ग की कोई लोग निंदा करते हैं । उन स्वरूप से शून्य हुये जनों के कुहेतु और कुदृष्टान्त से सहित कुतर्क वचन को सुनकर जिनेश्वर देव के द्वारा प्रणीत शुद्ध रत्नत्रय मार्ग में हे भव्य ! तुम अभक्ति मत करो, किंतु तुम्हें उस मार्ग में भक्ति ही करना चाहिए ।

[अब टीकाकार मुनिराज जिनेन्द्र देव की भक्ति की प्रेरणा देते हुए दो कलश काव्य कहते हैं—]

(३०६) श्लोकार्थ—देह समूहरूपी वृक्ष पंक्ति से जो भयप्रद है, दुःख परंपरा रूपी जंगली पशुओं से जो व्याप्त है, अति कराल कालरूपी अग्नि जहां पर सबका भक्षण कर रही है, जिसमें बुद्धिरूपी जल सूख रहा है और जो दर्शन मोह से सहित जीवों के लिए नाना दुर्णयरूपी मार्गों से अत्यन्त दुर्गम है ऐसे इस संसाररूपी विकट वन में जैन दर्शन ही एक शरण है ।

भावार्थ—मिथ्यात्व से ग्रसित हुए प्राणियों के लिए इस संसार में एक जैन धर्म ही परम शरण है, अन्य कुछ नहीं है ।

* यहां कुछ अशुद्धि हो ऐसा लगता है ।

(शार्दूललिपीलिखित)

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
स्तं शंखध्वनिकंपिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम् ।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जिनेन्द्र्युत्सुका ॥३०७॥

णियभावणानिमित्तं, मए कदं नियमसारणामसुदं ।
णच्चा जिणोपदेशं, पुव्वावरदोसणिम्मवकं ॥१८७॥

निजभावणानिमित्तं मया कृतं नियमसारणामश्रुतम् ।
ज्ञात्वा जिणोपदेशं पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम् ॥१८७॥

जिनमें विशेष पूर्वपर से कभी नहीं ।

ऐसा जिणोपदेश मैंने जानकर के ही ॥

निज आरम्भ भावना को भागे के लिये ही ।

इस नियमसार नामक श्रुत को रचा सही ॥१८७॥

(३०७) श्लोकार्थ—जिनप्रभु का यह ज्ञानरूपी शरीर लोकालोक का स्थान है, जिन्होंने शंख की ध्वनि से अखिल-भूमण्डल को कम्पित कर दिया था ऐसे उन श्री नेमिनाथ तीर्थेश्वर का स्तवन करने के लिये तीन लोक में भी कोई मनुष्य अथवा देव समर्थ है ? फिर भी उनके स्तवन में कारण केवल एक जिनेन्द्र देव के प्रति अनि उत्सुक भक्ति ही है ऐसा मैं समझता हूँ ।

भावार्थ—श्री नेमि जिनेन्द्र देव की स्तुति करने के लिए यद्यपि मैं समर्थ नहीं हूँ फिर भी उनके प्रति उत्कट भक्ति ही मुझे स्तुति करने में वाचालित कर रही है ।

गाथा १८७

अन्वयार्थ—[पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं] पूर्वापरदोष से रहित ऐसे [जिणोपदेश-
ज्ञात्वा] जिनेन्द्र देव के उपदेश को जानकर [मया] मैंने [निज भावना निमित्तं]
अपनी भावना के निमित्त [नियमसार नामश्रुतं] नियमसार नामक शास्त्र को
[कृतं] कहा है ।

शास्त्रनामधेयकथनद्वारेण शास्त्रोपसंहारोपन्यासोऽयम् । अत्राचार्याः प्रारब्ध-
स्यान्तगमनत्वात् नितरां कृतार्थतां परिप्राप्य निजभावान्निमित्तमशुभवंचनार्थं नियम-
साराभिधानं श्रुतं परमाध्यात्मशास्त्रशतकुशलेन मया कृतम् । किं कृत्वा, पूर्वं ज्ञात्वा
अवंचकपरमगुरुप्रसादेन बुद्ध्वेति । कम् ? जिनोपदेशं वीतरागसर्वज्ञमुखारविन्दविनिर्गत-
परमोपदेशम् । तं पुनः किं विशिष्टम् ? पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं पूर्वापरदोषहेतुभूतसकल-
मोहरागद्वेषाभावावाप्तमुखविनिर्गतत्वान्निर्दोषमिति ।

टीका—शास्त्र के नामकरण के कथन द्वारा यह इस शास्त्र के उपसंहार का
कथन है ।

यहां पर आचार्यवर्य श्री कुंदकुंद भगवान् प्रारम्भ किये हुए ग्रन्थ के अंत को
प्राप्त करने से अतिशय रूप कृतार्थता को प्राप्त होकर कहते हैं कि निज भावना के
निमित्त से अशुभ की वंचना के लिये सैकड़ों परम अध्यात्म शास्त्रों में कुशल ऐसे मैंने
इस "नियमसार" नामक शास्त्र को रचा है ।

प्रश्न—क्या करके यह शास्त्र रचा है ?

उत्तर—पहले जानकर अवंचक परमगुरु के प्रसाद से समझकर इसको
रचा है ।

प्रश्न—किसको जानकर ?

उत्तर—जिनोपदेश को—वीतराग सर्वज्ञदेव के मुखारविन्द से निकले हुए ऐसे
परम उपदेश को जानकर ।

प्रश्न—पुनः वह उपदेश कैसा है ?

उत्तर—पूर्वापर दोष में हेतु भूत ऐसे सकल मोह, राग, द्वेष का अभाव हो
जाने से जो आप्त सच्चे देव हैं, उनके मुख कमल से निर्गत होने से जो निर्दोष हैं
इसलिये यह पूर्वापर दोष रहित है ।

[अब इस शास्त्र का उपसंहार करते हुए टीककार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव
कहते हैं कि—]

किञ्च अस्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियमशब्दसंसूचित-
विशुद्धमोक्षमार्गस्य अंचितपंचास्तिकायपरिसनाथस्य संचितपंचाचारप्रपंचस्य षड्द्रव्य-
विचित्रस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भोक्तस्य पंचभावप्रपंचप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रति-
क्रमसाप्रत्याख्यानप्रायश्चित्तपरमालोचनानियमव्युत्सर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकाण्डाडम्बर-
समृद्धस्य उपयोगत्रयविशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्रस्य द्विविधं किल तात्पर्यं, सूत्रतात्पर्यं
शास्त्रतात्पर्यं चेति । सूत्रतात्पर्यं पद्योपन्यासेन प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितम्, शास्त्रतात्पर्यं
त्वदमुपदर्शनेन । भागवतं शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवीतरागात्मकनिर्व्याबाध-
निरन्तरानंगपरमानन्दप्रदं निरतिशय नित्यशुद्धनिरंजननिजकारणपरमात्मभावनाकारणं
समस्तनयनिचयांचितं पंचमगतिहेतुभूतं पंचेन्द्रियप्रसरवर्जिनगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदं

जो नियमसार शास्त्र निश्चिन रूप से संपूर्ण आगम के अर्थ समूह का प्रति-
पादन करने में समर्थ है, 'नियम' शब्द से विशुद्ध मोक्षमार्ग को जिसने सम्यक् प्रकार से
सूचित किया है, जो श्रेष्ठ पंचास्तिकाय के वर्णन में सहित है, जिसमें पंचाचार का
विस्तृत वर्णन संग्रहीत है । जो छह द्रव्यों के वर्णन में विचित्र है, जिसमें सात तत्त्व
और नव पदार्थ गभित हैं, जो पांच प्रकार के भावों का विस्तार से प्रतिपादित करने में
परायण है, जो निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय प्रायश्चित्त, परम
आलोचना, नियम व्युत्सर्ग आदि समस्त परमार्थ क्रिया काण्ड के आडम्बर से समृद्धशाली
है और जो तीन उपयोगों में महान् है ऐसे इस परमेश्वर शास्त्र का वास्तव में दो
प्रकार का तात्पर्य है—एक सूत्र तात्पर्य दूसरा शास्त्र तात्पर्य ।

सूत्र का तात्पर्य तो पद्य-गाथा के कथन से प्रत्येक सूत्र में ही प्रतिपादित
किया गया है और शास्त्र का तात्पर्य निम्न टीका के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है ।
यह नियमसार शास्त्र भागवत् शास्त्र है, जो कि निर्वाण सुन्दरी से उत्पन्न होने वाले
परम वीतरागी स्वरूप, अव्याबाध, निरन्तर और अनंग-अतीन्द्रिय परमानन्द को देने
वाला है, जो निरतिशय, नित्य शुद्ध, निरंजन, निजकारण परमात्मा की भावना का
कारण है, जो समस्त नयों के समुदाय से सुशोभित है, जो पंचमगति का कारणभूत है,
और जो पंचेन्द्रियों के विस्तार से रहित गात्र-मात्र परिग्रहधारी-दिगम्बर महामुनि के

ये खलु निश्चयव्यवहारनययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्तः समस्ताध्यात्मशास्त्र-
हृदयवेदिनः परमानन्दवीतरागसुखाभिलाषिणः परित्यक्तबाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रह-
प्रपंचाः त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरतनिजकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणात्मक-
भेदोपचारकल्पनानिरपेक्षस्वस्थरत्नत्रयपरायणाः सन्तः शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतसुखस्य
भोक्तारो भवन्तीति ।

(मालिनी)

सुकविजनपयोजानन्दिमित्रेण श्रुतं

ललितपदनिकार्थनिमित्तं शास्त्रमेतत् ।

निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकांक्षी

स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥३०८॥

द्वारा रचित है, ऐसे इस शास्त्र को जो निश्चिन्त रूप से निश्चय और व्यवहार नय के अविरोध से जानते हैं, वे समस्त अध्यात्म शास्त्र के रहस्य को जानने वाले, परमानन्द वीतराग सुख के अभिलाषी, बाह्य-अभ्यन्तर ऐसे चौबीस प्रकार के परिग्रह रूप प्रपंच के परित्यागी, त्रिकालिक उपाधि रहित स्वरूप में लीन हुए निजकारण परमात्मा के स्वरूप के श्रद्धान ज्ञान और अनुष्ठान स्वरूप ऐसे भेदोपचार कल्पना से निरपेक्ष, स्वस्थ, रत्नत्रय में तत्पर होते हुए महापुरुष निश्चित रूप से शब्दब्रह्म के फलस्वरूप शाश्वत सुख के भोक्ता हो जाते हैं ।

[अब टीकाकार मुनिराज इस भागवत् स्वरूप नियमसार ग्रंथ की तात्पर्य-वृत्ति टीका को पूर्ण करते हुए चार कलश काव्यों के द्वारा ग्रंथ के माहात्म्य को तथा शुभ कामना को व्यक्त कर रहे हैं ।]

(३०८) श्लोकार्थ—सुकविजनरूपी कमलों को आनन्दित करने में सूर्य स्वरूप ऐसे पद्मप्रभ मलधारि देव ने ललित पदसमूहों से इस प्रशस्त शास्त्र को बनाया है । जो विशुद्ध आत्मा के आकांक्षी जीव इसको अपने हृदय में धारण करते हैं वे परम लक्ष्मीरूपी कामिनी के प्रियकांत हो जाते हैं ।

(अनुष्टुभ्)

पद्मप्रभाभिधानोद्घसिन्धुनाथसमुद्भवा ।

उपन्यासोर्मिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ॥३०६॥

(अनुष्टुभ्)

अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्धं पदमस्ति चेत् ।

लुप्त्वा तत्कवयो भद्राः कुर्वन्तु पदमुत्तमम् ॥३१०॥

(वसन्ततिलका)

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे

तारागणैः परिवृतं सकलेन्दुबिम्बम् ।

तात्पर्यवृत्तिरपहस्तितहेयवृत्तिः

स्थेयात्सतां विपुलचेतसि तावदेव ॥३११॥

(३०६) श्लोकार्थ—पद्मप्रभ नाम के उत्कृष्ट समुद्र से उत्पन्न हुई यह रचना रूपी—तरंगमाला है, वह सत्पुरुषों के चित्त में स्थित रहे ।

(३१०) श्लोकार्थ—इस ग्रंथ में कोई पद व्याकरण शास्त्र से विरुद्ध होवे तो भद्रस्वभावी कविजन उसका लोप करके पदों को उत्तम कर लें ।

भावार्थ—यदि इस शास्त्र में व्याकरण शास्त्र से कोई पद, वाक्य गलत हो तो भद्र परिणामी कवि इसको सुधार कर पढ़ें, यह तात्पर्य है ।

(३११) श्लोकार्थ—जब तक तारागणों से घिरा हुआ पूर्णचन्द्र बिम्ब सुन्दर सदागतिपथ—आकाश मार्ग में शोभित होता रहे तभी तक जिसने हेयवृत्तियों को दूर कर दिया है, ऐसी यह तात्पर्यवृत्ति व्याख्या सत्पुरुषों के विशाल हृदय में स्थित रहे ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहध्रीपद्मप्रभमल-
धारिदेवविरचितायां नियमसारख्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ शुद्धोपयोगाधिकारो द्वादशः
श्रुतस्कन्धः ॥

समाप्ता चेयं तात्पर्यवृत्तिः ।



इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य के सदृश
पंचेन्द्रिय के प्रसार से रहित गात्र-मात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारि देव के
द्वारा विरचित नियमसार की तात्पर्य वृत्ति नामक टीका में शुद्धोपयोग-अधिकार
नामक धारहवाँ श्रुत स्कन्ध समाप्त हुआ ।



भाषानुवादकर्त्र्याः प्रशस्तिः

महावीरं जिनं नत्वा महावीरैकशासनम् ।
 भारतीं सर्वसाधून् च स्तौमि सिद्धिफलाप्तये ॥ १ ॥
 प्रसिद्धे मूलसंघेऽस्मिन् कुन्दकुन्दान्वयाभिधे ।
 ध्याते सरस्वतीगच्छे वलङ्कारे गणे शुभे ॥ २ ॥
 तस्मिन्नाचार्यमालास्ति जिनशूत्रेण गुम्फिता ।
 तस्यामेको मणिः संप्रत्याचार्यः शान्तिसागरः ॥ ३ ॥
 कलिकालैकनेताऽसौ मुनिमार्गस्य दर्शकः ।
 चारित्र्यं चक्रभूतहृद्यप्यकिञ्चनो दिगम्बरः ॥ ४ ॥
 चतुःसंघैकधीरेयः नत्पट्टे वीरसागरः ।
 मम दीक्षागुरुर्जीयान् महाव्रतप्रदायकः ॥ ५ ॥
 ज्ञानमत्याख्ययैषाहनायिका भूवि विश्रुता ।
 चतुरनुयोगवार्त्तावावगाहनतत्परा ॥ ६ ॥
 कष्टसहस्रीनाम्नाष्टसहस्रीग्रन्थमप्यमुम् ।
 अनूद्याध्यात्मग्रन्थश्चानूदिनो मातृभाषया ॥ ७ ॥
 वीराब्दे द्व्यधिके पञ्चविंशे चैत्रेऽसिते शुभे ।
 नवम्यां च तिथौ क्षयः कुरुजाङ्गलदेशके ॥ ८ ॥
 हस्तिनागपुरे तीर्थे शान्तिनाथजिनालये ।
 आश्विनियमसारस्यानुवादः पूर्णतामगात् ॥ ९ ॥
 यावत्कं जैनधर्मोऽयं वर्तते भूवि सौख्यदः ।
 तावत्कं सानुवादोऽयं ग्रन्थो जगति विद्यताम् ॥ १० ॥
 स्वात्मसौख्यामृतं महद्यं पठितृभ्योऽपि सत्वरम् ।
 दद्यात् बोधिं समाधिं च शान्तिमात्यंतिकीमपि ॥ ११ ॥

॥ इति शं भूयात् ॥



माषानुवाद कर्त्री की प्रशस्ति

श्री महावीर जिनेन्द्र को नमस्कार करके भगवान् महावीर का एकच्छत्र शासन ऐसे जैन धर्म की, जिनवाणी भारती की और सर्व साधुओं की सिद्धिफल की प्राप्ति के लिये मैं स्तुति करती हूँ ।

श्री मूलसंघ में कुंदकुंदाम्नाय प्रसिद्ध है, उसमें सरस्वती गच्छ और बलात्कारगण है । उसमें जिनसूत्र से गुंथी हुई ऐसी आचार्यों की परंपरारूप माला है । इस युग में उसी माला के एक मणिस्वरूप आचार्य श्री शांतिसागर महाराज हुये हैं । ये इस कलिकाल में मुनिमार्ग के दिखलाने वाले एक नेता थे । चारित्र्यचक्रवर्ती होते हुये भी अकिंचन दिगम्बर थे । उन्हीं के पट्ट पर चतुर्विध संघ के अधिनायक वीरसागर महाराज हुये हैं, ये मुझे महाव्रत की आर्यिका दीक्षा देने वाले मेरे दीक्षा गुरु सदा जयशील हों । सो मैं इस जगत में 'ज्ञानमती' नाम से आर्यिका हूँ । मैं सतत चारों अनुयोग रूपी समुद्र में अवगाहन करती रहती हूँ ।

जिसका 'कण्ट सहसी' दूसरा नाम है ऐसे 'अष्ट सहसी' नामक न्याय ग्रंथ का मैंने मातृ भाषा में अनुवाद करके पश्चात् इस अध्यात्मग्रन्थ नियमसार का हिंदी अनुवाद किया है । वीर संवत् पच्चीस सौ दो (२५०२) में, चैत्र कृष्ण नवमी जो कि ऋषभदेव का जन्म दिवस है इसलिये शुभ तिथि है उस पवित्र तिथि में, कुरुजांगल देश में स्थित हस्तिनापुर नामक तीर्थक्षेत्र पर श्री शांतिनाथ भगवान् के मन्दिर में इस 'नियमसार' शास्त्र का अनुवाद पूर्ण हुआ है ।

जब तक इस पृथ्वी तल पर सुख को देने वाला यह जैन धर्म रहेगा, तब तक इस जगत में अनुवाद सहित यह ग्रंथ विद्यमान रहे । यह ग्रंथ मुझे और पढ़ने वालों को भी स्वात्मसुखरूपी अमृत को देवे तथा शीघ्र ही बोधि-रत्नत्रय की प्राप्ति, समाधि और आत्यंतिक शांति को भी प्रदान करे ।

॥ इति शं भूयात् ॥



परिशिष्ट



जिन गाथाओं में दिगम्बर मुनियों के वाचक मुनि, साधु, श्रमण, संयत, आचार्य, उपाध्याय ये शब्द आये हैं । वे गाथायें:—

१. पंचाचारसमागा, पंचिदियदंतिदप्पणिहलणा ।
वीरा गुणगंभीरा, आयरिया एरिसा होति ॥७३॥
२. रयगत्तयभंजुत्ता, जिणकहियपयत्थदेसया सुरा ।
णिवकंखभावरहिया, उवज्झाया एरिसा होति ॥७४॥
३. वावाराविण्णमुक्का, चउच्चिद्वाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा, साहु एदेरिसा होति ॥७५॥
४. मोत्तुण सल्लभावं, णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि ।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥७६॥
५. चत्ता अगुत्तिभावं, तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहु ।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥७७॥
६. उत्तम अट्ठं आदा, तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं ।
तम्हा दु भाणमेव हि, उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ॥७८॥
७. भाणणिलीणां साहु, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु ज्ञाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥७९॥
८. एवं भेदव्भासं, जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं ।
पच्चक्खाणं सक्कदि, धरिदुं सो संजदो णियमा ॥८०॥
९. णोकम्मकम्म रहियं विहावगुणवज्जएहि वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो भायदि, समणस्सालोयणं होदि ॥८१॥

१०. उविकट्टो जो बोहो, पाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।
जो धरइ मुणो णिच्चं, पाणच्छिन्नं हवे तस्स ॥११६॥
११. किं बट्टणा भणिएण दु, वरतवचरणं महेसिएणं सव्वं ।
पायच्छिस्तं जाणह, अणैयकम्माण खयहेउ ॥११७॥
१२. किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्तउववासो ।
अज्झवणमोणपट्टदी, समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥
१३. सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्ति कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहि पणत्तं ॥१३४॥
१४. रायादी परिहारे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो, उदरस्स य कह हवे जोगो ॥१३७॥
१५. सव्ववियप्पाभावे, अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो, उदरस्स य किह हवे जोगो ॥१३८॥
१६. वट्टदि जो सो समणो, अणवसो होदि असुहभावेण ।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवास्सयलक्खणं ण हवे ॥१४३॥
१७. जो चरदि संजदो खलु, सुहभावे सो हवेइ अणवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥
१८. आवासएण हीणो, पव्वभट्टो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो, तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥
१९. आवासएण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।
आवासय परिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥
२०. जो धम्मसुक्क जाणमिह, परिणदो सोवि अंतरंगप्पा ।
जाणविहीणो समणो, बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

२१. पडिकमणपहुदि किरियं, कुब्बंतो णिच्छयस्स चारित्तं ।
वेण दु विराग चरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥१५२॥
२२. जिणकहियपरमसुत्ते, पडिकमणादियं परीक्खऊण फुडं ।
मोणव्वएण जोई, णियकज्जं साहये णिच्चं ॥१५५॥

जिन गाथाओं में व्यवहार निश्चयनयों का नाम आया है वे गाथायें निम्न-
लिखित हैं—

१. कत्ताभोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा ।
कम्मजभावेणादा, कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥१८॥
२. ववत्थिएण जीवा, वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया ।
पज्जयणएण जीवा, संजुत्ता होति द्रुविहेहि ॥१९॥
३. एदे सव्वे भावा, ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु ।
सव्वे सिद्धसहावा, सुद्धणया संसिदी जीवा ॥८२॥
४. ववहारणयचारित्तो, ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्तो, तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥
५. कालुस्समोहसण्णा रागदोसाइअमुह भावाणं ।
परिहारो मणगुत्ती, ववहारणएण परिकहियं ॥६६॥
६. एरिसयभावणाए, ववहारणयस्स होदि चारित्तं ।
णिच्छयणयस्स चरणं, एत्तो उड्ढं पक्खामि ॥७६॥
७. मोक्खंगयपुरिसाणं, गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि ।
जो कुणदि परमभत्तिं, ववहारणयेण परिकहियं ॥१३५॥
८. जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५९॥

९. णाणं परप्पयासं ववहारणएण दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो, ववहारणएण दंसणं तम्हा ॥१६४॥
१०. णाणं अप्पयासं, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।
अप्पा अप्पयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥१६५॥

कुछ विशेष गाथायें :

अन्य करणानुयोग ग्रन्थ से ज्ञानने की प्रेरणा—

चउदह भेदा भणिदा, तेरिच्छा सुरगणा चउवभेदा ।
एदेसि वित्थारं तोयविभागेसु णादव्वं ॥ १७ ॥

इस काल में ध्यानमय क्रियायें शक्य नहीं हैं—

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिक्खणादि करेज्ज ज्ञाणमयं ।
सत्तिविहीणो जा जइ, सइहणं चेव कायव्वं ॥१५४॥

सभी तीर्थंकरों ने योगभक्ति की है—

उसहादिजिणवरिदा एवं काऊण जोगवरभत्ति ।
णिव्वुदिमुहमावण्णा, तम्हा धरु जोगवरभत्ति ॥१४०॥

सभी महापुरुषों ने आवश्यक के बल से केवलज्ञान पाया है—

सव्वे पुराणपुरिसा, एवं आवासयं य काऊण ।
अपमत्तापहुदिठाणं, पडिक्खज्ज य केवली जादा ॥१५८॥

यह गाथा समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में भी आई है—

अरसमरुवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसदं ।
जाण अलिगग्गहणं, जीव मणिदिट्ठसंठाणं ॥४६॥

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित कलशकाव्य (विशेष काव्य)

पद्मप्रभस्तुति—

१. जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः,
सुकृतनिलयगोत्रः पंडिताम्भोजमित्रः ।
मृनिजनवनचैत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः,
सकलहितचारित्र्यः, श्रीसुसीमासुपुत्रः ॥१६॥

२. मदननगसुरेशः कांतकायप्रदेशः
पदविनतयमीणः प्रास्तकीनाशपाशः ।
दुरघवनहुताशः कीर्तिसंपूरिताशः
जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रभेशः ॥१७॥

३. पद्मप्रभाभिवानोद्घसिन्धुनाथसमुद्भवा ।
उपन्यासोमिमालेयं स्थेयाच्चेतसि सा सताम् ॥१८॥

नेमिनाथ स्तुति—

४. शतमश्वणतपूज्यः प्राज्यसद्वोधराज्यः
स्मरगिरिमुरनाथः प्रास्तदुष्टाघ्यूथः ।
पदनतवनमाली भव्यपद्मांशुमाली
दिक्षु शमनिशं वा नेमिरानंदभूमिः ॥१९॥

५. जगदिदमजगच्च जाननीरेसहान्त-
भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम् ।
तमपि किल यजेहं, नेमितीर्थकरेशं
जलनिधिमपि दोभ्यामुत्ताराम्यूर्ध्ववीचिम् ॥२०॥

६. लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
स्तं शंखध्वनिकंपिताखिलभुवं श्रीनेमितीर्थेश्वरम् ।
स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
जाने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिजिनंदत्युत्सुका ॥२०७॥

वीरजिन स्तुति—

७. जयति जगति वीरः शुद्धभावास्तमारः
त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधैकराज्यः
नतदिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रुवीजः
समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ॥८॥

८. इत्थं बुद्धवोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं
भक्तिप्रवहामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालाचितांघ्रिः ।
वीरास्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वांतविध्वंसदक्षं
एते संतो भवावधेरपरतटममी यांति सच्छीलपोताः ॥९॥

जिनेन्द्रदेव की स्तुति के अनेक श्लोक हैं उनमें से यहां एक देते हैं—

९. नानानूननराधिनाथविभवानाकर्ण्य चालोक्य च
त्वं क्लिष्टनासि मुधाव किं जडमते ! पुण्याजितास्ते ननु ।
तच्छक्तिर्जितनाथपादकभलङ्गं दार्चनयामियं
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि ॥१०॥

आचार्यों के नामस्मरण—

१०. सिद्धांतोद्घश्रीधवं सिद्धसेनं, नर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकिलंकम् ।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वंदे, तद्विद्याढ्यं वीरर्णवि व्रतीन्द्रम् ॥३॥

११. सकलकरणग्रामालम्बाद्विमुक्तमनाकुलम् ।
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणम् ।
शमदमयमावासं मैत्रीदयादममंदिरम्
निरुपममिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ॥१०४॥

१२. नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये, स्मरेभकुं भस्थलभेदनाय वै ।
विनेयपंकेज विकासभानवे, विराजते माघवसेनसूरये ॥१०८॥

१३. यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षोर्नास्त्यप्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः ।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय, श्रीवीरनंदिमुनिनामधराय नित्यम् ॥१२६॥

इस काल में सच्चे मुनि हैं—

१४. कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं
मिथ्यात्वादिकलंकप्रकरहितः सद्धर्म रक्षामणिः ।
सोऽयं संप्रति भूतले रिति पुनर्देवैश्च नंपूज्यते
मुक्तानेक परिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः ॥१२४॥

१५. भावाः पंच भवन्ति येषु सततं भावः परः पंचमः
स्थायी संमृतिनाशकारणमयं सम्यग्दर्शां गोचरः ।
तं मुक्त्वाखिलरामरोषनिकरं वृद्ध्या पुनर्वृद्धिमान्
एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥१२५॥

इस काल में ध्यान शक्य नहीं तो श्रद्धात करना चाहिये—

१६. असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
न मुक्तिमार्गेऽस्मिन्नप्यजिननाथस्य भवति ।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां
निजात्मशुद्धानं भवन्त्यहरं स्वीकृतमिदम् ॥१२६॥

अध्यात्म से संयमरत्नमाला निकाली है—

१७. अध्यात्मशास्त्रामृतवागिराजेर्मयोद्धृता संयमरत्नमाला ।
वभूव या तत्त्वविदां मुकुटे, सालंकृतिमुक्तिवधूधवानाम् ॥१२७॥

आलोचना कामधेनु है—

१८. आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या
निर्मुक्तमार्गफलदा यमिनामजस्रम् ।
शुद्धात्मतत्त्वनियताचरणानुरूपा
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ॥१२८॥

१९. शुद्धनिश्चयनयेन विमुक्तौ, संसृतावपि च नास्ति विशेषः ।
एवमेव खलु तत्त्वविचारे, शुद्धतत्त्वरसिकाः प्रवदन्ति ॥७३॥
२०. शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं यस्य चित्तालये बभौ ।
स योगी तस्य शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति स्वयम् ॥१२४॥
२१. निर्यापकाचार्यं निरुक्तिश्रुक्ता-मुक्तिं सदाकर्ण्यं च यस्य चित्तं ।
समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात् तस्मै नमः संयमधारिणेऽस्मै ॥१२५॥
२२. जयति सहजतेजः प्रास्तरागांधकारो
मनसि मुनिवराणां गोवराः शुद्धशुद्धः ।
विषयसुखरतानां दुर्लभः सर्वदायं
परमसुखसमुद्र शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ॥१७७॥
२३. अन्यवजः संसारी मुनिवेषधरोऽपि दुःखभाङ्गनित्यम् ।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किञ्चिन्न्यूना जिनेश्वरादेशः ॥२४३॥
२४. मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च
स्मृत्वा नित्यं समरसमयं चित्तचमत्कारमेकं ।
ज्ञानज्योतिः प्रकटित निजाभ्यन्तरागान्तरात्मा
क्षीणे मोहे किमपि परमं तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥२५६॥



❀ श्री नियमसार की वर्णानुक्रम सूची ❀

अ	गाथा पृष्ठ		उत्तमप्रदुं आदा	गाथा पृष्ठ	
अइधूलधूल धूलं	२१	६६	उम्ममं परिचत्ता	६२	२३६
अणुखंधवियप्पेण दु	२०	६४	उसहादिजिणवरिदा	५६	२१८
अण्णारिरावेक्खो जो	२८	७६	ए	१४०	३७६
अत्तागमतच्चान	५	१२	एको मे सासदो अप्पा	१०२	२७३
अत्तादि अत्तमउभ	२६	७४	एगो य मरदि जीवो	१०१	२७०
अप्पसरुव पेच्छदि	१६६	४४६	एदे छट्ठवाणि य	३४	६६
अप्पसरुवालंबण	११६	३३२	एदे सठवे भावा	४६	१४०
अप्पाणं विणु णाणं	१७१	४६०	एयरसरुवगंधं	२७	७६
अप्पा परप्पयापो	१६३	४४३	एरिसभेदवभासे	८२	२०६
अरसमरुवमगंधं	४६	१३३	एरिसय भावणाए	७६	१६६
अठ्वाबाहमणिदिय	१७८	४७७	एवं भेदवभासं	१०६	२८३
असरीरा अविणासा	४८	२३७	क		
अंतरवाहिरजप्पे	१५०	४२०	कत्ता भोत्ता आदा	१८	५४
आ			कदकारिदाणुमोदण	६३	१६६
			कम्ममहीरुहमूल	११०	३००
आउस्स खयेण पुणो	१७६	४७३	कम्मादो अप्पाणं	१११	३०३
आदा खु मउभ णाणो	१००	२६६	कायकिरियाणियत्तो	७०	१८३
आराहणाइ वट्टइ	८४	२१३	कायाईपरदब्बे	१२१	३३७
आलोयणमालु छण	१०८	२६४	कालुस्समोहसण्णा	६६	१७५
आवासं जइ इच्छसि	१४७	४०३	कि काहदि वण्णवामो	१२४	३४५
आवासएण जुत्तो	१४६	४०७	कि बहुणा भणिएण दु	११७	३२७
आवासएण हीणो	१४८	४०५	कुलजोणिजीवमग्गण	५६	१५२
ई			केवलणाणसहावो	६६	२५५
			केवलमिदियरहियं	११	३१
ईसाभावेण पुणो	१८६	४६३	कोहं खमया माणं	११५	३२०
ईहापुब्बं वयणं	१७४	४६७	कोहादिसगवभाव-	११४	३१६
उ					
उक्किट्टो जो बोहो	११६	३२५			

	गाथा	पृष्ठ		गाथा	पृष्ठ
ग					
गमणसिमित्तं धम्म-	३०	८४	जुगवं वट्टइ एणं	१६०	४३४
गामे वा रायरे वा	५८	१५६	जो चरदि संजवो खलु	१४४	३६३
घ			जो एा हवदि अणवसो	१४१	३८४
गणघादकम्मरहिया	७१	१८४	जो दु भट्टं च र्हं च	१२६	३५७
च			जो दुगंछा भयं वेदं	१३२	३६२
चउगइभवसंभमणं	४२	१२०	जो दु धम्मं च सुक्कं च	१३३	३६४
चउदहभेदा भणिदा	१७	४६	जो दु पुणं च पावं च	१३०	३५६
चक्खु अचक्खु ओही	१४	४२	जो दु हस्सं रई सोणं	१३१	३६२
चत्ता ह्यपुत्तिभावं	८८	२२३	जो धम्मसुक्कभाण-	१५१	४१२
चल मलिणमगाढत्त-	५२	१४५	जो पस्सदि अण्णाणं	१०६	२६६
छ			जो समो सब्बभूदेसु	१२६	३४६
छायातवमादीया	२३	६६	भा		
छुहत्तण्णभीरुसो	१	१०	भाणणिजीणो साहू	६३	३४५
ज			ठ		
जं किच्च मे दुक्खरित्तं	१०३	२७५	ठाणसिसेज्जविहारा	१७५	४७०
जदि सक्कदि कादुंजे	१५४	४१८	ण		
जस्स रागो दु दोसो दु	१२८	३५६	राट्टट्टकम्मबंधा	७२	१८८
जस्स सण्हिदो अण्णा	१२७	३५४	राभिरुण जिणं कीरं	१	४
जाइजरमरएारहियं	१७७	४७५	राएरायतिरियसुरा	१५	४६
जाणंतो पस्सतो	१७२	४६५	ण वसो अणवसो अणस-	१४२	३८७
जाणदि पस्सदि सब्बं	१५६	४३०	रावि इंदिय उवसग्गा	१८०	४८२
जा रायादिणियत्ती	६६	१८०	णवि कम्मं एाकम्मं	१८१	४८४
जारिसिया सिद्धप्पा	४७	१३६	रावि दुक्खं रावि सुक्खं	१७६	४८०
जिणकहियपरमसुत्ते	१५५	४२०	णंताणंतभवेण स-	११८	३३०
जीवाण पुग्गलाण	१८४	४६०	णाणं अप्पपयासं	१६५	४४७
जोवादिक्कहित्तच्चं	३८	१०५	राएा जोवसरुवं	१७०	४५७
जोवादीदव्वाएा	३३	६४	णाणं परप्पयासं	१६१	४३८
जोवादु पुग्गलादो	३२	६१	राएां परप्पयासं	१६२	४४०
जीवा पोग्गलकाया	६	२५	राएां परप्पयासं	१६४	४४४
जोवो उवश्रोगमओ	१०	२६	राएाजीवा णाणा-	१५६	४२२
			णाहं कोहो माणो	८१	२००
			णाहं णारयभावो	७७	२००

र	गाथा	पृष्ठ	स	गाथा	पृष्ठ
रघुनात्मसंजुता	७४	१६२	विरदो सव्वसावज्जे	१२५	३४८
रागेण व दोसेण व	५७	१५४	विवरोयाभिणिवेसवि-	५१	१४५
रायात्तीवहिहारे	१२७	३७४	विवरोयाभिणिवेसं	१३९	३७७
ल			स		
लद्धाणं णिहि एक्को	१५७	४२४	सण्णागा चउभेयं	१२	३१
लोयायासे ताव	३६	६६	सपमावज्जिभेदेण दु	३१	८७
लोयालोयं जागड	१६६	४५४	सम्मत्तणाणचरणे	१३४	३६७
व			सम्मत्तम्म णिमित्तं	५३	१४५
वट्टदि जो सो समणो	१४३	३८८	सम्मत्तं सण्णाणं	५४	१४६
वण्णरसगंधकासा	४५	१३३	सम्मं मे सव्वभूदेसु	१०४	२७८
वदसमिदिसोलसजम-	११३	३१६	सव्वविश्रम्भाभावे	१३८	३७५
वयणमयं पड्डिकमणं	१५३	४१६	सव्वे पुग्गाणपुरिसा	१५८	४२६
वयणोक्चारणकिरियं	१२२	३४१	सव्वेसि गंधाणं	६०	१५८
ववहारणयचरित्तो	५५	१४६	संवेज्जासंवेज्जा-	३५	६६
वावारविप्पमुक्का	७५	१६४	संजमणियमतवेण दु	१२३	३४३
विज्जदि केवलणाणं	१८२	४८६	सुहं सुहवयणरयणं	१२०	३३४
			सुहं मा ह्वंति खंधा	२४	६६



— कलशकाव्यों की वर्णानुक्रम सूची —

— ५ —

अ	श्लोक	पृष्ठ		श्लोक	पृष्ठ
अक्षयमान्त-	१६३	३०५	अन्यवशः संसारी	२४३	३६२
अखंडितमनारतं	१४६	२८७	अवगन्तपरमात्म-	११२	२१५
अचेतने पुद्गल-	४५	८३	अपरिस्पंदरूपस्थ	६५	१८४
अत एव भाति नित्यं	२४४	३६२	अपवर्गाय भव्यानां	४	३
अतितीव्रमोहसंभव-	१११	२१२	अपि च बहुविभावे	२७	४८
अत्यपूर्वनिजात्मोत्थ-	२३६	३८२	अपि च सकलराग-	३०	५५
अथ जिनपति मागि-	१७१	३११	अगुनर्भवसुख-	२३३	३८१
अथ जिनमतमुक्ते-	३०३	४८६	अप्यात्मनि स्थितिं कुदृष्ट्वा	४०	७६
अथ तनुमनोवाचां	११८	२२६	अभिनवमिदमुच्चै-	२४०	३६०
अथ नययुगयुक्ति	३६	६२	अभिनवमिदं पाप	१७५	३१२
अथ निजपरमानंदे-	११३	२१७	अयं जीवो जीव-	२१७	३६१
अथ नियतमनोवा-	१३४	२६५	अविचलितमखंड-	२६६	४७६
अथ भवजलराशौ	१२१	२३६	असति च सति वश्यं	७०	१३५
अथ मम परमात्मा	१३८	२७४	असति सति विभावे	३४	५७
अथ विविधविकल्पं	१६८	३०७	असारे नसारे	२६४	४१६
अथ सकलजिनोक्त-	१७	३०	अस्माकं मानसान्युच्चैः	६	३
अथ सति परभावे	२४	४४	अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य	३१०	४६६
अथ सति परमाणो-	४१	७८	अस्मिन् लोके	२६८	४२६
अथ सुललितवाचां	१६६	३०८	अहमात्मा सुखाकांक्षी	२०७	३५२
अद्वन्द्वनिष्ठमनघं	२३७	३८२			
अध्यात्मशास्त्रा-	१८७	३२६	अं		
अनवरतमखण्ड-	६०	१२४	अंक्षितपंचमगतये	५८	११८
अनवरतमखण्डा-	१६२	३३६	आ		
अनशनादि-	१८४	३२८	आकर्षेति रत्नानां	७८	१५७
अनशनादि-	२०२	३४७	आत्मज्ञानाद्भवति	१८६	३२६
अनशनादि-	२५१	४०१	आत्मछयानाद-	१२३	२४५
अनादिममसंसार-	१६७	३०७	आत्मन्युच्चैर्भवति	२३८	३८६
अनिशमसुखबोधा-	६४	१२६	आत्मा जानाति विश्वं	२७२	४३३

	श्लोक	पृष्ठ		श्लोक	पृष्ठ
ग			जानाति लोकमखिलं	२८५	४५६
गलनादधुरित्युक्तः	३७	६५	जितरतिपतिचापः	६८	१८६
गुणधरगणधरश्चितं	५	३	जितप्रभुमुखारविन्द-	१५०	२८८
गुप्तिर्भविष्यति सदा	६१	१७६	जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः	२७६	४३७
घ			जानज्योतिःप्रहत-	६८	१३२
घोरसंसृति-	१८४	२८॥	जानं तावन् सहज-	२७७	४४०
च			जानं तावद्भवति	२८६	४६८
चित्तत्वभावनासक्त-	१३६	२७८	त		
ज			तत्त्वेषु जैनमुनिनाथ-	२३०	३७८
जगदिदमजगच्च	१४	२२	तपस्या लोकेस्मिन्नि-	२८२	३६१
जयति जगति वीरः	८	६	त्यक्त्वा वाचं	६२	१७८
जयति नियमसार-	३०५	४६२	त्यक्त्वा विभावमखिलं	१५६	३००
जयति परमतत्त्वं-	६३	१२८	त्यक्त्वा विभावमखिलं	१२२	२३८
जयति विदितगात्रः	६६	१८५	त्यक्त्वा सर्वं सुकृत-	२१५	३६०
जयति विदितमोक्षः	६६	१८७	त्यक्त्वा संगं जनन-	२६६	४२६
जयति शांत-	१७८	३१४	त्यजतु भवभीरु-	८०	१६०
जयति सततं	१४९	२८३	त्यजतु मुरलोकादि-	२४५	३६६
जयति स परमात्मा	१२८	२५७	त्यजाम्येतत्सर्वं	२१८	३६३
जयति समता नित्यं	१४१	२८०	असहतिपरिणाम-	७६	१५४
जयति समयसारः	५४	१०७	असहतिपरिमुक्तं	२०४	३५१
जयति समितिरेषा	८२	१६२	त्रिलोकनिखराधुध्वं	३०४	४६१
जयति सहजतत्त्वं	१४८	२८७	त्रैलोक्याग्रनिकेतनान्	२२५	३७१
जयति सहजतेजः-	१६६	३३८	त्वयि सति परमात्म-	१	१
जयति सहजतेजः-	१७०	३०८	द		
जयति सहजतेजो-	२५२	४०२	दुरघवनकुठारः	६२	१२८
जयति सहजबोध-	७५	१५१	दृग्जपितवृत्त्यात्मक-	२३	४१
जयति सहजं तत्त्वं	१७६	३१३	देवेन्द्रासनदांपकारण-	२६२	४७२
जयत्यनघचिन्मयं	१५६	२६६	देहभ्यूहमहोजराजि-	३०६	४६४
जयत्यनघमात्म-	२११	३५३	ध		
जयत्ययमुदारधीः	२४७	४००	ध्यानावलोमणि	११६	२३२
जानन् सर्वं भुवन	२८८	४६६			

श्लोक पृष्ठ

श्लोक पृष्ठ

न

नमामि नित्यं	१८८	३३०
नमोऽस्तु ते	१०८	१०८
न ह्यस्माकं	७४	१४५
न ह्येतस्मिन्	२६१	४७०
नानानूननराधिनाथ-	२६	५३
नाभियादिजनेश्वरान्	२३१	३८०
निजात्मगुणसंपदं	१६८	३३६
नित्यशुद्धचिदानन्द-	५६	११२
नियतमिह जनानां	८३	१६२
निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं	१३१	२६०
निर्मुक्तसंगनिकरं	१५८	२६६
निर्याणकाचार्य-	१२५	२५०
निर्वाणस्ये प्रहृतदुरित-	३०१	४८६
निर्विकल्पे समाधौ	२०१	३४४
निवृत्तेन्द्रियलोलुपानां	२३५	३८२
निश्चयरूपां समिति	८४	१६३
निःशेषदोषदूरं	२२३	३७०
नीत्वास्तान्	१०२	१६०

प

पदार्थरत्नाभरणं	५२	१०१
प्रथमप्रभाभिधानो	३०६	४६६
परपरिणतिदूरे	४२	८०
परब्रह्मपपनुष्ठान-	८५	१६५
परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा	१६	३५
पश्यत्यात्मा सहज-	२८२	४५०
पञ्चसंसारनिर्मुक्तान्	२६५	४७५
पञ्चास्तिकायषड्द्रव्य-	७	४
पुद्गलोऽचेतनो जीव-	४४	८२
प्रतीतिगोचराः सर्वे	४६	६४
प्रत्याख्यानं भवति	१४५	२८५
प्रत्याख्यानाद्भवति	१४७	२८६

प्रध्वस्तपञ्चबाणस्य

२४८ ४००

प्रनष्टदुरितोत्करं

१५१ २८८

प्रपद्ये हं सदाशुद्ध-

१६६ ३०७

प्रागेव शुद्धता येषां

७१ १३७

प्रायश्चित्तमुक्त-

१८१ ३२०

प्रायश्चित्तं न पुन-

१८६ ३३२

प्रायश्चित्तं भवति

१८० ३१८

प्रायश्चित्तं ह्य तमाना-

१८५ ३२८

प्रोन्यप्रोतिविमुक्त-

५५ १०६

प्रेक्षावद्भिः सहज-

१३३ २६३

व

बन्धच्छेदादनून-

२६४ ४७४

बन्धच्छेदाद्भवति

३०३ ४८७

बहिरात्मान्तरात्मेति

२६१ ४१४

भ

भवति तनुविभूतिः

७६ १५८

भवभयभेदिनि भगवति

१२ १३

भवभवसुखदुःख

२६८ ४८१

भवभवसुखमल्पं

१६७ ३३६

भवभोगपराङ्मुख

६५ १२६

भवितां भवसुखविमुक्तं

१०६ १६६

भविनि भवगुणाः स्युः

३५ ५७

भवसंभवविषभूरुह-

१६६ ३४०

भव्यः समस्त-

१०६ २०६

भावकर्मनिरोधेन

३१ ५६

भावाः पञ्च भवन्ति

२६७ ४७६

भाविकालभव-

१४३ २८४

भीति विहाय पशुभि-

२६६ ४२२

भुक्त्वा भक्तं

८६ १६६

भेदवादाः कदाचिरस्यु-

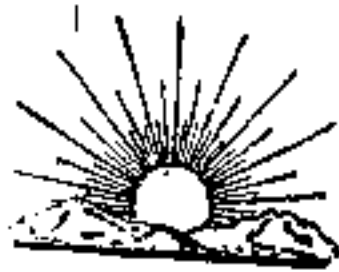
१६४ ३३६

भेदाभावे सतीयं

२२६ ३७६

म			श्लोक पृष्ठ	ल			श्लोक पृष्ठ
मस्त्वान्तं भयि	१३०	२६०		रागद्वेषपरंपरापरिणतं	२३४	३८१	
मदननगसुरेशः	१००	१८७		रागद्वेषो विकृतिमिह	२१३	३५७	
मम सहजसुदृष्टौ	१३५	२६६					
महानंदानंदो	१४६	२८६		ललितललितं	१५	२५	
मृक्तः कदापि	१६५	३०६		लोकालोकनिकेतनं	३०७	४६५	
मुत्तयङ्गनालि-	१४०	२८०					
मुक्त्वा कायविकारं	६३	१८०		व			
मुक्त्वा जल्पं	२५६	४१२		वक्तिव्यक्तं	७७	११५	
मुक्त्वानाचारमुच्चै-	११४	२१७		वचनरचनां त्यक्त्वा	१६१	३३५	
मुक्त्वा भव्यो वचनरचनां	२६३	४१७		वर्तनाहेतुरेषः स्यात्	४८	६३	
मुक्त्वा मोहकनक-	२७१	४२८		वर्ततेज्ञानदृष्टौ	२७३	४३६	
मोक्षे मोक्षे जयति	२१	३६		वाचं वाचंयमीन्द्राणां	२	२	
मोक्षोपायो भवति	११	११		विकल्पो जीवानां	२६७	४२४	
				विकल्पोपभ्यास-	२०८	३५२	
य				विजितजन्म-	१७६	३१४	
यद्येवं चरणं निजात्म	२५५	४०५		विषयसुखविरक्ताः	११५	६२०	
यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपम-	३००	४८४		वृषभादिवीरपश्चिम-	२३२	३८१	
यस्य प्रतिक्रमणमेव	१२६	२५०		व्यवहरणयेन	१०१	२८६	
यः कर्मशर्मनिकरं	३३	५६		व्यवहरणयेन	२८०	४४७	
यः शुद्धात्मज्ञान-	१८३	३२८		व्यवहारनयस्येत्यर्थ	२२२	३७०	
यः शुद्धात्मन्यविचल-	१६०	३३३					
यः सर्वकर्मविषभू-	५७	११२		श			
यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां	२४६	३६८		शतमखशतपूज्यः	१३	१८	
यावत्सदा गतिपथे	३११	४६६		शत्यन्नयं परित्यज्य	११६	२२२	
ये मर्त्यदैवनिकुरम्ब-	२२६	३७१		शस्ताशस्तमनो-	६४	१८२	
ये लोकाग्रनिवासिनो	२२४	३७१		शस्ताशस्तसमस्त-	२०	३६	
योगी कश्चित्स्वहित-	२३६	३८८		शीलमपवर्गयोषिद-	१०७	१६८	
योगी नित्यं सहज-	२५८	४०६		शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं	१२४	२४७	
यो नैव पश्यति जगत्त्रय-	२८४	४५४		शुक्लध्याने परिणतमतिः	२१६	३६५	
				शुद्धनिश्चयनयेन	७३	१४२	
र				शुद्धं तत्त्वं	१७३	३१३	
रत्नत्रयमयान् शुद्धान्	१०५	१६३		शुद्धात्मानं निजसुख-	१५७	२६६	
				शुद्धाशुद्धविकल्पना	७२	१३६	

	श्लोक	पृष्ठ		श्लोक	पृष्ठ
पट्कायक्रमयुक्तानां	२६३	४७४	सहजपरमं तत्त्वं	१७७	३१३
			संज्ञानभावपरिमुक्त-	३२	५६
			संसारघोर-	१६४	३०६
सकलकरुणग्रामा-	१०४	१६२	सानन्दं तत्त्वमज्ज-	१७४	३१२
सद्बोधपोतमधिरुह्य	२७४	४३६	सिद्धान्तोदघश्रीषवं	३	२
सद्बोधमण्डनमिदं	१२०	२३३	सुकविजनपयोज-	३०८	४६८
समयनिमिषकाष्ठा	४७	६०	सुकृतमपि समस्तं	५६	११६
समयसार-	६६	१२६	सुखं दुःखं योनौ	२०६	३५२
समाधिना	२००	३४३	स्कन्धैस्तेः पट्प्रकारैः	३६	७४
समितिर्निह यतीनां	८८	१७४	स्मरकरिमृगराजः	६७	१८६
समितिषुसमीतीयं	८७	१७२	स्वतःसिद्धं ज्ञानं	२१६	३६१
समितिसमिति	८६	१७४	स्वर्गं वास्मिन्मनुज-	२८	५३
समितिसंहतिनं-	६०	१७४	स्ववशयोगि-	२५०	४०१
सम्यक्त्वेऽस्मिन्	२२०	३६८	स्ववशस्य मुनिन्द्रस्य	२५७	४०७
सम्यग्दृष्टिस्त्यजति	१२७	२५५	स्वस्वरूपस्थितान्	१०३	१६०
सम्यग्धर्ती त्रिभुवनगुप्तः	२८३	४५२	स्वात्मारोधनया पुराण-	२७०	४२८
सर्वज्ञवीतरागस्य	२५३	४०२			
सहजज्ञानसांभ्राज्य-	२२	३७	ह		
			हित्वा भीतिं पशुजनकृतां	२६५	४२२



उद्धृत गायत्री श्लोकों की वर्णानुक्रम सूची



ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता का नाम	पृष्ठ संख्या
अ		
अनवरतमन्तं—	समयसार कलश	अमृतचंद्रसूरि २१४
अन्यूनमनसिरिक्तं	रत्नकरंड अ०	समंतभद्र २५
अभिमतफलसिद्धेः	प्राप्तपरीक्षा	विद्यामन्दि १८
अलमलमतिजल्पैः	समयसार कलश	अमृतचन्द्र २१२
अस्मिन्ननादिनि	"	" ३०
अहिंसाभूतानां	स्वयंभून्नोष	नर्मतभद्र १५३
आ		
आचारश्चतुर्देवकं	—	— २६८
आत्मकार्यं परित्यज्य	—	— १८८
आत्म प्रयत्न साधना	—	— ३७५
आश्माधर्मः	समयसार कलश	अमृतचन्द्र ३८६
आश्माभिन्नः	एकत्वसंस्थिति	पद्मनन्दी १३५
आलोच्य सर्वमेतः	रत्नकरंड	श्रीसमंतभद्र २९३
आसंसारतत्प्रतिपद	समयसार कलश	अमृतचन्द्र ४७८
इ		
इत्युच्छेदात्परपरिणतेः	समयसारकलश	अमृतचन्द्र ११२
इत्येवं चरणं	प्रवचनसार टीका	— २१६
उ		
उत्सृज्य कार्यकर्माणि	तत्त्वानुशासन	— १८४

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता का नाम	पृष्ठ संख्या
उभयनय विरोध	समयसार कलश	अमृतचन्द्र ६१
ए		
एकस्त्वभाविशसि	यशस्तिलक	सोमदेवगूरि २७२
एयरसवण्णगन्धं	पञ्चास्तिकाय	कुन्दकुन्द ७७
एवं त्यक्त्वा वहि वाचं	समाधिगतक	पूज्यपाद १७८
क		
कालाभावेन भावानां	मार्गप्रकाश	— ६३
कान्त्यैव स्मरयन्ति	समयसार कलश	अमृतचन्द्र २१
कुसून गभ०	मार्गप्रकाश	— १६७
केवलज्ञानद्वसौख्य	एकत्वसप्तति	गसनन्दी २५७
ग		
गिरिगर्हेनगुहां	अमृताशीति	— ३४६
च		
चक्रं विहायनिज०	आत्मानुशासन	गुणभद्र ३२२
चिच्छक्तिव्याप्त	समयसार कलश	अमृतचन्द्र १२४
चित्तस्थमध्यनव	आत्मानुशासन	गुणभद्र ३२२
ज		
जघन्यमध्यमोत्कृष्ट	मार्गप्रकाश	— ४०६
जयतिविजितदोषो	भुतबिन्दु	— ४४६
जस्य अणेसण भप्पा	प्रवचनसार	कुन्दकुन्द १६७
जं पेच्छदो अमुक्तं	"	" ४५२
जानन्नप्येयं विश्वं	समयसार कलश	अमृतचन्द्र ४४०
ज्वरजनन जराणां	अमृताशीति	— ४८३

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता का नाम	पृष्ठ संख्या
ज्ञानस्वभावः स्वादितात्मा ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नः	मात्मानुशासन स्वरूप संबोधन	गुणभद्र प्रकलंक ४२१ ४४२
ठ		
ठाम्निसेज्ज विहारा	प्रवचनसार	कुन्दकुन्द ४७०
ण		
णवियरिणमदि ए णाणं अत्यंतगयं णाणं अन्विदिरित्तं णिद्धनणेण दुगुणो णिद्धः वा लुक्खा वा णोक्कम्मकम्महाणे	प्रवचनसार " " प्रवचनसार " "	कुन्दकुन्द " " कुन्दकुन्द " " ४६६ ४३५ ४६० ४६ ४६ १६७
त		
तदेकं परमं ज्ञानं तेजोविद्दी एणां	पद्यनं० पंच वि० प्रवचनसार	पद्यनन्दी कुन्दकुन्द २६८ २१
व		
दर्शनं निश्चयः पुमि द्रंशणं पुक्खं एणां द्रव्यानुसारि चरणं	एकस्थसप्तति द्रव्यसंग्रह प्रवचनसार टीका	पद्यनन्दी नेमिचंद्र अमृतचन्द्र १५० ४३६ २७७
न		
नमस्यं च तदेकैकं नहि विदधति निषिद्धे सर्वस्मिन् निष्क्रियं करणातीतं	पद्यनन्दी पंच० समयसार कलश " "	पद्यनन्दी अमृतचन्द्र " " २६८ १११ २६४ २२६
प		
पट्टिकनणं पट्टिसरणं परियट्टणं च वायणं	समयसार मूलाचार	कुन्दकुन्द " २४१ ४१८

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता का नाम	पृष्ठ संख्या
पंचाचार पराशरकिञ्चन	—	वादिराजदेव १६०
पुढवी जलं च छाया	पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्द ६८
प्रत्याख्याय भविष्य	समयसार कलश	अमृतचन्द्र २५४
ब		
बन्धच्छेदात् कलयदतुल	समयसार कलश	अमृतचन्द्र ४३३
बहिरात्मान्तरात्मेति	मार्गप्रकाश	— ४०८
भ		
भावयामि भवावर्गे	आत्मानुशासन	गुणभद्र २३५
भेदविज्ञानतः सिद्धा	समयसार कलश	अमृतचन्द्र २०८
भयं मायः महागती	आत्मानुशासन	गुणभद्र ३२४
म		
मर्म्हं पश्चिमहो जह	समयसार	कुन्दकुन्द १५६
मुक्त्वा लसत्त्व०	अमृताशीति	योगीन्द्रदेव २७६
मोहबिलामविजृम्भन	समयसार कलश	अमृतचन्द्र २६२
य		
यथावद्वस्तुनिर्णीति	स्व० संबोधन	अकलंक ४३२
यत्रप्रतिक्रमणमेव	समयसार कलश	अमृतचन्द्र २४१
यद्यग्राह्यं न गृह्णाति	समाधिशतक	पूज्यपाद २५६
यदि चलति कथंचित्	अमृताशीति	योगीन्द्रदेव ४०४
यमनियम नितान्त	आत्मानुशासन	गुणभद्र १६८
ल		
लोपायामपदेशे	द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्र ६२
व		
वनवरभवाद्वावन	आत्मानुशासन	गुणभद्र ३२५
वसुधन्त्य चतुः स्वर्गेषु	मार्गप्रकाश	— ७८
अवहरणयः स्यात्	समयसार कलश	अमृतचन्द्र १४०

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकर्ता का नाम	पृष्ठ संख्या
स		
सकलमपि विहाया०	समयसार कलश	अमृतचन्द्र १२३
समग्रो णिमित्तो कट्ठा	पञ्चास्तिकाय	कुन्दकुन्द ८९
समग्रो दु अप्पदेसो	प्रवचनसार	" ६२
समधिगत समस्ता	आत्मानुशासन	गुणभद्र १६५
सत्त्वेभावा जम्मा	समयसार	कुन्दकुन्द २५४
संसिद्धिराधसिद्धं	"	" २१४
सिद्धान्तोऽयमुदान	समयसार कलश	अमृतचन्द्र १४४
सो धम्मो अत्थदया	"	" १७
स्थितिजनन निरोध	स्वयंभूस्तोत्र	समंतभद्र ४५६
स्थूलस्थूलास्ततः	मार्गप्रकाश	— ६६
स्वयंकर्मकरोत्यात्मा	—	— २७१
स्वरनिकर विसर्ग	अमृताशीति	योगीन्द्रदेव १२७
स्वेच्छा समुच्छन्नद	समयसार कलश	अमृतचन्द्र ४११



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	मनुष्य	शुद्ध
५	११	गुरुणा प्रति	गुरुणा प्रति
९	१३	में स्थित	भाव में स्थित
१०	२२	उत्पन्न जो	उत्पन्न
११	६	[भोक्तृभिः]	×
१२	८	वीतराग द्वेष	वीतरागद्वेष
१७	२०	तृण, स्पर्श	तृणस्पर्श
१७	२३	इन्द्रियाणाम्	इन्द्रियाणाम्
२३	११	भक्ष्ये	भक्ष्ये :
२५	२१	पूर्वा पर	पूर्वापर
३६	२५	मोक्ष-मोक्ष	मोक्ष-मोक्ष
३७	५	भणित	भणित
३६	१८	पदार्थ ग्रहण	पदार्थ का ग्रहण
४४	१२	शाहूँलसत्त्वम्	शाहूँल ! सत्त्वम्
४८	१६	कार्यशुद्धिपर्याय	कार्यशुद्ध पर्याय
५२	१४	भक्ष्यजीव	भक्ष्यजीव के
५४	१३	कर्मों से	कर्मों का
५५	१३	अपने पृथक्	अपने से पृथक्
५६	१६	हैं	हैं
६१	१३	खंडित	खंडित
६१	२०	रहते हुये	रहित हुये
७०	८	बाधसुहृमं च सूक्ष्मसूक्ष्मं च	बाधरसुहृमं च सुहृमसुहृमं च
७२	१७	सम्बन्ध	सम बंध
७५	१४	आदि	आदि,
७८	२२	की इच्छुक	के इच्छुक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८३	२२	समराभरणभोरा	समावणप्रो रा
८५	६	लोक के सिखरी के	लोकरूपी सिखरी के
८६	१३	परिणामो	परिमाणो
८६	१५	परिणाम	परिमाण
८६	१७	हुये	ही
८७	७	सिद्धाण्य	संठाण्य [सिद्धाण्य]
८८	९	पोडशभिः	पोडशभिः
८९	६	द्रव्याण्येवपञ्चा	द्रव्याण्येव पञ्चा
९८	१७	है	है
१०३	२५	णयतो	णयंतो
१०५	१५	भवंगुण	भवगुण
१०८	१०	मुखस्या भावात्	मुखस्याभावात्
१०९	२	शाश्वत	शाश्वत
११६	५	तिदंसण	तिदंसण
११७	१	चतुष्टय मावरण	चतुष्टयमावरण
११६	११	करके कार्य समयसार रूप शुद्धोपयोग को प्राप्त करके कार्य	करके कार्य
१४८	१३	मल,	चन
१४१	१४	घन्यकार	घन्यकार ने
१४१	२३	से गात्र	से रहित गात्र
१६०	५	मस्ततानिदम्	मस्ततानिदम्
१६६	६	पर घर	पर पर
१७७	१२	दधि नंड	दधिव्रंड
१८०	६	त	तं
१८१	६	चिद्रूपेभ्यः	चिद्रूपेभ्यः
१८४	९	अरिहता	अरिहता
१९१	११	पतीन	पतीन्
१९१	२६	शुद्धिवाले	शुद्धिवाले
१९७	२	अगुक्त	अगुक्त

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०३	२०	है	हैं
२०७	२५	कुन्दकुन्ददेव के	कुन्दकुन्ददेव ने
२१३	१	विराहण	विराहणं
२२१	८	निर्विकल्पमय	निर्विकल्पमय
२२१	११	परमनिः	परमनिः—
२२३	१८	आकार	आकर
२२८	३	बद्धहा	बद्धमहा
२३२	११	शश्वत्	शश्वत्
२३३	६	जीवेण	जीवेण
२४६	१४	अलंघयन्	अलंघयन्
२६३	७	प्रवसेस	प्रवसेसं
२६५	४	मोहयादा	मोहयादः ^१
२६८	९	तदेवा	तदेवा
२६९	४	द्वन्द्व	द्वन्द्व
२७५	१०	चेत्तत्	चेत्तत्
२७५	१२	भेदात्रिविधम्	भेदात्रिविधम्
२७६	२२	अनसे हैं	कारण अनसे हैं
२७८	१२	आसक्त	आसक्त
२७९	१०	रिपु	रिपू
२८०	२४	पूर्णमा को	पूर्णमा के
२८३	१०	है	है
२८१	७	आवति	आवति
२९४	३	शुद्धी	शुद्धी
२९५	२४	मुनि	मुनि को
३०२	४	मुक्तेनि	मुक्तेनि
३०२	४	पराणा	पराणा—
३०३	४	ककुम्भंजलं	ककुम्भंजलं
३०३	१६	अनादिविद्या	अनादिविद्या
३१०	२३	परितृप्त	परितृप्त

पृष्ठ	पंक्ति	मशुद्ध	शुद्ध
३२१	१	मन	मद
३२२	२०	क्रोध का	क्रोध के
३२४	९	चित्तसंगी	चित्तसंगी
३२६	१३	ज्ञात्र	ज्ञात्र
३३२	४	महाकर्म	महाकर्म
३४२	५	करै	करै —
३४२	२२	समूह	समूह
३४३	३	कृताह ।	कृताहः—
३४५	८	तिष्ठत्युच्चैः	तिष्ठत्युच्चैः
३४५	१२	सफल	सकल
३६०	४	संज्ञानशुभ	संज्ञानमशुभ
३६०	१६	विशेष उपाजित	विशेष से उपाजित
३६७	१७	भविन भवति	भक्तिर्भवति
३७६	९	भवत्या	भवत्या
३९२	२	दुःखभाङ्ग	दुःखभाङ्ग
३९३	५	भाव नमै	भावन भै
४०९	६	मावश्यककर्म	मावश्यकर्म
४०६	१६	गुणवर्ती	गुणस्थानवर्ती
४१८	६	कुरुं न	कुरुं न
४२०	५	परीक्षयित्वा	परीक्षयित्वा
४३९	५	प्रतिप	प्रतिप—
४४०	१३	वणिग् दं	वणिग्दं
४५६	१४	चर जंगम	चर-जंगम
४५६	१५	अचर स्थावर	अचर-स्थावर
४५७	२५	अभाव है	अभिप्राय है
४६१	३	तत्त्वं	तत्त्वं
४६३	१४	गह्वरं	गह्वरं
४६६	१५	प्रवचनासर	प्रवचनसार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७६	११	निन्दास्थान	निन्दास्थान
४८२	२४	(उस परमतत्त्व) में	(उस परमतत्त्व में)
४८३	२	असाता—	असाता—
४९०	७	कहां	कहा
४९१	१	धर्मास्ति काया	धर्मास्तिकाया
४९१	१४	ज्ञानी	ज्ञानी
४९३	८	तुम मुक्ति	तुम भक्ति
४९७	२१	भागवत्	भागवत
४९८	१८	भागवत्	भागवत

